

स

सखाराम गणेश देउस्कर

(Sakharam Ganesh Deuskar)

विचारक, पत्रकार और लेखक सखाराम गणेश देउस्कर (1869-1912) भारतीय नवजागरण के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे। मराठी मूल के लेकिन बंगाली परिवेश में जन्मे और पले-बढ़े देउस्कर ने महाराष्ट्र और बंगाल के नवजागरण के बीच सेतु की तरह काम किया। अरविंद घोष ने लिखा है कि स्वराज्य शब्द के पहले प्रयोग का श्रेय देउस्कर को ही जाता है। पत्रकार के तौर पर जीवन की शुरुआत करने वाले देउस्कर की इतिहास, साहित्य और राजनीति में विशेष रूप से रुचि थी। उन्होंने बांग्ला की अधिकांश क्रांतिकारी पत्रिकाओं में सतत लेखन किया। देउस्कर की जिस एक रचना ने नवजागरण काल के प्रबुद्धवर्ग को सर्वाधिक प्रभावित किया, वह थी 1904 में प्रकाशित कृति *देशेर कथा*। इसका हिंदी-अनुवाद *देश की बात* (1910) नाम से हुआ। विलियम डिग्बी, दादाभाई नौरोजी और रमेश चंद्र दत्त ने भारतीय अर्थव्यवस्था के जिस विदेशी शोषण के बारे में लिखा था, सखाराम देउस्कर ने मुख्यतः उसी आधार पर इस ऐतिहासिक कृति की रचना की। हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की बर्बादी का चित्रण करती देउस्कर की यह कृति ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जंजीरों में जकड़ी और शोषण के तले जीती-मरती भारतीय जनता के रुदन का दस्तावेज है।

सखाराम गणेश देउस्कर का जन्म 17 दिसंबर, 1869 को तब के बंगाल और वर्तमान झाड़खण्ड के देवघर के पास करौं नाम के गाँव में हुआ था। मराठी मूल के देउस्कर के पूर्वज महाराष्ट्र के रत्नागिरि ज़िले में शिवाजी के आलबान नामक क़िले के निकट देउस गाँव के निवासी थे। पाँच साल

की अवस्था में माँ का देहांत हो जाने के बाद बालक सखाराम का पालन-पोषण उनकी विद्यानुरागिनी बुआ, जो मराठी साहित्य से भली भाँति परिचित थीं, के पास हुआ। उनके जतन, उपदेश और परिश्रम ने सखाराम में मराठी साहित्य के प्रति प्रेम उत्पन्न किया। बचपन में वेदों के अध्ययन के साथ ही सखाराम ने बंगाली भाषा भी सीखी। इतिहास उनका प्रिय विषय था। सखाराम गणेश देउस्कर बाल गंगाधर तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। इतिहास में गम्भीर रुचि रखने वाले देउस्कर कलकत्ता की राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के नैशनल स्कूल में बांग्ला भाषा और भारतीय इतिहास के अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। 1910 में *देशेर कथा* और *तिलकेर मोकदमा* की सरकार द्वारा ज़ब्ती के बाद सखाराम को नैशनल स्कूल से इस्तीफ़ा देना पड़ा। वे अपने गाँव करौं लौट आये। यहीं 23 नवम्बर, 1912 को उनका निधन हुआ।

भारतीय कृषि-व्यवस्था, कारीगरी और उद्योग-धंधों को नष्ट करने तथा भारतीय प्रजा की निरंतर अवमानना की प्रामाणिक घटनाओं से युक्त *देशेर कथा* बीसवीं सदी के शुरुआत में जन-जागरण के उपयोगी औज़ार के रूप में उभरती है। देउस्कर ने इस कृति में भारत के लिए डोमिनियन स्टेटस की माँग का समर्थन किया था, पर साथ ही उन्होंने इसके लिए चलाये जा रहे आंदोलन की दुल-मुल रीति-नीति की आलोचना भी की। *देशेर कथा* की भूमिका में उन्होंने लिखा कि हमारे आंदोलन भिक्षुक के आवेदन मात्र हैं। हमलोगों को दाता की करुणा पर एकांत रूप से निर्भर रहना पड़ता है। यह बात सत्य होते हुए भी राजनीति की कर्तव्य-बुद्धि को उद्घाटित करने के लिए पुनः पुनः चीत्कार के अलावा हमारे पास दूसरे उपाय कहाँ हैं।

महज़ पाँच वर्षों में अपने पाँच संस्करणों की तेरह हज़ार प्रतियों से *देशेर कथा* के प्रकाशन ने भारतीय जनता में

जो जागृति फैलायी उसकी परिणति 1910 में देउस्कर की दो कृतियों पर लगे प्रतिबंध में हुई। इनमें एक थी *तिलकेर मोकहमा* और दूसरी *देशे कथा*। दिलचस्प बात यह है कि इसका हिंदी अनुवाद *देश की बात* जब्ती और प्रतिबंध से बच गया। 1905 में हुए बंग-भंग के विरुद्ध स्वदेशी आंदोलन के दौरान बंगाल के पुराने क्रांतिकारी आंदोलन को जिस सैद्धांतिक नेतृत्व की आवश्यकता थी उसे *देशे कथा* ने प्रदान किया। इस क्रांतिकारी रचना के बहाने बारिसाल के अश्विनी कुमार दत्त ने बंगाली प्रबुद्धवर्ग का देश की अवस्था पर निज-कर्तव्य-विचार हेतु आह्वान किया। *देशे-कथा* के लिखे जाने की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए माधव प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि जिस समय यह पुस्तक लिखी गयी उस समय बंगाल के टुकड़े नहीं हुए थे। स्वदेशी आंदोलन का विचार भी लोगों के मन में नहीं आया था। कर्जन के कुचक्रपूर्ण शासन से लोग शंकित थे, पर उनकी मोहमयी निद्रा अभी टूटने नहीं पायी थी। आमोद प्रमोद में व्यस्त बंगाली लोगों को ध्यान भी ना था कि उनके देश की कैसी शोचनीय दशा हो गयी थी और न ही इस बारे में कि आगे कैसी दशा होने वाली है? ऐसे समय में *देशे कथा* का लिखा जाना एक वैचारिक विस्फोट की तरह था, जिसने जन-मानस की चेतना को जागृत करने का कार्य किया। फलस्वरूप ब्रिटिश शासन द्वारा 28 सितम्बर, 1910 को इस पर प्रतिबंध लगाते हुए इसकी प्रतियाँ जब्त कर ली गयीं। *हितवादी* पत्रिका में इस संबंध में छपा कि सखाराम गणेश देउस्कर की पुस्तक पर पाबंदी इस आधार पर लगायी गयी कि उसकी सामग्री पढ़ कर पाठकों के मन में सरकार के प्रति अलगाव का भाव पैदा होगा।

हिंदी नवजागरण के दौरान रचनात्मक साहित्य सहित राजनीतिक-सामाजिक चिंतन की कृतियों का बांग्ला से हिंदी में सर्वाधिक अनुवाद हुआ। *देशे कथा* का *देश की बात* के रूप में हिंदी-अनुवाद का विशेष महत्व है। 1910 में इसके अनुवाद की प्रस्तावना में बाबूराव विष्णु पराडकर ने बताया कि माधव प्रसाद मिश्र और अमृत लाल चक्रवर्ती द्वारा किया गया अनुवाद मूल पुस्तक के पहले तीन संस्करणों का है, लेकिन चौथे संस्करण में ग्रंथकार ने अपनी मूल कृति में बहुत से फेर-बदल किये जिसके कारण पहले के अनूदित संस्करण कई अंशों में अपूर्ण रह गये। बांग्ला *देशे कथा* के चौथे संस्करण से पराडकर द्वारा अनूदित *देश की बात* का तुलनात्मक अध्ययन देउस्कर के ज्ञान की व्यापकता और उनके अखिल भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। *देश की बात* में देउस्कर लिखते हैं, 'भारतवर्ष के शांतिप्रिय और कलह-विमुख आदिवासियों को पादरियों के आक्रमण का निशाना बनते देख मेरे मन में अत्यंत क्रोध उत्पन्न होता है। उन लोगों को परदेशियों की आँखों में असच्चरित्र बनाने के उद्देश्य से पादरीगण अत्यंत घृणित उपायों से उनके बारे में घोर कलंक की बातें फैलाया करते हैं। हाय! दरिद्र हिंदू न

बाइबिल चाहते हैं, न बाइबिल का उन्हें अभाव ही है। वे चाहते हैं पहनने को कपड़े और पेट के लिए मुट्ठी भर चना... हिंदुओं को बाइबिल की आवश्यकता नहीं है... सारांशतः मुझे विश्वास है की शिक्षा, रीति-नीति, सौजन्य और सामाजिक कर्तव्य-पालन के किसी-किसी विषय में भारतवासी कई युरोपियन जातियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, कम तो शायद ही किसी जाति से हों।'

रामविलास शर्मा ने देउस्कर की कृतियों का आलोचनात्मक वर्णन करते हुए बताया है कि कैसे देउस्कर बीसवीं सदी के प्रारंभ में जाति (राष्ट्र का पूर्व-रूप) की एकता को लेकर बेहद चिंतित थे। इसके कारणों को टटोलते हुए शर्मा इस बात का उल्लेख करते हैं कि देउस्कर को इस एकता की चिंता इसलिए थी, क्योंकि वे इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ने और उसे पराजित करने के लिए आवश्यक मानते थे। रामविलास शर्मा ने कई मुद्दों पर सबाल्टर्न इतिहासकारों की आलोचना की है। उनसे देउस्कर की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि सबाल्टर्न इतिहासकार किसानों के आंदोलन को कल्पित समुदाय करार देते हैं, वहीं देउस्कर उसे एक वस्तुगत इकाई के रूप में देखते हैं। शर्मा यह भी जोड़ते हैं कि देउस्कर के यहाँ समकालीन परिस्थितियों के प्रति जागरूकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वालों के प्रति आदर भाव परिलक्षित होता है। सखाराम गणेश देउस्कर के कृतित्व की महत्ता दर्शाते हुए रामविलास शर्मा का कहना है कि जो कुछ रणजीत गुहा और पार्थ चटर्जी की पुस्तकों में नहीं है, वह देउस्कर की कृतियों में विद्यमान है और उसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सन् 1857 का संघर्ष-1 से 4 तक, सामंतवाद : एक बहस-1 और 2।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (सम्पा.) (2005), *समालोचक*, चौथा भाग, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. माधव प्रसाद मिश्र (1908), 'देश की बात', *मुखबंध*, मुम्बई, 1908.
3. महादेव प्रसाद साहा (1970), *देशे कथा*, सम्पादकीय निवेदन, कलकत्ता.
4. सुधीर रंजन सिंह (2009), *हिंदू समुदाय और राष्ट्रवाद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

सगुण-निर्गुण-1

रामभक्ति और कृष्णभक्ति का प्रचलन

(Sagun-Nirgun-1)

हिंदी साहित्य में भक्तिकाल तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक माना जाता है। इसी अवधि को हिंदी साहित्य के स्वर्ण-युग की संज्ञा भी दी जाती है। इस काल की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों और बौद्धिक सार के बारे में बुद्धिजीवियों के बीच विवाद है। विवाद के केंद्र मुख्यतः दो हैं : हिंदू प्रजा और उनके मुसलमान हुक्मरानों के बीच का अंतर्विरोध, और सगुण-निर्गुण द्विभाजन। इस सिलसिले में तीन विचार-पंथ हैं। पहले की नुमाइंदगी करते हैं रामचंद्र शुक्ल और दूसरे के प्रतिनिधि हैं हजारी प्रसाद द्विवेदी। इन दोनों के बीच रामविलास शर्मा की भक्ति-काल को लोक-जागरण बताने वाली थीसिस मौजूद है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने ढंग से मार्क्सवादी युक्तियों का इस्तेमाल करते हुए किया है।

रामचंद्र शुक्ल ने अपनी रचना *हिंदी साहित्य का इतिहास* में इस दौर को हिंदुओं के लिए निराशा की अवधि करार देते हुए कहा कि 'ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चल कर जब मुसलमान साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने सारे राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिंदू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।' इस तर्क को आधार बना कर ही रामचंद्र शुक्ल भक्ति के उदय के कारणों की स्थापना करते हैं कि इसीलिए जनता को एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई। उनके अनुसार पूरा भक्तिकालीन इस त्राणकारी की महिमा का कीर्तन, गायन, लीला, अवतार और भक्ति-स्तवन है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी रचना *हिंदी साहित्य की भूमिका* में रामचंद्र शुक्ल के मत का भुजा उठा कर प्रतिवाद करते हुए कहा कि निराशा हिंदी जाति का स्वभाव नहीं है। यदि इस्लाम न आया होता तो भी हमारे साहित्य का 'बारह आने' वही होता जो आज है। हजारी प्रसाद कहते हैं कि देश के भीतर से अनेक परम्पराएँ परस्पर टकराती उभर रही थीं। वज्रयानी, सिद्ध-कापालिक और नाथपंथी, जोगी रमते चले आ रहे थे। आगम-निगम परम्पराओं की टकराहट से इस काल की निर्गुण-सगुण भक्तिधारा में नया चिंतन पैदा हुआ है। रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल को लोक-जागरण का नाम दिया है। वे इसे

तत्कालीन कुलीनतंत्र के खिलाफ श्रमिक जातियों और समुदायों की सांस्कृतिक दावेदारियों की अवधि के तौर पर देखते हैं। हिंदी के कई मार्क्सवादी चिंतकों ने भक्तिकाल को सगुण और निर्गुण धाराओं में बाँट कर निर्गुण धारा को सगुण के मुकाबले अधिक प्रगतिशील और रैडिकल करार दिया है। लेकिन, रामविलास शर्मा भक्तिकाल को सगुण और निर्गुण के द्विभाजन से निकाल कर प्रेममार्ग की स्थापना की अवधि के तौर पर संसाधित करते हैं। उनके लिए यह मूलतः संतकाल है जिसमें नर-नारी, अगड़े-पिछड़े, हिंदू-मुसलमान, सभी जातियों से संत आये और यह स्वर प्रबल हुआ कि प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मनुष्य प्रेम से ही बैकुंठी हुआ है।

प्रश्न यह है कि इस तितरफा बहस के आलोक में भक्तिकाल को देखने की दृष्टि क्या होनी चाहिए? क्या इसे केवल उत्तर भारत या हिंदीभाषी इलाक़े की परिघटना के तौर पर देख कर कोई निष्कर्ष निकालना ठीक होगा? वैसे भी यह एक तथ्य है कि भक्ति का प्रवाह दक्षिण भारत से उत्तर भारत आया और अपने साथ एक नये समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र और नैतिकशास्त्र के विकास की सम्भावनाएँ भी लाया। इस अवधि में इस्लाम के प्रभाव से कला-संगीत-शिल्प आदि में उल्लेखनीय परिवर्तनों की प्रक्रिया चल रही थी। भक्ति के विचार और आचरण ने इसके साथ मिल कर जन-मानस को नयी दिशा में ले जाने की भूमिका निभायी। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों परस्परव्यापी हो कर आपस में मिल गयीं जिसका सामाजिक प्रभाव परिवर्तनकारी साबित हुआ। भक्ति को हिंदू-निराशा का काल बताने वाले रामचंद्र शुक्ल भी एक जगह मानते हैं कि 'कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सम्भालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। धीरे-धीरे भक्ति का प्रवाह विस्तृत और प्रबल होता गया, इतना कि उसकी लपेट में न केवल हिंदू जनता ही नहीं सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं मुसलमानों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को पीछे कर दिया।'

भक्ति का पहला उद्घोष ग्यारहवीं सदी में दक्षिण भारत के आचार्यों विशेषकर, वैष्णव आचार्यों के दर्शन और विमर्श के रूप में हुआ। इन आचार्यों ने शंकराचार्य के निर्गुण अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए सगुण-साकार की भक्ति की ओर क्रम बढ़ाया। स्वामी रामानुजाचार्य ने श्रीसम्प्रदाय के दर्शन विशिष्टाद्वैत का प्रचार कर सगुण-भक्ति का मार्ग जनसाधारण के लिए खोलने की ऐतिहासिक भूमिका निभायी। रामानुजाचार्य का सूत्रीकरण यह था कि मोक्ष के चार उपाय हैं : कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और प्रपत्ति। भक्ति के जरिये व्यक्ति अकिंचन और दीन-भाव से भगवान की शरण में जाकर अपने दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

निस्संदेह रामानुजाचार्य के सगुण-भक्तिवाद के कारण पूरे देश में राम, कृष्ण और शिव की उपासना प्रचलित हुई। श्रीसम्प्रदाय ने विष्णु-नारायण की भक्ति का मार्ग खोल दिया। इस भक्ति-परम्परा में मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास और स्वामी रामानंद का उद्भव तरह हुआ। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार इन आचार्यों द्वारा चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति को दृढ़ आधार मिल चुका था। इसी चिंतन की दृढ़ नींव पर भक्तिशास्त्र और भक्तिकाव्य का महत्त्व स्थापित हुआ। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों में जीव गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने भक्ति संबंधी भ्रांतियों का निराकरण *भक्ति रसामृत सिंध* और *उज्वल नीलमणि* जैसे कालजयी ग्रंथों द्वारा किया। मधुसूदन सरस्वती का भक्ति रसायन भी इसी दौर में आया। लेकिन भक्तिकाल के मेरुदण्ड साबित हुए स्वामी रामानंद जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में भक्ति को 'जातिपाँति बूझै नहि कोई' का नारा देकर सभी के लिए सहज कर दिया। उत्तर भारत में रामानुजाचार्य के इस महान शिष्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार-प्रसार किया। दिलचस्प बात यह है कि उनके शिष्य कबीर जैसे निर्गुणपंथी संत कवि भी थे, और तुलसीदास जैसे सगुणपंथी संतकवि भी। ब्राह्मण और शूद्र सभी को भक्ति का अधिकार देकर स्वामी रामानंद ने भक्ति के संदर्भ में वर्चस्ववादी, ब्राह्मणवादी, पुराणवादी, सामंतवादी शक्तियों को पीछे धकेल दिया। रामानंद की उपलब्धि यह रही कि भक्ति के सर्वसुलभ हो जाने से उसका विमर्श हर तरह की बौद्धिक चुनौती का सामना करने में सक्षम हो गया। रामानंद के बारह शिष्यों में पीपासेन, धना, रैदास, कबीर बहुत प्रसिद्ध हुए। कृष्णदास पयहरि ने आमेर राजपूताना में रामानंद सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित की। इस रामकाव्य-परम्परा को चरम शिखर पर पहुँचाया संत तुलसीदास ने जिन्होंने *रामचरित मानस*, *कवितावली*, *विनय पत्रिका* आदि ग्रंथ रचे। उन्होंने भाषा की सभी पद्धतियों में अपनी प्रतिभा का रंग दिखलाया।

सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा को वल्लभाचार्य ने सींच कर पुष्ट किया। पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में वैष्णव धर्म का जो आंदोलन चला उसके प्रवर्तकों में वल्लभाचार्य का नाम सबसे बड़ा है। वे वेदशास्त्र में पारंगत धुरंधर विद्वान थे। इनका लक्ष्य था शंकर के मायावाद से पीछा छुड़ाना। रामानुज की परम्परा के सभी आचार्यों ने यही लक्ष्य अपनाया है। वल्लभ ने लीला के लिए ब्रह्म को आत्मकृत माना। ब्रह्म का लीला के लिए जगत में आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। वल्लभ और उनके शिष्यों की मान्यता थी कि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं, उनकी सभी लीलाएँ नित्य हैं, गोलोक इस वैकुण्ठ का एक खण्ड है, इसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज आदि सब कुछ है। इन्होंने भगवान के केवल 'प्रेम' रूप को लेकर प्रेमलक्षण भक्ति का प्रसार

किया। वल्लभ ने पुष्टिजीव, मर्यादाजीव तथा प्रवाहजीव के संसार में पड़े जीवों की चर्चा की है। उनका मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाया। *कृष्णाश्रय* नाम के आपने एक प्रकरण ग्रंथ में वल्लभाचार्य ने अपने समय की कलियुगी दशा का वर्णन किया है, जिस पर आज विद्वान भी भारी वाद-विवाद कर रहे हैं। ग्रंथ में कहा गया है कि गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे हैं। ऐसे कठिन समय में *कृष्णाश्रय* ही एकमात्र शरण है। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग से सूफी प्रेम का नया मार्ग सुझाया। उनकी प्रस्थानत्रयी की परम्परा ने विद्वानों को चकित किया। उन्होंने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका की। अणुभाष्य को आचार्य विट्ठलनाथ ने पूरा किया। उन्होंने गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का मंदिर भक्त पूरनमल खत्री से बनवाया। उनके शिष्य अपने सुंदर-मधुर संगीत के लिए जाने जाते हैं। उनकी प्रेरणा से सभी सम्प्रदायों के कृष्णभक्तों में ब्रजलीला का चलन हुआ।

इस परम्परा में मुक्तक-पद परम्परा विकसित ही। इस परम्परा की सर्वोच्च ध्वजा का नाम सूरदास है। इसी परम्परा में मीरां और चैतन्य महाप्रभु आये। जयदेव-विद्यापति की परम्परा का उजला रूप यहाँ अष्टछाप कवियों में देखने को मिलता है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं : सूरदास का *सूरसागर*, *साहित्य लहरी*, नंददास का *भँवरगीत*, *रसमंजरी*, रूपमंजरी, शूद्र कृष्णदास का *जुगलमान चरित्र*। कुम्भनदास का ग्रंथ विलुप्त है लेकिन परमानंददास का *परमानंद सागर* मिलता है। इसी परम्परा में चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, स्वामीहरिदास, श्री भट्ट, व्यासजी, रसखान, ध्रुवदास, नरोत्तमदास, नाभादास आदि अनगिनत संत-कवि आते हैं। कृष्ण-भक्ति परम्परा में नागरीदास, अलबेला, अलिनी, चाचाहित, वृंदावनदास, भक्तरसिक आदि तमाम कवि भी हैं। भक्तिकाल की इसी सगुणधारा में छीदन, लालचदास, कृपाराम, नरहरि बंदीजन, आलम, महाराज, तांगकवि, मनोहरकवि, बलभद्र मिश्र, जमाल, केशवदास रहिम, कादिर, मुबारक, लालचंद आदि कवि आते हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का

आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी (1941), *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. डॉ. रामविलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. रामविलास शर्मा (1985) *लोकजागरण और हिंदी साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली.
5. कृष्णदत्त पालीवाल (2008), *भक्तिकाव्य से साक्षात्कार*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

सगुण-निर्गुण-2

सर्वभारतीय परिप्रेक्ष्य और कबीर

(Sagun-Nirgun-2)

रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण-भक्ति का निरूपण किया था, उसकी ओर शिक्षित और अशिक्षित दोनों तरह की जनता खिंच रही थी। इसका परिप्रेक्ष्य सर्वभारतीय था। गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य (1254-1333) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बड़ी संख्या में जनता का झुकाव बढ़ा। देश के पूर्वी भाग में जयदेव का कृष्णभक्ति-संगीत गूँजा। इसी स्वर में मिथिला के महान कवि विद्यापति ने अपना स्वर मिलाया। उत्तर भारत में रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और मुख्य तौर से उन्हीं की वजह से हनुमान की पूजा-आराधना प्रचलित हुई। इसी परिवेश-विस्तार में पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में सक्रिय रहे वल्लभाचार्य ने शुद्धद्वैतवाद और पुष्टिमार्ग के ज़रिये कृष्णभक्ति का योगदान किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं।

भक्तिकाव्य के भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनंद' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में इस बाह्यजगत के व्यक्त क्षेत्र में किया। रामविलास शर्मा के अनुसार इससे एक ओर तो प्राचीन सगुणोपासना क्षेत्र तैयार हुआ और दूसरी ओर मुसलमानों के आगमन से देश में जो नयी परिस्थिति पैदा हुई थी उसकी दृष्टि से हिंदू-मुसलमान

दोनों के लिए एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास भी होने लगा। इसके विकास में सिद्धों और नाथपंथियों ने भी भाग लिया। वज्रयान के अनुयायी ज़्यादातर निचली जाति के असंतोष-पीड़ित लोग थे। नाथ सम्प्रदाय में शास्त्रज्ञ विद्वानों की जगह नहीं थी। इस सम्प्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर चक्रों, सहस्रदलकमल, इला-पिंगला-सुषुम्नादि नाडियों की ओर संकेत करने वाली रहस्यमय कहानियाँ सुना कर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धियों की धाक जनता में जमाये हुए थे। ये लोग उपदेश-भाव से कहते थे कि वेद-शास्त्र पढ़ना व्यर्थ है, पूजा-अर्चना निरर्थक है। ईश्वर तो प्रत्येक घट के भीतर है और अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है। उनका यह भी कहना था कि हिंदू-मुसलमान दोनों एक हैं और जात-पाँत का बंधन व्यर्थ है।

महाराष्ट्र के संत-भक्त नामदेव (1328-1408) ने हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए भक्ति का सामान्य मार्ग निकालने का प्रयत्न किया। उसके बाद महात्मा कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण पंथ' के नाम से चलाया। हालाँकि नाथपंथी योगी बहुत कुछ कबीर के लिए रास्ता रास्ता साफ़ कर चुके थे, पर कबीर ने भेदभाव को दूर करते हुए अंतःसाधना पर बल दिया था। नाथपंथियों की अंतःसाधना में हृदयपक्ष शून्य था। इस प्रेमतत्त्व का अभाव कबीर को खटका और उन्होंने प्रेमरस अपनाने पर जोर दिया। कबीर ने एक तरफ़ तो एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा, और दूसरी तरफ़ उसी निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफ़ियों से प्रेमतत्त्व ले लिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण पंथ चलाने के लिए कबीर ने पूरी मानसिक तैयारी की होगी। भक्तिमार्ग शुरू से ही सगुण-सकार-लीला अवतारी ब्रह्म को लेकर चला था। निर्गुण-निराकार ब्रह्म प्रेम का विषय नहीं माना जाता था। रामचंद्र शुक्ल मानते हैं, 'इसमें कोई संदेह नहीं कबीर ने ठीक मौक़े पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। उनका निर्गुण पंथ चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।'

कबीर ने रागात्मक-भक्ति द्वारा अंतःसाधना में ज्ञान का योग किया, पर नाथपंथियों वाली कर्मदशा बनी रहने दी। नतीजा यह हुआ कि निर्गुण संतों का ईश्वर प्रेमस्वरूप और ज्ञानस्वरूप ही रहा। वह एक धर्म के रूप में नहीं उभरा। दूसरी तरफ़ वैष्णव भक्तिमार्ग की रामभक्ति शाखा का

विकास होता रहा और उसके साथ-साथ सगुण कृष्णभक्ति की धारा के साथ अनगिनत हिंदू-मुसलमान कवि जुड़ गये।

भक्तिकाल में सगुण तथा निर्गुण की दो धाराओं का प्रवाह पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक पूरी निरंतरता के साथ मिलता है। भक्ति के विकास-काल में हिंदी की पहली विस्तृत रचना कबीर की ही मिलती है। यह निर्गुणधारा दो शाखाओं में विभक्त हुई : ज्ञानश्रयी शाखा और शुद्ध प्रेममार्गी सूफी शाखा। निर्गुण ज्ञानामार्गी शाखा योगसाधना और ब्रह्मज्ञान साधना के साथ सूफी प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना के क्षेत्र में अग्रसर हुई। इसमें सगुण और मूर्तिपूजा का खण्डन प्रबल रहा। बहुदेवोपासना का खण्डन भी जम कर किया गया और कबीर राम को दाशरथ न मान कर आगे बढ़े। कबीर में विपुल सर्जनात्मक प्रतिभा थी। साथ में खण्डन का आवेग प्रबल था। इस खण्डनात्मक वेग के अनेक कारण थे। वे समाज से तमाम तरह के अपमान झेल कर बड़े हुए थे। कबीर में भक्तिरस कम नहीं है, लेकिन साथ में नारी को बुरा-भला कहने का व्यसन भी है। नारियों को कोई संत इतना बुरा-भला नहीं कहता जितना कबीर कहते हैं। कबीर के इस पक्ष का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है।

ज्ञानश्रयी शाखा की निर्गुणधारा में रामानंद की भी व्याप्ति है। कबीर पर रामानंद का प्रभाव बहुत व्यापक और गहरा है। प्रायः इसे कम करके आँका गया है। कबीर में भक्ति के संस्कार बचपन से ही थे और ये संस्कार ही उन्हें पूरी लालसा के साथ स्वामी रामानंद की ओर ले गये। कबीर पंथ में मुसलमान भी आये। कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फ़कीर शेख से दीक्षा ली थी। ये सूफी फ़कीर कबीर के गुरु हैं, लेकिन कबीर को जाति-पाँति तोड़कर रामानंद का उदार चिंतन अधिक भाया। सच बात तो यह है कि कबीर का 'राम नाम' रामानंद की ही देन है। यह अलग बात है कि 'न हिंदू न मुसलमान' का ज्ञान-चक्र चलाने वाले कबीर ने अपने 'राम' को 'रामानंद' के राम से भिन्न साबित किया। दशरथ-सुत से राम को अलग करके ही वे राम नाम का मर्म जान सके। कबीर ने सूफी-प्रेम दर्शन के ढंग पर उपासना का विषय प्रेम को बनाया। उन्होंने ब्रह्मवाद, सूफीवाद, भावनात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, प्रपत्तिवाद, अद्वैतवाद, वैष्णवों का अहिंसावाद के मेल-मिलाप से नया पंथ खड़ा किया।

कबीर बानी निर्गुण बानी है, किंतु उसमें सेव्य-सेवक की नवधा भक्ति का छौंक कम नहीं है। भारतीय ज्ञानमार्ग के विभिन्न पक्षों का ज्ञान उन्हें संत-संगति से हुआ। उन्होंने चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, गगन, औंधा कुआ आदि हठयोगी शब्दावली का इस्तेमाल किया है। दूसरी तरफ़ हिंसा को लेकर मुसलमानों में फटकारने में कोई ढील नहीं की। पण्डित और

मुल्ला दोनों को उन्होंने डाँटा और 'रामरहीम' की एकता का उपदेश दिया। अपनी अनूठी काव्य-प्रतिभा के बल पर वे कथन-भंगिमा में काव्यत्व पैदा करने की शक्ति रखते थे। कबीर की बानी का संग्रह *बीजक* नाम से है, जिसके तीन भाग हैं : साखी, सबद और रमैनी। दिलचस्प बात यह है कि कबीर ने वैष्णवों से अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिया। इसी से कबीर न तो पूरी तरह भारतीय अद्वैतवादी हैं और न ही एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला रूप *बीजक* में मिलता है। कबीर की इस निर्गुण-पंथ परम्परा में धर्मदास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुंदरदास, मलूकदास आदि अनन्य संतों की सुदीर्घ परम्परा है। इन संतों में कोई व्यवस्थित दर्शन खोजने से कुछ खास नहीं मिलता, पर इनमें सूफ़ियों का प्रेमतत्त्व प्रबल है।

ज्ञानमार्गियों के अलावा निर्गुण प्रेममार्गी शाखा सूफी कवियों की है, जिनकी प्रेम गाथाएँ साहित्यिकता के खजाने से भरी पड़ी है। प्रेममार्गी शाखा के सभी कवियों ने, चाहे मलिक मोहम्मद जायसी हों या मुल्ला दाऊद, सभी ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेममार्ग की महिमा का महत्त्व समझाया। इन समर्पित साधक कवियों ने लौकिक-प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया जो प्रियतम ईश्वर से मिलाने वाला है। इन प्रेम कहानियों का विषय साधारण है। अर्थात् किसी राजा, राजकुमार का किसी राजकुमारी के अद्भुत-अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना, घर-बार छोड़ जोगी बन निकल पड़ना, अनेक कष्ट झेलना, प्रेमपंथ से विचलित न होकर अंत में राजकुमारी को प्राप्त करना। यहाँ पर 'प्रेम की पीर' की जो व्यंजना होती है, वह ऐसी व्यापक है कि वहाँ प्रेम इस लोक से परे दिखाई देता है। एक बड़ी बात यह भी है कि इन सूफ़ियों ने भारत में आकर सारी कहानियाँ हिंदू समाज की लीं और थोड़ा-बहुत बदलाव करके उन्हें फंतासी का रूप दे दिया। इन मार्मिक कहानियों में अपूर्व रसमयता है। विरह में मनुष्य के साथ पक्षी-पशु, सारा वनस्पति जगत एक साथ होता है। मानव के घोर दुःख में वन रोता है, वृक्ष रोते हैं, पंक्षी संदेश देते हैं।

मूल बात यह है कि जायसी का *पद्मावत* हो या मंझन का *मधुमालती*, इन सभी प्रेम-प्रबंधों में हृदय के मर्म को छूने का काव्यात्मक उद्यम किया गया है। परोक्षतया इनके संकेत भी निर्मल और हृदयग्राही हैं। कबीर के रहस्यवाद पर हठयोग और वेदांत की धमक है, लेकिन सूफ़ियों का रहस्यवाद भावनात्मक है जिसमें प्रियतमारूपी परमात्मा की ओर प्रेमी-नायक बढ़ता है। इन सूफ़ियों की प्रायः सभी नायिकाएँ अविवाहिताएँ हैं ताकि कोई सांस्कृतिक विवाद पैदा न हो। राजा ही क्यों न हो, सांस्कृतिक रूप से किसी का भी विवाहित स्त्री से प्रेम करना अनुचित और अनैतिक है। अपना भावनात्मक रहस्यवाद लेकर भारत आये सूफ़ियों ने यहाँ से साधनात्मक रहस्यवाद का प्रभाव योगियों, रासायनिकों और

तांत्रिकों से ग्रहण कर लिया। जायसी ने *पद्मावत* में हठयोग और रसायन की बातें की हैं, लेकिन *पद्मावत* न तो इसलामिक भाष्य है न ही जायसी सूफ़ी इसलाम की पैरोकारी। जायसी का काव्य एशिया में लिखी गयी महाकाव्यात्मक शैली की पहली काव्यात्मक त्रासदी है। कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने *जायसी* पुस्तक में लिखा है कि जायसी मात्र सूफ़ी कवि नहीं हैं। अगर सूफ़ी हैं तो कुजात सूफ़ी। उनकी प्रेम-दृष्टि भारतीय साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

सूफ़ी काव्यधारा की प्रेम गाथाओं में कुतबन की कृति *मृगावती*, मंझन की कृति *मधुमालती*, जायसी की कृतियाँ *पद्मावत*, *अखरावट*, *आखरी क़लाम*, उसमान की कृति *चित्रावली*, शेरूपबी की कृति *ज्ञानदीप*, कासिम शाह की कृति *हंस जवाहिर*, नूर मुहम्मद की कृति *इंदिरावती* और *अनुराग बाँसुरी* का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूफ़ीमत के अनुयायी सभी मुसलमान हुए हैं। केवल एक हिंदू सूरदास ने *नल दमयंती* नाम की कहानी लिखी है। इन सूफ़ी कवियों ने भारतीय-अभारतीय परम्पराओं के मेल से एक नये प्रेमपंथ का प्रवर्तन किया। *चतुर्मुकुट* और *यूसुफ जुलेखा* भी सूफ़ियों की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफ़ीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. विद्योगी हरि (सम्पा.) (2001), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
3. डॉ. प्रेमशंकर, *भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. डॉ. भरत सिंह उपाध्याय (2002), *ध्यान और नाम*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

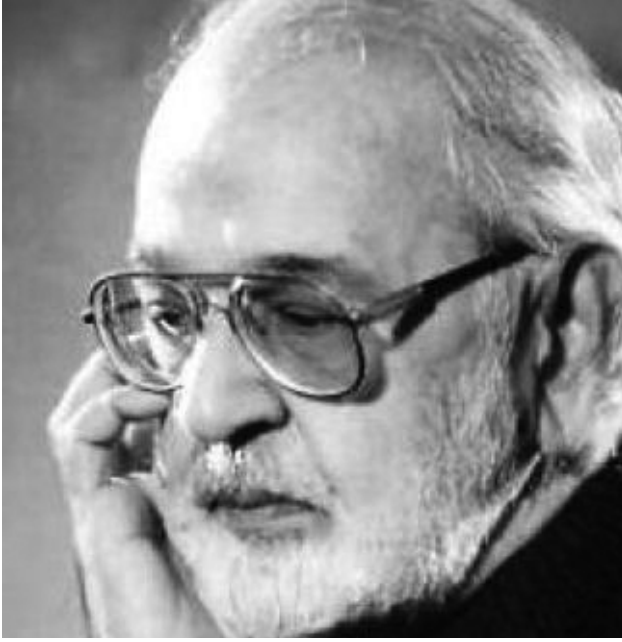
— कृष्णदत्त पालीवाल

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

(Sachchidanand Hiranand Vatsyayan Agyey)

कवि, उपन्यासकार, निबंधकार, कला-चिंतक, सभ्यता-समीक्षक, पत्रकार और उपनिवेशवाद विरोधी क्रांतिकारी आंदोलन के सेनानी सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय (1911-1987) ने अपने छह दशक लम्बे सृजन-कर्म के दौरान प्रभाव, प्रयोग, प्रगति, परम्परा, आधुनिकता, भारतीयता, स्वाधीनता, भाषा, सम्प्रेषण, लेखक और पाठक जैसे विषयों पर चिंतन करके हिंदी-जगत को समृद्ध किया। हिंदी के किसी आधुनिक लेखक ने नयी अवधारणाओं की प्रतिष्ठा करते हुए इतनी बहसें नहीं उठायीं जितनी अज्ञेय ने। आधुनिकता के बारे में उनकी मान्यता है कि वह एक अनगढ़ चीज़ है, न कि एक सिद्ध स्थिति। वह एक प्रक्रिया है। संस्कारवान होने की क्रिया को उन्होंने आधुनिकता करार दिया। संस्कारी हो कर स्थिर हुआ व्यक्ति उनकी निगाह में आधुनिक नहीं है। आधुनिकता की दृष्टि से सबसे पहले हिंदी भाषा पर अज्ञेय ने ही विचार किया। उन्होंने पाया कि हिंदी सदा से आधुनिक रही है। उनकी दृष्टि में सिंधु से लेकर, ब्रह्मपुत्र तक का सारा क्षेत्र हिंदी का है। यह देश भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है, और हिंदी उन संगमों से ही विकसित हुई है। वह संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। उसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति और भारतीयता के बोध को बनाये रखा है। अज्ञेय का विचार था कि बांग्ला में आज़ादी की आकांक्षा का उदय ज़रूर हुआ पर इस आकांक्षा का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी में ही हुआ। इसीलिए हिंदी राष्ट्रीयता के स्वर की वाहिका बन कर स्वाधीनता-संग्राम की भाषा बनी। अज्ञेय के मुताबिक इस तरह हिंदी विकासमान संस्कारों और पनपते विद्रोहों की भाषा रही है। वह किसी धर्म, जाति, प्रदेश की साम्प्रदायिक भाषा नहीं रही। हिंदी पत्रकारिता को इस देश के प्रबुद्धजन की अभिव्यक्ति बनाने में तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता में युग-प्रवर्तन करते हुए अज्ञेय ने कला-भाषा और कला-आलोचना को विकसित-परिष्कृत किया है। *दिनमान* के माध्यम से हिंदी-पत्रकारिता की भाषा को अज्ञेय के सम्पादकत्व में नया भाषा-संस्कार मिला।

अज्ञेय का जन्म 7 मार्च, 1911 को कुशीनगर, उत्तर-प्रदेश के एक उत्खनन-शिविर में हुआ। पिता हीरानंद शास्त्री अपने समय के प्रसिद्ध पुरातत्वविज्ञ और प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ थे। भारत में पुरातत्व की नींव डालने वालों में उनका



सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय (1911-1987)

प्रमुख स्थान है। सच्चिदानंद का मानस बनाने में माँ के बजाय पिता का अंशदान अधिक रहा। शिक्षा का प्रारम्भ घर पर ही संस्कृत-मौखिक परम्परा से हुआ। मौलवी शेख सादी से फ़ारसी और अमेरिकी पादरी से अंग्रेज़ी की शिक्षा घर पर ही ली। लाहौर के फारमन्स कॉलेज से बीएससी की परीक्षा देते समय क्रांतिकारियों से सम्पर्क हुआ। उस समय पंजाब में गरम दल के नेता के रूप में लाला लाजपत राय का नाम लोगों की जुबान पर था। उसी समय भगत सिंह के नाम की चर्चा भी जोरों से उठी। सहपाठियों के साथ मिल कर गुप्त कार्य करने के लिए एक दल बना लिया और पर्चे बाँटकर यह प्रचार करने लगे कि क्रांति होनी चाहिए। उन दिनों भगत सिंह को जेल से छुड़ाने की योजना बन रही थी। काम बहुत चुनौती भरा था। इसी सिलसिले में अज्ञेय का परिचय चंद्रशेखर आज़ाद से हुआ और यशपाल के भी सम्पर्क में आये। भगत सिंह को जेल से ट्रक में बाहर ले जाने का कार्य आज़ाद ने अज्ञेय को सौंपा, लेकिन लाहौर में दुर्घटनावश हुए एक बम विस्फोट में भगवती चरण वोहरा की मृत्यु हो गयी जिससे यह योजना खटायी में पड़ गयी। इस दौरान अज्ञेय को छद्म वेश धारण करके भूमिगत जीवन गुज़ारना पड़ा। कभी मुसलमान कारीगर मुहम्मद बख़्श बन कर, कभी इलेक्ट्रीशियन का रूप धारण कर, कभी पेंटर बन कर। अंततः नवम्बर, 1930 में गिरफ़्तार हुए। छह वर्ष तक जेल और नज़रबंदी भोग कर 1936 में छूटे। कुछ दिनों तक आगरा में कृष्णदत्त पालीवाल के पत्र *सैनिक* के सम्पादक मण्डल में रहे। किसान आंदोलन में सक्रियता दिखाई और 1937 में बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र *विशाल भारत* के सम्पादकीय विभाग में काम किया।

1943 में *तार सप्तक* का सम्पादन किया। सात राहों के अन्वेषियों को लेकर सम्पादित किये गये इस संकलन से ही हिंदी साहित्य में नयी बहसों-अवधारणाओं पर विचार शुरू हुआ। इसी दौर में अज्ञेय ने फ़ासीवाद के विरोध में कृष्णचंदर और शिवदान सिंह चौहान के साथ मिलकर अखिल भारतीय फ़ासिस्ट विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में बहुत से प्रगतिवादी भी शामिल हुए थे। इसी के बाद प्रगतिशील गुट से अलग हो कर वे कुछ दिनों तक आल इण्डिया रेडियो में रहने के बाद अज्ञेय 1943 में ही सैन्य सेवा में चले गये जहाँ उनकी तैनाती कोहिमा के मोर्चे पर हुई। 1946 में सैन्य सेवा से मुक्त हो कर जीवन पूरी तरह से साहित्य को समर्पित कर दिया। कभी मेरठ, कभी इलाहाबाद, कभी दिल्ली को अपना केंद्र बनाया। इलाहाबाद से *प्रतीक* का सम्पादन किया जिसने नये लेखकों-कवियों को मंच किया। साहित्यिक पत्रकारिता के एक नये युग का आरम्भ इसी पत्रिका से हुआ। निर्मल वर्मा ने *अज्ञेय की* पत्रकारिता को उनकी स्वाधीनता संबंधी दृष्टि से जोड़ कर दिखाया है। निर्मल वर्मा के अनुसार आपातकाल में जब हिंदी के प्रतिबद्ध लेखक घुटने टेक रहे थे, उस समय अज्ञेय जय प्रकाश नारायण की पत्रिका *एवरीमैन* का सम्पादन कर रहे थे।

अज्ञेय ने एक अपना साहित्यिक नाम रखा कुट्टिचातन् जो साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसके अलावा उन्होंने अन्य छद्म नामों से भी लिखा। कुछ व्यक्तिव्यंजक, ललित निबंध कुट्टिचातन् नाम से लिखे। कुट्टिचातन् दक्षिण की एक लोक कथा का एक ऐसा चरित्र है कि जिसे भूत कहा जा सकता है। वह कंधे पर सवार हो जाता है, नाच नचाता है, चैन नहीं लेने देता। कुट्टिजात का मतलब होता है छोटी जात का। धीरे-धीरे पाठक अज्ञेय के कुट्टिचातन् नाम से परिचित हो गये।

जेल में रहते हुए अज्ञेय ने अपनी प्रमुख रचना *शेखर : एक जीवनी* का मसविदा तैयार किया। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा है जिस तरह के आरोप मुझ पर लगे थे, उससे यह सम्भावना बनती थी कि काफ़ी बड़ी सज़ा या फाँसी की सज़ा भी हो सकती थी। मैं तब उन्नीस वर्ष का था। उन्नीस वर्ष के जवान के लिए यह सवाल जरूर बनता है कि अगर बीसवाँ वर्ष पूरा होने तक उसको फाँसी हो जाती है तो मेरे जीवन का अस्तित्व क्या है? उस दौरान मैंने इसी प्रश्न को लेकर बहुत कुछ सोचा। एक तरह से *शेखर : एक जीवनी* इसी सवाल का जवाब है।

अज्ञेय के अंतरंग मित्र विद्यानिवास मिश्र के मुताबिक रेडियो पर गाँधी का एक वक्तव्य सुन कर उन्होंने आज़ादी पाने के सशस्त्र रास्ते का परित्याग कर दिया। फिर उनकी रचनाओं में भी परिवर्तन आया। इसीलिए *शेखर : एक जीवनी* के दो भाग उन्होंने लिखे पर तीसरा भाग, जिसकी पूरी तैयारी

हो चुकी थी, नहीं लिखा। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अज्ञेय ने तीसरे भाग की पूर्ति में *नदी के द्वीप* जैसा प्रेम-संवेदना का उपन्यास लिखा। उसी भाव से *बारहसिंधा* जैसा प्रयोगात्मक उपन्यास लिखा-लिखवाया। *शेखर* से *नदी के द्वीप* का प्रमुख अंतर यह है कि शेखर में व्यक्तित्व का क्रमशः विकास होता है जबकि *नदी के द्वीप* में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं। इस उपन्यास के बाद अज्ञेय ने 1961 में अस्तित्ववादी मुहावरे का लघुकाय उपन्यास लिखा *अपने-अपने अजनबी*, और फिर दो अपूर्ण उपन्यास *वीनूभगत* और *छाया मेखल*। अज्ञेय 1954 तक कहानी के क्षेत्र में सक्रिय रहे जिससे हिंदी कहानी को नवीन कथ्य और रूप मिला। नयी कहानी आंदोलन के पुष्ट बीज अज्ञेय की कहानियों में मिलते हैं। लेकिन सन् 1954-55 के बाद अज्ञेय ने कहानी लिखना छोड़ दिया। उन्होंने भीतर से अनुभव किया कि कहानी एक क्षण की, एक मनोदशा की, एक स्थिति की वाणी है। जीवन की समग्रता तो उपन्यास और कविता में ही समाती है।

अज्ञेय 1957-58 में जापान भ्रमण के दौरान जापानी साहित्य और कलाओं के सम्पर्क में आये और जेन विचार का प्रभाव ग्रहण किया। उनकी कृति *अरी ओ करुणा प्रभामय* की कविताओं में जापानी प्रभाव है। जेन-साधना की एकाग्रता में समाधि भाव के समर्पण को आधार बनाकर *असाध्य वीणा* जैसी अपूर्व लम्बी कविता का सृजन किया। साठ के दशक में ही अज्ञेय ने युरोप और अमेरिका की यात्राएँ कीं और इसी समय *आँगन के पार द्वार* काव्य-संग्रह पर उन्हें साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला।

अज्ञेय के सम्पादन में 21 फ़रवरी, 1965 को *दिनमान* पत्रिका अपने पाठकों के पास पहुँची और हिंदी में सावधि पत्रकारिता के नये युग का सूत्रपात हुआ। *दिनमान* के अंक उत्तरोत्तर नवीन-चिंतन से सम्पन्न होते थे। वैविध्य से भरे जीवन का विस्तृत मानचित्र था *दिनमान*। इस पत्रिका के बारे में कुछ लोगों का कहना था कि यह अमेरिकी पत्रिका *टाइम* के नमूने पर निकलती है, तो कुछ का खयाल था कि यह *न्यू स्टेट्समैन* की तर्ज पर है। इसका जवाब देते हुए अज्ञेय ने लिखा कि दिनमान ऐसी भाषा में ऐसे चिंतन का प्रयत्न करेगा कि उसमें न तो हिंदुस्तान के चिंतन की नासमझ पूजा दिखेगी न हिंदुस्तान की किसी भी भाषा का कम समझ मलीदा।

अज्ञेय ऐसे आधुनिक कवि हैं जो मानते हैं कि काव्य-रचनाकार व्यक्तित्व के अहं का सम्पूर्ण विलयन है। प्राचीन कवियों की महत्ता का रहस्य भी यही है कि वे अहं को विलीन करके लिखते थे। उनके लिए कविता स्वास्थ्य लाभ का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनंद साधना थी। कवि के रूप में दो तरह के अज्ञेय मिलते हैं। एक पूर्व-अज्ञेय, दूसरा उत्तर-अज्ञेय। पूर्व अज्ञेय की कविताओं पर छायावादी

संस्कारों का असर है। इससे वे धीरे-धीरे छूटे और काव्य प्रयोग और नयी राहों के अन्वेषण की आंतरिक लगन प्रदर्शित की। उत्तर-अज्ञेय में बौद्धिकता, जेन-साधना पद्धति का शब्द-संयम और बहिर्मुखी सामाजिकता का उत्कर्ष मिलता है। अंतर्मुखता से छूटकर बहिर्मुखता में आते ही व्यंग्य-वक्रोक्ति में, राजनीति-समाज में, औद्योगिक सभ्यता में उपभोक्तावादी संस्कृति से उत्पन्न अपसंस्कृति, पर्यावरण विनाश की चिंता, भाषा सम्प्रेषण और भारतीयता की ओर अग्रसर दिखाई देते हैं। काव्य के बासीपन को झाड़ कर नये प्रयोगों से, बौद्धिक रुझानों से, जापानी-जर्मन काव्य प्रभावों से हिंदी कविता में एक युग का प्रवर्तन किया। पश्चिम के तमाम प्रभावों को ग्रहण करने पर भी उनकी अपनी भारतीयता और दृष्टि की मौलिकता का क्षय नहीं हुआ।

हिंदी जगत में अज्ञेय की छवि कम्युनिस्ट विरोधी की है। इस पर उनका कहना है, 'कम्युनिस्टों का विरोधी मैं नहीं हुआ। मेरे विरोधी अधिकतर कम्युनिस्ट हुए तो वे जानें। कम्युनिज्म मुझे पसंद नहीं है, यह ठीक है। राजनीति में वह आततायी सिद्ध हुआ है, दर्शन वह अधूरा और पंगु बनाने वाला है। और भारतीय कम्युनिज्म क्रदम-क्रदम पर देश विरोधी और परदेश निर्देशित सिद्ध हुआ है। मैं व्यावहारिक राजनीतिक नहीं हूँ, न होना चाहता हूँ पर राजनीति के संबंध में मेरे कोई विचार न हों, ऐसी लाचारी नहीं मानता। जो हैं उन्हें नागरिक के नाते यथासमय व्यक्त भी करता हूँ। पर मैं एक विचार रखता हुआ दूसरे को दूसरा विचार रखने की स्वतंत्रता देने का क्रायल हूँ। इसलिए किसी मतवाद को न मानकर मैं मतवादी कम विरोधी होना जरूरी नहीं समझता और उसे कलंकित करना तो बिल्कुल नहीं। कम्युनिस्ट क्योंकि ऐसी स्वतंत्रता को दिमागी एय्याशी समझते हैं और साधन की शुद्धता को महत्त्व नहीं देते या कि व्यावहारिक परिणामवादी होकर सभी फलप्रद साधनों को शुद्ध मानते हैं, इसलिए वे मतवादी का भी विरोध करते हैं और उसे जैसे-तैसे लांछित करने या करवाने को न्याय युद्ध मानते हैं।' परम्परा के साथ अज्ञेय का रिश्ता आलोचनात्मक और सर्जनात्मक रहा। परम्परा को वे टी.एस. एलियट के अर्थ-संकोच से निकालकर अर्थ-विस्तार में ले गये। एलियट परम्परा के नाम पर युरोप की ओर से बोलते हैं, उससे आगे नहीं। पर अज्ञेय परम्परा के नाम पर विश्व भर की ओर से बोलते हैं। उसमें कोई दीवार नहीं उठाते। वे कहते रहे हैं कि जो लोग प्रयोग की निंदा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे भूल जाते हैं कि परम्परा कम से कम कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता, तब

तक वह इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाए। अगर वह कवि की आत्माभिव्यक्ति एक सहज संस्कार के वेष्टन में ही सहज सामने आती है। तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नहीं तो वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भण्डार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है।

एक आधुनिक भारतीय रचनाकार के रूप में अज्ञेय ने अपने समय और साहित्य के समक्ष उपस्थित चिंताओं, प्रश्नों, चुनौतियों पर गम्भीरता से विचार-विमर्श किया है। तमाम तरह के विरोधों के विष प्याले को पीकर वह नीलकण्ठ होते गये और कहते रहे, यह संवत्सा कामधेनु मैंने तुम्हें दी है। जीवन कामधेनु के अमृतमय से हमारी परम्परा का नव रूपायन सम्भव बनाया। हमें ध्यान दिलाया किन अर्थ हमारा जितना है, सागर में नहीं, हमारी मछली में है। सभी दिशाओं में सागर जिसको घेरे है। हम उसे नहीं 'वह हमको टेर रहा है। 'ठीक कहा' तीर्थों को तेरी ही तितीर्षा गढ़ती रही है।' उन्होंने प्रार्थना की 'इसे भी पंक्ति को दे दो।' फिर अज्ञेय के मौन में उपनिषदों का चिंतन, बौद्धों का चिंतन, जन-साधकों का चिंतन, ईसाई अस्तित्ववादियों का चिंतन और भारतीय भागवत परम्परा का चिंतन, सभी तीर्थों परम्पराओं का चिंतन समाता गया। उन्होंने इस चिंतन के सहारे ही सिद्ध किया कि बड़ा कवि वाक् सिद्ध होता है और उससे भी बड़ा कवि रस सिद्ध होता है।

एक कवि-उपन्यासकार-कहानीकार के रूप में तो अज्ञेय का प्रदेय अद्वितीय है ही, लेकिन उनके लेखक के अन्य पक्ष भी हमें कम सम्पन्न नहीं बनाते हैं। अज्ञेय ने अपने अनुभवों का निचोड़ चार डायरियों में भर दिया है। इस चिंतन को उन्होंने अंतःप्रक्रियाएँ कहा है। चार डायरियाँ *भवन्ती*, *अंतरा*, *शाश्वती* और *शेषा* में जीवन भर की कमायी है जो हमारे साहित्य चिंतन और साहित्य-लोचन को एक नया आलोक देती है। अज्ञेय के यात्रा-वृत्तांतों, संस्मरणों तथा जर्नल्स के लेखन ने साहित्य के एक क्षेत्र विशेष को बहुत बड़ा अवदान दिया है। उन्होंने भागवत भूमि यात्रा और जन-जनक जानकी यात्रा करके पूरे देश के सांस्कृतिक मन को समझने का प्रयास किया।

साहित्य और पत्रकारिता के साथ अज्ञेय ने अनुवाद-कर्म की सत्ता-महत्ता को भी पहचाना है। स्वयं अपनी कविताओं और उपन्यासों का अनुवाद करने के साथ-साथ देशी-विदेशी विद्वानों के साथ तमाम अनुवाद किये। जैनेंद्र के उपन्यास *त्यागपत्र* का तथा धर्मवीर भारती के *सूरज का सातवाँ घोड़ा* का अंग्रेजी अनुवाद किया। अज्ञेय के इस व्यापक अनुवाद-कार्य ने उनकी मानसिकता को दूर तक प्रभावित

किया। एक-एक शब्द को लेकर वे जूझे। *त्रिशंकु* निबंध-संग्रह में अज्ञेय ने टी.एस. एलियट के विश्व-प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडिशन ऐंड इण्डिविजुअल टेलेंट' का 'रूढ़ि और मौलिकता' नाम से छायानुवाद करके उन्होंने पाठकों को चकित कर दिया। अज्ञेय ने ट्रेडिशन का अनुवाद परम्परा न करके रूढ़ि किया और कहा रूढ़ि भी गतिशीलता की निष्पत्ति करती है। रूढ़ियाँ जड़ता नहीं हैं, गतिशील मनोव्यापार हैं जिन के दम पर साहित्य पलता-चलता है।

कविता और कथा-साहित्य की तरह अज्ञेय ने हिंदी निबंध को एक नवीन दिशा दी है। काल चिंतन पर तो हिंदी में पहली बार उन्होंने ही निबंध लेखन किया। अज्ञेय के एक दर्जन से ज्यादा निबंध संग्रह प्रकाशित हुए। जीवन भर अज्ञेय अपने निबंधों द्वारा स्वाधीनता और स्वाधीन चिंतन की खोज को बनाते रहे। एक रचनाकार-आलोचक की दृष्टि से वे काव्य, कला, इतिहास, आध्यात्मिकता, भाषा, सम्प्रेषण, परम्परा, आधुनिकता, प्रयोग, प्रगति से जुड़े प्रश्नों पर अपने निबंधों में मूल्यांकनपरक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे देश-विदेश की विचारधाराओं, साहित्यक प्रवृत्तियों और आंदोलनों को छान कर हिंदी में लाते रहे और इस तरह हिंदी के नवीन काव्यशास्त्र की नींव रखी। इन चिंतनपरक निबंधों ने नये लेखकों की समस्याओं पर कई कोणों से विचार किया है।

इंटरव्यू या साक्षात्कार को एक विधा के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने वालों में अज्ञेय अग्रणी हैं। अज्ञेयजी से इंटरव्यू के पाँच संग्रह मौजूद हैं। अनेक साक्षात्कार पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इसलाम, कुमार आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, जय प्रकाश नारायण, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरुंडेल, विनोबा भावे, वल्लत्तोल नारायण मेनन, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. नंदकिशोर आचार्य (सम्पा.) (2001), *अज्ञेय संचयिता*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. कृष्णदत्त पालीवाल (2012), *अज्ञेय होने का अर्थ*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. अज्ञेय (2009), *कवि कर्म का संकट*, किताबघर, प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. कृष्णदत्त पालीवाल (2012-13), *अज्ञेय रचनावली* (18 खण्डों में), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

संघवाद

(Federalism)

सत्रहवीं सदी में ब्रिटेन और न्यू इंग्लैण्ड के ईसाई धर्मशास्त्रियों ने ईश्वर और मनुष्य के बीच पवित्र और स्थाई क्रिस्म की संघात्मकता कल्पित करते समय लैटिन भाषा के शब्द *फ़ोइडस* (कोवेनांट या प्रतिज्ञापत्र) की मदद से फ़ेडरल शब्द गढ़ा था। उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सिद्धांतकारों ने इस पद का इस्तेमाल सामाजिक समझौते की थीसिस से जुड़े कई विचारों के विकास के लिए किया। अपने व्यापकतम अर्थों में फ़ेडरलिज़म का मतलब है लोगों और संस्थाओं को परस्पर सहमति से किसी ख़ास मक़सद के लिए आपस में इस प्रकार जोड़ना कि उनकी निजी अस्मिताओं का किसी भी तरह से क्षय न हो। एक राजनीतिक प्रणाली के रूप में फ़ेडरलिज़म की लोकप्रियता 1787 में संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान पारित होने के बाद बढ़ती चली गयी। अमेरिकी संघवाद के अनुभव ने न केवल स्विट्ज़रलैण्ड, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया द्वारा अपनायी गयी संघात्मकता को प्रेरणा दी, बल्कि अगले दो सौ सालों तक उसी के आधार पर संघीय उसूल की रूपरेखा तय होती रही। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद युरोप, एशिया, अफ़्रीका, मध्य-पूर्व और कैरेबियन द्वीप समूह के देशों ने राष्ट्र-निर्माण की युक्ति के रूप में संघवाद अपनाया। संघवाद के ये अनुभव अमेरिकी मानक से अलग तरह के थे। इनकी रोशनी में संघात्मकता पर होने वाले अनुसंधान में विविधता आयी।

संघीय प्रणाली एक केंद्र और उसके साथ जुड़े क्षेत्रों (जिन्हें आम तौर से राज्य या प्रदेश या प्रांत कहा जाता है) परस्पर विन्यास से बनी होती है। इन इकाइयों के बीच साझा शासन और स्व-शासन प्रोत्साहित करते हुए एक-दूसरे के हितों को संतुलित करने की पद्धति पर अमल किया जाता है। यह विधि एक तरफ़ तो राष्ट्र के भीतरी विन्यास में बहुसंख्यकों की मनमानी सीमित करते हुए छोटी इकाइयों के हित-साधन की गारंटी करती है, और दूसरी तरफ़ केंद्र को सुदृढ़ भी करती जाती है। इसके तहत क्रिस्म-क्रिस्म की राजनीतिक संस्कृतियाँ और अस्मिताएँ प्रभावी और साझा राजनीतिक कार्रवाई करने में समर्थ हो पाती हैं। संघवाद के अमेरिकी विद्वान डेनियल जे. एलाज़ार के अनुसार संघीय सिद्धांत व्यावहारिक रूप ग्रहण करने के लिए कुछ विशेष प्रस्थानबिंदुओं की माँग करता है। उसके तहत संघीय राज्यप्रणाली अपनी ताक़त किसी राष्ट्रीय सरकार से प्राप्त न करे समग्र राष्ट्र में निवेशित प्राधिकार से हासिल करती है। संघीय प्रणाली के तहत काम करने वाली सभी सरकारें, चाहे वे राष्ट्रीय हों या क्षेत्रीय, उन्हीं शक्तियों और अधिकारों का

उपभोग कर सकती हैं जिन्हें समान रूप से लागू होने वाले संविधान द्वारा लैस किया गया है।

संघवाद पर आधारित राज्य कई तरह के हो सकते हैं। उनका संघवाद उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों और राजनीति विकास के रुझानों पर निर्भर करता है। ऐसी संघात्मक प्रणालियाँ भी हैं जिन पर केंद्राभिमुखता हावी रहती है। ऐसे बंदोबस्त के तहत हुए शक्तियों के बँटवारे में केंद्र के पास राज्यों के मुकाबले अधिक और ऊँचे महत्त्व के अधिकार होते हैं (फ़ेडरलिज़म विद युनिटरी बाइस)। भारतीय संघवाद के बारे में अक्सर यही कहा जाता है कि उसमें केंद्र की शक्तियाँ राज्यों के मुकाबले कहीं अधिक हैं। संघवाद की एक अन्य क्रिस्म परस्पर मज़बूत बंधनों में बँधे हुए केंद्र और राज्यों से बनती है (स्ट्रॉंगली नेस्टिड फ़ेडरलिज़म)। इसके तहत केंद्र और राज्य न केवल परस्पर सहयोग के साथ सक्रिय रहते हैं, बल्कि केंद्र अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने के साथ-साथ राज्यों को उनकी जिम्मेदारियाँ निभाने में मदद भी करता है। इसी प्रकार आपस में ढीले-ढाले संबंधों से जुड़े हुए राज्य और केंद्र भी एक प्रकार का संघवाद बनाते हैं (वीकली नेस्टिड फ़ेडरलिज़म)। इसके तहत दोनों सरकारें अपने काम अलग-अलग करती हैं और इसके लिए उनमें परस्पर निर्भरता नहीं होती। भारत अगर पहले क्रिस्म का संघवाद है तो अमेरिका दूसरे क्रिस्म के संघवाद का नमूना है। दोनों क्रिस्म के संघवाद टिकाऊ साबित हुए हैं। दोनों में अधिकारों और शक्तियों के बँटवारे की अवधारणात्मक डिज़ाइन भी अलग-अलग है। अमेरिकी संघवाद अपनी घटक-इकाइयों के लिए शक्तियों का जो बंदोबस्त करता है वह पार्थक्य के सिद्धांत पर आधारित है। वहाँ किसी एक इकाई की शक्ति बढ़ने का मतलब है, दूसरे की कम होना। जबकि भारत में यही बंदोबस्त सहयोगात्मकता के उसूल पर टिका हुआ है। यहाँ विभिन्न इकाइयाँ अधिक से अधिक शक्तियाँ हासिल करने के लिए प्रयास कर सकती हैं, और उनके इस प्रयास से प्रणाली को भी नुकसान नहीं होगा।

एक राजनीतिक प्रणाली के रूप में संघवाद की सफलता और लोकप्रियता ने उसके अंत की भविष्यवाणी को ग़लत साबित किया है। 1939 में हैरल्ड लास्की ने घोषित कर दिया था कि संघवाद का युग अब समाप्त हो चुका है। लेकिन उत्तरी अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के दौरान और उसके बाद वि-उपनिवेशीकरण के दौर में संघवाद ख़ासे बड़े आकार की राजनीतिक प्रणालियों की रचना करने के लिए उपयोगी साबित हुआ। इसके अलावा जातीय विविधता से सम्पन्न भौगोलिक क्षेत्रों में तो संघवाद प्रमुख जातीय समूहों के बीच सत्ता के बँटवारे के कारगर उसूल के रूप में संघवाद सुविधाजनक निकला।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी की शुरुआत में राजनीतिशास्त्र का अनुशासन विकसित होने से पहले संघवाद पर अधिकतर अनुसंधान मानकीय दायरे में होता था। तीस और चालीस के दशक में नयी पीढ़ी के समाजवैज्ञानिकों ने इस विषय में आनुभविक अनुसंधान का दौर शुरू किया। उन्होंने संघात्मक प्रणालियों के कुछ खास लक्षणों को प्रश्नांकित करते हुए पता लगाने की कोशिश की कि संघीय ढाँचा व्यवस्था के अन्य घटकों (विभिन्न हित-समूह और राजनीतिक दल) के कामकाज और विकास पर कैसे प्रभाव डालता है। साठ के दशक तक तुलनात्मक राजनीति के अध्येता और लोक प्रशासन में दिलचस्पी रखने वाले विद्वान भी अपने-अपने दृष्टिकोणों से संघवाद का अध्ययन करने लगे। इन लोगों ने संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और स्विट्ज़रलैण्ड की संघीय प्रणालियों की बारीकी से छानबीन की। साथ में द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विकासशील देशों में हुए संघवाद के प्रयोग पर भी निगाह डाली गयी। सत्तर के दशक से संघवाद के अध्येताओं ने इस प्रणाली को शासन के विभिन्न स्तरों के बीच गतिशील अन्योन्यक्रिया के संदर्भ में समझना शुरू किया। इसके बात अर्थशास्त्री, सार्वजनिक वित्त के विशेषज्ञ और अन्य राजनीतिशास्त्री संघवाद में विशेष दिलचस्पी लेने लगे। उन्होंने देखा कि संघीय प्रणाली के तहत काम करने वाली सरकारें अपने मौजूदा बंदोबस्त को सुधारने के लिए लगातार कमेटियाँ और आयोगों की नियुक्ति करती रहती हैं। बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों में संघवाद से संबंधित अनुसंधान में और भी गहराई आयी है।

विद्वानों ने यह देखने की कोशिश भी की है कि संघीय प्रणाली स्वीकार करने के पीछे क्या कारण हो सकते हैं। भारत, पाकिस्तान, मलाया और मलेशिया, नाइजीरिया, रोडेशिया और न्यासालैण्ड और वेस्टइण्डीज में हुए छह संघीय प्रयोगों का अध्ययन करके नतीजा निकाला गया है कि इन सभी में दो कारण समान हैं। पहला, ये सभी समाज किसी न किसी हद तक विविधतामूलक थे और क्षेत्रीय आधार पर स्वायत्तता की माँगे की जा रही थीं। दूसरा, इन सभी समाजों की राजनीति के एक सिरे पर कुछ निश्चित उद्देश्यों से एकजुट होने की ज़बरदस्त इच्छा काम कर रही थी, और दूसरे सिरे पर अलग-अलग जीवन-शैलियों और हितों की हिफाजत के लिए स्वायत्त क्षेत्रीय सरकारों के गठन की गहरी कामना भी अपना असर डाल रही थी। अर्थात् एक तरफ़ विभाजित होने प्रवृत्ति थी, और दूसरी ओर भू-क्षेत्रीय एकीकरण की। इन दोनों पहलुओं को एक ही धरातल पर लाने का समीकरण केवल संघीय पद्धति के माध्यम से ही सम्भव हो सकता था।

1988 में इंटरनेशनल पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन की कम्परेटिव फ़ेडरल रिसर्च कमेटी द्वारा किये गये

तुलनात्मक अध्ययन से पता चला है कि अधिकतर संघीय प्रणालियों में विधायी शक्तियों के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। विकेंद्रीकरण पर जोर देने वाली प्रणालियों की संख्या खत्म नहीं हुई है, पर बहुत कम ज़रूर हो गयी है। राजनीतिशास्त्र में इस परिघटना की व्याख्या मुख्य तौर से दो तर्कों के तहत की गयी है : पहला तर्क मानता है कि जटिल संरचना वाले सभी समाजों में केंद्रीय (संघीय) सरकार और क्षेत्रीय सरकारें काफ़ी हद तक परस्पर निर्भर होती हैं। उनमें से अगर कोई साँस भी लेता है तो दूसरे पर उसका असर पड़ना लाज़मी है। ऐसे हालात में केंद्रीय सरकार स्वाभाविक रूप से नियंत्रक की स्थिति में आ जाती है। प्रणाली के विभिन्न स्तरों पर राजकोषीय संसाधनों का बँटवारा भी तय करता है कि केंद्र और क्षेत्रों के बीच किस तरह के संबंध होंगे। दूसरा तर्क समाज की संरचना पर ध्यान देने का पैरोकार है : समाज किन हितों से मिल कर बना है, उनकी विविधता और भौगोलिक वितरण किस क्रिस्म का है। समाज की यह बनावट ही तय करती है कि संघीय प्रणाली का रुझान केंद्रीकरण की तरफ़ होगा या विकेंद्रीकरण की ओर।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यों ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़ेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. आर.एल. वाट्स (1966), *न्यू फ़ेडरेशंस : एक्सपेरीमेंट्स इन द कॉमनवेल्थ*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. सी.एल. जॉन-ब्राउन (सम्पा.) (1988), *सेंट्रलाइज़िंग ऐंड डिसेंट्रलाइज़िंग ट्रेड्स इन फ़ेडरल स्टेट्स*, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ अमेरिका, लैनहैम.
3. सी.जे. फ़्रीड्रिश (1968), *ट्रेड्स ऑफ़ फ़ेडरलिज़म इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, प्रैजर, न्यूयॉर्क.
4. एलिस जैकब (1992), 'इंस्टीट्यूशनल डायमेंशन ऑफ़

इंटरगवर्नमेंटल कोआपरेशन', निर्मल मुखर्जी और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.), फ़ेडरलिज़म इन इण्डिया : ओरिजिंस ऐंड डिवेलपमेंट, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

संचार

(Communication)

संचार का सीधा सा मतलब है दो या दो से अधिक कर्ताओं के बीच सूचनाओं और संवादों का आदान-प्रदान। संचार को सफल बनाने के लिए ज़रूरी है कि दोनों पक्ष आपस में भेजे गये संदेशों और संकेतों को पहचानने और समझने की क्षमता से लैस हों। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मदद से यह परस्पर विनिमय उत्तरोत्तर सहज और सुगम होता जा रहा है। मानवीय इतिहास की किसी भी अवधि के मुक़ाबले आज संचार में कहीं कम समय लगता है और एक सिरे से भेजा जाने वाला संदेश अपनी क्वालिटी में आयी किसी भी गिरावट के बिना इच्छित प्राप्तकर्ता के पास पहुँच जाता है। लेकिन, संचार केवल विज्ञान और प्रौद्योगिकी के दायरे की ही परिघटना नहीं है। यह मनुष्यों और मनुष्यों के बीच, मानवों और गैर-मानवों के बीच, समुदायों और समुदायों के बीच, संगठनों और संस्थाओं बीच सम्पर्क और संवाद की शर्त है। इसके साथ कला, साहित्य, संस्कृति, मीडिया और प्रोपेगंडे की धारणाएँ जुड़ी हुई हैं। समाज-विज्ञान ने इस विषय में गहन चिंतन किया है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न अनुशासनों के तहत संचार संबंधी कई सिद्धांत सामने आये हैं। संचार पर मानकीय शोध भी किया गया है, और आनुभविक भी। यूरोप में संरचनागत भाषाशास्त्र और रूसी रूपवाद ने, अमेरिका में तुलनात्मक भाषाशास्त्र ने, अमेरिकी समाज-विज्ञान द्वारा स्थापित आनुभविक अनुसंधान की परम्पराओं ने, मीडिया की ग्लोबल संस्थाओं ने और कनाडा में साहित्य-इतिहास के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों ने इस क्षेत्र में विशेष योगदान किया है। बीसवीं सदी के मध्य में संचार संबंधी अध्ययन ने एक प्रमुख अनुशासन के रूप में उभरने की कोशिश की थी। यह अलग बात है कि अलग-अलग किये गये इन तमाम महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रयासों के बावजूद आज संचार-अध्ययन का कोई सुपरिभाषित अनुशासन मौजूद नहीं है।

आधुनिक युग में संचार संबंधी प्रौद्योगिक चिंतन की शुरुआत 1948 में प्रकाशित क्लॉड शैन्न की गणितीय रचना *द मैथेमेटिकल थियरी ऑफ़ कम्युनिकेशन* से मानी जाती

है। शैन्न बैल टेलिफोन कम्पनी में काम करते थे। शैन्न के लिए संचार एक इंजीनियरिंग संबंधी प्रश्न है, न कि समाजशास्त्रीय। इस लेख की केंद्रीय जिज्ञासा यह है कि कोई भी संचार-प्रणाली किसी सूचना-संदेश को कैसे संसाधित करती है। आज की भाषा में इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि एक मोबाइल फ़ोन वह टेक्स्ट मैसेज कैसे भेज देता है जिसकी जानकारी उस फ़ोन की डिज़ाइन बनाने वाले इंजीनियर को पहले से नहीं थी। शैन्न के पास इसका जवाब यह था कि कुछ पूर्व-परिभाषित चरों (वेरिएबल्स) के माध्यम से वह संदेश बनता और स्थानांतरित होता है। इस तरह शैन्न संचार को एक अर्थ-विषयक (सीमेंटिक) समस्या के रूप में न देख कर एक सांख्यिकीय सम्भावना की तरह पेश करते हैं। उनका बुनियादी विचार यह है कि उत्पादन और प्रसारण की एक निश्चित दर के आधार पर एक निश्चित मात्रा में सूचना उस समय पैदा होती है जब किसी संदेश के माध्यम से पूर्व-परिभाषित चरों में से कुछ का चयन किया जाता है। संदेश जारी करने वाली प्रणाली जितनी जटिल होगी, वह अपने प्रयोगकर्ता को उतनी ही ज़्यादा संख्या में पूर्व-परिभाषित चरों में से चुनाव करने का मौक़ा देगी। चयन का अवसर जितना बड़ा होगा, प्रणाली उतनी बढ़ी हुई दर से सूचना का उत्पादन और प्रसारण कर पायेगी। शैन्न के अनुसार ऐसी किसी भी प्रणाली के पाँच बुनियादी घटक होते हैं : सूचना का स्रोत (मनुष्य या मशीन), ट्रांसमीटर (संदेश को कोड्स में बदल कर सिगनल बनाना), चैनल (माध्यम जिससे सिगनल प्रसारित होगा), रिसीवर (जो कोड्स को डिकोड करेगा) और डेस्टिनेशन यानी सूचना की मंजिल। सूचना भेजने की इस प्रक्रिया में शोर-गुल या कोलाहल की दखलंदाज़ी से वह विकृति का शिकार हो सकती है। यहीं रिसीवर की अहमियत पैदा होती है जो प्राप्त कोड्स (चाहे वे टेलिफ़ोनी के ध्वन्यात्मक कोड हों या डॉट-डैश सरीखे वायरलैस कोड हों) को डिकोड करके मंजिल तक पहुँचाता है।

समाजशास्त्र के विद्वानों ने समुदाय और संचार के बीच व्युत्पत्तिमूलक संबंध देखने पर जोर दिया है। इस दृष्टि के पीछे अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विचार है कि राज्य की संस्था एक ऐसा समुदाय है जिसके भीतर विविध परिप्रेक्ष्य काम करते हैं। संचार के माध्यम से उन परिप्रेक्ष्यों के बीच संवाद क्रायम रहता है और वे एकजुट रह पाते हैं। अरस्तू के इसी विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी समुदाय का राजनीतिक और नैतिक मूल्य उसके भीतर सम्भव होने वाले संचार के आधार पर ही तय होता है। विज्ञान के दार्शनिक चार्ल्स सेंडर्स पर्स ने इसी तर्ज़ पर एक आदर्श वैज्ञानिक समुदाय की कल्पना की है जिसके हर भागीदार के बीच खुला और मुक्त संचार होगा। इस कल्पनाशीलता के परिणामस्वरूप ही यह धारणा

बनी कि खुला संचार उत्तम विज्ञान की पूर्व-शर्त है।

एक सम्पूर्ण और त्रुटिहीन संचार के निरूपण के लिए युरगन हैबरमास ने 'आदर्श अभिव्यक्ति की परिस्थिति' संकल्पित की है। हैबरमास के मुताबिक आदर्श अभिव्यक्ति की परिस्थिति केवल तभी हो सकती है जब सभी संबंधित व्यक्ति पूरी गम्भीरता और निष्ठा के साथ, तथ्यात्मक ईमानदारी बरतते हुए और अपने कहे के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का भाव रखते हुए एक-दूसरे को प्रश्नांकित कर सकें। ज़ाहिर है कि हकीकत में ऐसी आदर्श परिस्थिति कभी नहीं मिलती। राजनीतिक और विचारधारात्मक संरचनाएँ अभिव्यक्ति को हमेशा विकृत करती रहती हैं जिसके कारण कुछ समूहों और व्यक्तियों की संचार-प्रक्रिया में भागीदारी बाधित हो जाती है।

मनुष्यों और मनुष्यों के बीच और एक हद तक गौर-मानवों के बीच संचार के प्रश्न में भाषाशास्त्रियों के हस्तक्षेप ने संचार संबंधी अध्ययनों को काफी समृद्ध किया है। युरोपीय संरचनागत भाषाशास्त्र और रूसी रूपवाद के पैरोकारों की मान्यता है कि सभी मानवीय भाषाओं के आधार में कुछ बुनियादी संरचनाएँ होती हैं। इसी मान्यता के तहत स्विस् भाषाशास्त्री सॅस्यूर ने कोशिश की थी कि किसी एक भाषा के दायरे में शिनाख्त करने के बजाय ऐसे सूचक तत्त्वों के आपसी संयोग को एक सामान्य सिद्धांत के तौर पर प्रतिपादित किया जाए। इस भाषा संबंधी नज़रिये के आधार पर अन्य 'सूचक प्रणालियों' को पहचानने और समझने की भी कोशिशें की गयीं। रूसी रूपवादियों ने इसे साहित्य की कृतियों, लोकगाथाओं, कथानक आधारित सिनेमा और परिणामस्वरूप संस्कृति के समग्र जगत पर लागू करने का प्रयास भी किया।

भाषाई संचार की मुश्तरका संरचनाओं के बारे में जब युरोप यह चिंतन कर रहा था, उसी समय अमेरिका में फले-फूले तुलनात्मक भाषाशास्त्र ने बेंजामिन ली वोर्फ और ऐडमण्ड सैपिर के प्रभाव में 'भाषाई सापेक्षता' के विचार का प्रतिपादन किया। इन लोगों की मान्यता थी कि मनुष्य का बोध भाषा के हाथों संगठित होता है और विभिन्न भाषाएँ इस बोध का विन्यास भिन्न-भिन्न ढंग से करती हैं। इस विचार का परिणाम इस मान्यता में निकला कि संचार प्रणालियों के हाथों दुनिया जिस तरह से व्यवस्थित हुई है उसी तरह के आईने में देख कर यथार्थ की समझ बनती है। संस्कृतियाँ भिन्न हैं, भाषाएँ भिन्न हैं। इसलिए संचार अलग-अलग तरह से संस्कृतियों के जगत को विन्यस्त करता है इसलिए परिणामस्वरूप अलग-अलग तरह के यथार्थों का सृजन होता है।

संरचनागत मानवशास्त्र के फ्रांसीसी विद्वान क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस ने संचार की अवधारणा को संस्कृति के दो अन्य बुनियादी पहलुओं से जोड़ा है। वे कहते हैं कि संस्कृतियों में

विवाह, स्त्री और धन की परिघटना पर गौर करके संकेतों और सूचकों की ऐसी अभिव्यक्ति पहचानी जा सकती है जिनके आधार पर मानवीय मस्तिष्क की कुछ सार्वभौम संरचनाओं का पता लगाया जा सकता है।

संचार पर हुआ आनुभविक चिंतन अमेरिकी समाज-विज्ञान की देन है। इसका संबंध मास-सोसाइटी की धारणा से है। इसका प्रस्थान बिंदु यह जानने की कोशिश थी कि मास-सोसाइटी के विभिन्न घटक आपस में संचार कैसे स्थापित करते हैं। एक तरफ तो यह समझ थी कि मास-सोसाइटी ऐसे लोगों के समूहों से बनी है जो एक-दूसरे से अपरिचित होने के साथ-साथ राजनीतिक और व्यावसायिक अभिजन से भी अपरिचित हैं। लेकिन दूसरी तरफ यह मान्यता भी थी कि मास-सोसाइटी की रचना संवैधानिक रूप से सम्प्रभु नागरिकों और व्यावसायिक रूप से सम्प्रभु उपभोक्ताओं ने मिल कर की है। इस विरोधाभासी स्थिति में संचार की धारणा और भी महत्वपूर्ण हो कर उभरी। आनुभविक पैटर्न पर अनुसंधान करने वालों ने विज्ञापन, पत्रकारिता, जन-सम्पर्क और राजनीतिक प्रोपेगंडे को अपनी शोध परियोजनाओं का केंद्र बनाया। मनोरंजन-उद्योग द्वारा डाले गये प्रभाव पर इस लिहाज़ से गौर किया गया कि 'मासेज' की दिलजोई के लिए जो कार्यक्रम बनाये जाते हैं उसका असर उस व्यक्ति पर क्या पड़ता है जिसकी अस्मिता अनजानी है पर जिसे अपने-आप में एक सम्प्रभु शख्स भी माना जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमेरिकी, जापान और युरोप में आये आर्थिक उछाल को टिकाये रखने के लिए ज़रूरी था कि उपभोक्ताओं के आशावाद और रुझानों का पता लगा कर उसके आधार पर कुछ सामान्यीकृत क्रिस्म के सिद्धांत गढ़े जाएँ जिससे व्यावसायिक क्षेत्र की मदद हो सके। इसी दृष्टि से खोले गये यूएस स्कूल ऑफ़ कम्प्युनिकेशन ने मीडिया, जन-सम्पर्क, विज्ञापन और पत्रकारिता को भी अपने पाठ्यक्रम और रिसर्च-एजेंडे में शामिल किया। दूसरी तरफ़ कनाडा के साहित्य-इतिहासकार मार्शल मेकलुहन ने भी संज्ञानात्मक मनोविज्ञान और हैरल्ड इनेस के संचार-दर्शन की मदद से मीडिया, विज्ञापन और टेलिविज़न के बारे में कई बेहतर और मौलिक सूत्रीकरण किये जिनसे न केवल संचार विषयक अध्ययनों को नयी विचारणीय सामग्री मिली, बल्कि व्यावसायिक क्षेत्र ने भी मैकलुहन की बातों से काफ़ी-कुछ सीखा।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ार संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया

और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. युरगन हैबरमास (1970), 'ऑन सिस्टमैटिकली डिस्टॉर्टेड कम्युनिकेशन' और 'टुवर्ड्स अ थियरी ऑफ कम्युनिकेटिव काम्पिटेन्स', *इनक्वारी*, 13.
2. रेमण्ड विलियम्स (1962), *कम्युनिकेशंस*, पेंगइन, हारमंड्सवर्थ.
3. वी.एल. लीमोर (1972), *हिडिन मिथ : स्टूक्चर ऐंड सिम्बोलिज्म इन एडवर्टाइजिंग*, हाइनमान, लंदन.
4. एच.एम. एनजेंसबर्गर (1974), *द कांशसनेस इंडस्ट्री*, सीबरी प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. क्लॉड शैनन और वारेन वीवर (1949), *द मैथेमेटिकल थियरी ऑफ कम्युनिकेशन*, युनिवर्सिटी ऑफ इलिनॉय प्रेस, अरबाना.

— अभय कुमार दुबे

संत ऑगस्टीन

(Saint Augustine)

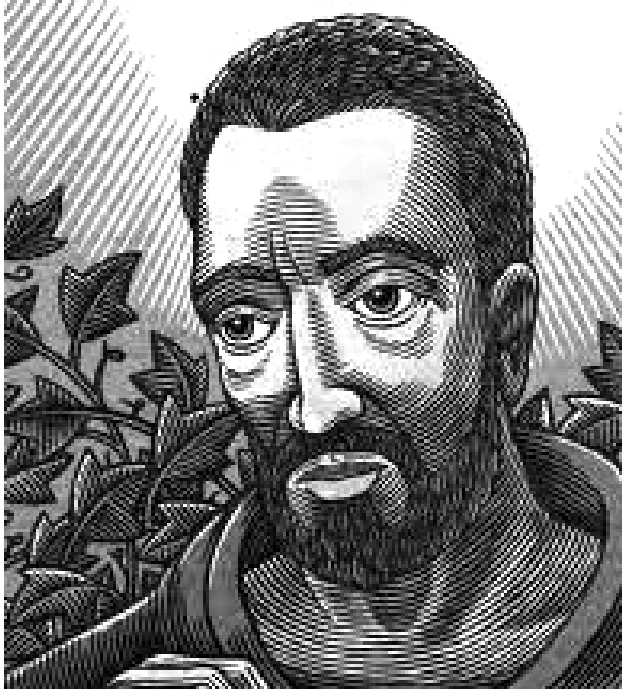
राज्य की संस्था और ईसाइयत के बीच संबंधों को दार्शनिक और संस्थागत ढाँचा प्रदान करने का श्रेय धर्मशास्त्री और राजनीतिक दर्शन के महारथी संत ऑगस्टीन ऑफ हिप्पो (345-430) को जाता है। उनकी महान रचना *सिटी ऑफ गॉड* में मनुष्य की नियति, संकल्प और राज्य के प्रति उसके कर्तव्य की व्याख्या करने वाले सूत्र पेश किये गये हैं। ऑगस्टीन का यह चिंतन मध्य युग में क्रि.पू. आठ सौ साल तक ईसाई समाजों के राजनीतिक जीवन को गहराई से प्रभावित करता रहा। आगे चल कर सेकुलर-राज्य के राजनीतिक-सैद्धांतिक आधार की रचना में भी ऑगस्टीन के सूत्रीकरणों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। धर्म-प्रचारक होने के बावजूद ऑगस्टीन ने कभी धर्मतंत्रीय राज्य की वकालत नहीं की। उनकी मान्यता थी कि ईसाई पुरोहितों को सुशासन देने वाली सरकार के साथ कंधे से कंधा मिला कर काम करना चाहिए ताकि अपनी भ्रष्ट प्रकृति के कारण पतन के लिए अभिशप्त मनुष्य की गिरावट को रोका जा सके। आदम द्वारा किये गये ऑरिजिनल सिन (मूल-पाप) के ईसाई दृष्टांत के आधार पर ऑगस्टीन ने निष्कर्ष निकाला कि काम-वासना के अधीन हो कर मनुष्य गलत चुनाव करने पर मजबूर हो जाता है। इसलिए व्यवस्था और नागरिक शांति रखने के लिए उसे सरकार की जरूरत पड़ती है। ऑगस्टीन द्वारा स्वलिखित अपने शुरुआती जीवन की कथा *कनफेशंस* ने दुनिया की जिन महान हस्तियों को प्रभावित किया है, उनमें गाँधी का

नाम भी शामिल है।

ऑगस्टीन का जन्म उत्तरी अफ्रीका के उस इलाके में हुआ था जिसे आज अल्जीरिया कहा जाता है। उनकी माँ ईसाई थीं, लेकिन बचपन में खुद उन्हें ईसाई धर्म नहीं भाया। युवक ऑगस्टीन को दर्शनशास्त्र पसंद था। उन्होंने सिसरो का अध्ययन करके राजनीतिक सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त किया और प्लोटिनस को पढ़ कर अफलातून के दर्शन की जानकारी हासिल की। 384 में वे मिलान के एक विद्यालय में अलंकारशास्त्र के अध्यापक बन गये। इसी शहर में उनका सम्पर्क संत एम्ब्रोस से हुआ जिनके प्रभाव में उनकी ईसाइयत की तरफ वापसी हुई। अपने आत्मकथ्य *कनफेशंस* में उन्होंने अपने इस ऊहापोह का अनूठा वर्णन किया है। 391 में वे पादरी बने और पाँच साल बाद अल्जीरिया लौट कर हिप्पो के बिशप का कार्यभार संभाला। इसके बाद ऑगस्टीन का बाकी जीवन उत्तरी अफ्रीका के इसी क्षेत्र में गुजरा।

ऑगस्टीन ने *सिटी ऑफ गॉड* का लेखन 413 और 425 के बीच पूरा किया। जिस समय वे अपनी उम्र के तीसरे दशक से गुजर रहे थे, उसी दौरान 380 के दशक में सम्राट कांस्टेताइन ने ईसाइयत को अधिकारिक रोमन धर्म का दर्जा दे कर ईसाइयों के सरकारी दमन का अंत कर दिया। राज्य के समर्थन से चर्च संस्थागत रूप लेने लगा। ईसाई बिशप के रूप में ऑगस्टीन उत्तरी अफ्रीका के जिस इलाके में सक्रिय थे (आज का अल्जीरिया), वहाँ का चर्च क्रानूनी और राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त था। कई तरह की सैद्धांतिक बहसों हो रही थीं। ऑगस्टीन ने इन धर्मशास्त्रीय और राजनीतिक विवादों में हिस्सा लेते हुए विपुल लेखन किया और ईसाई राजनीतिक सिद्धांतशास्त्र के प्रमुख शिल्पी के रूप में उभरे। उनकी शुरुआती शिक्षा अलंकारशास्त्र (रेटोरिक) में हुई थी, इसलिए उनकी रचनाएँ कल्पनाप्रवण और प्रभावशाली साबित हुईं।

बर्बरों की फ़ौजों ने 410 में अपने भीषण आक्रमण से रोम को नष्ट कर दिया। आलोचकों ने इलजाम लगाया कि अगर ईसाइयत ने राज्य की संस्था को बचाने में दिलचस्पी दिखाई होती तो रोम की रक्षा की जा सकती थी। इस आरोप को टुकराते हुए ऑगस्टीन ने एक-एक करके अपने राजनीतिक सिद्धांत विकसित करने शुरू किये। उन्होंने दावा किया कि मनुष्य की मुक्ति इतिहास के दायरे में न होकर ऐतिहासिक काल के परे होगी। इतिहास तो मनुष्य के पाप और उससे छुटकारे के घटनात्मक नाटक का एक सिलसिला भर है जिसकी नियति ईश्वर ने तय की है। इसलिए पृथ्वी पर स्थापित किसी राज्य को बाहरी और भीतरी आक्रमणों से बचाने की गारंटी नहीं की जा सकती। उन्होंने कहा कि रोम के पतन से भी बड़ा संकट वह था जो जन्म में आदम और हव्वा द्वारा वर्जित फल खाते समय घटित हुआ था। आदम के उसी पतन के क्षण से इतिहास हमेशा के लिए दो प्रदेशों में



संत ऑगस्तीन ऑफ हिप्पो (345-430)

बँट गया। ईश्वर के प्रति निष्ठा रखने वाला प्रदेश सिटी ऑफ गॉड कहलाया और मनुष्य के आत्म-मोह से निष्ठा रखने वाला प्रदेश सिटी ऑफ मैन बना।

ऑगस्तीन ने यूनान और रोम में विकसित हुए राजनीतिक दर्शन की दावेदारियों को खारिज कर दिया। हालाँकि उनके चिंतन को ईसाई नियोप्लेटोनिज्म की श्रेणी में रखा जाता है, लेकिन प्लेटो और अरस्तू से भिन्न रास्ता अपनाते हुए उन्होंने मानवीय स्वभाव को बुद्धिसंगत, विचार-विमर्श प्रधान और परस्पर सहयोग की भावना से ओतप्रोत मानने से इनकार किया। ऑगस्तीन का कहना था कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाते समय उसे पशुओं के ऊपर तो अधिकार दिया, पर साथी मनुष्यों के ऊपर नहीं। यद्यपि मनुष्य एक प्राकृतिक क़ानून के तहत दूसरों के साथ समरसता और समानता के साथ रह सकता था, पर उसके जीवन में पाप के प्रवेश ने परस्पर सहयोग की सम्भावनाओं को ख़त्म कर दिया। इसीलिए बुद्धिसंगत और न्यायसंगत आधारों पर खड़े किये गये राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेने भर से मनुष्य को पूर्णता मिल जाने का विचार बचकाना है। केवल ईश्वर के दैवी आदेश से सम्पन्न राज्य को ही उत्तम माना जा सकता है। केवल इसी राज्य में आदम के आदि-पाप के फलितार्थों से ग्रस्त मनुष्य एक हद तक शांति प्राप्त कर सकता है।

ऑगस्तीन के अनुसार आदम के इसी आदि-पाप के कारण मनुष्य विवेकहीन आत्म-मोह का शिकार हो कर आत्म-ज्ञान और आत्म-नियंत्रण से वंचित हो गया है। चूँकि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है, इसलिए वह हमेशा से जानता

था कि आदम पाप करने वाला है। चूँकि ईश्वर दयालु भी है इसलिए उसने तय किया कि वह अपनी कृपा से कुछ ऐसे लोगों को मुक्ति ज़रूर दिलाएगा जो आत्म-मोह के ऊपर ईश्वर-प्रेम को तरजीह देते हुए लालच, घमण्ड और वासना को त्याग देंगे। लेकिन सब लोग ऐसे नहीं हो सकते। ईश्वर ही तय करता है कि यह दैवी नियति किन-किन को नसीब होगी। ऐसे ही चुनिंदा लोगों को ईश्वर-कृपा का उपहार मिलता है और वे सिटी ऑफ गॉड या ईश्वर के प्रदेश में रहने का सौभाग्य पाते हैं। जिन्हें ईश्वर नहीं चुनता, वे पापी जीवन के लिए अभिशप्त हो कर मनुष्यों के प्रदेश में रह जाते हैं। ऑगस्तीन यह भी कहते हैं कि ईश्वर ऐसा क्यों करता है, यह न हमें पता है और न ही इस पर सवाल उठाने का हमें कोई अधिकार है। वह कुछ को मुक्त करता है, यह उसकी दया है। वह बहुतों को सज़ा देता है, यह उसका इंसाफ़ है। ऑगस्तीन ने कहा कि ईश्वर के प्रदेश और मनुष्य के प्रदेश का अस्तित्व चिरंतन है। उन्होंने इन दोनों के उद्गम की शिनाख़्त बाइबिल के पंद्रहवें से अट्ठारहवें अध्याय के बीच की।

मध्य-युग में ऑगस्तीन के कुछ अनुयायियों ने सिटी ऑफ गॉड को चर्च के रूप में देखने की कोशिश की और सिटी ऑफ मैन का अर्थ राजाओं और सम्राटों की राज्य-शक्ति के रूप में निकाला। लेकिन यह एक ग़लत व्याख्या थी। ऑगस्तीन साफ़ कहते हैं कि इस धरती पर न तो आदर्श राज्य सम्भव है और न ही आदर्श चर्च। चर्च की संस्था को तो वे गेहूँ और भूसे के संगम की संज्ञा देते थे। वे मानते थे कि आदर्श रूप में तो चर्च और राज्य का एकीकरण हो जाएगा। लेकिन यह एकीकरण काल के ऐतिहासिक दायरे में सम्भव नहीं हो सकता। सिसरो द्वारा प्रतिपादित गणराज्य संबंधी सिद्धांत की आलोचना करते हुए ऑगस्तीन ने कहा कि उनका गणराज्य लोगों को भौतिक-एकता के सूत्र में बाँधता था, न कि आध्यात्मिक एकता के सूत्र में। इसी के साथ ऑगस्तीन ने एक ऐसे राज्य की व्यावहारिक आवश्यकता पर भी बल दिया जिसके विनियम के तहत मनुष्य को एक-दूसरे का नाश करने से रोका जा सके और पृथ्वी के संसाधनों को नियंत्रित किया जा सके।

अपने राज्य संबंधी सिद्धांत में ऑगस्तीन राज्य के प्रति नागरिकों के किसी दायित्व की सिफ़ारिश नहीं करते। वे कहते हैं कि लोगों को राज्य की बात किसी कर्तव्य-भावना के बजाय अपने हितों की पूर्ति के लिए माननी चाहिए। ऑगस्तीन के अनुसार ईसाइयों पर भी राज्य का कोई नैतिक अधिकार नहीं है, पर चूँकि राज्य पापग्रस्त मनुष्य को बचाये रखने के लिए तैयार की गयी ईश्वरीय योजना का परिणाम है, इसलिए ईसाइयों को राज्य के साथ सहयोग करना चाहिए।

धार्मिक मतभेदों के मामले में ऑगस्तीन शुरू में मानते थे कि विधर्मियों के खिलाफ़ जोर-ज़बरदस्ती नहीं की जानी चाहिए। लेकिन आगे चल कर वे ईसाई राजाओं से चर्च द्वारा

की जाने वाली इस अपेक्षा के तरफदार हो गये कि विधर्मियों के खिलाफ कड़े क़ानून बनाये जाने चाहिए ताकि कैथोलिकों के जान-माल की रक्षा तो हो सके, एक संस्था के रूप में चर्च की एकता भी बचाई जा सके।

देखें : अफ़लातून, अरस्तू, आग्युस्त कॉम्त, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, कार्ल रायमुंड पॉपर, ज्यॉ जाक रूसो, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू, जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस : पाडुआ के, रेने देकार्त, सुकरात, संत थॉमस एक्विना।

संदर्भ

1. पी. ब्राउन (1967), *ऑगस्टीन ऑफ़ हिप्पो : अ बायोग्राफी*, फैबर एंड फैबर, लंदन.
2. आर. मार्टिन (1972), 'द टू सिटीज़ ऑफ़ ऑगस्ताइंस पॉलिटिकल फ़िलॉसॉफी', *जर्नल ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ आइडियाज़*, अंक 33.
3. एच.ए. डीन (1963), *द सोशल ऐंड पॉलिटिकल आइडियाज़ ऑफ़ सेंट ऑगस्टीन ऑफ़ हिप्पो*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

संत थॉमस एक्विना

(Saint Thomas Aquinas)

युरोप में राजनीतिक सिद्धांतशास्त्र की बुनियाद डालने का श्रेय ईसाई धर्मशास्त्री और दार्शनिक संत थॉमस एक्विना (1224-1274) को दिया जाता है। उन्हीं के प्रयासों के कारण युरोपीय विश्वविद्यालयों में अरस्तू के दर्शन का अध्ययन करने की शुरुआत हुई। इससे पहले राजनीतिक गतिविधियों को चर्च के दायरे से बाहर समझने की कोशिश ही नहीं की जाती थी, पर एक्विना ने अरस्तू को अहमियत दे कर राजनीति के स्वतंत्र अध्ययन को प्रोत्साहित किया। उनके चिंतन में वे तमाम सूत्र थे जिनका इस्तेमाल करके आगे चल कर सेकुलर और आध्यात्मिक विषय-वस्तुओं को आपस में गुँथा जा सका। उनकी रचना *सम्मा थियोलॉजिया* को मध्ययुगीन कैथोलिक धर्मशास्त्र और यूनानी दर्शन के महानतम संश्लेषण के रूप में देखा जाता है। इस ग्रंथ में एक्विना ने क़ानून के चार प्रकारों (चिरंतन, दैवी, प्राकृतिक और मानवीय) पर विचार किया है। एक्विना का विचार था कि अगर अरस्तू के विमर्श से उसकी त्रुटियाँ निकाल दी जाएँ और उसमें खुदाई इलहाम से प्राप्त ईसाई मूल्यों का समावेश कर दिया जाए तो एक निर्भूल समाज-प्रणाली की रचना की जा सकती है जो कैथोलिक

आस्था, नैतिकता, बुद्धि और आचरण पर आधारित होगी। उन्होंने राज्य के एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिससे लाभ उठा कर सुचिंतित तर्क-बुद्धि और स्वायत्तता-आधारित राज्य का शीराज़ा खड़ा किया जा सका।

दरअसल ग्यारहवीं सदी से पहले अरस्तू के राजनीतिक चिंतन से युरोप परिचित ही नहीं था। उनकी रचना *पॉलिटिक्स* का लैटिन में अनुवाद भी बहुत देर से हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च अरस्तू के विचारों को संदेह की निगाह से देखता था। इसके दो कारण थे। पहली बात तो यह थी कि अरस्तू अपने निजी जीवन में पागान धार्मिकता की ओर झुके हुए थे, और दूसरी बात यह थी कि इसलामिक अरब अध्येताओं (पहले इब्न-सिना और फिर इब्न-रश्द) को अरस्तू का विशेषज्ञ माना जाता था। चर्च इस बात से चौंकता था कि कहीं अरस्तू के विचारों में इसलाम को प्रोत्साहित करने वाले तत्त्व तो नहीं हैं। इसीलिए 1277 में पेरिस के बिशप टेम्पियर ने अरस्तू के कई सिद्धांतों की आधिकारिक भर्त्सना की। ऐसे अरस्तू विरोधी बौद्धिक माहौल की रोशनी में एक्विना की पहलकदमी की अहमियत और बढ़ जाती है। चर्च के साथ अपने आधिकारिक जुड़ाव का लाभ उठा कर उन्होंने अरस्तू की रचनाओं पर विशद टिप्पणियाँ लिखीं।

एक्विना की विशेषता यह थी कि उन्होंने संत ऑगस्टीन के विचारों के बुनियादी तत्त्व को क़ायम रखते हुए उनकी पुनर्व्याख्या की। ऑगस्टीन मानते थे कि यह जगत और उसमें रहने वाला मनुष्य आदम द्वारा किये गये आदि-पाप (ऑरिजिनल सिन) के काले साये से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए वह एक निर्मम और दमनकारी राजनीति के लिए अभिशप्त है। ऑगस्टीन ने अपनी रचना *सिटी ऑफ़ गॉड* में इनसान के वजूद को ईश्वर के प्रदेश और मनुष्य के प्रदेश के बीच बाँट दिया था। मनुष्य या तो इस प्रदेश का हो सकता था, या उस प्रदेश का। इसके विपरीत एक्विना अरस्तू की इस अवधारणा से पूरी तरह सहमत थे कि एक बुद्धिसंगत, मानवीय और व्यवस्थित संसार सम्भव है। उन्हें पृथ्वी पर मौजूद भौतिक सुख-सुविधाएँ हासिल करने के लिए किये गये मानवीय प्रयासों और स्वर्ग के चिरंतन सुखों के बीच किसी तरह का शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध नज़र नहीं आता था। बस उनकी शर्त यह थी कि भौतिक सुखों के लिए की जाने वाली कोशिशें ईश्वरीय आनंद की उपलब्धि की तरफ़ ले जाने वाली हों, और भौतिकता के फेर में आध्यात्मिकता की उपेक्षा न की जाए। एक धर्मशास्त्री के रूप में एक्विना को इसमें कोई शक नहीं था कि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य तो ईश्वर के साथ एकात्मकता ही है, लेकिन वे दुनियावी खुशी और सुखों को सीमित और दूसरे दर्जे का मकसद मानते हुए भी वैध, सम्भव और वांछनीय मानते थे।



संत थॉमस एक्विना (1224-1274)

एक्विना ने ऑगस्टीन द्वारा प्रवर्तित राज्य और ईसाइयत के बीच संबंध की अवधारणा में भी परिवर्तन किया। ऑगस्टीन के लिए राज्य दैव द्वारा आदेशित संस्था थी जिसका काम ताकत और डर दिखा कर मनुष्य की विनाशकारी प्रवृत्तियों की रोकथाम करना था। एक्विना राज्य को एक हितकारी और मित्रतापूर्ण प्रशासक संस्था के रूप में देखते थे जो मेल-मिलाप और सहयोगी प्रवृत्तियों वाले मनुष्य की मदद करने के लिए थी ताकि वह जीवन की सभी आवश्यकताएँ हासिल कर सके। एक्विना की मान्यता थी कि मानवीय प्रकृति की कुछ हकीकतें ऐसी हैं जिनका पाप से कोई संबंध नहीं है। इन्हीं हकीकतों के कारण इनसान एक साझा मकसद और साझा हित के लिए समुदाय के रूप में एक-दूसरे से जुड़ता है।

राज्य की क्रिस्म के रूप में एक्विना ने राजशाही की वकालत की, लेकिन अरस्तू की ही भाँति उन्होंने उसे लोकतंत्र और कुलीनतंत्र के समुचित मिश्रण की तरह परिभाषित किया। ऑगस्टीन निरंकुश और अत्याचारी राज्य को ईश्वर द्वारा पापी मनुष्य को दिये गये दण्ड की संज्ञा देते थे, लेकिन एक्विना ने इसे भी मानने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि राजा का काम केवल मनुष्य की दुष्टता का दमन करना ही नहीं है। उसे साझा-हित में काम करने की जिम्मेदारी भी निभानी होगी। अगर कोई राजा केवल अपने हित के लिए काम करता है तो वह ईश्वर के उस आदेश का उल्लंघन करता है जिसके तहत उसे राजा बनने का मौका मिला है। ऐसे राजा की आज्ञा का पालन करना जरूरी नहीं है। एक्विना यह स्पष्ट नहीं करते कि ऐसे राजा के साथ क्या सुलूक करना चाहिए। अपनी रचनाओं में उन्होंने एक जगह जूलियस सीज़र की हत्या का समर्थन अवश्य किया है जिससे कुछ टिप्पणीकारों ने निष्कर्ष निकाला है कि अगर और कोई तरीका न बचा हो तो वे आततायी राजा को मार देने के पक्ष

में थे। एक्विना राज्य और चर्च के बीच रिश्तों के बारे में अलग से कोई सिद्धांत पेश नहीं करते। वे कहते हैं कि पोप की हैसियत धरती पर ईसा मसीह के नुमाइंदे की है और कुछ मामलों में राजा को पुरोहितों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन स्वीकार करना चाहिए। इसी के साथ वे यह भी कहते हैं कि कुछ ऐसे सांसारिक विषय भी हो सकते हैं जिनमें राजा को पोप का प्राधिकार मानना पड़ सकता है। लेकिन एक्विना इस तरह के मामलों को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं करते।

1266 से 1273 के बीच एक्विना ने अपना महाग्रंथ *सम्मा थियोलॉजिया* लिखा। इसका सर्वाधिक परिचित हिस्सा वह है जहाँ वे चार क्रिस्म के क़ानूनों की चर्चा करते हैं। उन्होंने पहली और सर्वोच्च प्राथमिकता ईश्वरीय इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले चिरंतन क़ानून को दी है। चूँकि ईश्वर ही ब्रह्माण्ड का स्रष्टा है इसलिए उसके क़ानून को ही बाकी सभी क़ानूनों के लिए मार्ग-निर्देशक की तरह ग्रहण किया जाना चाहिए। दूसरा है दैवी क़ानून जो धर्मशास्त्रों में दर्ज है। तीसरा है प्राकृतिक क़ानून। एक्विना की यह थीसिस कहती है कि मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी होने के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से धार्मिक भी है। उसे एक ऐसा क़ानून चाहिए जो विवेक, नैतिकता और सामाजिकता के आग्रहों पर खरा उतरता हो। इस क़ानून की भूमिका लोगों को अज्ञान से बचाने और परस्पर सहयोग को प्रोत्साहन देने की होनी चाहिए। इस क़ानून के जरिये सत्य और नेकी के ऐसे मानक स्थापित किये जाने चाहिए जो सभी पर लागू हों और जिनसे सभी परिचित भी हों। चौथी क्रिस्म के रूप में एक्विना ने एक ऐसे सकारात्मक मानवीय क़ानून की वकालत की है जिसकी भूमिका शिक्षात्मक हो और जिसके प्रभाव में व्यक्ति बुराई से बचते हुए शांतिपूर्ण सामुदायिक जीवन उपलब्ध कर सके।

संत थॉमस एक्विना का जन्म इटली में एक्विनो के पास रोकासेका क़िले में रहने वाले एक धनी और कुलीन परिवार में हुआ था। अपने परिवार के विरोध के बावजूद वे 1245 में डोमिनिकन चर्च के अंग बन गये। इसके बाद उन्होंने जर्मन धर्मशास्त्री अल्बर्टस मैगनुस की देखरेख में पेरिस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। 1256 में स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने के बाद वे अगले अट्ठारह साल तक अध्ययन और अध्यापन में लगे रहे। इसी दौरान उन्हें पेरिस, रोम स्थित पोप के दरबार और फिर पेरिस में अपने ज़माने के प्रमुख बौद्धिक विवादों में भागीदारी करने का मौका मिला। वे क्लासिकल वितण्डावादी शैली के लेखक थे जिसके तहत पहले प्रश्न उठाया जाता है, फिर विरोधी नज़रियों को पेश करने के बाद अपना निष्कर्ष निकाला जाता है। उन्हें संत की उपाधि चौदहवीं सदी में दी गयी।

देखें : अफ़लातून, अरस्तू, आग्युस्त कॉम्त, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, कार्ल रायमुंड पॉपर,

ज्याँ जाक रूसो, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्व्यू, जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस : पाडुआ के, रेने देकार्त, संत ऑगस्ताइन, सुकरात।

संदर्भ

1. जे. वीशीप्ल (1974), *फ्रिएर थॉमस डीएक्विनो : हिज़ लाइफ़, थॉट ऐंड वर्क्स*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. जे. फ़िनिस (1998), *एक्विना : मॉरल, पॉलिटिकल ऐंड लीगल थियरी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. डी.जे. ओकोनोर (1967), *एक्विना ऐंड नेचुरल लॉ*, मैकमिलन, लंदन.
4. सेंट थॉमस एक्विना (2000), *पॉलिटिकल राइटिंग्ज़*, आर.डब्ल्यू. डायसन (समा.), केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

संत-काव्य

(Sant-Kavya)

हिंदी साहित्य में भक्ति-धारा के अंतर्गत संत-साहित्य का अविस्मरणीय स्थान है। भक्ति-साहित्य की रचना करने वाले पुरुष हों या नारी, हिंदू हों या मुसलमान, ब्राह्मण हों या शूद्र, उत्तर के हों या दक्षिण के सभी को संत कहा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि संत-काव्य उन्हीं कवियों की 'बानियों' का नाम है जिन्होंने निर्गुण धारा के अंतर्गत सृजन-चिंतन किया। यह निर्गुण धारा ज्ञान-मार्गी है और उन सभी परम्पराओं से— वेद, उपनिषद्, जैन, बौद्ध, महायान-कापालिक-तांत्रिक साधना, आगम-चिंतन की देन है, जो भक्ति युग के पूर्वाद्ध में अनेक परम्पराओं से प्रेरित-प्रभावित रही है। यह अलग बात है कि संत-काव्य में सभी परम्पराओं का समावेश नहीं हो सका, लेकिन उनका जन-जीवन की सामाजिक-नैतिक प्रेरणाओं के साथ प्रतिनिधित्व हुआ। इस मत के बावजूद संत काव्य-धारा केवल निर्गुण विचार तक सीमित नहीं है। सगुणपंथी मीरां और सूरदास भी संत-कवि माने जाते हैं। संत-काव्य ने प्राचीन परम्पराओं के आधार पर विश्व-धर्म या लोक-धर्म या लोक-वेद को मिलाकर जीवन की नवीन राहों का अन्वेषण किया। यह चिंतन जन-भाषा (सधुक्कड़ी भाषा) में अभिव्यक्त हुआ। जन-भाषा की प्रतीक-मिथक रूपक योजना में संत सूक्ष्म-गहन सर्जनात्मकता की निष्पत्ति करते रहे। धर्म-तत्त्व का ऐसा निरूपण अन्यत्र दुर्लभ रहा।

'संत' शब्द से संसार-त्यागी संन्यासी का अर्थ लेना ठीक नहीं है। संतों में स्त्री और पुरुष, संन्यासी और गृहस्थ, हिंदू और मुसलमान, सगुण और निर्गुण दोनों का समान महत्त्व है। ये संत पुजारियों, पंडों, मौलवियों, धर्मशास्त्रियों की नीतियों के विरुद्ध हैं। संत प्रेम को आधार बनाकर मानव-मुक्ति तथा ईश्वर-भक्ति का मार्ग सुझाते हैं। संस्कृत और अरबी-फ़ारसी को छोड़ कर संत जन-भाषा में लोक-धर्म का प्रचार करते हैं। देखा जाए तो संत साहित्य का सामाजिक आर्थिक आधार जुलाहों, मछुआरों, किसानों, कारीगरों, व्यापारियों का भौतिक जीवन है। संत-धारा भारतीय संस्कृति की परिस्थितियों से उपजी है। उनकी भाषा किसी एक प्रदेश की भाषा न होकर सभी प्रदेशों की खिचड़ी भाषा-संध्या भाषा-सधुक्कड़ी भाषा है। भक्ति साहित्य इस देश का सर्वाधिक प्रबल विराट सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसकी जड़ें गाँव-गाँव, प्रदेश-प्रदेश फैली थीं। रामविलास शर्मा ने *परम्परा का मूल्यांकन* पुस्तक में कहा है, 'मलिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं। न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो मूलतः किसी प्राचीन धर्म-ग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।' संतों का लोक-धर्म सामंत प्रधान व्यवस्था को कमजोर करता है और धर्म को पुरोहितों-मौलवियों के वर्चस्व से मुक्त करता है।

संत-काव्य की ऐतिहासिक स्थिति विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है। इसके प्रवर्तक हैं— अस्वीकार का साहस रखने वाले कबीर (1513)। हालाँकि संत-काव्य की प्रेरणा पहले से ही मौजूद थी, किंतु कबीर, रैदास, रज्जब, दादू, मलूकदास, नानक आदि संतों ने उन प्रेरणाओं का नया उपयोग नयी परिस्थितियों में किया है। संत-काव्य का आधार है लोकानुभव और लोकानुभूति। जीवन की प्रत्यक्ष चुनौतियों के कारण संत-काव्य में प्राचीन परम्पराओं की शास्त्रसम्मत मान्यताओं का आग्रह नहीं है। संत-काव्य में निगम पुराण का कोई परम्परागत ढाँचा सुरक्षित नहीं है। संतों का नारा था— 'कबीर संसार दूर करि, पुस्तक देह बहाई'। पोथी पढ़ने से पण्डित नहीं हो जाता, हम प्रेम-पंथ को गहने-समझने से पण्डित हो जाते हैं। तुलसीदास ने कबीर के बाद इस चिंतन की निंदा में कहा 'सारखी, सबूदी दोहरा, कहि कीन्ही उपखान। भगति निरूपहि भगति कलि निंदहि वेद पुरान।' यह सच है कि संत-काव्य में वैदिक साहित्य का आदर नहीं है— उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ बौद्ध-धर्म के महायान-दर्शन से निर्धारित है— महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध-धर्म सामने आया। वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और उसके भीतर से संत-काव्य अवतरित हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, व्रत सभी का

संत-काव्य ने निषेध किया। इस दृष्टि से यह क्रांतिकारी चिंतन-दर्शन अनुभव के तप से निकली ज्ञान-धारा है।

ध्यान में रखने की बात है कि चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में स्वामी रामानंद का उदय हुआ। भक्ति का प्रवाह जो दक्षिण भारत में प्रवाहित हुआ, उसे स्वामी रामानंद उत्तर-भारत में लाये। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भक्ति का लोकव्यापी प्रभाव दक्षिण में आलवार—नायरवार गायकों से ईसा की छठी शताब्दी में आरंभ हो चुका था। इस संतों ने भक्ति का रागात्मक रूप जनता के सामने रखा तथा जाति-पाँति का खण्डन किया। ये संत-गायक जयादातर निचली जातियों के थे— लोहार, धानुक, दर्जी, कृषक, धुन्ना, कुम्हार आदि। इन संतों को शंकराचार्य का मायावाद, अद्वैतवाद तथा कुमारिल भट्ट का याज्ञिक कर्मकाण्ड भाया नहीं। नाथ मुनि ने ग्यारहवीं शताब्दी में भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की और इनकी ही पीठ पर रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय नामक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य ने भक्ति की जो महत्ता छीन ली थी, उसे रामानुजाचार्य ने नये पाठ-विमर्श के साथ पुनः स्थापित किया। रामानुजाचार्य के बाद मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने भक्ति का राग-पक्ष प्रबल किया। रामानंद ने रामानुजाचार्य के भक्ति सिद्धांतों को अनेक प्रयोगों के बाद समस्त उत्तरी भारत में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित किया। लोक-जीवन में यह ध्वनि सुनायी दी, 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद / परगट किया कबीर ने सात द्वीप नवखण्ड।' रामानंद के दो शिष्य थे : कबीर और तुलसीदास। दोनों ने दो परम्पराओं का प्रवर्तन किया। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता के आधार पर नया भाष्य पेश करती है, किंतु इसमें अनेक प्रतीकों-रूपकों के आधार नाथ सम्प्रदाय के अनुकूल हैं।

संत ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (1270) ने विट्टल की उपासना की जिसमें नाम स्मरण की महिमा है। विट्टल सम्प्रदाय 1209 में पंढरपुर में प्रचारित हुआ। इसके प्रचारक कन्नड़ संत पुंडरीक माने जाते हैं। विट्टल सम्प्रदाय वैष्णव और शैव सम्प्रदाय का मिश्रण है। ग्यारहवीं शताब्दी के विट्टल सम्प्रदाय का मेल-मिलाप शैव-धर्म, वैष्णव धर्म से हुआ— जिसके सबसे बड़े संत नामदेव हैं। ज्ञानेश्वर तथा नामदेव ने उत्तर भारत का पर्यटन किया जिससे भक्ति धर्म का प्रसार हुआ। विट्टल सम्प्रदाय के संत थे गौरा कुम्हार, साँवला माली, नरहरि सोनार, चोखा भंगी, जनाबाई दासी, सेना नाई, कान्हो वेश्या पुत्री आदि। उत्तरी भारत के ज्ञान मार्गी संतों के निकट आये। यहाँ संत प्रयोग चल पड़ा— 'ज्ञानदेव ह्यणें तुम्हीं संत बोल गावेति आम्हीं।' इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी के आस-पास प्रवाहित विचारधारा से जाति और वर्ण-वर्ग का सारा द्वेष प्रेम-सागर में बह गया। इस प्रेम-धारा पर वहाँ के महानुभाव सम्प्रदाय का भी प्रभाव पड़ा जिसमें जाति बंधन की

शिथिलता के साथ कृष्ण चक्रधर की उपासना प्रबल हुई। भक्ति-मार्ग सभी मनुष्यों के लिए खुल गया और हृदय की पवित्रानुभूति को महत्त्व दिया गया। 1294 में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव को पराजित किया। समझा जाता है कि इसी आक्रमण की प्रतिक्रिया में वैष्णव धर्म के कृष्ण चक्रधर तथा शैव धर्म के शिव को जगाया गया। इसी जागरण ने पंद्रहवीं शताब्दी में उत्तर-भारत में निर्गुण सम्प्रदाय का रूप धारण किया। यह निर्गुण उपासना की ज्ञान-धारा ही संत-काव्य की प्रकृति बनी।

संत-काव्य परम्परा में सूफीयत का प्रवेश होने से ज्ञान-मार्ग से प्रेम-मार्ग का मिलन हो गया। बड़ी उदारता से सूफीयत ने भक्ति मार्ग को जोड़ लिया। ग्यारहवीं शताब्दी में इस देश में सूफीयत का प्रवेश हुआ और चार सम्प्रदाय समय-समय पर सामने आये : चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क्रादरी सम्प्रदाय और नक्शबंदी सम्प्रदाय। इन चारों ने बहुदेववाद के विपरीत ईश्वर की एकता और सर्वोपरिता को महत्त्व दिया। सूफीयत में कहीं तो ईश्वर की मौन वंदना है, कहीं गुणों का गायन। चिश्ती और क्रादरी सम्प्रदायों में संगीत की महिमा है— अन्य दो में नहीं। इन सूफी संतों ने हिंदू-मुसलमान दिलों पर मरहम लगाया, उन्हें एक दूसरे से जोड़ा। सूफी संत गजाली ने कहा कि ज्ञान और शुद्ध आचरण के मेल का नाम सूफी है— सादा जीवन उच्च विचार वाला मनुष्य सूफी है। यदि भारतीय दृष्टि से देखा जाए तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत का मिश्रण सूफीयत का मूल है। विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही सूफीयत की इश्क साधना है और ईश्वरानुभूति तसव्वुफ। प्रेम में मादकता या खुमार की व्यंजना कबीर की वाणी है, 'हरि रस पीया जानिये जे कबहुँ न जाय खुमार'। सूफीयत का शैतान कबीर की माया से साम्य रखता है। इस तरह उत्तर-भारत में संत-काल का अमृत तैयार हुआ।

कबीर में वज्रपाल की प्रतिक्रिया से उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय के आत्मानुभव तथा योग-मार्ग के कलफटा दर्शन, विट्टल सम्प्रदाय की भक्ति, रामानंद के प्रभाव से अद्वैतवाद-विशिष्टाद्वैत का मिश्रण एवं भक्ति और सूफीयत के प्रेम-मार्ग का सर्जनात्मक घोल बना, तभी वे ज्ञान के हाथी पर सवार होकर लोक-कल्याण के लिए निकल सके। जब इब्राहीम लोदी ने कबीर जैसे संतों को सताया तो जनता में असंतोष फैला। इस कठिन समय में संतों को जनता के बीच से जन्म लेना पड़ा— राम-रहीम की एकता का उपदेश देना पड़ा। समाज की हालत यह थी 'कोई लरिकां बेचई लरिक्की बेचै कोइ। साझा करै कबीर सिद्ध, हरि संग बनज करेइ'। कंचन-कामिनी के विरोध में संतों ने फक्कड़पन का जीवन-दर्शन जनता को दिया। रामानंद तथा कबीर ने जाति बंधन तोड़ने की परम्परा को दृढ़ किया। रामानंद ने कहा, 'जाति पाँति बूझै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।'।

इन संत कवियों ने पुरानी रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध किया। संत कवियों से पहले वज्रयानी सिद्धों तथा नाथ पंथी योगियों ने सामाजिक कुप्रथाओं और मिथ्याडम्बरों की कटु आलोचना की थी। संतों ने इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए तिलक लगाना, माला फेरना, व्रत और रोज़ा रखना, मूर्तिपूजा, मसजिद में नमाज़ पढ़ने आदि क्रियाओं का विरोध किया। कबीर ने राम को समझाया पर अपनी शर्तों पर, 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनाम का मरम न जाना।' ये सभी संत वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोधी थे। ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छुआछूत मिटाना आवश्यक समझते थे। इस तरह संतों ने हिंदू-मुसलमानों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की तलाश की है।

संत कवियों ने हर साँस में गुरु की महत्ता का बखान किया है। परमात्मा से साक्षात्कार के लिए गुरु की आवश्यकता का प्रतिपादन किया और गुरु को ब्रह्म का स्वरूप कहा। कबीर जैसे संतों ने गुरु को गोविंद से ज्यादा महत्त्व दिया, 'गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपकी, गोविंद दियो मिलाय।' अलख, अगोचर, निरंजन, निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सद्गुरु आवश्यक है। संतों ने भारतीय रहस्यवाद की परम्परा को सूफीयत की रहस्य साधना से मिलाकर नया रूप दिया। उन्होंने आत्मा को स्त्री तथा परमात्मा को भरतार के रूप में प्रस्तुत किया। इस तरह दृढ़ रागात्मक संबंध का भाव घोषित करते हुए प्रेम-तत्त्व का विस्तार किया।

संत-परम्परा में निर्गुण संतों के साथ सगुण कृष्ण भक्तिधारा और सगुण राम भक्तिधारा को भूलना न चाहिए। इसमें कबीर के साथ दादू दयाल, तुकाराम, गरीबदास, भीखा, गुरु तेग बहादुर, गुरु नानक मलूकदास, जायसी, कुतबन, रैदास, मीराबाई, दयाबाई, सहजोबाई, आनंद घन, धरनीदास, सदानादास, यारी साहब, हरिद साहब, बुल्ला, पलटूदास, एकनाथ, बुल्लेशाह, सुंदरदास, दूलनदास, तुलसी साहब, चरणदास, तुलसीदास, सूरदास, कुम्भनदास, जगजीवन दास, धर्मदास, रामानंद आदि संतों की एक समृद्ध सगुण परम्परा है। भक्ति आंदोलन ने अखिल भारतीय स्तर पर पूरे देश में एक नया जागरण पैदा किया। धर्म के नाम पर मानव-धर्म की, लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की और नारा दिया— 'मसि कागज के आसरे क्यों टूटै भव-बंध'। संतों ने धर्म के नाम पर फैले तमाम भ्रमों से जनता को 'घट-घट व्यापक राम' तथा 'राम वही रहमान वही' का भाव-मंत्र दिया। लोक-भ्रमों को दूर करते हुए कहा 'मंदिर मसजिद एक', 'हिंदू-मुसलमान-सिक्ख एक है।' सत्याग्रही थे संत, तभी तो कहे सके, 'ब्रह्म बीज का सकल पसारा', 'हिंदू-तुरक का कर्ता एक', 'सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारै'। इस तरह संतों ने पुरोहितवाद-पण्डावाद को न अपनाने की सलाह दी। समाज-सुधारों के

बारे में संतों ने बहुत काम किया— 'पीर सबन की एक सी' तथा परोपकार करने वाला ही वैष्णव है— 'सो दरवेश खुदा को प्यारा' तथा 'साधो सहज समाधि भली'। संतों ने निर्भयता से हिंदू-मुसलमानों दोनों को फ़टकारा और कहा 'मुसलमान जो राखे ईमान' तथा 'सो काफ़िर जो बोलै काफ़'। इस तरह समाज में यह गूँज उठी 'निंदक बाबा वीर हमारा' जाति-पाँति, वर्ण व्यवस्था, कर्मकाण्ड पर प्रहार करते हुए पूछा 'कहधौ छूत कहा से उपजी', अल्लाह कहि, भावै राम कहौ' क्या फ़र्क पड़ता है। रैदास ने कहा 'कृष्ण करीम रहीम राम हरि जब लागे एक न देखा / बेद कतेब कुरान, पुराननि, तब लागे भ्रम ही देखा।' इस तरह संतों ने शास्त्र-धर्म की लीकों को निर्ममता से तोड़ा है। संतों की गंगा नव नाथों के योगमार्ग में है लेकिन संतों की जमुना-कावेरी-सरस्वती तो पूरे देश में प्रवाहित है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (2006), *संत वाणी*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामखेलावन पाण्डेय (1965), *मध्यकालीन संत साहित्य*, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी.
3. परशुराम चतुर्वेदी (1961), *संत काव्य-संग्रह*, किताब महल, इलाहाबाद.

— कृष्णदत्त पालीवाल

संतोष कुमारी देवी

(Santosh Kumari Devi)

संतोष कुमारी देवी (1897-1989) भारतीय मजदूर आंदोलन के संस्थापकों में से एक और बीसवीं सदी के दूसरे दशक में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की प्रमुख स्त्री-नेता थीं। उन्होंने बंगाल जूट श्रमिक संघ की स्थापना की और आरम्भिक वर्षों में उनकी विभिन्न हड़तालों का जुझारू नेतृत्व किया। वे नौकरी से निकाले जाने वाले अनेक हड़ताली श्रमिकों के भोजन और रहने का प्रबंध अपने ही घर पर ही करती थीं। संतोष कुमारी की अगुवायी में श्रमिकों के रैडिकल तेवरों से न सिर्फ ब्रिटिश प्रशासन बल्कि कांग्रेस के प्रमुख नेता भी चिंतित हुए। देशबंधु चितरंजन दास जैसे प्रमुख राष्ट्रीय नेता श्रमिक आंदोलन को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का हिस्सा बनाना चाहते थे। उन्हें श्रमिक आंदोलन की उग्रता और इसकी अतिवादी-साम्यवादी सम्भावनाओं से बेचैनी थी। 1921 में ब्रिटिश मालिकों के अत्याचार से पीड़ित बंगाल स्थित चाय बागान के मजदूरों ने उन बगीचों से पलायन कर दिया जहाँ वे काम करते थे। वे चाँदपुर स्थित निकटतम नदी मार्ग से अपने गृह प्रदेशों उत्तर प्रदेश तथा बिहार की ओर भागने लगे। बागान मालिकों ने इन मजदूरों को पकड़ कर वापस लाने के लिए गोरखा सिपाही भेजे जिन्होंने मजदूरों पर बहुत जुल्म किये। कलकत्ता में इसकी सूचना मिलने पर चितरंजनदास व अन्य वरिष्ठ कांग्रेसी नेता चाँदपुर पहुँचे। इस दल में दो महिलाएँ— चितरंजनदास की पत्नी बसंती देवी और संतोष कुमारी देवी भी शामिल थीं।

कलकत्ता लौट कर संतोष कुमारी ने इस क्षेत्र के जूट मिल मजदूरों का संघ बनाने का व्यापक अभियान शुरू किया। इसमें श्रमिक अधिकारों के संघर्ष के साथ ही रात्रिकालीन स्कूल और कामगार स्त्रियों के लिए स्वास्थ्य केंद्र भी शामिल थे। यह देख कर सम्पूर्णानंद और चितरंजनदास ने कांग्रेस से श्रमिक समस्याओं के बारे में विचार करने का आह्वान किया। दास ने आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में कहा कि स्वराज देश के 98 प्रतिशत लोगों के लिए होना चाहिए। यदि स्वराज मेहनतकशों के बजाय केवल मध्यम वर्ग के हित साधन के लिए आयेगा तो ऐसे स्वराज का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन इस आह्वान के बाद भी कांग्रेस के अधिकतर नेताओं के लिए मजदूरों की समस्याएँ केवल मौखिक व्याख्यान तक ही सीमित रही, जबकि संतोष कुमारी देवी ने अपने आप को मजदूर आंदोलन में पूरी तरह समर्पित कर दिया।

ब्रिटिश उपनिवेश के खिलाफ भारतीयों के सार्वजनिक विरोध का आरम्भ 1878 से माना जा सकता है जब देशी

भाषाओं के प्रकाशन नियंत्रित करने के लिए बनाये गये नये क़ानून के खिलाफ़ भारत के विभिन्न हिस्सों में विरोध प्रदर्शन किये गये थे। 1880 में बंगाल के कुछ राष्ट्रवादियों ने काश्तकारों के लिए ज़मींदारी क़ानून में परिवर्तन की माँग भी उठायी थी, लेकिन बंगाल के श्रमिक वर्ग की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था, हालाँकि इस प्रदेश में जूट, चाय के बागानों, रेलवे और इंजीनियरिंग के क्षेत्र में बड़ी संख्या में मजदूर कार्यरत थे। ब्रह्म समाज के दो सुधारकों राम कुमार विद्यारत्न व द्वारकानाथ गांगुली ने गम्भीर व्यक्तिगत जोखिम उठाते हुए असम के चाय बागानों का दौरा करके वहाँ के मजदूरों के आर्थिक उत्पीड़न का खुलासा किया। मजदूरों की दुर्दशा को सामने लाने का यह अभियान श्रमिक वर्ग की समस्याओं का कोई व्यवस्थित अध्ययन न हो कर ब्रह्म समाज के उन समाज सुधारकों की राष्ट्रीयता और मानवता की भावनाओं से प्रेरित था। इसके कुछ पहले ही भारतीय श्रमिकों ख़राब हालात को आम लोगों के बीच प्रसारित करने के लिए ब्रह्म समाज से संबंधित लोगों ने समाचार पत्र प्रकाशित करने शुरू किये थे। इनमें केशव चंद्र सेन का *सुलभ समाचार* और शशिपद बनर्जी का *बृहत श्रमजीवी* शामिल थे। शशिपद बनर्जी ने आगे चल कर भारतीय कामगारों का एक संगठन बृहत श्रमजीवी संघ भी स्थापित किया। बंगाल विभाजन के विरुद्ध आहूत आंदोलनों में अनेक श्रमिक संगठन भी शामिल थे और स्थानीय मजदूर संघों ने भी ब्रिटिश उपनिवेश के विरोध में खुल कर हिस्सा लिया था। भारत में व्यापक मजदूर आंदोलन की शुरुआत 1919-20 के दौरान हुई जब लाला लाजपत राय ने बम्बई में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की और बंगाल के कांग्रेस नेता चितरंजन दास के कुछ सहयोगियों ने कांग्रेस के राजनीतिक अभियान को छोड़ कर श्रमिक संगठन के कार्य को अपनी प्राथमिकता बनाया। इस श्रमिक आंदोलन में बंगाल व बम्बई से कुछ बेहद समर्पित स्त्रियों ने भी हिस्सा लिया था जिनमें मणिबेन कारा, उषा बाई डांगे, संतोष कुमारी देवी, प्रभावती दासगुप्ता, सकीना बेगम और सुधा रॉय के नाम प्रमुखता से लिए जाते हैं।

संतोष कुमारी देवी के पिता एक नामी बैरिस्टर थे। उनका बचपन अत्यंत सम्पन्नता के बीच बर्मा में बीता था। बचपन और शिक्षा के दौरान ही वे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से प्रभावित होने लगी थीं। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद भारत में बड़ी संख्या में औद्योगिक इकाइयों स्थापित हुई थीं जिनमें कार्यरत मजदूरों की हालत बहुत दयनीय थी। इस शोषण के खिलाफ़ 1919 में अनेक हड़तालों भी हुईं। श्रमिक आंदोलन के इसी दौर में गौरीपुर जूट मिल के मजदूरों ने बेहतर वेतन और सुविधाओं के लिए हड़ताल की। उस दौरान संतोष कुमारी इस मिल के पास में ही रहती थीं। उन्होंने अपनी ओर से पहल करके इस हड़ताल में

सहयोग किया और मजदूरों की समस्याओं का एक माँग पत्र लिख कर मिल के प्रबंधकों को दिया। मिल प्रबंधन और मजदूरों की प्रतिनिधि के रूप में संतोष कुमारी देवी की चार दिनों की बातचीत के बाद मजदूरों की कुछ माँगें मानी गयीं। हड़ताल के दौरान गिरफ्तार मजदूरों की रिहायी की गयी। हड़ताल में भाग लेने के चलते नौकरी से निकले गये मजदूरों की बहाली हुई। उस समय के हिसाब से इस इलाके में मजदूर आंदोलन की यह एक बड़ी जीत थी।

संतोष कुमारी के नेतृत्व में गौरीपुर जूट मिल के मजदूरों की ताकत देखते हुए अन्य अनेक स्थानीय जूट-कर्मियों ने भी अपने मजदूर संगठनों की स्थापना की और संतोष कुमारी के मार्गदर्शन में अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। 1924 में कलकत्ता में आयोजित आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता चितरंजनदास ने की। संतोष कुमारी इस आयोजन की स्वागत समिति की प्रमुख थीं। इसी दौरान उन्होंने श्रमिक समस्याओं पर आधारित पत्रिका *सम्वृति* में मजदूरों के शोषण के बारे में लिखा। संतोष कुमारी का किसी विशिष्ट राजनीतिक व्याख्या या वाद में विश्वास नहीं था लेकिन उन्हें श्रमिकों की समस्याओं की बेहद सूक्ष्म समझ थी जो उन्होंने उनके साथ रहकर विकसित की थी। 1924 में संतोष कुमारी ने *श्रमिक* के नाम से उर्दू, बांग्ला व हिंदी में एक पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन भी किया। इस पत्रिका के मुद्रक ने छपाई के लिए पैसे माँगे तो उन्होंने अपने गहने गिरवी रख कर इनका बंदोबस्त किया।

1925-26 में कलकत्ता बंदरगाह में एक श्रमिक की मौत के बाद उपजे असंतोष ने जब एक आंदोलन का रूप ले लिया तो संतोष कुमारी इसका नेतृत्व किया और मृतक श्रमिक के परिवार को हर्जाना दिलाने में सफलता पायी। नैथाटी जूट मिल में स्कॉटिश मूल के सुपरवाइजर की पिटायी से एक भारतीय मजदूर की मृत्यु हो गयी तो संतोष कुमारी ने इन मजदूरों के साथ मिल कर इस हत्या के खिलाफ कलकत्ता उच्च न्यायालय में मुकदमा लड़ा और सुपरवाइजर को सात वर्ष की सजा दिलाने के लिए न्यायालय में गवाही भी दी।

1922 में चौरीचौरा की घटना के बाद जब गाँधी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया तो मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास ने कांग्रेस से बाहर निकल कर स्वराज पार्टी की स्थापना की। स्वराज पार्टी चुनाव के माध्यम से विधायिका में जा कर संवैधानिक प्रक्रिया को विधायिका के भीतर से ही बाधित किया जा सके। 1924 में बंगाल विधानसभा के चुनाव में वरिष्ठ कांग्रेसी नेता सुरेंद्र नाथ बनर्जी के विरुद्ध चितरंजन दास ने निर्दलीय उम्मीदवार डॉ. बी.सी. रॉय को स्वराज पार्टी का समर्थन देने का निर्णय लिया। संतोष कुमारी को स्वराज पार्टी से कोई लगाव नहीं था लेकिन चितरंजन दास के प्रति अपने आदर के कारण उन्होंने रॉय के

चुनाव प्रचार का जिम्मा अपने ऊपर लिया। इस चुनाव में राजनीति नवागंतुक रॉय ने दिग्गज सुरेंद्र नाथ बनर्जी को पराजित कर दिया।

1924 में कलकत्ता नगर निकाय का चुनाव जीत कर चितरंजन दास कलकत्ता के मेयर बने और सुभाष चंद्र बोस इसके मुख्य कार्यकारी अधिकारी के पद पर आरूढ़ हुए। कलकत्ता नगर निकाय ने एक नये शिक्षा अधिकारी का पद सृजित किया और इस पर बोस के सहयोगी और प्रख्यात मानवशास्त्री क्षितिज प्रसाद चट्टोपाध्याय को नियुक्त किया गया। संतोष कुमारी को प्राथमिक शिक्षा की सलाहकार मण्डली में स्थान दिया गया। चट्टोपाध्याय और संतोष कुमारी ने कलकत्ता में मुफ्त प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए अनेक नये स्कूलों के स्थापना की। 1924 में जहाँ कलकत्ता नगर पालिका में केवल तीन ऐसे विद्यालय थे वहीं 1935 में जब क्षितिज प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपना पद छोड़ा तो ऐसे विद्यालयों की संख्या 229 हो चुकी थी। बीस के दशक में ब्रिटेन से अनेक मजदूर संगठनों के नेता व ब्रिटिश कम्युनिस्ट आंदोलन की प्रमुख हस्तियाँ भारत के दौरे पर भी आयीं। संतोष कुमारी देवी स्वयं कम्युनिस्ट नहीं थी लेकिन श्रमिक समस्याओं से जुड़ी होने के कारण भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रति उनमें सहयोग की भावना थी। जब भारतीय मूल के ब्रिटिश संसद सदस्य व घोषित कम्युनिस्ट नेता शापूरजी सकलतवाला के भारत आगमन पर उनके नागरिक अभिनंदन को लेकर जब कलकत्ता के अन्य कांग्रेसी नेता पशोपेश में थे तब संतोष कुमारी सकलतवाला के स्वागत के लिए सबसे आगे थीं। उन्होंने सकलतवाला के नागरिक संबोधन के लिए कलकत्ता के टाउन हाल में एक कार्यक्रम भी आयोजित किया था। सकलतवाला संतोष कुमारी को बहनजी के नाम से पुकारते थे।

1927 में संतोष कुमारी देवी अचानक ही सार्वजनिक जीवन से पीछे हट गयीं। उन्होंने अपने इस निर्णय के बारे में कभी कुछ नहीं बताया। 1989 में उनका निधन हुआ।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, रमाबाई रानाडे, विजय लक्ष्मी पण्डित, विद्याबेन शाह, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. मंजू चट्टोपाध्याय (1984), 'संतोष कुमारी देवी : अ पायनियरिंग लेबर लीडर', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 12, अंक 1.
2. संतोष कुमारी देवी, *हाउ आई स्टार्टेड द लेबर मूवमेंट*, अप्रकाशित संस्मरण।

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन

(United Progressive Alliance)

कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाला संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) भारत की संसदीय राजनीति की दो सर्वप्रमुख शक्तियों में से एक है। 2004 के चुनाव के बाद अस्तित्व में आया यह गठबंधन तभी से सत्तारूढ़ बना हुआ है। 2014 में होने वाले संसदीय चुनाव में लगातार तीसरी बार संप्रग की टक्कर भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले गठबंधन राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) से होगी। दरअसल, नब्बे के दशक के आखिरी वर्षों से ही भारतीय राजनीति में गठजोड़ का युग चल रहा है। राष्ट्रीय राजनीति पर संप्रग और राजग की प्रतियोगिता हावी है। संप्रग का गठन राजग के बाद हुआ है। राजग अगर चुनाव के पहले बनाया गया गठजोड़ है तो संप्रग मुख्य तौर पर चुनाव के उपरांत बनने वाला गठजोड़ है।

लेकिन इस संदर्भ में ख़ास बात यह है कि इस गठबंधन में शामिल हुए कई दलों के साथ कांग्रेस का चुनाव पूर्व समझौता भी था। संप्रग की पृष्ठभूमि और इसके प्रदर्शन का विश्लेषण इसे दो भागों में बाँटकर किया जा सकता है। पहला, संप्रग- एक (2004-2009) और दूसरा, संप्रग- दो (2009- अब तक)।

2004 के लोकसभा चुनावों के ठीक पहले भाजपा के नेतृत्व वाले राजग की स्थिति बहुत मजबूत मानी जा रही थी। लेकिन कांग्रेस ने क्षेत्रीय स्तर पर कुछ दलों से गठजोड़ कायम करके चुनावों में अपनी स्थिति पहले की तुलना में काफ़ी सुदृढ़ कर ली और भाजपा की सीटों में ख़ासी गिरावट आयी। इन चुनावों में कांग्रेस को 1999 की 114 सीटों की तुलना में 145 सीटों पर जीत मिली। दूसरी ओर भाजपा को 1999 की 182 सीटों की तुलना में 138 सीटें ही मिल सकीं। राजग की सीटों में ख़ासी गिरावट आयी। लोकसभा में इसके 270 सदस्य थे, जो अब घटकर 161 ही रह गये। नतीजे आने के बाद कांग्रेस ने कई भाजपा विरोधी क्षेत्रीय दलों को मिला कर संप्रग की रचना की। दरअसल, राजग की सफलता ने कांग्रेस को भी गठजोड़ की राजनीति की तरफ़ धकेला। उसके साथ मिल कर चुनाव लड़ने वाली प्रमुख पार्टियाँ थीं : राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (राकांपा) और द्रविड मुनेत्र कषगम (द्रमुक)। चुनावों के बाद कांग्रेस ने जिन क्षेत्रीय दलों को जोड़कर संप्रग बनाया उनमें प्रमुख थीं : आंध्र प्रदेश की तेलंगाना राष्ट्र समिति (टीआरएस), तमिलनाडु की द्रमुक और मारूमलारची द्रविड़ मुनेत्र कषगम (एडीएमके), बिहार की राष्ट्रीय जनता दल (राजद) और लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा), पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (पीडीपी)। लेकिन संप्रग के पास बहुमत

नहीं था। इसलिए मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व वाले वाम मोर्चे ने उसे बाहर से समर्थन दिया जिससे उसे लोकसभा में बहुमत हासिल हो गया। समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी और जनता दल (सेकुलर) जैसे दलों ने भी इसे बाहर से समर्थन प्रदान किया। संप्रग ने अपने इस दौर में वामपंथी दलों के साथ मिलकर एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम तैयार किया जिसे संप्रग के शासन का नीतिगत आधार माना गया। इसके अलावा शुरू से यह बात स्पष्ट थी कि कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी ही कांग्रेस की ओर से प्रधानमंत्री पद की उम्मीदवार होंगी। लेकिन उनके विदेशी मूल के होने से जुड़े विवाद के कारण उन्होंने यह पद न लेने का रणनीतिक फैसला किया, और उनके द्वारा मनोनीत डॉ. मनमोहन सिंह संप्रग सरकार के मुखिया बने। सोनिया गाँधी ने गठबंधन की अध्यक्ष के तौर पर राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (एनएसी) का गठन किया जिसमें ज़मीनी स्तर पर सक्रिय कई एनजीओ एक्टिविस्टों और बुद्धिजीवियों को शामिल किया गया। एनएसी का मुख्य काम विविध मुद्दों पर सरकार को सलाह देना था। इस तरह 2004 में डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में बनी संप्रग-एक सरकार पर वामपंथियों की भागीदारी वाले न्यूनतम साझा कार्यक्रम और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् का नियंत्रण था।

समीक्षकों की राय है कि संप्रग-एक की सरकार का प्रदर्शन काफ़ी अच्छा रहा। वित्त मंत्री के रूप में मनमोहन सिंह ने ही 1991 में भारत में आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी। प्रधानमंत्री के रूप में भी उन्होंने इन सुधारों को आगे बढ़ाने की वकालत ज़रूरत की, लेकिन इसके साथ ही संप्रग-एक की सरकार राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम के प्रति भी वचनबद्ध थी। क्षेत्रीय दलों और ख़ास तौर पर सरकार को बाहर से समर्थन दे रहे वाम मोर्चे ने सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि सरकार न्यूनतम साझा कार्यक्रम के अनुसार ही काम करे। वाम दलों और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के दबाव के कारण संप्रग-एक की सरकार ने कुछ प्रगतिशील क़दम उठाये। इनमें राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम, सूचना के अधिकार अधिनियम और अनुसूचित जनजाति और अन्य परम्परागत वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम-2006 संप्रग-एक सरकार द्वारा पारित करवाये गये प्रगतिशील क़ानून थे। यद्यपि इन क़ानूनों की अपनी सीमाएँ रही हैं, लेकिन इनके बनने से यह बात साफ़ तौर पर सामने आयी कि संप्रग-एक की सरकार ने ज़मीनी स्तर से आने वाली माँगों की ओर ध्यान दिया। इन क़ानूनों के लागू होने की प्रक्रिया में कई कमियाँ रही हैं। लेकिन इनसे आम लोगों के सशक्तीकरण में बढ़ोतरी भी हुई है।

इसी तरह संप्रग-एक सरकार में 2004-2008 के बीच औसत वार्षिक वृद्धि दर 8 प्रतिशत रही। इस लिहाज़ से इस



संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन : प्रगतिशील क्रान्तियों की रणनीति

सरकार का आर्थिक प्रदर्शन काफ़ी अच्छा माना जा सकता है। 2008 के उत्तरार्ध में वाम मोर्चे ने संप्रग सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। इसका मुख्य कारण सरकार द्वारा अमेरिका के साथ की जाने वाली परमाणु संधि थी। लेकिन बहुत से प्रेक्षकों ने यह तर्क दिया कि इसके पीछे संसदीय राजनीति की मजबूरी भी काम कर रही थी। वाम मोर्चे, खास तौर माकपा को अपने प्रभाव वाले सभी राज्यों में कांग्रेस के खिलाफ़ चुनाव लड़ना था। इसलिए उसके लिए यह ज़रूरी था कि वह संप्रग सरकार से समर्थन वापस लेकर विपक्षी दल के रूप में तीखे तेवर अपनाए। बावजूद इसके यह इनकार नहीं किया जा सकता कि संप्रग-एक की सरकार द्वारा किये गये कई प्रगतिशील कामों में वामपंथी दलों की भी ज़बरदस्त भूमिका रही। उल्लेखनीय है कि संप्रग के कई घटक दल भी इस दौर में (2004-2009) उससे अलग हुए। मसलन, तेलंगाना राष्ट्र समिति अलग तेलंगाना राज्य के मुद्दे पर संप्रग से अलग हुई। कश्मीर की पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी और कई अन्य छोटे दल भी संप्रग से अलग हुए। लेकिन इससे इसकी स्थिरता पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा।

विद्वानों की राय है कि संप्रग-एक सरकार द्वारा किये गये प्रगतिशील क्रान्तियों के कारण ही 2009 के लोकसभा चुनावों में संप्रग को जीत मिली। दूसरी तरफ़, बिहार और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में इसे ज्यादा सफलता नहीं मिली। कुछ टीकाकारों ने यह टिप्पणी की कि असल में पूरे राष्ट्रीय स्तर पर कोई एक मुद्दा हावी नहीं रहा, बल्कि अलग-अलग क्षेत्रों में वहाँ के स्थानीय मुद्दों ने चुनाव को प्रभावित किया। फिर यह कहा जा सकता है कि संप्रग-एक की सरकार के प्रदर्शन ने ही 2009 के संसदीय चुनावों में इसकी जीत का रास्ता साफ़ किया। इन चुनावों में कांग्रेस को 2004 के चुनावों की तुलना में 61 सीटों का फ़ायदा हुआ और इसे अकेले 206 सीटें मिलीं। संप्रग के घटक दलों के सीटों को मिला कर यह संख्या 262 तक पहुँच गयी। उल्लेखनीय है कि वाम दलों के समर्थन वापस लेने के बाद पश्चिम बंगाल में कांग्रेस और तृणमूल कांग्रेस का गठजोड़ कायम हुआ जिसे चुनावों में

अच्छी खासी सफलता मिली। इसके अलावा, तमिलनाडु में भी द्रमुक-कांग्रेस गठजोड़ को ज़बरदस्त कामयाबी मिली। संप्रग अपने बलबूते पर बहुमत के काफ़ी नज़दीक पहुँच गया। वाम दलों पर निर्भरता न रहने के कारण कांग्रेस की स्थिति मजबूत हो गयी। 2009 के लोकसभा चुनावों के बाद डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में ही संप्रग-दो सरकार बनी। इसे समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी ने बाहर से समर्थन प्रदान किया।

संप्रग के दूसरे कार्यकाल में इसका प्रदर्शन प्रभावकारी नहीं रहा। अधिकांश मोर्चों पर सरकार का काम निराशाजनक रहा। संप्रग-एक के समय कांग्रेस नेतृत्व ने आर्थिक सुधारों और आम जनता के सामाजिक-आर्थिक हितों के बीच एक संतुलन बनाने की कोशिश की थी। लेकिन 2009 के बाद जन-कल्याण के खाते में कोई विशेष क़दम नहीं उठाया गया। इस सरकार के ऊपर वामपंथी दलों का कोई दबाव नहीं है, और न ही कांग्रेस के भीतर भी जनोन्मुखता की आवाज़ की कोई सक्रिय भूमिका नहीं है। इसी कारण से संप्रग-दो आम लोगों की भलाई करने वाले किसी खास कार्यक्रम की शुरुआत नहीं कर पायी। यहाँ तक कि कभी इसके न्यूनतम साज़ा कार्यक्रम पर भी गम्भीरता से चर्चा नहीं हुई। भूमि अधिग्रहण, खाद्य सुरक्षा, महिला आरक्षण और साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने आदि जैसे घोषित वायदों पर भी संप्रग सरकार ने कोई खास प्रगति नहीं दर्ज की। इसकी बजाय उसने आर्थिक सुधारों को आगे बढ़ाने पर जोर दिया।

वैश्विक आर्थिक मंदी के कारण देश की आर्थिक वृद्धि की दर भी प्रभावित हुई, हालाँकि संप्रग सरकार ने इसका भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ने दिया। लेकिन इसने कुछ ऐसे आर्थिक क़दम भी उठाये, जिनका घरेलू अर्थव्यवस्था पर बहुत नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। मसलन, घरेलू खुदरा बाज़ार में विदेशी पूँजी निवेश की इजाज़त देना ऐसा ही एक क़दम है। इसका खुदरा व्यापारियों और विपक्षी दलों ने पुरजोर विरोध किया। आशंका जतायी गयी कि इससे घरेलू रोजगार पर बहुत बुरा असल पड़ेगा। इसी मुद्दे पर संप्रग के एक प्रमुख घटक तृणमूल कांग्रेस ने सितम्बर 2012 में संप्रग से नाता तोड़ लिया। इसी तरह द्रमुक ने मार्च, 2013 में संप्रग-दो सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। समर्थन वापसी का तात्कालिक कारण श्रीलंका में तमिलों के खिलाफ़ राज्य की हिंसा के मुद्दे पर भारत सरकार का दुलमुल रवैया था। लेकिन इस पृष्ठभूमि काफ़ी पहले से तैयार हो रही थी, जब टू जी घोटाले के तहत द्रमुक कोटे से बने संचार मंत्री ए. राजा और द्रमुक प्रमुख करुणानिधि की बेटी कणिमोयी पर भ्रष्टाचार के आरोप लगे। राजा और करुणानिधि की बेटी को लम्बे समय तक जेल में भी रहना पड़ा।

असल में संप्रग-दो की सरकार भ्रष्टाचार से निपटने में न केवल पूरी तरह नाकाम रही, बल्कि उसकी छवि स्वयं भ्रष्टाचार की तरफ से आँखें बंद करने वाली हुकूमत जैसी बन गयी। सरकार के कई महकमों और मंत्रियों पर भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोपों का सामना करना पड़ा। टू जी घोटाला, कॉमनवेल्थ घोटाला, कोयला घोटाला, रेल घोटाला आदि में बड़े पैमाने पर रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी और सरकारी धन की लूट के तथ्य सामने आये। इस दौर में भ्रष्टाचार के सभी पुराने रेकार्ड टूट गये। भ्रष्टाचार के खिलाफ ही 2011 में अण्णा हजारे और अरविंद केजरीवाल द्वारा शुरू की गयी मुहिम ने भी संप्रग-दो सरकार की छवि को ठेस पहुँचायी।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि अपने शुरुआती रूप में संप्रग-एक की सरकार ने सेकुलर और जनोन्मुख राजनीति को मजबूत किया। अपने बूते बहुमत से दूर रहने और कांग्रेस के पास कम सीटें होने के बावजूद संप्रग-एक सरकार ने ज्यादा अच्छी तरह काम किया। लेकिन संप्रग-दो सरकार के दौर में प्रशासन काफ़ी बिखरा रहा है और भ्रष्टाचार के आरोप सामने आये। संप्रग-एक की तुलना में इस सरकार ने बाज़ारवादी आर्थिक सुधारों के पक्ष में ज्यादा क्रदम उठाये जिसके दूरगामी नकारात्मक प्रभाव भी हो सकते हैं। इससे न सिर्फ आम लोगों के रोज़गार पर बुरा असर पड़ने की सम्भावना है, बल्कि चुनाव राजनीति में भी संप्रग के लिए यह महँगा सौदा साबित हो सकता है। संप्रग की दोनों सरकारें गठजोड़ की राजनीति के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को रेखांकित करती हैं। संप्रग-एक सरकार इस बात का उदाहरण है कि सहयोगी की दलों की रोक-टोक सरकार की प्रभावकारिता के लिए नकारात्मक नहीं होती है। वहीं, संप्रग-दो इस बात का उदाहरण है कि यदि गठबंधन से जुड़े दल सिर्फ अपने फ़ायदे के लिए सौदेबाजी करने लगे तो इसका सरकार की छवि और कार्यकुशलता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि गठबंधन का बड़ा दल यदि नीतिगत फ़ैसलों की बजाय तात्कालिक रणनीति पर ध्यान दे तो वह सरकार तो चला सकता है, लेकिन सरकार की बेहतर छवि क़ायम नहीं कर सकता। संप्रग-दो का भविष्य इसी बात से तय होगा कि वह तात्कालिक जोड़-तोड़ से अलग हटकर किसी सीमा तक नीतिगत मसलों पर फ़ैसले कर पाता है।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी।

संदर्भ

1. जोया हसन (2012), *कांग्रेस आफ्टर इंदिरा : पॉलिसी, पॉवर, पॉलिटिकल चेंज (1984-2009)*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. संजय रूपारेलिया (2005), 'मैनेजिंग द यूनाइटेड प्रोग्रेसिव अलायंस : द चैलेंजेस अहेड', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 40, अंक 29.

— कमल नयन चौबे

संयुक्त राष्ट्र

(United Nations)

संयुक्त राष्ट्र एक ऐसा अंतर-सरकारी संगठन है जो विश्व स्तर पर शांति और सुरक्षा क़ायम रखने, राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की रक्षा करने, विभिन्न देशों के बीच सामाजिक व आर्थिक सहयोग सुनिश्चित करने और मानवाधिकारों की हिफ़ाज़त करने के लिए काम करता है। इसकी की स्थापना प्रथम विश्व-युद्ध के बाद बने लीग ऑफ़ नेशंस को विफलताओं से सबक सीख कर 1945 में उस समय की गयी जब द्वितीय विश्व-युद्ध अपने आख़िरी दौर में था। अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, चीन और 47 अन्य देश इसके संस्थापक सदस्य थे। पिछले पचास साल में संयुक्त राष्ट्र कई तरह तरह के दौरों से गुज़रा है। शीत युद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा क़ायम रखने में इसे ख़ास सफलता नहीं मिली, क्योंकि आपस में होड़ कर रही दोनों महाशक्तियों (अमेरिका और सोवियत संघ) ने बार-बार वीटो (निषेधाधिकार) का प्रयोग करके इस संगठन की सुरक्षा परिषद् को तक्ररीबन निष्प्रभावी ही कर दिया था। इस नाकामी के बावजूद यह मानना होगा कि संयुक्त राष्ट्र ने पचास और साठ के दशक में वि-उपनिवेशीकरण की ऐतिहासिक और जटिल प्रक्रिया को अपनी निगरानी में चलाया। महाशक्तियों के कारण नाकाम हुई सामूहिक सुरक्षा नीति के विकल्प में उसने शांति-स्थापना (पीसकीपिंग) का कार्यक्रम अपनाया जिसके कारण महाशक्तियाँ एक हद तक विभिन्न संघर्षों में सीधे हस्तक्षेप नहीं कर पायीं जिसके कारण उनके बीच सीधे टकराव की नौबत नहीं आयी। नब्बे के दशक के बाद से भूमण्डलीकरण और एकध्रुवीयता की नयी परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय हैसियत और प्रभावकारिता में काफ़ी गिरावट आयी है।



1961 से 1971 के बीच संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ थॉ (1909-1974)

द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने के दो साल बाद ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने अमेरिका के राष्ट्रपति एफ.डी. रूज़वेल्ट से एक मुलाक़ात की जिसके परिणामस्वरूप एक दस्तावेज़ जारी किया गया जिसे अटलांटिक चार्टर कहा जाता है। इसमें दोनों देशों ने अपने युद्ध संबंधी उद्देश्यों का खुलासा किया था। इनके अनुसार ब्रिटेन और अमेरिका न केवल नाज़ी जर्मनी की पराजय चाहते थे, बल्कि देशों के बीच शांति, सुरक्षा, सहयोग और स्वतंत्रता के हक़ में एक व्यापक और स्थाई अंतर्राष्ट्रीय बंदोबस्त करने के भी इच्छुक थे। जनवरी, 1942 में 26 देशों ने इन्हीं मानकों के आधार पर तैयार की गयी संयुक्त राष्ट्र उद्घोषणा पर दस्तख़त किये। 1944 में सोवियत संघ, अमेरिका, चीन और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने डम्बरटन ओक (अमेरिका) में बैठक करके एक नये अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिए ठोस प्रस्ताव तैयार किये। 1945 में सैन फ्रांसिस्को में हुई संयुक्त राष्ट्र कॉन्फ़्रेंस में 51 देशों ने इस संगठन के चार्टर पर बहस करके उसे पारित कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र का मुख्यालय न्यूयॉर्क में है और उसके मुख्य तौर पर छह घटक हैं : महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और ट्रस्टीशिप कौंसिल। महासभा की साल में एक बार बैठक होती है जिसमें सभी 187 सदस्य भाग लेते हैं। महासभा अपना कामकाज छह कमेटियों के ज़रिये सम्पन्न करती है : पहली कमेटी का काम निःशस्त्रीकरण, अंतरिक्ष, राजनीतिक और सुरक्षा संबंधी मुद्दों पर गौर करती है; दूसरी कमेटी आर्थिक और वित्तीय पक्षों का ध्यान रखती है; तीसरी कमेटी सामाजिक-मानवीय-सांस्कृतिक मसलों को देखती है; चौथी कमेटी औपनिवेशिक प्रकरणों पर निगाह रखती है; पाँचवीं कमेटी प्रशासनिक और बजट संबंधी कामकाज निबटाती है; और छठी कमेटी क़ानूनी मसलों के लिए बनी

है। महासभा की दुनिया की राजनीति में कोई निर्णायक भूमिका नहीं है। वह अपनी पसंद के मुद्दों पर बहस करती है, दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करती है, अन्य संयुक्त राष्ट्र संस्थाओं के लिए सदस्य चुनती है और अपने बजट को स्वीकार करती है। उसका रुतबा नैतिक क्रिस्म का है और उसकी राय भूमण्डलीय मत का पर्याय समझी जाती है।

संयुक्त राष्ट्र का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है सुरक्षा परिषद्। अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा होने की स्थिति में उसकी बैठक कभी भी आयोजित की जा सकती है। इसके 15 सदस्यों में पाँच स्थाई (अमेरिका, रूस, चीन, फ्रांस और ब्रिटेन) हैं और दस अस्थाई सदस्य अफ्रीका, एशिया, पूर्वी युरोप, लैटिन अमेरिका, पश्चिमी युरोप और ओशियाना क्षेत्रों से दो साल के लिए चुने जाते हैं। सुरक्षा परिषद् बहुमत के आधार पर निर्णय लेती है, पर उस बहुमत में पाँचों स्थाई सदस्यों की सहमति शामिल होना ज़रूरी है। अन्यथा ये सदस्य निषेधाधिकार का इस्तेमाल करके किसी भी निर्णय को रोक सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र ने कई क्षेत्रों में काम करने के लिए कुछ संस्थाओं को बनाया है और कुछ को अपनाया है। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को उसने अपनी संस्था की हैसियत दे रखी है। इनके अलावा विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ), संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को), यूएन इंटरनैशनल चिल्ड्रेंस इमरजेंसी फंड (यूनीसेफ़), संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी उच्चायोग (यूएनएचसीआर), यूएन कान्फ़्रेस ऑन ट्रेड ऐंड डिवेलपमेंट (अंकटाड), यूएन डिवेलपमेंट प्रोग्राम (यूएनडीपी) और संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी)।

अपनी रचना के बाद संयुक्त राष्ट्र को पहली कामयाबी आत्म-निर्णय का सिद्धांत लागू करने में मिली। चूँकि युरोपीय औपनिवेशिक ताकतें विश्व-युद्ध के कारण कमज़ोर हो गयी थीं, इसलिए संयुक्त राष्ट्र महासभा को दुनिया भर के स्वतंत्रता आंदोलनों के लिए अपना मंच मुहैया कराने में कोई दिक्कत नहीं हुई। अल्जीरिया में चल रहे सशस्त्र संघर्ष में संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों ने हस्तक्षेप करके उपनिवेशवादियों पर दबाव डाला और स्वतंत्रता सैनानियों को कामयाबी दिलवायी। दुनिया के पैमाने पर चली वि-उपनिवेशीकरण इस प्रक्रिया में सोवियत संघ और अमेरिका के सक्रिय सहयोग की भूमिका अहम थी। दोनों महाशक्तियाँ अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों का विकास करना चाहती थीं।

साठ के दशक में कई नव-स्वतंत्र देशों ने गुटनरिपेक्ष आंदोलन का गठन करके महासभा में अमेरिकी दबदबे को ख़त्म कर दिया। सत्तर के दशक तक ये देश मानते रहे कि संयुक्त राष्ट्र के ज़रिये वे मौजूदा विश्व-व्यवस्था को चुनौती

दे सकते हैं। लेकिन, जैसे-जैसे शीत-युद्ध खात्मे की तरफ बढ़ा, गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता का भी क्षय होता चला गया। चूँकि विकसित देशों की संयुक्त राष्ट्र की वैकासिक प्रतिबद्धताओं में कोई रुचि नहीं थी, इसलिए उपनिवेशवादी दोहन के कारण जड़ जमा चुकी विश्व-व्यापी संरचनागत विषमताओं के खिलाफ कुछ खास नहीं किया जा सका।

संयुक्त राष्ट्र की ट्रस्टीशिप कौंसिल द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व-ट्रस्ट के तहत 11 भू-क्षेत्रों का प्रशासन चलाने की ज़िम्मेदारी उठाती थी। धीरे-धीरे इनमें से दस को भी स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी। केवल पलाउ आइलैण्ड ही अमेरिकी ट्रस्टीशिप के तहत रह गया है।

1988 से 1992 के बीच संयुक्त राष्ट्र को शीत-युद्ध के खात्मे के कारण कई सफलताएँ मिलीं। 1991 के खाड़ी युद्ध के दौरान इराक की जीत और कुवैत पर उसके कब्जे को चुनौती देने के मामले में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की सराहना हुई। इसके बाद अफ़गानिस्तान, कम्बोडिया, नामीबिया और एल सल्वाडोर में मध्यस्थता करके वह अपने चार्टर की उम्मीदों पर खरा उतरा। एकबारगी लगने लगा कि विश्व-व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के मुताबिक चल सकती है। यही वह दौर था जब संयुक्त राष्ट्र की शांति-स्थापना कार्रवाइयों की संख्या दोगुनी हो कर बीस तक पहुँच गयी और उनका बजट चौगुना हो कर चार अरब डॉलर हो गया। उस समय सारी दुनिया में संयुक्त राष्ट्र के अस्सी हज़ार शांति सैनिक सक्रिय थे। ये सैनिक नीले हेलमेट पहनते थे और कुवैत और सोमालिया से बोस्निया और मध्य अफ़्रीका तक उनकी उपस्थिति देखी जा सकती थी।

इन कामयाबियों का अंत सोमालिया की राजधानी मोगदिशु में उस समय हो गया जब वहाँ ग़लत रणनीति के कारण एक फ़ौजी कार्रवाई में 18 अमेरिकी सैनिक मारे गये। हालाँकि यह कार्रवाई अमेरिकी कमान के तहत हो रही थी, पर क्लिंटन प्रशासन ने इसकी ज़िम्मेदारी संयुक्त राष्ट्र के तत्कालीन महासचिव बुटरस बुटरस-घाली के मत्थे मढ़ दी। इसके बाद बोस्निया में संयुक्त राष्ट्र शांति सेना की नाकामी के कारण अमेरिका की निगाहों में इस विश्व-संस्था की उपयोगिता और कम हो गयी। मई, 1994 में राष्ट्रपति क्लिंटन ने संयुक्त राष्ट्र शांति सेनाओं में अपनी भागीदारी घटानी शुरू कर दी। उसने रवांडा के जातिसंहार को रोकने के लिए वहाँ संयुक्त राष्ट्र की सेना को मज़बूत करने से इनकार कर दिया। उसने इन सेनाओं का बढ़ता हुआ खर्चा उठाने से भी मना कर दिया। पूरे नब्बे के दशक में अमेरिका संयुक्त राष्ट्र को दिये जाने वाले अपने आर्थिक योगदान का भुगतान करने से आनाकानी करता रहा।

संयुक्त राष्ट्र के प्रभाव और उपयोगिता में कमी आने के मुख्यतः तीन कारण समझे जाते हैं : पहला, दुनिया में युद्ध का पैटर्न बदल गया है। कई बार गृह युद्ध और दो राज्यों के बीच होने वाले युद्ध के बीच फ़र्क करना मुश्किल हो जाता है। अपने चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र हर राज्य की सम्प्रभुता का सम्मान करने के लिए बाध्य है। वह उसके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसलिए इस तरह के मामलों में उसके हाथ बँध जाते हैं। दूसरा, चूँकि संयुक्त राष्ट्र किसी संकट में हस्तक्षेप करने के लिए अपने पाँच स्थाई सदस्यों की पहलकदमी पर निर्भर है, इसलिए उसे कई बार किसी हस्तक्षेप में बहुत लम्बा समय लग जाता है। तीसरे, संयुक्त राष्ट्र अपने खर्चे के लिए पाँच स्थाई सदस्यों के अनुदान पर बहुत ज़्यादा निर्भर है। इसलिए भी वह इन देशों के राष्ट्रीय हितों का मोहरा बनने के लिए मजबूर हो जाता है।

आज बहस इस बात पर है कि संयुक्त राष्ट्र के कामकाज में सुधार कैसे किया जाए। इसके लिए सुझाव दिया गया है कि जापान, जर्मनी और भारत को भी सुरक्षा परिषद में स्थाई सदस्यता प्रदान की जानी चाहिए, क्योंकि मौजूदा स्थाई सदस्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के यथार्थ की नुमाइंदगी करते हैं न कि इक्कीसवीं सदी के यथार्थ की।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय संघ, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, साम्राज्यवाद, शस्त्र-नियंत्रण, शांति, शांतिवाद, शीत-युद्ध, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. एस. र्यान (2000), *द यूनाइटेड नेशंस ऐंड इंटरनेशनल पॉलिटिक्स*, सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयॉर्क
2. जी. सिमंस (1994), *द यूनाइटेड नेशंस : अ क्रोनोलॉजी ऑफ़ क्राफ़्लक्ट*, मैकमिलन, लंदन
3. यूनाइटेड नेशंस (1990), *द ब्लू हेल्मेट्स : अ रिव्यू ऑफ़ यूनाइटेड नेशंस पीसक्रीपिंग*, यूनाइटेड नेशंस, न्यूयॉर्क

— अभय कुमार दुबे

संरचनावाद और उत्तर- संरचनावाद

(Structuralism and Post-structuralism)

आधुनिक भाषा-विज्ञान के जनक फ़र्दिनैंद द सॅस्यूर (1857-1913) के अध्यापकीय व्याख्यानों से संरचनावाद का जन्म हुआ है। संरचनावाद की मूल मान्यता है कि परस्पर विपरीत द्विभाजन के ज़रिये भाषा, संस्कृति, इतिहास, मनोविज्ञान जैसे समाज के विभिन्न आयामों का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। संरचनावाद के कई संस्करण हैं जिनमें फ़्रांसीसी, चेक, रूसी एवं अमेरिकी-ब्रिटिश संस्करणों का विशेष उल्लेख होता है। अमेरिकी-ब्रिटिश संरचनावादियों ने मानवीय सामाजिक संबंधों को संरचना का आधार माना है, जबकि यूरोप के अन्य संरचनावादी संरचना का आधार विचार एवं भाषा को मानते हैं। बहुआयामी कलेवर एवं विस्तृत क्षितिज से संबंधित होने के कारण संरचनावाद के विभिन्न विचार-सम्प्रदायों में मत-वैविध्य है। इसके बावजूद वे सभी भाषा के माध्यम से समाज, संस्कृति, व्यक्ति के मानस आदि की ऐसी व्याख्या करते हैं जहाँ व्यक्तिनिष्ठता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता प्रभावी हो जाती है। जहाँ आधुनिक वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादक व्यक्ति है, वहीं संरचनावादी वस्तुनिष्ठता द्वारा व्यक्ति कर्ता के रूप में निर्मित होता है।

संरचनावाद एक बौद्धिक आंदोलन की तरह विकसित हुआ, जिसे अनेक विद्वानों ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ाया। इस सिद्धांत को मानवशास्त्र में क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, मनोविज्ञान में ज़ाक लकाँ, वास्तुशास्त्र में राबर्ट वेंचुरी, साहित्यिक समालोचना में टेरी ईगलटन और भाषा-विज्ञान में सॅस्यूर जैसे चिंतकों ने अपना आधार बनाया। मार्क्सवादी समीक्षा में भी संरचनावाद का प्रयोग हुआ और इस क्षेत्र में लुई अलथुसे का नाम प्रमुख है। समाजशास्त्र में दुर्खाइम एवं बार्थ के विचारों से संरचनावाद का सूत्रपात हो जाता है जिसका प्रसार आगे चलकर पिएर बोर्दियो जैसे विचारकों के माध्यम से हुआ। संरचनावाद के विकास में मिशेल फूको, ज्यॉ-फ़्रांस्वा ल्योतर एवं ज़ाक देरिदा जैसे चिंतकों का भी विशिष्ट योगदान है।

सॅस्यूर के भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण, याकोबसन के सायबर्नेटिक्स तथा दुर्खाइम द्वारा प्रतिपादित सामूहिक मानसिक संरचना के विचारों को मिलाकर लेवी-स्ट्रॉस ने संरचनावाद को एक नया आयाम प्रदान किया। विभिन्न जनजातीय समाजों में नातेदारी व्यवस्था और मिथकों के अध्ययन के आधार पर उन्होंने पाया कि मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्व सभी जगह कमोबेश एक ही जैसे हैं, क्योंकि

मानव मस्तिष्क की संरचना एक जैसी होती है। मस्तिष्क की इन संरचनाओं को वे ऐसे साँचे के रूप में देखते हैं जो विषयों की उनके विपरीत युग्मों के रूप में पहचान करता है। यहाँ स्ट्रॉस पर सॅस्यूर के भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रभाव है, क्योंकि सॅस्यूर ने भी शब्दों की अर्थवत्ता को विभेद द्वारा ग्रहण किये जाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। स्ट्रॉस ने शब्दों के विनिमय के सदृश आदिम समाजों में जीवन साधियों के विनिमय में साम्य देखा। नातेदारी की संरचना को उन्होंने भाषाई संरचना के आधार पर व्याख्यायित किया। स्ट्रॉस मानते हैं कि मानव मस्तिष्क के इन संरचनाओं में प्रायः परिवर्तन नहीं होता है। इस स्थिति में मनुष्य के व्यवहार में कोई मौलिक परिवर्तन हो सकता है— स्ट्रॉस इससे इनकार करते हैं।

लुई अलथुसे ने लेवी-स्ट्रॉस एवं सॅस्यूर के संरचनावादी विमर्श को एक नया विस्तार देते हुए मार्क्सवादी चिंतन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। उनका मानना है कि सामाजिक विन्यास की प्रक्रिया को समग्रता में न मान कर सापेक्षिक व जटिल मानना चाहिए जहाँ विभिन्न घटनाओं एवं घटकों का प्रभुत्व है और जो स्वयं विभिन्न समाजगत संस्थाओं एवं संरचनाओं में व्याप्त है। राजनीति, अर्थशास्त्र, विचारधारा समेत सभी सामाजिक घटकों में व्याप्त प्रघटनायें मिल कर उस परिवेश को निर्मित करते हैं जहाँ संस्कृति एवं भाषा के निहितार्थ बहुआयामी हो जाते हैं। संरचनावाद का प्रयास भाषा के इसी निहितार्थ को उद्भाषित करना है। अलथुसे ने विचारधारा को प्रच्छन्न चेतना न मान कर अनुभव का विषय माना है। विचारधारा वह है जो व्यक्ति-व्यक्ति (कंक्रीट इन्डिविजुअल) को समष्टि-व्यक्ति (कंक्रीट सब्जेक्ट) में परिवर्तित कर देती है। यही समष्टि-व्यक्ति भाषा के उस प्रतीकात्मक संसार में प्रवेश करता है जहाँ वह मात्र संकेतित होकर रह जाता है। अलथुसे के इस विमर्श ने संरचनावादी परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद की व्याख्या को बढ़ावा दिया जिससे आर्थिक नियतिवाद की वस्तुनिष्ठता कटघरे में खड़ी हो गयी।

संरचनावादी विमर्श को रोलॉ बार्थ के हस्तक्षेप ने भी अग्रसारित किया। वे मानते हैं कि शब्द के अर्थ का निष्पादन दो तरह से होता है— शब्द का निर्देशात्मक अर्थ (डिनोटेटिव मीनिंग) एवं शब्द का सहयोजी अर्थ (कन्नोटेटिव मीनिंग)। शब्द का जो सामान्य साहित्यिक एवं व्याकरणिक अर्थ है और जिसे समाज के सभी सदस्यों द्वारा स्वीकार किया जाता है, वह शब्द का निर्देशात्मक अर्थ है। शब्दार्थ का निष्पादन जहाँ विभिन्न सांस्कृतिक व्यवहारों एवं संदर्भों से होता है वह शब्द का सहयोजी अर्थ है। शब्द का यह अर्थ व्याकरणिक नियमों से परे है। बार्थ के अनुसार समष्टि-व्यक्ति के निर्माण में समाज, संस्कृति, मिथक एवं विश्वास व्यवस्था के साथ-साथ

उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा का भी प्रभाव होता है। इसी कारण बार्थ का आग्रह है कि भाषाई संरचना के व्याकरणिय पहलू एवं सांस्कृतिक पहलू को समानान्तर ही समझना समीचीन होगा। बार्थ के इस संरचनावादी विश्लेषण ने अर्थान्वयन के उस स्वरूप पर प्रहार किया जिसके तहत परिघटनाओं का एकार्थक विश्लेषण किया जाता है।

संरचनावाद अपने एक उत्कर्मित स्वरूप में उत्तर-संरचनावाद के रूप में सामने आया। संरचनावाद ने जहाँ द्विपदीय विपरीतार्थकों को अनावृत किया, वहीं उत्तर-संरचनावाद ने द्विपदीय विपरीतार्थकों से निर्मित मानस, समाज, व्यवहार, संस्कृति आदि का खण्डन किया। मिशेल फूको, ल्योतर, देरिदा जैसे विचारकों के लेखन में उत्तर-संरचनावाद ने आकार ग्रहण किया। इन सभी विचारकों ने संरचनावाद की आलोचना करते हुए कहा कि अध्ययन की प्रणाली व्यक्तिनिष्ठ होने के साथ-साथ वस्तुनिष्ठ भी होनी चाहिए।

उत्तर-संरचनावादी समाजरूपी मूलपाठ के जिस स्वरूप की चर्चा वे करते हैं वह अवधारणाओं द्वारा निर्मित न होकर शब्दों से परिबद्ध है। यह मूलपाठ शब्द केंद्रित (लोगोसेन्ट्रिक) न होकर अन्तःपाठीय (इंटरटैक्स्च्युअल) है। जहाँ मूलपाठ के लिखने के संदर्भ एवं प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व रखते हैं, वहीं उत्तर-संरचनावाद के अनुसार मूलपाठों का अध्ययन जब पाठक संदर्भों एवं प्रसंगों के समानांतर करता है, तब वह वास्तव में किसी पुस्तक/अवधारणा/शब्द अथवा किसी लेखक विशेष को न पढ़ कर उस समय पाठक समय/संस्कृति एवं समाजगत संदर्भ विशेष को पढ़ रहा होता है जहाँ उस मूलपाठ का निर्माण हुआ है। मूलपाठ के अध्ययन की ऐसी विधि अनेक अर्थों एवं सम्भावनाओं को उपस्थित कर देती है।

इसी संदर्भ में उत्तर-संरचनावादी विचारक देरिदा ने विखण्डन या वि-संरचना का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। इसका उत्तरसंरचनावाद में मौलिक स्थान माना जाता है। यह सिद्धांत द्विपदीय विपरीतार्थकों से अधिशासित शब्द केंद्रीयता को खण्ड-खण्ड में बाँट देने तक ही सीमित न होकर मतभेद तक विस्तृत है। अर्थोत्पादन की प्रक्रिया में मतभेद का स्थगन न करना एवं अस्पष्ट भाग को अस्वीकार न करना ही विखण्डन है। अर्थोत्पादन की इस प्रक्रिया के चार प्रमुख चरण हैं : सर्वप्रथम शब्द केंद्रित द्विपदीय विपरीतार्थकों को एकत्रित करना। फिर उन संदर्भों की खोज करना जिनमें इनका निर्माण हुआ है। तीसरे, उन शब्द केंद्रित द्विपदीय विपरीतार्थकों के सोपानक्रम को समाप्त करना एवं चौथे, खण्डित समाज रूपी मूलपाठों की सतही व्याख्या करना। देरिदा के मुताबिक इस विखण्डनवादी प्रक्रिया द्वारा शब्दों को बहुआयामी अर्थ और इन अर्थों के लिए अवकाश मिल सकता है।

देरिदा के समान फूको ने भी अर्थ के निर्वचन के आधुनिक विश्लेषणात्मक एवं हरमेन्युटिक प्रणाली को अस्वीकार किया है। इन पद्धतियों से भाषा के दिये हुए अर्थ को अनावृत करने का प्रयास किया जाता रहा है। इनके विपरीत फूको का आग्रह विमर्श-निर्माण एवं भाषा की सतही व्याख्या द्वारा अर्थ का निर्वचन करने से है। विमर्श भाषा एवं व्यवहार के सतही अध्ययन की वह विधा है जो विभिन्न संदर्भों एवं संकेतों से मिलकर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में निर्मित अर्थों को स्पष्ट कर देती है। विमर्श-निर्माण की प्रक्रिया अपरिचित संकेतों एवं संदर्भों का अर्थान्वयन परिचित प्रसंगों से न करके उस खोज को प्रस्तावित करती है जिससे ज्ञान के पुरात्व एवं ज्ञान के वंशानुक्रम जैसी पद्धति के माध्यम से अपरिचित की पहचान हो सके। फूको ने अपरिचित की इस विमर्शीय पहचान के आधार पर परिचित की व्याख्या का प्रस्ताव किया है। अर्थान्वयन की इस प्रणाली द्वारा भाषा आधारित शक्ति संबंधों का भंजन (फ्रैग्मेंटेशन) कर दिया जाता है, जिससे विभिन्न सामाजिक व्यवहारों के अपरिचित स्वरूपों की अंतहीन सम्भावनाएँ उजागर होती हैं।

उत्तर-संरचनावाद में भाषा एवं उसकी वैधता पर प्रकाश डालने का कार्य ल्योतर ने किया है। उनकी दृष्टि देरिदा एवं फूको से भिन्न है। वे कहते हैं कि संरचनावादी भाषा-विन्यास एवं भाषा का अर्थ स्वयं प्रमाणित होता है। इसलिए यह वैध नहीं है। ल्योतर भाषा एवं अर्थ की वैधता को विभिन्न भाषाई खेलों (लैंग्वेज गेम) से प्राप्त होने की बात कहते हैं। भाषा के ये खेल विभिन्न संकेतों एवं निर्देशों द्वारा निर्धारित होते हैं, जिसके अनेक आयाम हो सकते हैं। संकेतों एवं निर्देशों के यही आयाम भाषा एवं उसके अर्थों को वैधता प्रदान करते हैं। संकेतों एवं निर्देशों से प्रमाणित भाषा ही विषय के सही स्वरूप से परिचित कराती है और स्वस्थ सामाजिक संबंधों को निरूपित करने का अवसर देती है।

समीक्षात्मक दृष्टि से संरचनावाद पर टेरी ईगलटन की यह टिप्पणी सही प्रतीत होती है कि इसमें द्विपदीय विपरीतार्थक की धारणा को अत्यधिक कठोरता से अपनाया गया है। संरचनावाद में जहाँ सार्वभौमिक आग्रहों को नकारने की प्रवृत्ति है वहीं यह द्विपदीय विपरीतार्थकों की मान्यता को सार्वभौम स्वीकृति की तरह अपनाता हुआ दिखाई पड़ता है। समाज की विभिन्नता को स्वीकारोक्ति की दृष्टि से समझने पर भी समाज में ऐसा विभाजन नहीं मिलता है जिसका संकेत शब्द केंद्रीयता और द्विपदीय विपरीतार्थक देते हैं।

उत्तर-संरचनावाद में जिस विखण्डन की बात देरिदा ने की है, युरगन हैबरमास ने उसकी आलोचना में लिखा है कि भाषा के विन्यासों को संकेतों के माध्यम से समझने का विखण्डनवादी प्रयास वास्तव में संकेतों के आपसी संबंधों

द्वारा ज्ञात किया जाता है। समस्या यह है कि इन संकेतों के स्पष्टीकरण के लिए भी हमें पुनः अनेक संदर्भों को देखना पड़ता है जो मूल पाठों के अध्ययन में किये जाते हैं। इस तरह से तो विमर्श मात्र संकेतों के एकत्रीकरण जैसा होकर रह जाएगा।

इन आलोचनाओं के बावजूद संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी विमर्श ने सोचने-समझने की बँधी-बँधायी धारणा को तोड़ा है। इन सिद्धांतों के आलोक में उत्तर आधुनिकतावाद, नारीवाद और पर्यावरणवाद जैसे विचारों का विकास हुआ। उत्तर-संरचनावाद ने पश्चिमी ज्ञानोदय के बाद स्थापित स्वतंत्रता, समानता, न्याय, अधिकार आदि जैसी अनेक अवधारणाओं की सीमाओं को उजागर किया है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्नोसिसिया, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, जाक देरिदा, नोआम चोमस्की, परस्पर विपरीत द्विभाजन, फ्रिदरिख द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, मिशेल पॉल फ़ूको- 1 और 2, युरगन हैबरमास, रोलॉ बार्थ, लक्षण-विज्ञान, लुई अलथुसे।

संदर्भ

1. फ्रिदरिख द सॅस्यूर (1966), *कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स*, मैकग्रा हिल, लंदन.
2. जाक देरिदा (1976), *ऑफ़ ग्रामेटोलॉजी*, जान हॉपकिंस युनिवर्सिटी प्रेस, बाल्टिमोर.
3. ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर (1997), *द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : अ रिपोर्ट ऑन नॉलेज*, मैकमास्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैकमास्टर.
4. मिशेल फ़ूको (1972), *द आर्कियोलॉजी ऑफ़ नॉलेज*, टविस्टोक पब्लिकेशंस, लंदन.
5. क्रिस बार्कर (2000), *कल्चरल स्टडीज़ : थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
7. युरगन हैबरमास (1979), *कम्युनिकेशन ऐंड इवोल्यूशन ऑफ़ सोसाइटी*, हाइनेनमैन, लंदन.
8. क्रिस्टोफ़र नोरिस (1994), *टुथ ऐंड इथिक्स ऑफ़ क्रिटिसिज़म*, नॉलेज ऐंड ह्यूमन इंटरैस्ट, मैकमास्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैकमास्टर.
9. क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस (1969), *द एलिमेंट्री स्ट्रक्चर ऑफ़ किनशिप*, एयरी ऐंड स्पार्टिश उड, लंदन.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

संरचनागत हिंसा

(Structural Violence)

शांति-अध्ययन के प्रमुख विद्वान योहान गालटुंग ने साठ के दशक में संरचनागत हिंसा की अवधारणा का सूत्रीकरण किया था। गालटुंग के अनुसार प्रत्यक्ष हिंसा के मुकाबले संरचनागत हिंसा धीरे-धीरे असर डालते हुए दूरगामी परिप्रेक्ष्य में कहीं ज्यादा लोगों को मारने में कामयाब होती है। लेकिन इसका नतीजा केवल मृत्यु के रूप में ही नहीं आँका जाता। भूमण्डलीय राजनीति में आम तौर पर हिंसा के चार रूप परिभाषित किये जाते हैं : युद्ध, यातना या अमानवीय दण्ड जैसी प्रत्यक्ष हिंसा; रोटी, कपड़ा, मकान और पेयजल जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित करना; अभिव्यक्ति और आस्था की बुनियादी मानवीय स्वतंत्रताएँ छीन लेना; और अस्मिता, सामुदायिक जुड़ाव और सामाजिक संबंधों के दायरे में परायेपन की अनुभूति पैदा करने वाले हालात पैदा करना। बाद की तीनों हिंसाएँ संरचनागत हिंसा के दायरे में आती हैं।

संरचनागत हिंसा के लिए हिंसा करने और हिंसा झेलने वाले दो पक्षों का होना ज़रूरी नहीं होता। वह तो सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक संस्थाओं में अंतर्निहित होती है। हिंसा के इन लगभग मौन और प्रायः अदृश्य रूपों के कारण लोग अपनी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने से महरूम रह जाते हैं। सामाजिक प्रभुत्व, राजनीतिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण के तले रहते-रहते लोगों की उम्र घट जाती है। संरचनागत हिंसा के गर्भ से आगे चल कर प्रत्यक्ष हिंसा जन्म लेती है जिसकी अभिव्यक्ति पारिवारिक हिंसा, नस्ली हिंसा, घृणा आधारित अपराध, आतंकवाद, जातिसंहार और युद्ध के रूप में होती है। संरचनागत हिंसा अक्सर अभिजनवाद के संस्थाबद्ध रूपों, सांस्कृतिक-श्रेष्ठता के आग्रह, नस्लवाद, सेक्सिज़म, वयस्कवादी रवैये, शास्त्रीयतावाद के पूर्वग्रह, उग्रराष्ट्रवाद, इतरलैंगिकवाद और वरिष्ठतावादी दुराग्रहों के परिणामस्वरूप जन्म लेती है।

गालटुंग ने अपना यह सूत्रीकरण औपनिवेशिक परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए किया था। ब्रिटिश महाप्रभुओं के तहत रोडेशिया में फ़्रील्ड वर्क करते हुए उन्होंने हिंसा के विभिन्न रूपों में से एक इस रूप की शिनाख्त की। आजकल इस अवधारणा के जरिये उन संगीन परिस्थितियों और कपटपूर्ण तौर-तरीकों का वर्णन किया जाता है जिनके कारण व्यक्ति पर दमनकारी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाएँ थोपी जाती हैं। ठोस रूप से कहें तो सत्ता के केंद्रों में बैठे हुए प्रभुत्वशाली समूह के हाशियाग्रस्त समूह पर दबदबे को क्रायम रखने वाली संरचनाओं की तरफ़



योहान गाल्टुंग (1930-)

इसके जरिये इशारा किया जाता है। हाशियाग्रस्त लोग संरचनागत हिंसा का अनुभव कम तनख्वाह, निरक्षरता, गिरते हुए स्वास्थ्य, राजनीतिक और कानूनी अधिकारों में कमी और लगातार हाथ से निकलती हुई जिंदगी के रूप में करते हैं। इन परिस्थितियों के खिलाफ प्रतिरोध करने पर उन्हें सीधी कार्रवाई का सहारा लेना पड़ता है। नतीजा यह निकलता है कि उनके ऊपर यथास्थिति क्रायम रखने पर आमादा प्रत्यक्ष हिंसा टूट पड़ती है।

गाल्टुंग अपने विमर्श में 'सांस्कृतिक हिंसा' का जिक्र भी करते हैं जिसके माध्यम से संरचनागत हिंसा के विभिन्न रूपों को जायज ठहराया जाता है। सांस्कृतिक हिंसा धर्म, विचारधारा, भाषा, कला और यहाँ तक विज्ञान की मदद से ऐसी अनुभूतियों की रचना करती है जिससे संरचनागत हिंसा वैध, उपयुक्त और कम से कम अनापत्तिजनक लगने लगे ताकि उसे समाज द्वारा स्वीकार किया जा सके। संरचनागत हिंसा पैदा करने वाली कई कार्रवाइयों की नैतिक प्रकृति को सांस्कृतिक हिंसा अपने आईने में 'लाल/अनुचित' के बजाय 'हरा/उचित' या 'पीला/स्वीकारोग्य' दिखाने की कोशिश करती है।

एक अवधारणा के रूप में संरचनागत हिंसा का रिश्ता सकारात्मक शांति की अवधारणा है। आम तौर पर शांति को नकारात्मक रूपों में समझा और महसूस किया जाता रहा है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में हथियारबंद टकराव की गैरमौजूदगी शांति के रूप में पेश की जाती है। चूँकि युद्ध प्रेक्षणीय है, उसे नापा जा सकता है और उसके प्रभावों की प्रत्यक्ष अनुभूति की जा सकती है, इसलिए शांति उसका वांछनीय विलोम बन जाती है। इसी आधार पर सोवियत संघ और अमेरिका के बीच चले शीत युद्ध की पूरी अवधि के

दौरान न्यूकलियर डिटरेंस (एक-दूसरे के खिलाफ एटमी हथियारों के इस्तेमाल का डर) और म्युचुअली एश्योर्ड डिस्ट्रक्शन (एमएडी) के समर्थक सिद्धांतकार कहते रहे कि क्रीमत जो भी चुकानी पड़े, दीर्घकालीन शांति इसी तरह क्रायम रखी जा सकती है। इसके विपरीत संरचनागत हिंसा का विचार युद्ध को टालने या रोकने पर जोर न दे कर ऐसी परिस्थितियों को सकारात्मक शांति की संज्ञा देता है जो लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की सम्भावनाएँ पैदा करती हों। राजनीतिक स्वतंत्रता की बढ़ी हुई मात्रा और सामाजिक न्याय के हालात भी सकारात्मक शांति के प्रमुख अवयव की तरह देखे जाते हैं क्योंकि बिना उनके संरचनागत हिंसा से नहीं बचा जा सकता।

विद्वानों ने संरचनागत हिंसा की मात्रा को मोटे तौर पर नापने का एक तरीका भी खोजा है। वे दुनिया की औसत जीवन-प्रत्याशा को उच्चतम राष्ट्रीय जीवन-प्रत्याशा में से प्रति वर्ष के हिसाब से घटाते चलते हैं और फिर उसमें उच्चतम जीवन-प्रत्याशा का भाग दे देते हैं। इससे पता चल जाता है कि वक़्त से पहले हुई और रोकी जा सकने वाली मौतों की संख्या क्या रही होगी। इस तरह की गणनाओं से प्रति वर्ष एक करोड़ सात लाख लोगों की मौत का आँकड़ा सामने आया है। समझा जाता है कि इन मरने वालों में ज्यादातर तीसरी दुनिया के बच्चे होते हैं जो या तो भुखमरी के शिकार होते हैं या फिर बीमारियों की रोकथाम के अभाव में काल के गाल में समा जाते हैं।

अपनी पुस्तक *वायलेंस : रिफ्लेक्शंस ऑन अ नैशनल एपिडेमिक* में जेम्स गिलिगन ने संरचनागत हिंसा की परिभाषा समाज की निचली पायदान पर रह रहे लोगों के बीच होने वाली मौतों और विकलांगता की बढ़ी हुई दर के रूप में की है। इसके मुकाबले ऊपर की पायदानों पर रह रहे लोगों को कहीं कम मृत्यु दर का सामना करना पड़ता है। गिलिगन इन अतिरिक्त मौतों को अप्राकृतिक क्रार दे कर उनकी जिम्मेदारी कमतर सामाजिक और आर्थिक दर्जे से पैदा हुई शर्म, तनाव, भेदभाव और अवमानना जैसी अनुभूतियों पर डालते हैं। गिलिगन ने इस समझ पर पहुँचने के लिए उन अध्ययनों का सहारा लिया है जिनके जरिये भीषण विषमता की स्थितियों में भी व्यक्ति किसी न किसी प्रकार 'गरिमा के लिए जद्दोजहद' करता रहता है।

पेत्रा केली, पॉल फ़ारमर और नेंसी शेपर-ह्यूज ने अपने अध्ययनों के जरिये संरचनागत हिंसा की अवधारणा को आगे बढ़ाया है। भविष्यवादी विद्वान वेंडेल बेल का कहना है कि जब तक सामाजिक न्याय की परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए दीर्घकालीन दृष्टि का विकास नहीं होगा, संरचनागत हिंसा के प्रभावों को कम नहीं किया जा सकता। नस्लवाद और सेक्सिज्म जैसी संरचनागत हिंसाएँ खामोशी से अपना

कुटिल चक्र चलाती रहती हैं, बावजूद इसके कि पिछले कई दशकों से उनके खिलाफ सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रतिरोध की मुहिमें चल रही हैं।

देखें : अहिंसा-1 और 2, आतंकवाद, आशिस नंदी-1 और 2, क्रांति, जैन दर्शन, फ्रेंच फ़ानो, बौद्ध दर्शन, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1, 2 और 3, शांति, शांतिवाद, सविनय अवज्ञा, हिंसा।

संदर्भ

1. योहान गालटुंग (1969), 'वायलेंस, पीस, ऐंड पीस रिसर्च', *जरनल ऑफ पीस रिसर्च*, खण्ड 6, अंक 3.
2. योहान गालटुंग (1990), 'कल्चरल वायलेंस', *जरनल ऑफ पीस रिसर्च*, खण्ड 27, अंक 3.

— अभय कुमार दुबे

संविधानवाद

(Constitutionalism)

संविधानवाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद की देन है। अंग्रेजों ने इसके जरिये एक तीर से तीन निशाने लगाने की कोशिश की। उनका पहला मकसद यह था कि संविधानवाद के माध्यम से उनके उपनिवेश धीरे-धीरे स्व-शासन की तरफ बढ़ें और वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को धीमा किया जा सके। उनका दूसरा उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि स्व-शासन हासिल कर लेने के बाद भी यानी स्वतंत्र हो जाने के बावजूद उपनिवेशित राज्य उनके प्रभाव के दायरे में रहें। स्व-शासन के संविधानवादी रास्ते को इसी लिहाज से डिज़ाइन किया गया था। संविधानवाद से अंग्रेजों ने एक तीसरा और पेचीदा मकसद हासिल करने की कोशिश भी की। वे अपने उदारतावाद, संसदीय लोकतंत्र, मुक्त बाज़ार और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आग्रहों का तालमेल उपनिवेशवाद के फ़ौजी, सामाजिक और आर्थिक यथार्थ से करना चाहते थे।

दरअसल, युरोप की उपनिवेशवादी ताकतों का साम्राज्यवादी दर्शन एक सा नहीं था। इसी के परिणामस्वरूप उपनिवेशीकरण और अ-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के प्रति वे अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाते थे। दिलचस्प बात यह है कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी भी समकालीन युरोपीय उपनिवेशवादियों से कम नस्लवादी और दमनकारी नहीं थे। पर, उन्होंने आयरलैंड को छोड़ कर अपने अन्य उपनिवेशों में सत्ता के क्रमिक हस्तांतरण और अप्रत्यक्ष शासन की नीति

अपनायी। महारानी विक्टोरिया का शासन *पैक्स ब्रिटानिका* की नीति पर चलता था जिसके मुताबिक ब्रिटिश हुकूमत स्थानीय रीति-रिवाजों और राजनीति में हस्तक्षेप करने से आम तौर पर परहेज़ करती थी। उसका जोर व्यापार, विदेश नीति और प्रतिरक्षा को अपने नियंत्रण में रखने पर रहता था। इसी के मुताबिक उन्होंने गवर्नर द्वारा नियंत्रित किये जाने वाले उपनिवेशों में भी उसे सलाह देने के लिए अधिकारियों की एक कार्यकारी परिषद् नियुक्त कर रखी थी। आगे चल कर उन्होंने विधान परिषदों का निर्वाचन भी करवाया ताकि बनाये गये क़ानून उपनिवेशित जनता को अपने प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये प्रतीत हों। अंग्रेजों के मुकाबले फ़्रांसीसियों का जोर अपने उपनिवेशों के फ़्रांसीसी राष्ट्र में सम्पूर्ण आत्मसातीकरण पर रहता था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ऐडमण्ड बर्क का कहना था कि अगर क़ानूनों को देशज जनता के जीनियस, प्रकृति और मानस के मुताबिक बनाया जाए तो औपनिवेशिक शासन सर्वाधिक प्रभावी साबित होता है। इसी सिद्धांत के मुताबिक एक के बाद एक ब्रिटिश सरकारों ने उपनिवेशों में बढ़ रहे राजनीतिक असंतोष का दमन तो किया ही, पर साथ ही राजनीतिक और संवैधानिक सुधारों की प्रक्रिया भी चलाई। इस नीति के पीछे उन्नीसवीं सदी का वह तज़रबा था जो अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों ने अमेरिका, न्यूज़ीलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया में स्थापित उपनिवेशों से हासिल किया था। इन उपनिवेशों में राजनीतिक प्रतिनिधित्व के कुछ ऐसे रूप विकसित किये गये थे जिनके तहत वहाँ के अधिवासियों को लगता था कि उन्हें इंग्लैण्ड की नागरिकता भी प्राप्त है। इसी के आधार पर अंग्रेजों ने नीति बनायी कि राष्ट्रवादी आंदोलनों को संविधानसम्मत राजनीति करते हुए स्व-शासन की तरफ जाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। वहाँ की जनता को धीरे-धीरे विधायी अधिकार दिये जाएँ। पहले वे भीतरी शासन की ज़िम्मेदारी सँभालें और फिर बाद में विदेश नीति का नियंत्रण भी उनके हाथ में दे दिया जाए।

अंग्रेज़ लगातार इस शब्दाडम्बर का प्रयोग करते रहे कि अपने औपनिवेशिक मिशन के जरिये वे एशिया और अफ़्रीका के 'पिछड़े' समाजों को संसदीय लोकतंत्र और उत्तरदायी शासन की विवेकपूर्ण ब्रिटिश परम्पराओं से सम्पन्न करना चाहते हैं। दरअसल, उपनिवेशों को अपने हाथ में रखना उत्तरोत्तर मुश्किल होता जा रहा था। इसलिए ब्रिटेन ने लचीला और परिणामवादी रवैया अख़्तियार करते हुए अपनी सत्ता और प्रभाव को सुरक्षित करने के लिए संवैधानिक सुधारों का रास्ता अपनाया। संविधानवाद की नीति इस मान्यता पर आधारित थी कि किसी साम्राज्य को क़ायम रखने के लिए फ़ौजी दमन और जबरिया क़ब्ज़ा करने की नीति अब प्रभावी नहीं रह गयी है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तो यह

हकीकत और भी साफ़ हो गयी। ब्रिटिश नीति-निर्माताओं को यकीन हो गया कि अ-उपनिवेशीकरण की रफ़्तार को केवल संवैधानिक सुधारों के माध्यम से ही नियंत्रित किया जा सकता है। केवल इसी तरह से ब्रिटिश सरकार नये बनने वाले स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ आर्थिक, राजनीतिक और रणनीतिक रिश्ते बनाये रख सकता था।

उपनिवेशवादियों की कोशिश रहती थी कि वे उपनिवेशित जनता को केंद्रीकृत और एकीकृत प्रशासन के तहत लाएँ ताकि उनका आर्थिक दोहन ज़्यादा से ज़्यादा किया जा सके। इसकी प्रतिक्रिया में राष्ट्रवाद आर्थिक तर्क ले कर टकराव की मुद्रा में सामने आता था। अंग्रेज़ होशियारी से राष्ट्रवादियों के बीच से उदार और नरम तत्त्वों को चुनते थे और स्थानीय नीतियाँ इस प्रकार बनाते थे कि उन्हीं तत्त्वों का बोलबाला राष्ट्रीय आंदोलन पर क्रायम हो जाए। उग्र राष्ट्रवादियों का दमन करने और नरम राष्ट्रवादियों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ उनकी दूसरी नीति सामाजिक रूप से परम्पराविष्ट और अनुदार अभिजनों के साथ गठजोड़ कर लेने की होती थी। समझा जाता है कि उनके इस संविधानवाद का सबसे कामयाब प्रयोग सीलोन (श्रीलंका) में हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अपने इस उपनिवेश के सामरिक महत्त्व देख कर अंग्रेज़ श्रीलंका को डोमीनियन या स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा देने के लिए तैयार हो गये। बदले में उन्होंने सीलोन के साथ प्रतिरक्षा और विदेश नीति के मामले में सहयोग सुनिश्चित कर लिया। श्रीलंकाई समाज सिंहली बहुसंख्या और तमिल और मुसलमान अल्पसंख्या में बँटा हुआ था। अंग्रेज़ों ने सामाजिक रूप से अनुदारवादी सिंहली प्रभुओं के साथ गठजोड़ स्थापित किया। इसी तरह मलाया को 1957 में आजादी देने के बदले अंग्रेज़ों ने राष्ट्रमण्डलीय व्यापार और प्रतिरक्षा प्रणाली में मलय भागीदारी को सुनिश्चित किया। 1945 के बाद ही अंग्रेज़ों ने मलाया के अनुदारपंथी परम्परागत शासकों के साथ गठजोड़ करके एक केंद्रीकृत प्रशासन खड़ा कर लिया था। इसी के तहत 1954 में चुनाव कराये गये और अंग्रेज़ों के मन की पार्टी जीत गयी। अंग्रेज़ों ने सत्ता हस्तांतरण उसी के हाथ में किया।

संविधानवाद की यह नीति हर जगह अंग्रेज़ों की मर्जी के मुताबिक नहीं चली। उन्होंने भारत में भी संवैधानिक सुधारों की लम्बी प्रक्रिया चलाई, पर द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान और बाद में कांग्रेस के नेतृत्व में चली ब्रिटिश विरोधी मुहिम ने उनके इरादों को नाकाम कर दिया। कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच खराब होते संबंधों ने भी अंग्रेज़ों की दाल नहीं गलने दी। हालाँकि इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रवादी आंदोलन की बागडोर गरमपंथियों के हाथों में जाने से रोकने के लिए अंग्रेज़ों ने नरमपंथियों की तरफ़दारी वाला रुख हमेशा अपनाया रखा।

कुछ प्रेक्षक राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ नेताओं की चमकदार छवि बनाने के पीछे ब्रिटिश शासन के इरादे और योजना को भी देखते हैं।

इसी तरह पश्चिम अफ्रीकी उपनिवेश गोलड कोस्ट में अंग्रेज़ों का संविधानवाद वांछित नतीजे नहीं दे पाया। 1950 के नये संविधान के तहत नक्रूमा की पार्टी ने क्रमशः के बजाय तेज़ी से संवैधानिक सुधार करने के लिए मजबूर कर दिया। सार्विक मताधिकार घोषित होने के बाद हुए चुनावों में नक्रूमा की पार्टी ने ज़ोरदार जीत हासिल की और अंग्रेज़ों की इच्छित राजनीतिक ताकतें हार गयीं। उपनिवेशवादियों को मजबूरन नक्रूमा को सत्तारूढ़ होने के लिए जेल से रिहा करना पड़ा। 1957 में गोलड कोस्ट घाना गणराज्य में बदल गया।

कुछ ऐसे उपनिवेश भी थे जहाँ अंग्रेज़ों ने संविधानवाद की नीति नहीं अपनायी और दमन का रवैया जारी रखा। केन्या का उदाहरण बताता है कि वहाँ की परिस्थितियों में अंग्रेज़ों ने उदीयमान अफ्रीकी राष्ट्रवाद की शक्तियों को उग्र और अशांतिकारी कह तक खारिज कर दिया। उनकी कोशिश थी कि एक बहुनस्ली संविधान पारित करवा लिया जाए ताकि श्वेत अल्पसंख्यकों का रंग-रुतबा क्रायम रखा जा सके। उन्होंने केन्या के सबसे बड़े क़बीले किकायू की माँगें ठुकरा दीं। संवैधानिक रियायतें न देने के कारण अंग्रेज़ों ने राष्ट्रवादियों के बीच उग्रपंथियों के लिए रास्ता साफ़ कर दिया।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्वीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. जी.डी. बॉयस (1999), *डिकोलोनाइज़ेशन ऐंड द ब्रिटिश एम्पायर, 1775-1997*, मैकमिलन, लंदन.

2. एम. चैम्बरलेन (1998), *युरोपियन डिक्लोरनाइजेशन इन ट्वेन्टियथ सेचुरी, लॉगमेन, लंदन और न्यूयॉर्क*.
3. टी. स्मिथ (सम्पा.) (1975), *द एंड ऑफ़ युरोपियन एम्पायर : डिक्लोरनाइजेशन आफ्टर वर्ल्ड वार II*, डी.सी. हीथ, लैक्सिंगटन एमए.
4. एन. व्हाइट (1999), *डिक्लोरनाइजेशन : द ब्रिटिश एक्सपीरिमेंस सिंस 1945*, लॉगमेन, लंदन और न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

संविधान सभा में भाषा-विवाद-1

हिंदी बनाम हिंदुस्तानी : मिथक और यथार्थ

(Language Debate in Constituent Assembly-1)

भारत की संविधान सभा जब नये भारत के लिए संविधान बनाने बैठी तो उसके ज्यादातर सदस्य भाषा के प्रश्न को लेकर किसी भी तरह के अंदेशे के शिकार नहीं थे। उनकी बेफ़िक्री की वजह थी उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान बनी भाषा संबंधी समझ। लेकिन सभा के भीतर भाषाई प्रश्न ने बेइतिहा परेशानियाँ पैदा कीं। संविधान सभा का रिकॉर्ड बताता है कि भाषा के प्रश्न पर होने वाली तूफानी चर्चा एक अगस्त से 14 सितम्बर, 1949 के बीच हुई। लेकिन भाषाई प्रश्न को इन डेढ़ महीनों तक ही सीमित मान लेना उचित नहीं होगा। वस्तुतः संविधान सभा के एकदम शुरुआती दौर को अगर छोड़ दिया जाए, यह सवाल संविधान की ही सम्भावनाओं पर तलवार की तरह झूलता रहा। भाषा के प्रश्न का फ़ैसला हुआ मुंशी-आयंगर फ़ार्मूले से जिसके सूत्रीकरण और संविधान सभा से उसे मनवाने में डॉ. आम्बेडकर ने भी अहम भूमिका निभायी। विवाद को सुलझाने के लिए कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और एन. गोपालस्वामी आयंगर का मिला-जुला प्रस्ताव मान कर संविधान सभा इस निर्णय पर पहुँची कि राष्ट्र-भाषा का दर्जा किसी भाषा को नहीं दिया जाएगा। देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी भारतीय संघ की राज-भाषा होगी। अंग्रेज़ी पंद्रह साल तक हिंदी की सहयोगी राज-भाषा बनी रहेगी और 1965 में सहयोगी राज-भाषा के पद से हट जायेगी (हालाँकि इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है)। इस दौरान अनुच्छेद 351 के निर्देशों के अनुसार हिंदी को राज-भाषा की ज़िम्मेदारी निभाने के लिए तैयार किया जाता रहेगा। अंकों के मामले में राजकीय कामकाज के लिए 'भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप' की संस्तुति की गयी। इसका व्यावहारिक मतलब यह था कि वैसे

तो अंग्रेज़ी के अंक इस्तेमाल किये जाएँगे, लेकिन अगर कोई राज्य हिंदी के अंक इस्तेमाल करना चाहता है तो उसे इसकी छूट होगी। संविधान सभा ने भाषा के मसले को सुलझाने की दूसरी युक्ति आठवीं अनुसूची की रचना के रूप में निकाली। इस सूची में दर्ज भारत की प्रत्येक भाषा अपने-आप में राष्ट्र-भाषा है।

सभा के सदस्यों की राजनीतिक चेतना पर इस प्रश्न ने पहली दस्तक नियम समिति की बैठक में दी। आज़ादी मिलने से पहले 14 दिसम्बर, 1946 को राजेंद्र प्रसाद के सभापतित्व में हुई इस बैठक ने अपने-आप से पूछा कि उसकी कार्यवाही हिंदुस्तानी में चले, या अंग्रेज़ी में, या फिर हर सदस्य की मातृभाषा में। इसके बाद अंग्रेज़ी की निरंतरता, हिंदी समर्थकों के आक्रामक रवैये और दक्षिण भारतीय सदस्यों के हिंदी के खिलाफ़ प्रतिरोध के तीन ध्रुव बन गये। भीषण बहस के बाद वोट के आधार पर यह तय हो पाया कि बहस में या तो हिंदुस्तानी बोली जाएगी या अंग्रेज़ी। अगर कोई अपनी मातृभाषा में बोलना चाहे तो उसे सभापति की इजाज़त लेना होगी। तीन महीने बाद यानी मार्च, 1947 में मूलाधिकारों पर चर्चा करने वाली उपसमिति की बैठक में फिर भाषा का सवाल खड़ा हो गया, क्योंकि सदस्यगण मूलाधिकारों में भाषा संबंधी अधिकार भी जुड़वाना चाहते थे।

जब एक बार यह मान लिया गया कि हिंदी के पक्ष में राष्ट्रीय सहमति थी जो आज़ादी के बाद टूट गयी, तो इसके कारण खोजना भी ज़रूरी हो जाता है। भाषा-विमर्श इस तरह की कवायदों से भरा पड़ा है। इनका एक सर्वाधिक प्रचलित निष्कर्ष है अगर हिंदी के कट्टर समर्थकों द्वारा संस्कृतनिष्ठता की दावेदारी न की जाती, और हिंदुस्तानी को ख़ारिज न किया जाता तो एक देशी जड़ों वाली जुबान को राष्ट्र-भाषा बनाना कहीं आसान होता। समाज-विज्ञान के हलकों में यह बात ऊँचे स्वर में कही जाती है कि हिंदी वाले हिंदुस्तानी को सिर्फ़ एक वोट से (77 के मुकाबले 78) से ही पराजित कर पाये और उनके इसी कृत्य का परिणाम आज तक अंग्रेज़ी के प्रभुत्व के रूप में भुगतना पड़ रहा है। एक वोट का यह अंतर दिखा कर यह साबित किया जाता है कि हिंदुस्तानी के पक्ष के साथ किस तरह की नाइंसाफी हुई। अगर हिंदी के भीतर इस तरह का विभाजन न हुआ होता, तो अंग्रेज़ी हटाने के लिए दबाव बेहतर बनता। बहरहाल, ऊपर दिये गये तथ्यात्मक विवरण में हम देख चुके हैं कि तमिलनाडु में जिस राष्ट्र-भाषा को 1937 में ही ठुकरा दिया गया था, वह संस्कृतनिष्ठ हिंदी नहीं थी बल्कि वह गाँधी और प्रेमचंद की प्रिय हिंदुस्तानी ही थी। आइये, देखें कि संस्कृतनिष्ठ हिंदी के कट्टर समर्थकों द्वारा सिर्फ़ एक वोट से हिंदुस्तानी को हराने का दृष्टांत कितना सही है।

हिंदी बनाम हिंदुस्तानी की होड़ संविधान सभा में 15 जुलाई, 1949 में शुरू हुई। इससे एक दिन पहले सभा का

तीसरा सत्र शुरू होते ही वल्लभभाई पटेल ने प्रांतीय संविधान समिति की रपट पेश सदन के पटल पर रखी थी। अगले ही दिन इसमें कई संशोधन प्रस्तावित किये गये। प्रस्तावकों का दावा केवल एक ही बात पर केंद्रित था : रपट के मसविदे में 'हिंदुस्तानी' की जगह 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रस्तावित संशोधन इसलिए भी उल्लेखनीय था कि सेठ गोविंददास जैसे सदस्य भी इससे पहले कांग्रेस की भीतरी राजनीति के आग्रहों के तहत हिंदी के बजाय सभा के भीतर हिंदुस्तानी शब्द का ही प्रयोग करते थे, हालाँकि सभा के बाहर चल रही हिंदी बनाम हिंदुस्तानी की उग्र बहस में उन जैसे राजनीतिक-सांस्कृतिक सिपहसालारों ने हिंदुस्तानी को खारिज कर दिया था। यह संविधान सभा की चौथी बैठक थी। तीसरे दिन शाम को संविधान सभा के कांग्रेस सदस्यों की अलग से बैठक हुई। कांग्रेस के नेता हिंदुस्तानी के पक्ष में थे, पर अन्य कांग्रेसी मजबूती से हिंदी की तरफ़दारी कर रहे थे। नेतागण अल्पमत में चले गये और मत-विभाजन होने पर 32 के मुकाबले 63 वोटों से हिंदुस्तानी की जगह हिंदी का इस्तेमाल करने का फ़ैसला किया गया। ठीक एक हफ़्ते बाद संशोधनों के प्रस्ताव और हिंदुस्तानी की जगह हिंदी रखने की यह घटना संघीय संविधान समिति (यूसीसी) में भी दोहरायी गयी। वहाँ भी इस सवाल पर बहुमत-अल्पमत का प्रतिशत कमोबेश ऐसा ही था। हिंदुस्तानी को हिंदी का पर्याय मानने से इनकार करने और इसी आधार पर भाषा का नाम बदलने के इस आग्रह को साम्प्रदायिक हालात और विभाजन के अंदेशों ने जन्म दिया था। संविधान सभा की चौथी बैठक की नौबत आते-आते देश बँट चुका था, और उसके साथ ही सभा के ज़्यादातर सदस्यों का रुख 'उर्दू-प्रधान हिंदुस्तानी' को राज-भाषा या राष्ट्र-भाषा बनाने के ख़िलाफ़ हो गया। अब बहस 'संस्कृतनिष्ठ हिंदी' और 'आम बोल-चाल की हिंदी' के बीच होने लगी। एक भाषाई श्रेणी के रूप में ख़ारिज होने के बाद संविधान सभा के भीतर हिंदुस्तानी केवल भावना के रूप में रह गयी।

हिंदी बनाम हिंदुस्तानी के बीच बहस का एक वोट से फ़ैसला होने वाली घटना संविधान सभा में कभी घटी ही नहीं। यह घटना एक मिथक है। संविधान-निर्माण का प्रामाणिक आख्यान लिखने वाले ग्रेनविले ऑस्टिन बताते हैं कि 26 अगस्त, 1949 को सभा के कांग्रेस सदस्यों की अलग से हुई बैठक में अंकों के सवाल पर बहस हुई थी कि अंग्रेज़ी की संख्याएँ इस्तेमाल की जाएँ, नागरी की हों या फिर उर्दू की हों। मतदान अंग्रेज़ी और नागरी के बीच हुई जिसमें अंग्रेज़ी के पक्ष में 77 और नागरी के पक्ष में 78 वोट पड़े। ऑस्टिन के मुताबिक़ इसी बैठक का एक आख्यान सेठ गोविंद दास ने पेश किया है और एक आख्यान डॉ. आम्बेडकर ने। गोविंद दास ने अपनी आत्मकथा *आत्मनिरीक्षण* में इसे इस तरह पेश किया जैसे कि यह मतदान हिंदी और हिंदुस्तानी के बीच हुआ

हो। इसी तरह डॉ. आम्बेडकर ने अपनी रचना *थॉट्स ऑन लिंग्विस्टिक स्टेट्स* में लिखा है कि 'हिंदी राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपना स्थान बनाने में एक मत से विजयी हुई।' ऑस्टिन का मत है कि इन दोनों नेताओं द्वारा दिये गये विवरण ग़लतफ़हमी पर आधारित हैं। जिस बैठक का ज़िक्र ये दोनों करते हैं उसके एजेंडे पर हिंदी बनाम हिंदुस्तानी या राष्ट्र-भाषा का प्रश्न था ही नहीं।

कुल मिला कर ऑस्टिन ने नतीजा निकाला है कि संविधान सभा ने भाषाई प्रश्न से जूझने का ईमानदाराना प्रयास नहीं किया। पहली नज़र में उनकी यह आलोचना सही लग सकती है। न तो सभा के कांग्रेस सदस्यों ने और न ही संघीय संविधान समिति ने उन संशोधनों पर विचार करने की जहमत उठायी जो राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा के संदर्भ में हिंदी, अंग्रेज़ी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की हैसियत से जुड़े थे। कुल मिला कर संविधान सभा भाषाई प्रश्न टालने के मूड में ही रही। फ़रवरी, 1948 में जब संविधान का मसविदा सामने आया तो उसमें हिंदुस्तानी की जगह हिंदी लिखा हुआ था, हालाँकि इसके लिए मसविदा समिति ने सभा की बाकायदा अनुमति नहीं ली थी। समिति के सभी सदस्य भाषा के सवाल पर मतभेद और टकराव टालना चाहते थे, इसलिए के.एम. मुंशी के कहने पर कि सभा के कांग्रेस सदस्यों का भारी बहुमत हिंदी के पक्ष में है (जुलाई वाली बैठक), मसविदे में नाम बदल दिया गया।

1948 की शुरुआत होने तक संविधान सभा में भाषा के सवाल पर खेमेबंदी साफ़ हो चुकी थी। हिंदुस्तानी के पक्ष में या तो मुसलमान सदस्य थे या फिर हिंदी के नरमपंथी समर्थक जिन पर नेहरू और गाँधी का प्रभाव था। दक्षिण भारतीय सदस्यों को भी हिंदुस्तानी की जगह हिंदी शब्द के इस्तेमाल पर ऐतराज नहीं था। उनमें और उत्तर भारतीयों के रवैये में पहला अंतर दूसरी राज-भाषा के रूप में अंग्रेज़ी को जारी रखने के सवाल पर था। दक्षिण भारतीय सदस्य चाहते थे कि संविधान में अंग्रेज़ी को कम से कम पंद्रह साल तक जारी रखने का प्रावधान किया जाए, जबकि हिंदीवाले पाँच या सात साल से ज़्यादा अंग्रेज़ी को जारी रखने के पक्ष में नहीं थे। दूसरा अंतर यह था कि दक्षिण भारतीय सदस्य संविधान के मसविदे को अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी में पारित करने के भी ख़िलाफ़ थे।

1948 में ही कांग्रेस का अपना पार्टी-संविधान दोबारा लिखा गया, और इस प्रक्रिया ने भी भाषा-विवाद को हवा दी। यह संघर्ष संविधान सभा के बाहर हुआ, लेकिन इसमें भाग लेने वाली ताक़तें वही थीं जो सभा के भीतर आपस में भिड़ रही थीं। संविधान सभा की सातवीं बैठक के कुछ पहले इसी साल अक्टूबर में कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में पट्टाभि सीतारमैया और पुरुषोत्तमदास टंडन आपस में भिड़ गये। यह

टक्कर भाषा संबंधी दो रवैयों के बीच भी थी। सीतारमैया केवल कुछ मतों से ही जीत पाये। समझा जाता है कि उन्हें नेहरू और राजेंद्र प्रसाद जैसे दिग्गजों का समर्थन मिला जो कांग्रेस को दक्षिण बनाम उत्तर के तर्ज पर बाँटने से बचना चाहते थे। इसी दौरान संविधान का मसविदा अनुवाद के दौर से गुज़रा। हिंदी अनुवाद इतना संस्कृतनिष्ठ था कि अंग्रेज़ीदाँ जवाहरलाल नेहरू ने तो 'उसका एक भी लफ़्ज़ समझ में न आने' की शिकायत की ही, हिंदी समझने का दावा करने वाले बहुत से सदस्य भी उसे स्वीकार करने से हिचकते दिखाई दिये। ध्यान रहे कि यह अनुवाद जिस कमेटी की देखरेख में हुआ था उसमें डॉ. रघुवीर भी शामिल थे। दरअसल, 1948 और 1949 के पहले छह महीनों में हिंदीवालों की ज़िदबाज़ी और अड़ियल रवैये ने संविधान सभा में उनका समर्थन घटा दिया।

देखें : 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. राजीव रंजन गिरि (2012), *संविधान सभा और भाषा-विमर्श*, संवेद-58, नयी दिल्ली.
2. विमलेश कांति वर्मा (1997), *हिंदी : राष्ट्र-भाषा से राज-भाषा तक (1947 से 1950 तक के दस्तावेज़)*, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नयी दिल्ली.
3. आशा सारंगी (सम्पा.) (2009), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 2009
4. ग्रेनविले ऑस्टिन (2009), 'लेंग्वेज ऐंड द कांस्टीट्यूशन : द हाफ़-हार्टिड कम्प्रोमाइज़', आशा सारंगी (सम्पा.), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 2009

— अभय कुमार दुबे

संविधान सभा में भाषा-विवाद-2

अनुच्छेद 351 और उसके विभिन्न पाठ

(Language Debate in Constituent Assembly-2)

अगस्त में जैसे ही भाषा का प्रश्न संविधान सभा के मुख्य एजेंडे पर आया, सेठ गोविंद दास की अध्यक्षता में हिंदी साहित्य सम्मेलन ने प्रस्ताव पारित करके केवल संस्कृतनिष्ठ हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए दबाव बनाया। लेकिन, तब तक संस्कृतनिष्ठता और 'शुद्ध हिंदी' के सूर्य पर उनकी ही राजनीति की बदली छा चुकी थी। इसका लाभ हिंदुस्तानी के साथ भावनात्मक रूप से जुड़े हिंदी के नरमपंथी समर्थकों ने उठाया। विभाजन के कारण पराजित हो चुकी हिंदुस्तानी ने अनुच्छेद 351 के उस सूत्रीकरण में अपनी वापसी दर्ज की जिसमें बताया गया है कि राज-भाषा हिंदी का विकास किस राह पर चल कर होगा। यह अनुच्छेद कहता है : 'हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिंदुस्तानी और आठवीं सूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ तक आवश्यक एवं वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।'

समाज-विज्ञान की आँखों से देखने पर लग सकता है कि इस छोटे से पैरे में भारतीय आधुनिकता के कितने घटक भरे हैं। 'सामासिक संस्कृति' और 'हिंदुस्तानी' का सीधा अनुवाद सेकुलरवाद और साम्प्रदायिक एकता के आग्रह में किया जा सकता है। 'संस्कृत' का सीधा मतलब है स्वर्णिम भारतीय अतीत और उसका चिरंतन भाषाई नैरंतर्य। आठवीं सूची में दर्ज 'अन्य भारतीय भाषाओं' का उल्लेख संघीय प्रणाली और केंद्र-राज्य संतुलन की तरफ़ इशारा करता है। दरअसल, हिंदी की हैसियत पर होने वाले विचार-विमर्श में इस अनुच्छेद के कई पाठ तैर रहे हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय संघ द्वारा किये जाने वाले भाषा-नियोजन से लोगों को किस तरह अलग-अलग उम्मीदें थीं।

इसका पहला पाठ संविधान-निर्माताओं के मुखर के साथ-साथ मौन मंतव्य भी पढ़ने की कोशिश करता है। इस अर्थ-निरूपण के अनुसार अगर संविधान-निर्माता हिंदी को सिर्फ़ राज-भाषा ही बनाना चाहते थे तो फिर उन्हें सरकारी कामकाज में इस्तेमाल होने वाली भाषा से 'भारत की

सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम' होने की अपेक्षा क्यों करनी चाहिए थी? अर्थात् संविधान-निर्माता राज-भाषा बनाने की आड़ में हिंदी को राष्ट्र-भाषा ही बनाना चाहते थे। सरकारी कामकाज की वाहक बनने के लिए किसी भाषा को सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं के जरिये संसाधित होने की क्या आवश्यकता हो सकती है? अंग्रेजी दूसरे नंबर की राज-भाषा का काम ठाठ से कर रही है और उससे कोई ऐसी उम्मीद नहीं करता कि वह सामासिक संस्कृति की कसौटियों पर खरी उतरेगी। राज-भाषा के साथ जुड़ा हुआ तर्क उपयोगिता-केंद्रित है जिसमें भाषा को एक आंगिक (ऑर्गनिक) संरचना की तरह देखने के बजाय एक उपकरण की तरह देखा जाता है। अनुच्छेद 351 हिंदी के भविष्य को एक सरकारी उपकरण की सीमाओं से परे जा कर कल्पित करता है।

संविधान के इस अनुच्छेद का एक अन्य पाठ कृष्ण कुमार ने किया है। वे इसे 'अद्भुत शब्दजाल' करार देते हैं जो 'आजादी के बाद के वर्षों में हिंदुस्तानी को राजकीय परिधि से गायब होने से नहीं बचा सका' और '1950 में स्थापित वैज्ञानिक शब्दावली मण्डल, जिसकी जगह बाद में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग ने ले ली, संस्कृत की मदद से हिंदी का शब्द-भण्डार बढ़ाने में जुट गया'। कृष्ण कुमार के मुताबिक 'धर्मनिरपेक्षता के प्रति राज्य की वचनबद्धता इस प्रक्रिया में कोई रुकावट पैदा नहीं कर सकी, एक तो इसलिए क्योंकि हिंदुस्तानी का पक्ष पराजित हो चुका था, दूसरे इसलिए कि नौकरशाह और बौद्धिक अभिजन अंग्रेजी पर निर्भर बना रहा।' कृष्ण कुमार द्वारा किया गया यह पाठ समाज-विज्ञान के हलकों में काफी प्रभावशाली साबित हुआ है। वे इस पैरे को संस्कृतनिष्ठ हिंदी के समर्थकों की जीत मानते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि इसी पैरे के कारण हिंदी अपने सेकुलर स्वरूप हिंदुस्तानी से दूर और साम्प्रदायिक रुझान वाले संस्कृतनिष्ठ स्वरूप के नज़दीक होती चली गयी। हिंदू-राष्ट्रवादियों ने उसे अपने स्वार्थ-चक्र का अंग बना लिया।

अनुच्छेद 351 का एक तीसरा पाठ दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर ने अपनी विख्यात रचना 'हिंदी की आत्मा' में किया है। इस पुस्तक का सातवाँ अध्याय ('संविधान का अनुच्छेद 351 : हिंदी को वरदान') पूरा का पूरा इसी अनुच्छेद पर है जिससे निकलने वाली समझ कृष्ण कुमार के पाठ से एकदम उलटी है। धर्मवीर के अनुसार, 'संविधान के इस अनुच्छेद को पढ़ने वाले लोगों को ध्यान रखना चाहिए कि यदि इसमें संस्कृत का विशेष रूप से नाम लेकर उल्लेख किया गया है, तो संस्कृत से पहले हिंदुस्तानी का भी विशेष रूप से नाम लेकर उल्लेख आया है। इसके सिवा जहाँ केवल संस्कृत से मात्र शब्द लेने की बात कही गयी है, वहाँ हिंदुस्तानी के रूप,

शैली और पदावली तक को आत्मसात् करने की शर्त रखी गयी है। इससे पता चलता है कि हिंदी पहले हिंदुस्तानी के पास आती है, संस्कृत से अपना संबंध बहुत बाद में जोड़ती है। हिंदुस्तानी के बाद हिंदी को अन्य भारतीय भाषाओं के साथ मेलजोल बढ़ाना है।' धर्मवीर हिंदी के प्रश्न को साम्प्रदायिक बनाम सेकुलर की बहस के दायरे से बाहर उसके 'जीनियस' (इसे धर्मवीर हिंदी की आत्मीयता कहते हैं) के विकास की रोशनी में देखना चाहते हैं। धर्मवीर खुद को रामविलास शर्मा और किशोरी दास वाजपेयी के भाषा-चिंतन की अगली कड़ी के रूप में पेश करते हुए इन्हीं दोनों विद्वानों की बात दोहराते हैं कि हिंदी संस्कृत की बेटा नहीं है, और उसे संस्कृत का मातहत बनाने की तमाम कोशिशों के बावजूद उसका विकास अपनी आत्मीयता के तहत ही हो रहा है।

चौथा पाठ न्यायमूर्ति गोपाल राव एकबोटे की देन है। उन्होंने अपनी पुस्तक *राष्ट्र-भाषा विहीन राष्ट्र* में हिंदी को दो हिस्सों में बाँट कर देखने की वकालत की है। उनके मुताबिक एक हिंदी क्षेत्रीय भाषा है जो देश के एक बड़े हिस्से में बोली जाती है। लेकिन, संविधान जिस हिंदी की बात कर रहा है, वह कुछ दूसरी ही चीज़ है। यानी संविधान की आठवीं अनुसूची में अन्य भाषाओं के साथ जिस हिंदी का उल्लेख है, वह अनुच्छेद 351 में उल्लिखित हिंदी नहीं है। अनुसूची वाली हिंदी विकसित करने का काम राज्य सरकारों का है, और अनुच्छेद वाली हिंदी विकसित करने का काम भारतीय संघ का होना चाहिए। जस्टिस एकबोटे किसी भी भाषा की प्रकृति और स्वरूप को अलग-अलग करके देखने के तरफदार हैं। अनुच्छेद 351 वाला पैरा हिंदी की जिस प्रकृति का जिक्र करता है वह उनके अनुसार हिंदी इलाक़े में प्रचलित हिंदी के स्वरूप से भिन्न है। एकबोटे दक्षिण भारतीय प्रदेशों को हिंदी सिखाने के पक्ष में हैं, पर वह एक नये क्रिस्म की हिंदी होनी चाहिए जिसमें राष्ट्र-भाषा बन सकने की या तो विशेषताएँ होनी चाहिए या पैदा की जानी चाहिए। एकबोटे यह भी बताते हैं कि ये विशेषताएँ क्या हैं : सार्वदेशिकता, पुरातनत्व, सरल समावेशकता, भिन्न-भिन्न और अनेक स्रोतों से उसकी व्युत्पत्ति, उदारतावादी दृष्टिकोण, समन्वित संस्कृति की अभिव्यक्ति, क्षमता और बोधगम्यता। उनके मुताबिक ये विशेषताएँ उस हिंदी में नहीं हैं जो हिंदीभाषी प्रांतों में बरती जाती है।

संविधान द्वारा निर्देशित 'राज-भाषा' हिंदी की निर्मित के ये पाठ अलग-अलग समझ पर आधारित हैं। पहला पाठ दिखाता है कि हिंदी से संबंधित बहस में जानबूझ कर श्रेणियों का घालमेल किया जाता है, और इसका बढ़ावा खुद संविधान-निर्माताओं की तरफ से आता है। राष्ट्र-भाषा की श्रेणी का इस्तेमाल किये बिना अनुच्छेद 351 'राज-भाषा'

हिंदी पर राष्ट्र-भाषा या जन-भाषा या अखिल भारतीय सम्पर्क-भाषा बनने की असाधारण जिम्मेदारी डाल देता है। इसी के साथ-साथ यह अनुच्छेद हिंदी को साम्प्रदायिक और सामाजिक-सांस्कृतिक एकता का वाहक बनने का गुरुत्व दायित्व विशेष रूप से प्रदान करता है। यह करामात किसी भाषाशास्त्री के बस की बात नहीं थी। इसे अंजाम तो केवल वे लोग ही दे सकते थे जिनकी आत्म-छवि राष्ट्र-निर्माता की थी और जो प्रस्तावित राष्ट्र की रचना के लिए किसी भी तरह की इंजीनियरिंग करने पर आमादा थे।

दूसरे पाठ की दिलचस्पी हिंदी को अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा या राष्ट्र-भाषा बनाने के सवाल पर विचार करने में है ही नहीं। इसकी चिंताएँ हिंदी को एक ऐसी जन-भाषा के रूप में विकसित करने के इर्द-गिर्द गोलबंद हुई हैं जो हिंदी-क्षेत्र की वैचारिक, शैक्षिक, ज्ञानोपार्जन संबंधी, राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर सके। जहाँ तक आलोचना का सवाल है, कृष्ण कुमार का पाठ सही लगता है। लेकिन, उनका विमर्श यह नहीं बताता कि जिस बोल-चाल की हिंदुस्तानी को वे सामासिक एकता के समानार्थक की तरह पेश करते हैं, उसके साथ उच्च-शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के लिए किये विकसित की जाने वाली हिंदी का समीकरण क्या होगा? इस प्रक्रिया में संस्कृत या फ़ारसी की क्या भूमिका होगी?

सरोकार के लिहाज से देखा जाए तो कृष्ण कुमार के विचारों और धीरूभाई शेट की हिंदी के प्रश्न पर विकसित की गयी थीसिस में कोई फ़र्क नहीं लगता। दोनों ही विद्वान हिंदी में ज़बरन टूँसे गये संस्कृत के शब्दों और सरकार द्वारा चलाई गयी मानकीकरण की दोषपूर्ण परियोजना से असंतुष्ट हैं। लेकिन कृष्ण कुमार के विपरीत धीरूभाई पाठ्यक्रमीय हिंदी द्वारा साक्षर हुई नयी पीढ़ियों को हिंदी-प्रसार की एक ऐसी उपलब्धि के तौर पर देखते हैं जिसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। धीरूभाई का विमर्श हिंदी को हाट-बाज़ार में बोली जाने वाली हिंदुस्तानी का पर्याय बना कर रख देने के सेकुलर आग्रह के प्रति सचेत करता है। वे मानते हैं कि अगर भाषा को उच्च-शिक्षा और परिष्कृत विमर्श का वाहक बनाना है, तो बोल-चाल की हिंदी और विमर्शी हिंदी में अंतर होगा। धीरूभाई को यह मानने में संकोच नहीं है कि हिंदी की औपचारिक शिक्षा एक औपचारिक स्वभाव की भाषा को जन्म देगी और केवल ऐसी ही भाषा उच्चस्तरीय लेखन का औज़ार बन सकती है। अगर हिंदी को सर्वसमावेशी बनना है, तो धीरूभाई के अनुसार वह संस्कृत के स्रोतों से ली जा सकने वाली पदावली की पूरी तरह उपेक्षा कैसे कर सकती है?

तीसरा पाठ एक ऐसे दलित बुद्धिजीवी की देन है जो

भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी भी है। सरकारी कामकाज की हिंदी के विकास से उनका सीधा संबंध है। धर्मवीर अपनी पुस्तक में ऐसे कई प्रमाण और तर्क जुटाते हैं जिनसे उस सरकारी हिंदी के विकास की जानकारी मिलती है जिसे लम्बे अरसे से उपहास और निंदा का शिकार होना पड़ा है। दलित होने के नाते धर्मवीर से हमें संस्कृत की सामाजिक भूमिका की कठोर आलोचना करने की उम्मीद होनी ही चाहिए। वे संस्कृत पठन-पाठन के शूद्र और स्त्री-निषेध को कई बार छील डालते हैं, लेकिन वे भी हिंदी के संस्कृत के पास जाने के सैद्धांतिक विरोधी नहीं हैं। यह मानते हुए कि हिंदी को संस्कृत की मदद लेनी होगी, वे इस प्रक्रिया के लिए एक व्यावहारिक मॉडल तजवीज़ करते हैं। इस मॉडल की झलक उनके इस सुझाव से मिल सकती है कि संस्कृत का व्याकरण कुछ भी आग्रह करता रहे, हिंदी को पाँच अक्षरों से ज़्यादा लम्बा शब्द बनाने से परहेज़ करना चाहिए।

चौथे पाठ के रचयिता जस्टिस एकबोटे दक्षिण भारतीय हैं, लेकिन उन्हें हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने से कोई गुरेज़ नहीं है बशर्ते वह हिंदी एक नयी भाषाई इंजीनियरिंग के ज़रिये पैदा की जाए। उन्होंने राष्ट्र-भाषा बनने के लिए जो आठ ज़रूरतें बताई हैं, उनमें एक है सार्वदेशिकता और दूसरी है पुरातनत्व। मुश्किल यह है हिंदी तो एक नयी भाषा है जिसका जन्म और विकास भारतीय आधुनिकता के साथ ही हुआ है। उसमें पुरातनत्व केवल संस्कृत के साथ उत्तरोत्तर निकटता के ज़रिये ही आ सकता है। उन्होंने जिस सार्वदेशिकता की चर्चा की है, अगर वह अंग्रेज़ी के कॉस्मोपॉलिटनिज़म का अनुवाद नहीं है, तो फिर वह सार्वदेशिकता भी केवल संस्कृत के ही पास है। दरअसल, एकबोटे द्वारा बतायी गयी ये दोनों खूबियाँ ग़ैर-हिंदीभाषी समाज-वैज्ञानिकों द्वारा हिंदी में संस्कृतनिष्ठता के विरोध पर की गयी आपत्ति की याद दिला देती हैं। इस संबंध में ग़ैर-हिंदीभाषी समाज-वैज्ञानिकों के एक समूह का मानना है कि हिंदी में संस्कृतनिष्ठ शब्द जितने ज़्यादा होंगे, बंगालियों और केरलवासियों को हिंदी उतनी ही रास आयेगी।

देखा जा सकता है कि संविधान के भाषा संबंधी प्रावधानों ने समाज-वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों के बीच तीखी बहस को जन्म दिया। ऑस्टिन द्वारा उन्हें 'आधे मन से किया गया समझौता' करार दिया गया। किसी ने उन्हें शब्दजाल की संज्ञा दी। किसी ने उनकी अभ्यर्थना की। लेकिन संविधान-निर्माता बहुभाषिता की जिन जटिलताओं का सामना कर रहे थे, उनकी विवशताओं के तहत उनके द्वारा किये गये असाधारण नवाचारों की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं गया। मुंशी-आयंगार फ़ार्मूला तो इस नवाचार का प्रकट

परिणाम था। इसकी असली बुनियाद थी राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा के प्रत्ययों को अलग-अलग कर देना और साथ ही आठवीं अनुसूची की किसी भाषा को राष्ट्र-भाषा का दर्जा न दे कर इसे भविष्य की सम्भावनाओं के हवाले कर देना। यह नवाचार इसलिए भी तारीफ़ के क़ाबिल है कि संविधान सभा की पूरी बहस में राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा के प्रत्यय इस क्रम परस्पर गुँथे हुए थे कि उन्हें अलग करना असम्भव सा था। लेकिन, आखिर में जब भाषा-प्रावधानों के सूत्रीकरण की नौबत आयी तो संविधान-निर्माता मुंशी-फ़ार्मूले के जरिये यह करने में सफल रहे। इस फ़ार्मूले ने एक और काम किया। इसके जरिये ग़ैर-हिंदीभाषियों, खासकर दक्षिण भारत के लोगों के हितों की सुरक्षा हुई।

देखें : 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. कृष्ण कुमार (1993), 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान : विध्य-गांगेय क्षेत्र में भाषा और शिक्षा', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *साम्प्रदायिकता के स्रोत*, विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. डॉ. धर्मवीर (1998), *हिंदी की आत्मा*, समता प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998
3. गोपाल राव एकबोटे (1987), *राष्ट्रभाषा विहीन राष्ट्र*, अनु. खंडेराव कुलकर्णी, मैसर्स एकबोटे ब्रदर्स, हैदराबाद, 1987
4. धीरूभाई शेट (2009), 'भाषा विवाद बनाम लोकतंत्रीकरण : अंग्रेज़ी का वर्चस्व खत्म होना चाहिए, पर कैसे?', धीरूभाई शेट (प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), *सत्ता और समाज*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

संविधान सभा में भाषा-विवाद-3

संस्कृत-राष्ट्रवाद और आदिवासी भाषाएँ

(Language Debate in Constituent Assembly-3)

संविधान सभा में हुए भाषा-विवाद के अध्ययन में हिंदी-हिंदुस्तानी-अंग्रेज़ी के त्रिकोण पर राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा के संदर्भ में इतना अधिक जोर दिया गया है कि इस विवाद के अन्य पहलू आँखों से ओझल ही हो गये हैं। कम से कम दो आयाम ऐसे हैं जिनके बिना इस भाषा-विवाद की कहानी पूरी नहीं हो सकती। ये हैं संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बनाने की माँग और उसके पक्ष में दिये गये तर्क; और उपेक्षित पड़ी आदिवासी भाषाओं का सवाल। हालाँकि इनके बीच आपस में कोई प्रत्यक्ष जोड़ नहीं दिखता, पर भविष्य के भारत की रचना के लिहाज़ से ये दोनों आयाम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत चूँकि राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकी, इसलिए उसके पैरोकारों ने हिंदी को राज-भाषा बनाने की प्रक्रिया में पीछे के दरवाजे से घुसने की कोशिश की और एक हद तक उसे विकृत करने में कामयाब भी हुए। दूसरी ओर आदिवासी भाषाओं का प्रश्न उठाने वाली एकमात्र आवाज़ नक्कारखाने में तूती की तरह साबित हुई। ये भाषाएँ हाशिये पर ही पड़ी-पड़ी लुप्तप्रायः हो जाने के लिए अभिशप्त हो गयीं। इस प्रकरण को आज के भारत में आदिवासी प्रश्न की अनसुलझी जटिलता के रूपक के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है। दिलचस्प बात यह है कि आदिवासी भाषाओं का प्रश्न उठाने वाले संविधान सभा के सदस्य ने भी संस्कृत के प्रभुत्व और हिंदी के संस्कृतकरण के अंदेसे के खिलाफ़ चेतावनी दी थी।

सुमति रामास्वामी ने आज़ादी के बाद बने संस्कृत आयोग के अपने अध्ययन 'संस्कृत फ़ॉर द नेशन' में विस्तार से दिखाया है कि इस प्राचीन भाषा को आज़ाद भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्ष में कैसे-कैसे तर्क काम कर रहे थे। वे इस पूरे प्रयास को संस्कृत-राष्ट्रवाद की मानीखेज़ संज्ञा देती हैं। राजीव रंजन गिरि ने संविधान सभा में भाषा विवाद के अपने अध्ययन में पण्डित लक्ष्मीकांत मैत्र का वह भाषण विस्तार से उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने मुंशी-आयंगार फ़ार्मूले में संशोधन का प्रस्ताव पेश करते हुए आग्रह किया था इसमें हर जगह हिंदी की जगह संस्कृत को दी जानी चाहिए।

मैत्र के अलावा मुसलिम लीग के एकमात्र प्रतिनिधि नजीरुद्दीन अहमद ने भी संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बनाने की माँग की थी। नजीरुद्दीन और मैत्र की दलीलों में भारी फ़र्क़

था। नजीरुद्दीन का कहना था कि अगर संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बना दिया जाएगा तो इसे सीखने में सभी तरह के भाषाभाषियों को समान दिक्कत होगी, क्योंकि यह भाषा किसी को नहीं आती। इस तरह समानता स्थापित हो जाएगी, और कोई पक्षपात नहीं होगा। उनके विपरीत मैत्र की मुख्य दलील यह थी कि अगर हिंदी का पक्ष पूरी तरह से स्वीकार कर लिया गया तो 'हारा हुआ वर्ग उस सभा से हताश होकर और बहुत कटुता लेकर बाहर जाएगा। यह कटुता कई सप्ताह से इस प्रश्न पर वाद-विवाद होने के कारण उत्पन्न हुई है। इसी कारण मैं सभा से यह आग्रह करने के लिए आगे बढ़ा हूँ कि केवल संस्कृत को ही भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाए और अन्य किसी भाषा को स्वीकार न किया जाए। यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह मेरी धृष्टता है। ... गोपालस्वामी आयरंगर ने जो मसौदा उपस्थित किया है, उसमें हिंदी के स्थान पर संस्कृत रखी जाए और तत्स्थानी परिवर्तन किये जाएँ, ... संघ की भाषाओं की सूची में संस्कृत का भी उल्लेख किया जाये। यह एक आश्चर्य की बात है कि मेरे संशोधन की सूचना देने के पूर्व किसी ने भी संस्कृत को भारत की भाषाओं में से एक भाषा मानने के औचित्य पर विचार तक नहीं किया। हम इतने नीचे गिर गये हैं। ... मैं यह जानता हूँ कि यह कहा जाएगा कि यह एक मृत भाषा है। जी हाँ, मृत किसके लिए? मृत आपके लिए, क्योंकि आप स्वयं मृत हैं और महानता की भावना से तथा अपनी संस्कृति तथा सभ्यता की महान तथा उत्कृष्ट बातों से प्रेरित नहीं होते। ... मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि एक प्रांतीय भाषा को थोपने अथवा उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने से जो प्रांतीय विद्वेष तथा कटुता स्वभावतः फैलेगी, यदि हम उसे नहीं उत्पन्न होने देना चाहते तो हमें संस्कृत को स्वीकार करना चाहिए, जो सभी भाषाओं की जननी है और जो विचार में प्रयत्न करने से पंद्रह वर्ष में सीखी जा सकती है और जिसे सिखाने के लिए देश में इस समय भी आवश्यक सुविधाएँ विद्यमान हैं।'

मैत्र द्वारा संस्कृत के पक्ष में की गयी बातों के मर्म से राष्ट्रीय नेतृत्व का एक बड़ा हिस्सा भीतर ही भीतर सहमत था। चाहे अंग्रेजीदाँ नेहरू हों, या हिंदुस्तानी का पक्ष लेने वाले गाँधी और उनके शिष्यगण, या फिर गाँधी और ब्राह्मणवाद से जूझने वाले डॉ. आम्बेडकर, सभी संस्कृति की महत्ता के सांस्कृतिक दबाव में थे। रामस्वामी द्वारा उद्धृत इन नेताओं के समय-समय पर दिये गये वक्तव्यों से पता चलता है कि नेहरू, गाँधी और आम्बेडकर मानते थे कि संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं की जननी है। (यह अलग बात है कि हिंदी-जगत के भीतर विद्वानों, वैयाकरणों, भाषाशास्त्रियों और कोशकारों की एक सुदीर्घ परम्परा है जो यह नहीं मानती कि हिंदी संस्कृत की पुत्री है। *हिंदी शब्दानुशासन* के यशस्वी रचयिता किशोरीदास वाजपेयी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि

संस्कृत एक बाँझ भाषा है। वह किसी भाषा की माँ नहीं हो सकती। हिंदी की तो वह केवल निस्संतान मौसी ही हो सकती है।) हिंदी के बहुत से विद्वानों के इस आग्रह के बावजूद विनोबा भावे (जिन्हें गाँधी ने पहले सत्याग्रही का दर्जा दिया था) भी स्पष्ट रूप से चाहते थे कि केवल सरल संस्कृत को ही राष्ट्र-भाषा का दर्जा मिलना चाहिए, क्योंकि वही देश के सभी भागों को आपस में जोड़ने की भूमिका निभा सकती है।

बहरहाल, संस्कृत के इस सांस्कृतिक रुतबे के बावजूद संविधान सभा में लोकतंत्र का तर्क ही चला और संविधान-निर्माताओं ने संस्कृत को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने से इनकार कर दिया। लेकिन, संस्कृत के पैरोकारों ने यह संघर्ष आखिर तक जारी रखा। जब अनुच्छेद 351 पर चर्चा का नंबर आया तो शिबनलाल सक्सेना ने उसमें संशोधन का प्रस्ताव रखा। अगर यह प्रस्ताव मान लिया जाता तो हिंदी के सम्पूर्ण संस्कृतकरण का रास्ता खुल जाता। यह संशोधन चाहता था कि नये शब्द बनाने और ग्रहण करने के लिए हिंदी सिर्फ और सिर्फ संस्कृत की तरफ ही देखे, और हिंदुस्तानी, उर्दू, जनपदीय भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं की शब्द-सामर्थ्य की इस सिलसिले में पूरी तरह से उपेक्षा की जाए।

राष्ट्र-भाषा संबंधी इस विवाद में भारतीय समाज की मुख्यधारा से दूर हाशिये पर जीवन-बसर करने वाले आदिवासियों की भाषा भी हाशिये पर ही खड़ी थी। राजीव रंजन गिरि के मुताबिक 'राष्ट्रभाषा की दावेदार के संदर्भ में किसी भी भाषा के समर्थक समूहों ने जयपाल सिंह से पहले इस दृष्टिकोण से गौर नहीं किया था। जयपाल सिंह एक और भाषा के लिए राष्ट्रवादी दावा नहीं कर रहे थे; बल्कि वे 'राष्ट्र' की उन भाषाओं को शामिल करने की बात कर रहे थे जो 'राष्ट्र-भाषा' की कल्पना की सीमाओं से बाहर थीं।

तत्कालीन बिहार से आने वाले जयपाल सिंह ने संविधान सभा में आदिवासी भाषाओं का मुद्दा पेश किया। जयपाल सिंह ने कहा 'मैं अनुभव करता हूँ कि यदि मैं सदन से यह अनुरोध न करूँ कि अनुसूची सात-क में कुछ आदिवासी भाषाओं को भी शामिल कर दिया जाए, जिन्हें थोड़े से व्यक्ति नहीं शब्दशः दसियों लाख लोग बोलते हैं, तो मैं अपना कर्तव्य समुचित रूप से पूरा नहीं कर रहा होऊँगा।' जयपाल सिंह ने पिछली जनगणना के हवाले से बताया कि 'अनुसूचित आदिम जातियों की सूची को देखें तो आपको पता लगेगा कि वहाँ 176 का उल्लेख है। हाँ, 176 भाषाएँ नहीं। वे उपभाषाएँ हो सकती हैं। और एक भाषा विभिन्न क्षेत्रों में ज़रा-ज़रा भिन्न हो सकती है। आप मुझसे पूछ सकते हैं कि 176 में से तीन को ही क्यों लिया है। श्रीमान मैं नहीं चाहता कि अनुसूची में बहुत-सी भाषाओं का भार हो

इसलिए मैंने केवल तीन महत्वपूर्ण भाषाओं को चुना है। मेरे संशोधन में उल्लिखित पहली भाषा 'मुंदरी' के विषय में मैं कह सकता हूँ कि मैंने संथाली का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि मुंदरी उन भाषाओं का वंशनाम है जिन्हें कभी आस्ट्रिक भी कहा जाता है और कभी मान-खमेर भी कहा जाता है। मैं देखता हूँ कि गत जनगणना में यह उल्लेख है कि 40 लाख व्यक्ति मुंदरी भाषा बोलते थे। मैं देखता हूँ कि इस सूची या अनुसूची में इस समय ऐसी भाषाएँ समाविष्ट हैं, जिन्हें बोलने वाले मुंदरी भाषियों से कम हैं। इसी प्रकार, ओराव को रखने का मेरा यह कारण है कि ओराव लोगों का हमारे देश में कोई छोटा वर्ग नहीं है। यहाँ लगभग ग्यारह लाख ओरावों हैं।... मैंने यह भी माँग की है कि गोंदी भी एक भाषा होनी चाहिए, क्योंकि उसके बोलने वाले 32 लाख हैं।'

गिरि द्वारा दिये गये वर्णन के मुताबिक हिंदी के समर्थकों पर तंज करते हुए जयपाल सिंह ने कहा कि 'आज सदन में दो वर्ग हैं— शुद्ध हिंदीवादी और दूसरे लोग जो उदारता से यह स्वीकार करते हैं कि भाषा का विकास समय पर छोड़ देना चाहिए। मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं तो वही स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ जो सदन विनिश्चय कर दे। किंतु कई लोगों में जो शुद्धतायी की कट्टरता आ गयी है, उस पर मेरे हृदय में प्रबल विरोध उत्पन्न होता है। भाषा क्या है? भाषा वह है जो बोली जाती है। मेरे विचार में हमारा यह सोचना अवनति सूचक है कि हम आज बोली जाने वाली भाषा को भावनावश शत-प्रतिशत संस्कृत शब्दों से भर कर उन्नत बना सकते हैं। मैं संस्कृत को बहुत प्रशंसा करता हूँ पर मैं हिंदी वही बोलता हूँ जैसी कि मेरे प्रांत बिहार में बोली जाती है, किंतु वह ऐसी हिंदी नहीं है जैसी कि मेरे मित्र यहाँ स्वीकार करना चाहते हैं वही हिंदी भाषा रखिये जो सब जगह बोली जाती है। उसे अन्य भाषाओं से शब्द लेकर उन्नति करने दीजिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि यदि हिंदी या हिंदुस्तानी में अन्य शब्द आ जाएँगे तो वह तो गरीब हो जायेगी। भाषा का विकास और उन्नति तभी होती है, जब उसमें अन्य भाषाओं में शब्द ग्रहण करने का साहस हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि आप उसे हिंदुस्तानी कहिये या हिंदी, आप जो निश्चय करेंगे मैं जल्दी सीख लूँगा, आदिवासी इसे सीख लेंगे। वे दुभाषी या त्रिभाषी होते हैं। पश्चिम बंगाल में संथाली बंगाली भी बोलते हैं और अपनी मातृभाषा भी। आप जहाँ जाएँगे यही देखेंगे कि आदिवासी अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त उस क्षेत्र की भाषा को अपना लेता है।

जयपाल सिंह ने कहा कि 'बिहार का एक भी सदस्य नहीं है जिसे आदिवासी भाषा सीखनी पड़ी हो। क्या मेरे मित्र रविशंकर शुक्ल मुझे बता सकते हैं कि यदि मध्य प्रदेश में बत्तीस लाख गोंड भी हैं, पर क्या उन्होंने गोंडी भाषा सीखने का प्रयत्न किया है? क्या किसी बिहारी ने संथाली सीखने का

प्रयत्न किया है? यद्यपि आदिवासियों से अन्य भाषाएँ सीखने के लिए कहा जाता है। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि हम अन्य भाषाएँ भी बोल सकते हैं। मेरे विचार में इसका बदला भी होना चाहिए। कुछ सहिष्णुता की भावना होनी चाहिए और जो प्रांत हिंदी बोलते हैं उन्हें एक अन्य भाषा सीखनी चाहिए। हमें ऐसी ही भावना प्रदर्शित करनी चाहिए। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि शेष देश को हमारी भाषा सीखनी चाहिए, क्योंकि हम अन्य कोई चीज़ नहीं सीखेंगे।'

देखें : 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. सुमति रामस्वामी (1999), 'संस्कृत फ़ॉर द नेशन', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खण्ड 33, अंक 2, पृष्ठ 339-81.
2. डॉ. धर्मवीर (1998), *हिंदी की आत्मा*, समता प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998
3. शेल्डन पोलोक (2001), *द डेथ ऑफ़ संस्कृत*, *कम्परेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री*, खण्ड 43, अंक 2, पृष्ठ 392-426.
4. राजीव रंजन गिरि (2012), *संविधान सभा और भाषा-विमर्श*, संवेद-58, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

संशोधनवाद

(Revisionism)

संशोधनवाद के विचार का ताल्लुक किसी भी स्थापित विचार, मतवाद या परम्परा की बौद्धिक वैधता और राजनीतिक प्रासंगिकता की जाँच करने से है। पड़ताल की प्रक्रिया उस समय संशोधनवाद का रूप ले लेती है जब वह किसी वैचारिक संरचना के बुनियादी तत्त्वों को बदलने का प्रस्ताव रखती है। संबंधित विचार की शुद्धता की रक्षा करने वालों का कहना होता है कि परिवर्तन के नाम पर यह संशोधन तो उनके मतवाद को आमूल-चूल बदल कर कुछ और ही बना देगा। परिणामस्वरूप संशोधन तजवीज़ करने वालों और उसका विरोध करने वालों के खिलाफ़ टकराव होता है। इस तरह के टकराव को एक पक्ष द्वारा संशोधनवाद



एडुअर्ड बर्न्स्टीन (1850-1932)

के खिलाफ संघर्ष की संज्ञा दी जाती है, और दूसरा पक्ष उसे लकीर पीटने वालों की आपत्तियाँ कह कर खारिज करता है। संशोधनवाद के प्रत्यय का जन्म 1894-95 के फ्रांस में एक ऐसे प्रकरण के दौरान हुआ था जिसे रिचर्ड ड्रीफ़स काण्ड के रूप में जाना जाता है। इसकी वजह से पैदा हुई राजनीतिक बेचैनियों के कारण कई बार यह दावा किया गया कि ड्रीफ़स को दी गयी सज़ा न केवल इसाफ़ की तौहीन है, बल्कि इतिहास में संशोधन भी है।

लेकिन आज न तो वह बहस किसी को याद है, और न ही वह प्रकरण। यह ज़रूर है कि उस घटना के बाद से संशोधनवाद एक तरफ़ तो इतिहास-अध्ययन के व्यापक दायरे में उल्लेखनीय प्रवृत्ति के तौर पर विकसित होता रहा, और दूसरी तरफ़ उसने मार्क्सवाद के भीतर चलने वाले वैचारिक और रणनीतिक वाद-विवादों में खुद को प्रमुखता से दर्ज किया। मार्क्सवाद और उसके क्रांतिकारी सार की शुद्धता की संशोधनवादी प्रयासों से रक्षा करने का आग्रह इतना प्रबल है कि उसके पैरोकारों ने एक विशाल संशोधनवाद विरोधी इनसाइक्लोपीडिया की ही रचना कर डाली है जो ऑन लाइन उपलब्ध है। भारतीय मार्क्सवादी आंदोलन और विचार में भी संशोधनवाद के प्रत्यय के इर्द-गिर्द ज़बरदस्त बहसें चली हैं। 1967 में उभरे नक्सलवादी आंदोलन के सिद्धांतकार मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को संशोधनवादी कह कर खारिज करते हैं।

मार्क्सवाद के अलावा यह विचार आज अपनी दो और क्रिस्मों के लिए जाना जाता है। इनमें एक क्रिस्म प्रथम विश्व-युद्ध की व्याख्याओं से और दूसरी होलोकास्ट की घटना से जुड़ी है। अमेरिकी विद्वान हेनरी एल्मर बार्न्स द्वारा

रचा गया प्रथम विश्व-युद्ध का इतिहास *द जेनेसिस ऑफ़ द वर्ल्ड वार* (1929) संशोधनवादी इतिहास-लेखन का प्रमुख नमूना माना जाता है। बार्न्स ने अपने तर्क का विस्तार द्वितीय विश्व-युद्ध पर हुए मुख्यधारा के इतिहास-लेखन के बारे में भी किया। उनका कहना था कि इन विश्व-युद्धों के कारणों के बारे में जो कुछ बताया गया है वह राजनीतिक मकसद से और राजनीतिक नियंत्रण के तहत की गयी कारिस्तानी के अलावा कुछ नहीं है। विजेता मित्र-राष्ट्रों की मंशा के मुताबिक लिखे जाने के कारण उसका असलियत से कोई ताल्लुक नहीं है। बार्न्स ने दावा किया कि नाज़ियों के युद्ध अपराध हों, या होलोकास्ट (युरोपियन यहूदियों का नरसंहार) हो, इन आरोपों को तथ्यगत रूप से सही नहीं ठहराया जा सकता। बार्न्स की विरासत का असर यह हुआ कि इतिहास-लेखन के दायरे में एक नया स्कूल ही उभर आया। राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का विरोध करने वाले इसके सदस्यों की कोशिश थी कि संशोधनवाद को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सत्य को धरती पर उतारने वाले बुद्धिसंगत विचार के तौर पर देखा जाना चाहिए। संशोधनवादी इतिहासकारों की रचनाएँ पश्चिम से लेकर मध्य-पूर्व तक अति-दक्षिणपंथी और पुनरुत्थानवादी रुझान वाले पाठक वर्ग और बुद्धिजीवियों के छोटे से तबके के बीच लोकप्रिय हैं।

मार्क्सवादी हलकों में संशोधनवादी होना एक गाली की तरह माना जाता रहा है। दिलचस्प बात यह है कि एक-दूसरे को संशोधनवादी कहने का मार्क्सवादी आंदोलन में एक लम्बा सिलसिला है। मसलन, चीनी कम्युनिस्ट नेता माओ त्से तुंग ने स्तालिन के बाद सोवियत संघ की कमान संभालने वाले निकिता ख्रुश्चेव को संशोधनवादी करार दिया, लेकिन माओ को अल्बानियन कम्युनिस्टों ने संशोधनवादी बताया। इससे पहले 1957 में पोलिश नेता व्लादिस्लाव गोमुल्का बीसवीं सोवियत कांग्रेस में स्तालिन की भर्त्सना करने वाली ख्रुश्चेव रिपोर्ट की प्रशंसा करने वालों को संशोधनवादी कहते हुए पाये गये, लेकिन उन्हीं गोमुल्का को रोमानियन कम्युनिस्टों द्वारा संशोधनवादी करार दिया गया। दिलचस्प बात यह है कि मार्क्सवाद में 'बायें बाजू के भटकाव' यानी अतिक्रांतिकारी रुझान वाले भी संशोधनवादी कहलाते हैं, और 'दाएँ बाजू के भटकाव' यानी क्रांतिकारी होने के मामले में कमतर समझे जाने वालों पर भी संशोधनवादी होने की तोहमत मढ़ी जाती है।

संशोधनवाद को मार्क्सवादी पॉलिमिक्स के हथियार की तरह इस्तेमाल करने का इतिहास बीसवीं सदी के पहले दशक से शुरू होता है। जर्मन मार्क्सवाद के एक प्रमुख हस्ताक्षर और जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (एसपीडी) के सिद्धांतकार एडुअर्ड बर्न्स्टीन ने 1896 से 1900 के बीच अपने लेखों और पुस्तकों में मार्क्सवादी सैद्धांतिकी की कठोर

आलोचना पेश की। संशोधनवाद के संस्थापक समझे जाने वाले बर्नस्टीन ने कहा कि कहा कि पूँजीवादी समाज के अपरिहार्य ध्वंस और मजदूर वर्ग के सत्ता पर कब्जा करने की मार्क्स द्वारा की गयी भविष्यवाणी नाकाम हो चुकी है। बर्नस्टीन के इस हमले से पूरे युरोप के मार्क्सवादी हलकों को काफ़ी आश्चर्य हुआ क्योंकि वे मार्क्स के जोड़ीदार फ्रेड्रिख एंगेल्स के घनिष्ठ मित्र और उनकी रचनाओं के वारिस थे। एंगेल्स के देहांत के बाद उन्हें युरोप के प्रमुख मार्क्सवादी स्वरों में से एक माना जाता था। बर्नस्टीन ने दावा किया कि क्रांति को 'अंतिम लक्ष्य' मानने का मार्क्स और एंगेल्स का विचार ठीक नहीं था। मार्क्सवादियों का अंतिम लक्ष्य क्रांतिकारी (रेवोल्यूशनरी) नहीं बल्कि क्रम-विकासवादी (इवोल्यूशनरी) होना चाहिए।

इस लिहाज़ से बर्नस्टीन ने कम्युनिस्टों के सामने शांतिपूर्ण और संसदीय रास्ता अपनाते हुए चुनाव के रास्ते सत्ता में आने का कार्यक्रम रखा। उनका कहना था कि अगर मार्क्सवादी लोकतंत्र के समर्थक हैं और सच्चा लोकतंत्र लाना चाहते हैं तो उन्हें साधन और साध्य के बीच घनिष्ठ संबंध पर जोर देना चाहिए क्योंकि लोकतंत्र की स्थापना लोकतांत्रिक तौर-तरीकों से ही हो सकती है। उन्होंने एसपीडी से अपील की कि वह केवल मजदूर वर्ग में ही अपना आधार न बनाये बल्कि मध्यवर्ग को भी अपनी ओर खींचने की कोशिश करे। बर्नस्टीन मार्क्स के इस कथन से भी असहमत थे कि उदारतावाद और समाजवाद दो परस्पर विपरीत विचार हैं। उन्होंने समाजवादियों से आग्रह किया कि वे खुद को उदारतावाद का वारिस मान कर ज्ञानोदयपरक चिंतन के गर्भ से निकली नागरिकता, मानवाधिकार और क़ानून के शासन की भाषा स्वीकार कर लें। बर्नस्टीन के ये विचार द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद युरोपीय सामाजिक जनवाद की आधारशिला साबित हुए। लेकिन उनके अपने जीवन में जर्मन समाजवाद के अन्य सिद्धांतकारों, जैसे रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, ऑगस्ट बेबेल और कार्ल काउत्सकी ने संशोधनवादी कह कर उनकी भर्त्सना की।

1908 में लेनिन ने जर्मन और ऑस्ट्रियन सामाजिक जनवाद की उन प्रवृत्तियों को संशोधनवाद करार दिया जो उनकी निगाह में ग़ैर-क्रांतिकारी और सुधारवादी थीं। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने रूस में सत्ता पर कब्जा करने से पहले ही फ़्रांस और ब्रिटेन के समाजवादी आंदोलनों की भी संशोधनवादी कह कर निंदा कर डाली। लेनिन के पहले संशोधनवादी होना समाजवाद का गद्दार होना नहीं था। लेकिन मार्क्सवाद में संशोधन की ज़रूरत लेनिन की तीखी आलोचना के आईने में विचारधारा के प्रति एक तरह की धोखेबाज़ी लगने लगी। 1917 में अक्टूबर क्रांति की सफलता के बाद लेनिन की कार्यदिशा विजयी घोषित कर दी गयी, और

क्रांतिकारिता सच्चे मार्क्सवाद का पर्याय बन गयी। इसके बाद संशोधनवादी पूँजीपति वर्ग के एजेंट, राजकीय पूँजीवाद के प्रोत्साहक, अभिजनवादी, साम्राज्यवाद के दलाल और यहाँ तक कि 'सोशल फ़ासिस्ट' तक कहे जाने लगे। बर्नस्टीन का देहांत 1932 में हुआ। अक्टूबर क्रांति के बाद बोल्शेविकों के संशोधनवाद विरोधी हमले के मुकाबले वे क्रांति के सबसे शुरुआती और ज़बरदस्त आलोचकों में एक साबित हुए। उन्होंने व्याख्या की कि लेनिन के नेतृत्व में सोवियत कम्युनिज़म केवल और केवल ताक़त के प्रयोग में यक्रीन रखता है। बर्नस्टीन की भविष्यवाणी थी कि ऐसी हुकूमत ज़ार के निरंकुश शासन की ही तरह रूस को सामाजिक और आर्थिक गर्त में ले जाएगी।

मार्क्सवादी विमर्श में संशोधनवाद का प्रत्यय थोड़े दिन के लिए 1989 में रोमानियन कम्युनिस्टों के कारण एक बार फिर उभरा। रोमानिया के मार्क्सवादियों ने हंगरी और पोलैण्ड में बहुलतावादी शासन और बाज़ारोन्मुख अर्थव्यवस्था क़ायम करने की कोशिशों को संशोधनवादी करार दिया। नब्बे के दशक की शुरुआत में सोवियत ख़ेमे के ध्वंस के बाद संशोधनवाद का सैद्धांतिक क्रूरियर पहले जैसा चमकदार नहीं रह गया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी इस शब्दावली का इस्तेमाल तक्ररीबन बंद कर दिया है। लेकिन अभी भी अकादमीय हलकों में इस पद को राजनीतिक भाषा के अंग के रूप में बरता जाता है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्ज़वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ़्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बार्खिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिब्रेशन थियोर्लेंजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्टालिन और स्टालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. एडुअर्ड बर्नस्टीन (1899), *द प्रिकण्डिशन ऑफ़ सोशलिज़्म*, सम्पा. और अनु., हेनरी ट्यूडर, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. आर.एफ़. हैमिल्टन (2000), *मार्क्सिज़्म, रिवीजनिज़्म, एंड लेनिनिज़्म : एक्सप्लिकेशन, एसेसमेंट, एंड कमेंटरी*, प्रेजर, वेस्टपोर्ट, सीटी.

3. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ एंटी-रिवीज़निज़म, ऑन लाइन उपलब्ध, मार्क्सिस्ट इंटरनेट आरकाइव, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू, मार्क्सिस्ट्स. ओआरजी
4. डी.ई. लिप्सटैड (1993), डिनाइंगि द होलोकॉस्ट : द ग्रीडिंग एसॉल्ट ऑन टुथ एंड मेमॉरी, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

संस्कृत काव्यशास्त्र

(Sanskrit Poetics)

आजकल काव्य का तात्पर्य पद्य रचना से लगाया जाता है, पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'काव्य' शब्द अपने विस्तृत अर्थों में गद्य और पद्य रचनाओं का पर्याय है। इसकी जगह अब साहित्य शब्द प्रयोग में आ गया है। काव्य की अध्ययन-पद्धति, उसके अनुशासन और कसौटियों को लेकर संस्कृत आचार्यों ने काफ़ी गम्भीर विमर्श किया है। भरतमुनि को भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य एवं उनके ग्रंथ नाट्यशास्त्र को काव्य-शास्त्र का प्रारम्भिक ग्रंथ माना जाता है। भारतीय काव्य-चिंतन की परम्परा में कवि को स्रष्टा या विधाता का रूप माना गया है। कई आचार्यों ने काव्य को कई तरह से समझने-समझाने और परिभाषित करने का प्रयास किया है। मम्मट ने लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि के रचना-कर्म को ही काव्य माना है। भणिति के आधार पर भी काव्य कविकृत कर्म है। प्रायः अधिसंख्य आचार्यों ने कवि-कर्म को ही काव्य माना है।

रुद्रट ने अपनी काव्य की परिभाषा में शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य माना है। भामह के अनुसार, 'शब्द और अर्थ सहित काव्य है जो गद्य और पद्य के भेद से दो प्रकार का होता है।' आचार्य वामन का कहना है, 'गुण एवं अलंकार से युक्त शब्दार्थ काव्य संज्ञा का वाचक है।' आनंदवर्द्धन कहते हैं, 'शब्द और अर्थ जिसके शरीर हैं वही काव्य है।' मम्मट बताते हैं कि 'दोष रहित, गुण सहित तथा कभी-कभी अलंकार रहित शब्दार्थ काव्य है।' आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि 'रसात्मक वाक्य काव्य है' तथा पण्डित राज जगन्नाथ ने अपनी परिभाषा में काव्य को 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द' बताया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों द्वारा शब्दार्थ को काव्य मानने के कारण शब्द और अर्थ को समान महत्त्व मिला है। बाद के आचार्यों ने प्रत्यक्षतः पद, वाक्य या शब्द कह कर काव्य को परिभाषित किया है। इसीलिए बहुत सारे लोग भारतीय काव्यशास्त्रियों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं— पहला, जो शब्द और अर्थ को

स्वीकार करता है, तथा दूसरा जो शब्द को स्वीकारता है। इन्हीं आधारों पर आचार्यगण विभिन्न लक्षणों के जरिये काव्य के स्वरूप को तय करते रहे हैं।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटक के अंतर्गत प्राप्त काव्य-तत्त्वों का निरूपण किया है। रस, गुण अलंकार, भाव आदि काव्यांगों का विवेचन करते समय उनका मुख्य बल अभिनय पर है। नाटक में काव्यत्व लाने वाली जिन बातों का उनके द्वारा उल्लेख किया गया है उनमें गुण, अलंकार, रस का समावेश है। अगर काव्य के लिहाज से देखा जाए तो काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्निपुराण में मिलती है। जिसमें कहा गया है कि इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हो। यह परिभाषा इष्टार्थ, संक्षिप्त, वाक्य, अलंकार, गुण और दोष जैसी पाँच बातों पर बल देती है और काव्य को बाह्य सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न करती है। परंतु इससे काव्य का मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

भामह 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम' कहते हुए शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य मानते हैं। यह परिभाषा काव्य के अत्यंत व्यापक और बाह्य स्वरूप का निरूपण करती है, उस स्वरूप का जिसके तहत काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्तालाप आदि भी आ जाएँगे। इस अतिव्याप्ति दोष की वजह से यह परिभाषा काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं कर पाती। परवर्ती आचार्यों ने काव्य के बाह्य स्वरूप-निरूपक लक्षणों का खण्डन करते हुए काव्य की आत्मा या अंतर्भूत विशेषता की खोज करनी शुरू की। दण्डी ने कहा कि इष्टार्थ प्रकट करने वाली पदावली तो शरीर मात्र है, और आनंदवर्द्धन ने कहा, 'काव्य तो शब्दार्थ के शरीर वाला है तथा उसकी आत्मा या वास्तविक तत्त्व कुछ और ही है। इन धारणाओं के चलते अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुमिति और रस जैसे काव्य-सम्प्रदायों का विकास हुआ।'

अलंकार सम्प्रदाय : अलंकार शब्द की एक व्युत्पत्ति के अनुसार, 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः' अर्थात् जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है वही अलंकार है। एक दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार, 'अलं करोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करता है, वह अलंकार है। आचार्य दण्डी के अनुसार शब्द और अर्थ काव्य शरीर के अंग हैं। इसके सौंदर्य की वृद्धि अलंकार का प्रमुख कार्य है। अलंकार काव्य सौंदर्य का पर्याय तथा उसका प्राणभूत तत्त्व है। दण्डी ने अलंकार के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है, 'काव्यशोभाकारान धर्मानलंकारान प्रचक्षते।' अर्थात् 'काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहा जाता है।' इस अवधारणा के आधार पर अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, गुण, रस, ध्वनि आदि अन्य तत्त्वों

को भी अलंकार ही माना गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार-तत्त्व को काव्य की आत्मा घोषित किया।

भामह और दण्डी काव्य का समस्त सौंदर्य अलंकार को मानते हैं। वामन अपनी कृति *काव्यालंकार सूत्रवृत्ति* में दण्डी की तरह वे काव्य की शोभा करने वाले धर्म को अलंकार न मान कर गुण मानते हैं। उनके अनुसार अलंकार गुण के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप है। परवर्ती आचार्यों में मतभेद इन्हीं दो स्वरूपों के कारण रहा। पर अलंकार को काव्य के लिए आवश्यक मानने वाले आचार्यों की संख्या काफ़ी रही।

रीति का कोशगत अर्थ है, 'गमन-प्रणाली', जिससे जाया जाए या गतिशील हुआ जाए। अतः मार्ग, पंथ, पद्धति, प्रणाली, शैली आदि इसके पर्यायवाची शब्द हैं। बाण ने *हर्ष चरित* में इसे साहित्यिक विशेषताओं या शैलियों के रूप में संकेतित करते हुए लिखा है, 'श्लैषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्यष्वर्थमात्रकम्। उत्प्रेक्षादाक्षिणात्येषु गौडेष्वाक्षरडम्बरः ॥' इस प्रकार उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक शैली की विशेषताओं के उल्लेख रूप में बाण ने जिसका संकेत किया, वही आगे चलकर भामह, दण्डी आदि आचार्यों द्वारा रीति या मार्ग के रूप में स्वीकृत हुआ। भामह ने वैदर्भ और गौड़ीय रीति का उल्लेख किया है। दण्डी ने इनका संबंध विशेषतः गुण से स्थापित किया है। उनके विचार से जिसमें दसों गुणों का समावेश हो, वह वैदर्भ मार्ग है और इसके विपरीत जिनमें इनकी शिथिलता हो वह गौड़ीय मार्ग है। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बताते हुए भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य की आत्मा की खोज की परम्परा डाली। और उन्होंने रीति के तीन प्रकार बताये : वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली।

विदर्भादि देशों में प्रचलित रीति वैदर्भी है। यह समस्त गुणों से युक्त होती है। यह दोषरहित, वीणा के स्वरों के समान मधुर और कुछ इस प्रकार की विशेषता से संबंधित है जो शब्द और अर्थ के चमत्कार से अलग तरह की है। गौड़ीय रीति ओजपूर्ण और कांतिमयी होती है। इसमें मधुरता और सुकुमारता का अभाव रहता है। समास के अधिक प्रयोग वाली इस रीति में पदावली उग्र रहती है। पांचाली रीति माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न होती है। यह अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त, मधुर और सुकुमार होती है। रुद्रट ने समास आधारित रीति के चार भेद माने हैं— वैदर्भी समास रहित, पांचाली लघु समास वाली, लाटीया माध्यम समास वाली और गौड़ीय दीर्घ समास वाली। राजशेखर के अनुसार वैदर्भी समास रहित, स्थानानुप्रयास और योगवृत्ति से युक्त तथा गौड़ी दीर्घसमास, अनुप्रासयुक्त तथा योगवृत्ति परम्परायुक्त होती है। कुंतक ने वामन की रीति संबंधित

सिद्धांत की आलोचना करते हुए रीति के तीन भेद बताये हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनित होने वाला व्यंग्यार्थ जहाँ पर प्रधान होता है वहाँ ध्वनि मानी गयी। आनंदवर्द्धन ने इस संबंध में कहा कि ध्वनिकाव्य वह विशिष्ट प्रकार है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाते हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। अतः वह विशिष्ट प्रकार का उत्तम काव्य है। वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य है। ध्वनिकाव्य का संबंध वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ आदि से है अतः ध्वनि के स्वरूप को शब्द-शक्ति के जरिये समझा जा सकता है।

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुंतक माने जाते हैं। भामह ने वक्रोक्ति के भीतर काव्य के समस्त सौंदर्य और शोभा का समावेश माना है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के अतिरिक्त और सबको अलंकृति न मानकर विषय या अलंकार्य माना है। अलंकार के मूल वक्रोक्ति को ही कुंतक अलंकृति के रूप में देखते हैं और इसी रूप में उन्होंने वक्रोक्ति का प्रतिपादन किया है। वक्रोक्ति अलंकृति है। यह कथन की भंगिमा है, जो उक्ति को शोभा प्रदान करती है। उक्ति में चमत्कार और चारुता का सम्पादन वक्रोक्ति के द्वारा ही होता है। अतः वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। यह विशेषता काव्य में कवि की प्रतिभा के संयोग से आती है। आचार्य कुंतक ने इसके छह भेद माने हैं : वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबंधवक्रता।

रस सिद्धांत के अनुसार जो आस्वादित किया जाए वही रस है। भरत मुनि का कथन है कि काव्यार्थ का आस्वादन किया जाता है इसलिए वह रस है। भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने इस सिद्धांत की मौलिक व्याख्या की लेकिन ये आचार्य इसके संयोग और निष्पत्ति पर एकमत नहीं हो पाये।

आचार्य क्षेमेंद्र ने काव्य-औचित्य का सवाल उठाया और औचित्य-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। औचित्य ही काव्य का मूल तत्त्व है। इसकी वजह से ही काव्य में विविध गुणों और चमत्कारों का विकास होता है। औचित्य काव्य का अंतरंग तत्त्व है। इसके बिना सारे गुण महत्त्वहीन हो जाते हैं। यह सिद्धांत आधुनिक काव्य के संदर्भ में भी काफ़ी उपयोगी समझा जाता है।

उपर्युक्त काव्य-सिद्धांतों द्वारा संस्कृत के काव्य-आचार्यों ने काव्य के सौंदर्य, विशेषताएँ और उसके अनुशासन के लिए मानदण्ड स्थापित किये और अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि सिद्धांत गढ़े। ये सिद्धांत शुद्ध

कवित्व की दृष्टि से काव्य की कसौटी प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता या सौष्टव की परख की जा सकती हैं। लेकिन इन सिद्धांतों के आधार पर की गयी आलोचना में काव्य का रूपवादी पक्ष ही आता है, वस्तुवादी पक्ष नहीं आ पाता। इसका कारण यह रहा कि इन आचार्यों ने कवित्व की शुद्ध स्थिति रूपवादी पक्ष में देखी और उन्होंने वस्तुगत विशेषता को शास्त्र या दर्शन का विवेच्य माना।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. भागीरथ मिश्र (1996), *पश्चात्य काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
2. सभापति मिश्र (2008-9), *साहित्यशास्त्र और हिंदी आलोचना*, ग्रीनवर्ल्ड पब्लिकेशंस, इलाहाबाद.
3. सत्येंद्र सिंह, प्रकाश उदय और दुर्गा प्रसाद ओझा, *साहित्यशास्त्र और हिंदी आलोचना*, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ.

— अजय कुमार पाण्डेय

संस्कृति

(Culture)

संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना लगभग असम्भव है, क्योंकि इस शब्द का इस्तेमाल अनगिनत संदर्भों और भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। अल्फ्रेड क्रोबर और क्लायड क्लुकहोन की रचना *कल्चर : अ क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कंसेप्ट्स ऐंड डेफिनिशंस* में इसकी 164 परिभाषाएँ गिनायी गयी हैं। बहरहाल, समाज-विज्ञान में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के अनुशासन संस्कृति को ऐसे अनौपचारिक और सहज एजेंट की तरह देखते हैं जो अनूठी मानवीय गतिविधियों के जरिये मनुष्य और उसकी सामाजिक संरचनाओं के क्रम-विकास पर अपनी छाप छोड़ता है। संस्कृति में मानवीय सम्भावनाओं का आत्म-सचेत मूल्यांकन

सुलभ कराने की सम्भावना होती है। वह मूल्यों के एक विन्यास की नुमाइंदगी करती है जिससे बनने वाले आदर्शों के आईने में मानवीय जीवन के वांछनीय स्वरूपों के दर्शन किये जाते हैं। इस लिहाज़ से संस्कृति एक ऐसा अपरिहार्य उपकरण है जिसके प्रयोग से मनुष्य और उसका पर्यावरण अपने भीतर होने वाले परिवर्तनों की गति और दिशा को एक सीमा तक नियंत्रित कर सकता है।

मनुष्य जैसे ही अपने प्रयासों से कुदरत द्वारा थमायी गयी विरासत के परे जाता है, वैसे ही संस्कृति की शुरुआत होती है। संस्कृति की मौजूदगी यह बताती है कि हम सब एक ऐसे जगत में रहते हैं जो मनुष्यों द्वारा ही रचा गया है और जिसकी सार्थकता उन्हीं की देन है। अपनी रोज़ाना की जिंदगी का साक्षात्कार करते हुए हमें संस्कृति और उसके असंख्य रूपों की जटिलताओं का एहसास होता है। इनमें से दो आयामों की शिनाख्त संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों के तौर पर की जा सकती है : रचनाशीलता और निर्माण की मानवीय क्षमता, और भाषा को बरतने की योग्यता। इन्हीं दोनों तत्त्वों के संयोग ने परिष्कृत अभिरुचियों, ललित कलाओं और मानव-विज्ञानों का विकास किया है जिनसे संस्कृति का अभिजन दायरा बनता है। यही संयोग उस प्रतीक-चिंतन और सामाजिक प्रतिभा को जन्म देता है जिससे मानवीय ज्ञान, आस्था की प्रणालियों और व्यवहार-शैलियों के समेकित प्रारूप पैदा होते हैं। यह संयोग मनुष्य को उन प्रवृत्तियों, मूल्यों, लक्ष्यों और आचरणों की साझेदारी की तरफ़ ले जाता है जिनसे संस्थाओं, समूहों और संगठनों की रचना होती है।

लैटिन के शब्द 'कल्चरा' से निकले शब्द कल्चर को उसके मौजूदा अवधारणात्मक तात्पर्य अट्टारहवीं सदी के युरोप में मिले जब उसे परिष्कार या सुधार की प्रक्रिया के रूप में देखा गया। शुरू में इस परिष्कार का ज्ञेय उदाहरण 'एग्रीकल्चर' या 'होर्टीकल्चर' के रूप में ही दिया जाता था, पर उन्नीसवीं सदी में इसका अर्थ शिक्षा द्वारा व्यक्ति के परिष्कार से जुड़ गया। इसे राष्ट्रीय आकांक्षाओं या आदर्शों की पूर्ति से संबंधित करार दिया गया। इसी सदी के मध्य में संस्कृति मनुष्य की सार्वभौम क्षमता का पर्याय बन गयी। बीसवीं सदी में संस्कृति का विमर्श मानवशास्त्र के केंद्र में आ गया और उसे उन सभी मानवीय परिघटनाओं की समेकित अभिव्यक्ति की संज्ञा दी गयी जिनमें जेनेटिक्स की कोई भूमिका नहीं थी। एक तरफ़ मार्क्स से ली गयी अंतर्दृष्टियों के सहारे फ्रैंकफर्ट स्कूल के विद्वानों ने मज़दूर वर्ग के संदर्भ में अपना सांस्कृतिक विमर्श विकसित किया, और दूसरी ओर सांस्कृतिक मानवशास्त्र ने टैलकॉट पार्संस के नेतृत्व में संस्कृति को ठोस रूप से परिभाषित करने का यत्न किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संस्कृति संबंधी अध्ययनों के अनुशासन का विकास हुआ।



मैथ्यू अरनॉल्ड (1822-1888)

एक संस्कृति या अनेक संस्कृतियाँ : अट्टारहवीं सदी में यूरोप की बौद्धिक ज़मीन पर जिस विचार का विकास हुआ उसमें संस्कृति को एकवचन के रूप में देखने का रुझान था। उन्नीसवीं सदी तक यह प्रवृत्ति प्रभावी हो गयी। पश्चिमी साम्राज्यवाद से जुड़ कर यह रवैया प्रगति के सार्वभौम आग्रह के सहारे कहता नज़र आया कि लोगों का व्यवहार जितना बुद्धिसंगत होगा, उनकी सांस्कृतिक प्रगति उतनी ही बेहतर होती चली जाएगी। इस तरह संस्कृति और तर्कबुद्धि के विकास को एक ही तराजू में तौल दिया गया। संस्कृति के इस मॉडल के आलोचकों की मान्यता है कि इसके पीछे एक राजनीतिक एजेंडा काम कर रहा था जिसके आधार पर साम्राज्यवादियों ने हर जगह अपनी सत्ता आरोपित करने के साथ-साथ संस्कृति के अभिजनवादी मानकों को भी थोपा। यही राजनीतिक एजेंडा आगे चल कर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के रूप में सूत्रीकृत हुआ।

इसके विपरीत आधुनिक मानवशास्त्र ने उदारतावादी रवैया अपनाते हुए आग्रह किया कि संस्कृति को हमेशा बहुलवादी अर्थों में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। उसका मूल्यांकन सदैव अपने विशिष्ट संदर्भ में ही किया जा सकता है। मानवशास्त्र ने सभी संस्कृतियों को एक ही स्तर का मानते हुए पहले तो इस धारणा का खण्डन किया कि प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता का मतलब सांस्कृतिक श्रेष्ठता भी है। उसने हर संस्कृति को एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन बताया जिसके तहत लोग अपने देश-काल में ज़िंदगी गुज़ारने के तौर-तरीके ग्रहण करते, सीखते और रचते हैं। इस लिहाज़ से संस्कृति एक नवजात शिशु को सहज रूप से उपलब्ध नहीं होती। बालक में भाषा सीखने की स्वाभाविक क्षमता तो होती

है, पर इससे यह तय नहीं होता कि वह कौन सी भाषा, उसका व्याकरण और उसकी विशिष्टताएँ लाज़मी तौर से सीख ही लेगा।

संस्कृति की बहुलतावादी अवधारणा को सर्वाधिक संगीन मुक़ाबला आधुनिकतावादी विचार से करना पड़ा है। संस्कृति के क्षेत्र में यह विमर्श बेहद नफ़ीस तरीके से चलाया गया। यहाँ तक कि आधुनिकता की आलोचना के नाम पर भी संस्कृति के एकवचन की पैरोकारी की गयी। इस बहस का सबसे दिलचस्प उदाहरण उन्नीसवीं सदी में मिलता है। 1896 में प्रकाशित अपनी रचना *क्लचर ऐंड एनार्की* में अंग्रेज़ शिक्षाशास्त्री और लेखक मैथ्यू अरनॉल्ड ने तर्क दिया कि संस्कृति के उच्चतर सौंदर्यशास्त्रीय रूपों का प्रचार-प्रसार किये बिना उद्योगीकरण और शहरीकरण से पैदा होने वाली विकृतियों का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। चूँकि आधुनिक विकास के कारण साधारण लोगों को भी नागरिक अधिकारों की दावेदारी का मौक़ा मिल गया है इसलिए अर्नॉल्ड का तर्क था कि सर्वाधिक शिक्षित वर्ग यानी अभिजन को ही अपने मूल्यों के आधार पर जन-साधारण को शिक्षित और परमार्जित करने का दायित्व उठाना पड़ेगा।

अरनॉल्ड के इस आग्रह के ठीक विपरीत कार्ल मार्क्स सामाजिक जगत में संस्कृति को एक विशिष्ट दायरे के तौर पर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने इस संदर्भ में आधार और अधिरचना (बेस ऐंड सुपरस्ट्रक्चर) का एक समीकरण तजवीज़ किया। मार्क्स का कहना था कि पूँजीवाद के केंद्र में श्रम का शोषण है जिसके कारण श्रम बेचने और ख़रीदने वालों के बीच संघर्ष अनिवार्य है। इसी 'आधार' से व्यक्तिगत चेतना और साज़ा विचारों का जन्म होता है। परिवार और क़ानून जैसी सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से इसी आधार के ऊपर 'अधिरचना' तैयार होती है। इसे समझने के लिए ज़रूरी है कि आधार को बनाये रखने में उसकी भूमिका को रेखांकित किया जाए। जाहिर है कि मार्क्स संस्कृति को अधिरचना की संज्ञा देते हैं जिसका काम आधार की उत्तरजीविता बरकरार रखना है।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक से लेकर बीसवीं सदी के तीसरे दशक का दौर मुद्रण और वितरण की नयी प्रौद्योगिकियों के विकास का माना जाता है। इस दौर में अख़बार, पत्रिकाएँ और उपन्यास बड़े पैमाने पर छपने और बिकने लगे। इसके फ़ौरन बाद रेडियो और सिनेमा के विकास ने गति पकड़ी। इन परिघटनाओं ने संस्कृति के बाज़ारू, संस्थागत और लोकप्रिय रूपों को जन्म दिया। इसके प्रति अनुक्रिया करते हुए फ्रेंक और क्वीनी लीविस जैसे साहित्यालोचकों ने स्कूली शिक्षा में ऐसे पहलुओं का समावेश करने का सुझाव दिया जिनकी मदद से छात्र शुरू से ही मुनाफ़े के मक़सद से किये जाने वाले संस्कृति के थोक उत्पादन और

उसकी बिक्री के प्रति आलोचनात्मक रवैया अख्तियार करना सीख सकें। लीविस का तर्क था कि ऐसे शिक्षित लोग तथाकथित 'लोकप्रिय' संस्कृति की पतनशील प्रकृति को भाँप कर एक प्रामाणिक और 'ऑर्गेनिक' संस्कृति की समझ ग्रहण करेंगे। इस प्रामाणिक संस्कृति के रूप ग्रामीण जीवन की कौशलपूर्ण दस्तकारी से लेकर परिष्कृत कलाओं के विकास तक फैले हुए हैं।

बाजारू और प्रामाणिक संस्कृति के इस अंतर्विरोध में उद्योगीकरण से पहले के युग के सांस्कृतिक विन्यास को बहुत उम्मीद भरी निगाहों से देखा गया था। लेकिन, इस प्रक्रिया में उद्योगीकरण के गर्भ से जन्मे मजदूर वर्ग की सांस्कृतिक जरूरतों की अहमियत पृष्ठभूमि में चली गयी थी। हकीकत यह थी कि यह वर्ग अपने सांस्कृतिक आधारों की तलाश में उन खेत-खलिहानों की तरफ वापसी नहीं कर सकता था जिसे छोड़ने के बाद उसे उद्योगवादी संसार की रिहाइश मिली थी।

संस्कृति और मजदूर वर्ग के प्रश्न पर सबसे ज़्यादा नफ़ासत और गहराई से विचार करने का श्रेय फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के मार्क्सवादी विद्वानों को जाता है। समाजवैज्ञानिकों के इस समूह ने बहुअनुशासनीय रवैया अख्तियार करते हुए मजदूरों की सामाजिक स्थितियों में हुए वास्तविक परिवर्तनों को रेखांकित करना शुरू किया। थियोडोर एडोर्नो और मैक्स होर्खाइमर की दलील थी कि जिस तरह औद्योगिक उत्पादन एक स्टैंडर्ड फ़ॉर्मूले के तहत सम्पन्न होता है, उसी तरह सिनेमा, रिकॉर्डिंग संगीत और रेडियो के कार्यक्रमों का उत्पादन भी एक तयशुदा ढर्रे के मुताबिक़ किया जा रहा है। दर्शकों और श्रोताओं (जो इस सांस्कृतिक माल का उपभोक्ता हैं) के पास अधिक रचनात्मक और चुनौतीपूर्ण सांस्कृतिक उत्पादन को समझने, आनंद लेने और सराहने की न तो समय है और न ही योग्यता।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के इन विद्वानों ने इसी दलील को आगे विकसित करते हुए दावा किया कि यह सांस्कृतिक माल उपभोक्ताओं की माँग के दबाव में तैयार नहीं किया जा रहा है। बल्कि यह तो एक संस्कृति-उद्योग की देन है जिसका उपयोग सामाजिक नियंत्रण के साधनों की तरह किया जाता है। एडोर्नो का तो यहाँ तक कहना था कि लोकप्रिय संगीत की धुनें फ़ौजी मार्च की धुनों की ही तरह अपने श्रोताओं को आज्ञापालन की तरफ़ ले जाती हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पचास के दशक में अमेरिका की आर्थिक समृद्धि और एक महाशक्ति के रूप में उसका उदय बुद्धिजीवियों को ऐसे सामाजिक सिद्धांतों के सूत्रीकरण करने की तरफ़ ले गया जिनके पीछे उथल-पुथल और संघर्ष से बचते हुए समाज व्यवस्था को टिकाये रखने की मंशा काम कर रही थी। इन सिद्धांतों ने एक उम्मीदों से

भरे हुए संसार की तस्वीर पेश की। इस युग के प्रमुख अमेरिकी समाजशास्त्री टैलकॉट पार्संस ने अन्य विद्वानों के सहयोग से समाज-विज्ञानों को एकीकृत करने की कोशिश की। उन्होंने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति और मानवशास्त्र की अंतर्दृष्टियों की मिली-जुली मदद से संस्कृति को परिभाषित किया।

पार्संस ने संस्कृति को एक ऐसे सामाजिक क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें साझा प्रतीकात्मक तात्पर्य पनपते हैं। इन्हीं तात्पर्यों के माध्यम से व्यक्ति विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ता है जिससे सम्प्रेषण और प्रकारांतर से समाज सम्भव होता है। पार्संस ने संस्कृति को एक अवशिष्ट श्रेणी मानने से इनकार करते हुए उसे 'समाज व्यवस्था' और 'व्यक्तित्व' के साथ सामाजिक क्रिया के तीसरे आधार स्तम्भ की संज्ञा दी।

पार्संस के प्रभाव में विद्वानों ने आम जनता के लिए थोक में उत्पादित किये जाने वाले सांस्कृतिक रूपों के अध्ययन को ठंडे बस्ते में डाल दिया। लेकिन, इतिहासकारों और साहित्यालोचकों ने इस पहलू पर फिर से रोशनी डाली। इस सिलसिले का नेतृत्व मार्क्सवादी चिंतक रेमण्ड विलियम्स ने किया। विलियम्स का तर्क था कि संस्कृति को अभिजन दायरे से निकाल कर रोज़ाना की ज़मीन पर पैदा होने वाले अनुभवों, विचारों और रीति-रिवाजों की रोशनी में परिभाषित किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ़ विलियम्स राजनीतिक और व्यावसायिक लाभ के लिए संस्कृति के चतुर इस्तेमाल से भी चिंतित थे।

उधर फ़्रांस में संस्कृति को एक भौतिक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करके सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा का विकास समाजशास्त्री पिएर बोर्दियो ने किया। साठ के दशक में नव-मार्क्सवादी सोच के दायरे में काम करते हुए बोर्दियो ने वर्ग-रचना की प्रक्रिया में सामाजिक पूँजी के साथ-साथ सांस्कृतिक ज्ञान और अभिरुचियों की भूमिका की भी जाँच-पड़ताल की। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न पीढ़ियों के बीच सत्ता और विशेष सुविधाओं का हस्तांतरण सांस्कृतिक पूँजी के रूप में होता है। सांस्कृतिक पूँजी के प्रभाव को रेखांकित करने के लिए उन्होंने समाजशास्त्र की क्लासिक तकनीक का इस्तेमाल करते हुए बड़े पैमाने के सामाजिक सर्वेक्षण किये। उन्होंने दिखाया कि यह सांस्कृतिक पूँजी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती है। इसके आधार पर आर्थिक लाभ भी प्राप्त होता है। हालाँकि इन उच्चस्तरीय सांस्कृतिक अभिरुचियों की रचना सामाजिक रूप से होती है, पर वर्ग-व्यवस्था के प्रभाव में इन्हें कुछ विशेष वर्गों के लिए नैसर्गिक गुणों की तरह देखा जाता है।

इसी दौर में बरमिंघम विश्वविद्यालय स्थित सेंटर फ़ॉर कंटेम्पेरी कल्चरल स्टडीज़ में समाजशास्त्री स्टुअर्ट हाल के

नेतृत्व में संस्कृति-अध्ययन का विकास हुआ। हाल ने इतालवी मार्क्सवाद के प्रमुख हस्ताक्षर एंटोनियो ग्राम्शी द्वारा प्रवर्तित 'वर्चस्व' की धारणा का सहारा लेकर अपना विमर्श विकसित किया। हाल ने ध्यान दिलाया कि ग्राम्शी ने आधार और अधिरचना के मार्क्सवादी सिद्धांत का किस प्रकार विकास किया है। अधिरचना होने के बावजूद ग्राम्शी संस्कृति को आर्थिक आधार का मोहताज मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने उसे स्वतंत्र और स्वायत्त रूप से सामाजिक प्रभाव पैदा करने में सक्षम करार दिया। हाल के इन प्रयासों से सांस्कृतिक उत्पादन के कई आयामों के विचारोत्तेजक अध्ययन का रास्ता खुला।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफर्ट स्कूल, बाजारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. सिमोन ड्यूरिंग (सम्पा.) (1999), *द कल्चरल स्टडी रीडर*, रॉटलेज, लंदन.
2. बोर्दियो (1986), *डिस्टिक्शन : अ सोशल क्रिटिक ऑफ द जजमेंट ऑफ टेस्ट*, रॉटलेज, लंदन.
3. मैथ्यू अरनॉल्ड (1952), *कल्चर एंड एनार्की*, मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
4. ए.एल. क्रोबर और सी. क्लुकहोन (1952), *कल्चर : अ क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कंसेप्ट्स एंड डेफिनिशंस*, पीबॉडी म्यूजियम, केम्ब्रिज, एमए.
5. क्लिफर्ड गीट्ज (1973), *द इंटरप्रिटेशन ऑफ कल्चर : सिलेक्टिड एसेज*, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

संस्कृतीकरण

(Sanskritisation)

संस्कृतीकरण का आशय एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया से है जिसके तहत कोई नीची मानी जाने वाली जाति, आदिवासी समूह या ऐसा ही कोई समुदाय अपनी सामाजिक हैसियत उठाने का उद्यम करता है, और इस कोशिश में किसी ऊँची जाति, खास तौर पर द्विज परम्पराओं, अनुष्ठानों, मान्यताओं, विचारधारा और जीवन-शैली का अनुकरण करता हुआ दिखाई देता है। अर्थात् संस्कृतीकरण के जरिये किसी समुदाय की आकांक्षा यह रहती है कि जाति के स्थानीय पदानुक्रम में

उसका स्थान ऊपर उठ सके। संस्कृतीकरण के आग्रह और उसकी प्रक्रिया में दो बातें पूर्व-शर्त की तरह निहित होती हैं। एक, आकांक्षी समुदाय या जाति की आर्थिक अथवा राजनीतिक स्थिति में बढ़ोतरी और दूसरे उसकी आत्म-चेतना का हिंदू धर्म की किसी बृहत परम्परा के स्रोत जैसे धार्मिक स्थल, मठ या धर्मांतरणवादी समूह से जुड़ाव। गैर-हिंदू समूहों, जैसे आदिवासी समुदायों या प्रवासी जातीयता समूहों, के मामले में संस्कृतीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि ऐसे समूहों को हिंदू परम्परा में समाहित करके उन्हें एक जाति के रूप में मान्यता दे दी जाती है। इस तरह संस्कृतीकरण एक गहन और बहुपरती प्रक्रिया है। इसका असर समाज और उसकी संस्कृति के हर पहलू- भाषा, साहित्य, विचारधारा, संगीत, नृत्य, नाटक, जीवन-शैली तथा अनुष्ठानों पर देखा जा सकता है। यह सिर्फ हिंदू धर्म तक सीमित नहीं है।

संस्कृतीकरण भारतीय समाजशास्त्र की विशिष्ट अवधारणा है। इस पर विशद और व्यापक काम करने का श्रेय एम.एन. श्रीनिवास को जाता है। वैसे एक अन्य समाजशास्त्री एस.के. चटर्जी भी उसी काल में इस परिघटना का अध्ययन कर रहे थे। श्रीनिवास ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि इस पद का जिक्र चटर्जी के 1950 में प्रकाशित एक लेख में किया गया था। हालाँकि श्रीनिवास अपने डीफिल प्रबंध में इस पद का प्रयोग 1947 में कर चुके थे, लेकिन उनका यह अध्ययन 1952 में प्रकाशित हुआ था।

चटर्जी संस्कृतीकरण को ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसी दोहरी प्रक्रिया थी जिसके तहत भारत में बाहर से आने वाले प्राक्-आर्य और अनार्य समुदाय एक तरफ स्थानीय संस्कृति को अपना रहे थे तो दूसरी ओर देशज संस्कृति उन समुदायों की संस्कृति से प्रभावित और समृद्ध हो रही थी। लेकिन एम.एन. श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को अलग ढंग से देख कर इसकी समझ में एक मौलिक योगदान किया। उन्होंने इस अवधारणा का उपयोग समकालीन समाज की गतिकी को समझने के लिए किया। संस्कृतीकरण को एक व्यापक प्रक्रिया के रूप में समझते हुए श्रीनिवास ने देखा कि इसकी व्याप्ति उपमहाद्वीप के सुदूर हिस्सों में भी है। इसका प्रभाव हिंदू धर्म के अनुयायियों के अलावा गैर-हिंदू समुदायों पर भी पड़ा है। उनका मानना है कि जब नयी जातियाँ पहले से स्थापित जातियों के अनुष्ठानों का अनुसरण करके समाज में प्रतिष्ठा और सत्ता हासिल करने का प्रयत्न करती हैं तो इससे संस्कृतीकरण को वैधता मिलती है और वैसी ही अन्य जातियों का ऊँची जातियों में शामिल होना आसान हो जाता है। भारत में जातियों के व्यवस्थित पदानुक्रम का ढाँचा कुछ ऐसा है कि उसमें अगर निम्न जातियों के संस्कृतीकरण के

लिए गुंजाइश रहती है तो उसे हतोत्साहित भी किया जाता है। निम्न जातियाँ ऊँची जातियों की जीवन-शैली और मान्यताओं का अनुसरण इसलिए करती हैं ताकि समाज में उन्हें सम्मान से देखा जाए और स्थानीय सत्ता-संरचना में उनकी भूमिका भी बढ़े। लेकिन किसी भी क्षेत्र की प्रभुत्वशाली जाति अपनी संस्कृति की कथित श्रेष्ठता को लेकर आग्रही होती है। वह निम्न जातियों को अपने दायरे में प्रवेश करने से रोकती है। परंतु ऐसे तमाम प्रतिबंधों और नियंत्रण के बावजूद संस्कृतीकरण की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है।

पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में यह गतिशीलता मुख्यतः दो रूपों में प्रकट हुई। इसका एक रूप वह था जिसमें कोई जाति एक दो पीढ़ियों के अंतराल में क्षेत्र की प्रभुत्वशाली लेकिन पदानुक्रम में अपेक्षाकृत निचली हैसियत की समझी जाने वाली जाति के अनुष्ठानों, आचारों और जीवन-शैली का अनुकरण करके अपनी हैसियत को ऊँचा करने का प्रयास करती थी। इसका दूसरा रूप यह था कि कोई जाति सीधे ही खुद को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कहने लगती थी। इस दावे को वैध साबित करने के लिए वह ऊँची जातियों के खान-पान, जीवन-शैली और अनुष्ठानों का बेहिचक पालन करने लगती थी।

जाति और संस्कृतीकरण के आपसी संबंध की पड़ताल में कुछ अहम बातों पर ध्यान देने की ज़रूरत है। हिंदू धर्म में समाज का चार विशिष्ट श्रेणियों में विभाजन धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित है। इसे जाति-व्यवस्था का शास्त्रोक्त रूप कहा जा सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्ण-व्यवस्था समग्र भारतीय समाज में एक साथ एक ही रूप में व्याप्त थी। दरअसल, वर्ण-व्यवस्था आदर्श के स्तर पर ही एकसार व्यवस्था थी, वर्ना देश के अलग-अलग क्षेत्रों में इसके वास्तविक और कार्यकारी स्वरूप में खासी भिन्नाएँ थीं। आज़ादी के बाद जातियों की क्षेत्रीय विविधताओं को एक अखिल भारतीय रूपरेखा में समायोजित करने के लिहाज़ से वर्ण-व्यवस्था के ढाँचे का इस्तेमाल किया गया। इसे शिक्षा, बढ़ते शहरीकरण तथा स्थानिक गतिशीलता का मिश्रित परिणाम कहा जा सकता है। दूसरी तरफ़ सामाजिक यथार्थ का नया रूप यह है कि शहर का शिक्षित वर्ग केवल अपनी जाति के परिवेश में नहीं रहता और दूसरों के साथ उसके रिश्ते हमेशा अपनी जाति की विशिष्टता से तय नहीं होते। इसके साथ गैर-धार्मिक विचारों का दायरा बढ़ने से प्रदूषण और शुद्धता की भावना भी उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह गयी है। ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले शहरी स्पेस में यह बात ज़्यादा साफ़ तौर पर देखी जा सकती है।

गौरतलब है कि बीसवीं सदी की शुरुआत में जब जातिगत चेतना का प्रसार हो रहा था तथा निम्न जातियाँ अपनी सामाजिक हैसियत सुधारने का जतन कर रही थीं तो

संस्कृतीकरण का यह दूसरा रूप ही ज़्यादा वांछनीय होकर उभरा। असल में इन जातियों को यह बात जल्द समझ आने लगी थी कि शिक्षा और उर्ध्वगामी गतिशीलता की लड़ाई में आर्थिक और राजनीतिक ताकत महज़ संस्कृतीकरण से कहीं ज़्यादा कारगर औज़ार हैं। उनका यह आकलन इस नाते ठीक भी था क्योंकि आर्थिक और राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदारी के बाद संस्कृतीकरण की प्रक्रिया खुद ही आसान हो जाती थी।

इस विवरण के बाद यह आसानी से देखा जा सकता है कि संस्कृतीकरण और सामाजिक गतिशीलता के बीच बहुत करीबी संबंध है। संस्कृतीकरण निम्न जातियों की गतिशीलता में वाहक का काम करता है। यह एक स्थापित तथ्य माना जाता है कि भारत में जातियों का पदानुक्रम आमतौर पर स्थिर और अविचल रहता आया है, लेकिन इसके बावजूद कई परिवार समूहों तथा निम्न जातियों ने उसी के अंदर नीचे से ऊपर की यात्रा की है। इस गतिशीलता का एक बड़ा स्रोत राजनीतिक व्यवस्था में देखा जा सकता है। आम धारणा के विपरीत भारतीय इतिहास में निचले स्तर पर राजनीतिक तंत्र जड़ और अपरिवर्तनीय नहीं रहा है। इसके अलावा पारिस्थितिक-भौगोलिक व्यवस्था में कुछ परिवार समूहों के लिए यह सम्भावना रही है कि वे किसी क्षेत्र में जाकर खेती बाड़ी करने लगे।

ऐतिहासिक रूप और आंतरिक संरचना के लिहाज़ से वर्ण व्यवस्था का दूसरा स्तर यानी द्विज अथवा योद्धा वर्ग संस्कृतीकरण के लिए ज़्यादा प्रवेश-गम्य रहा है। इसमें देशज और बाहरी दोनों तरह के समूह समय समय पर प्रवेश पाते रहे हैं। वैसे तो इस वर्ग में शामिल होने की आवश्यक अर्हता राजनीतिक शक्ति रही है। लेकिन जब तक यह राजनीतिक शक्ति, सत्ता या ऑर्थोरिटी में परिणत नहीं होती तब तक आकांक्षी समूह की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन सम्भव नहीं हो पाता। संस्कृतीकरण की ज़रूरत यहीं पड़ती है। इस तरह अगर कोई व्यक्ति या परिवार राजनीतिक तौर पर शक्तिशाली यानी क्षेत्र का मुखिया या राजा बन जाता था तो भी उसे अंततः यह सिद्ध करना होता था कि वह क्षत्रिय कुल या परम्परा से निकला है। इसके लिए उसे ब्राह्मण की सहायता लेनी पड़ती थी क्योंकि किसी को क्षत्रिय सिद्ध करने की सत्ता ब्राह्मण के पास ही थी। इस आनुष्ठानिक वैधता की अनिवार्यता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि ऐसे किसी मुखिया या राजा को या तो ब्राह्मणों को बाहर से बुलाना पड़ता था या फिर किसी स्थानीय सत्ताकांक्षी समूह को ब्राह्मण घोषित करना पड़ता था। गौरतलब है कि ऐसे मसलों में ब्राह्मण राजनीतिक शक्ति-केंद्र का साथ देने के लिए तत्पर रहते थे। इसके लिए इस उक्ति का सहारा लिया जाता था कि राजा वही बनता है जिसमें दैवी सत्ता का अंश होता है।

दिलचस्प है कि इसी उक्ति का प्रयोग मुसलमान और ब्रिटिश शासकों को वैधता देने के लिए भी किया गया था। दीर्घकाल में राजा और उसकी जाति स्वयं संस्कृतीकरण का स्रोत बन जाते थे। ब्राह्मणों को अनुदान और आश्रय देकर ऐसी जाति अन्य शासित जातियों के लिए एक मॉडल बन जाती थी।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में बड़े मंदिरों और धार्मिक स्थलों की भी अहम भूमिका रही है। इन स्थलों पर होने वाले आयोजन हिंदू धर्म के उच्च वर्णीय विश्वासों और मान्यताओं के प्रसार का काम करते थे। इसके अलावा भजन-कीर्तन, हरिकथा जैसे आयोजन तथा संन्यासी और घुमंतू परिव्राजक भी संस्कृति-निष्ठ हिंदू धर्म की मान्यताओं को जनजीवन में पुष्ट करने का काम करते थे। आधुनिक काल में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को औपनिवेशिक शासन के दौरान होने वाले संचार साधनों के विकास और पश्चिमी शिक्षा में दीक्षित बौद्धिक वर्ग के उभार से अभूतपूर्व बढ़ावा मिला। रेलवे, प्रिंटिंग प्रेस तथा रेडियो की संस्कृतीकरण में अप्रत्यक्ष पर आनुषंगिक भूमिका रही है। इस तकनीक के जरिये हिंदू धर्म की मूलभूत मान्यताओं और दर्शन की बातें निरक्षर लोगों तक भी पहुँची। इसी के समानांतर औपनिवेशिक काल में प्रशासनिक जरूरतों को पूरा करने के लिए कुछ आर्थिक अवसर भी पैदा हुए। लेकिन इन अवसरों का लाभ मुख्यतः उच्च जातियों को ही मिला। डॉक्टरी, वकालत और अध्यापन जैसे पेशों तथा अन्य सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी की अनिवार्यता की शर्तें ऐसी उच्च जातियाँ ही पूरा कर पाती थीं जिनके यहाँ पढाई-लिखाई की परम्परा थी। बाद में इस परिघटना के चलते नव-अभिजन समूह और पिछड़ी जातियों के बीच सांस्कृतिक दूरी पैदा हुई जिससे निम्न जातियों में यह अहसास और गहरा हुआ कि अंग्रेजी का ज्ञान हासिल किये बिना वे नयी व्यवस्था में टिक नहीं पायेंगे। इस तरह समाज और राजनीति के इस रूपांतरण में निम्न जातियों के लिए संस्कृतीकरण एक जरूरी रणनीति बनती चली गयी।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेठ, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलाविन, श्यामा चरण दुबे-1 और 2, त्रिलोकी नाथ मदन।

संदर्भ

1. एम.एन. श्रीनिवास (1956), 'ए नोट ऑन संस्कृताइजेशन ऐंड वैस्टर्नाइजेशन', द फ़ार इस्टर्न क्वार्टर्ली, अंक 15, अंक 4.

— नरेश गोस्वामी

संस्कृति-अध्ययन

(Culture-Studies)

संस्कृति-अध्ययन का उदय साठ के दशक में घटित बौद्धिक और राजनीतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप हुआ। यही वह दौर था जब अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर संरचनावाद, सीमियोटिक्स (लक्षण-विज्ञान), मार्क्सवाद और नारीवाद के विमर्श में ज़बरदस्त उछाल देखने को मिला। ब्रिटेन के बरमिंघम विश्वविद्यालय ने 1964 में बरमिंघम सेंटर फ़ॉर कंटेम्पेरी कल्चरल स्टडीज़ की स्थापना की। इसके पीछे पचास के दशक और साठ की शुरुआत में रेमण्ड विलियम्स और रिचर्ड होगार्ट द्वारा किये गये संस्कृति अध्ययनों की प्रेरणा थी। होगार्ट ही इस सेंटर के पहले निदेशक थे जिनकी विरासत बाद में जर्मैका में जन्मे विद्वान स्टुअर्ट हाल ने सँभाली। इस सेंटर में हुए अनुसंधान और चिंतन की प्रकृति बहुअनुशासनात्मक थी। उसमें न केवल समाज-विज्ञान की स्थापित तकनीकों का इस्तेमाल किया गया था, बल्कि उस पर सीमियोटिक्स, नारीवाद और मार्क्सवाद प्रदत्त रैडिकल रवैये की भी स्पष्ट छाप थी। इस उद्यम के नतीजे के तौर पर पारम्परिक साहित्यिक आलोचना, सौंदर्यशास्त्र और संगीतशास्त्र के दायरे में संस्कृति की स्थापित समझ को प्रश्नांकित किया गया। सेंटर के विद्वानों ने आग्रह किया कि संस्कृति का असली तात्पर्य समझने के लिए उसकी जाँच उसके उत्पादन और उपभोग के ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों की रोशनी में करनी होगी। साथ ही राजनीतिक संरचनाओं और नस्ल, वर्ग और जेंडर जैसे सामाजिक पदानुक्रम से भी लगातार सूचित रहना होगा। संस्कृति-अध्ययन का प्रसार बरमिंघम के सेंटर से परे समाज-विज्ञान के अमेरिकी दायरों में भी हुआ जहाँ इसके तहत मुख्य रूप से लोकप्रिय बाज़ारू संस्कृति के सामाजिक तात्पर्यों को रेखांकित करने की कोशिश की गयी।

संस्कृति-अध्ययन का विकास कई बौद्धिक मुकामों पर किये गये संवादों के माध्यम से हुआ। मसलन, नारीवादियों के साथ किये गये संवाद में केंद्रीय प्रश्न यह था कि उपसंस्कृतियाँ किस तरह से स्त्रियों को नज़रअंदाज़ करती हैं। समाजशास्त्रियों से पद्धति और सामान्यीकरण की समस्याओं के संदर्भ में बातचीत की गयी। मनोविश्लेषकों को साथ लेकर अस्मिता और आत्मपरकता के सवालियों से जूझा गया। मानवशास्त्रियों के साथ नृजातिवर्णन के तौर-तरीकों के बारे में चर्चा की गयी। उत्तर-औपनिवेशिक और सबाल्टर्न रचनाकारों से बहुसंस्कृतिवाद के बारे में तो संवाद किया ही गया, साथ ही उनके जरिये संस्कृति-अध्ययन में निहित एंग्लो-अमेरिकी पूर्वग्रहों की शिनाख्त करने का प्रयास भी



स्टुअर्ट हाल (1932-)

हुआ। फूको के अनुयायियों के साथ सत्ता संबंधी बहसें हुईं। संस्कृति-अध्ययन ने नीति-निर्माताओं को भी अपने आगोश में समेटा क्योंकि वे नीति संबंधी क्षेत्र को प्रभावित करने की अपनी क्षमता की भी जाँच करना चाहते थे। संस्कृतिकर्मियों के साथ हुए संवाद के तहत गुरिल्ला-कला और सिटीज़ंस आर्ट जैसी अवधारणाओं पर बातचीत हुई।

इस अत्यंत बहुआयामी और जटिल उद्यम की बागडोर मुख्यतः सेंटर के दूसरे निदेशक स्टुअर्ट हाल के हाथों में रही। उन्होंने अपने साथियों पॉल विलिस, टोनी जैफ़सलन, डिक हैबडिगी और ऐंजला मैकरॉबी के सहयोग से एक पूरा अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक आंदोलन ही खड़ा कर दिया। धीरे-धीरे संस्कृति-अध्ययन के तहत सांस्कृतिक परिघटनाओं और सांस्कृतिक पाठों के अध्ययन में समाजशास्त्र के साथ-साथ राजनीतिक अर्थशास्त्र, संचार, सामाजिक सिद्धांत, साहित्य-सिद्धांत, मीडिया-सिद्धांत, फ़िल्म/वीडियो संबंधी अध्ययन, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, दर्शनशास्त्र, म्यूज़ियम स्टडीज़ और कला-इतिहास का भी इस्तेमाल होने लगा। सेंटर के अध्येताओं द्वारा चलाई जाने वाली फ़्रील्ड-रिसर्च में जोर यह जानने पर दिया जाता था कि किसी खास सांस्कृतिक परिघटना का संबंध विचारधारा, राष्ट्रियता, जातीयता, सामाजिक वर्ग और जेंडर से किस क्रिस्म का है। अध्येताओं ने रोज़ाना की जिंदगी के तात्पर्य और व्यवहार-शैलियों की जाँच की ताकि किसी खास संस्कृति में लोगों की गतिविधियों के मायने निकाले जा सकें। यह पता लगाया जा सके कि लोग जब टीवी देखते हैं या घर के बाहर खाना खाने जाते हैं तो उसका मतलब क्या होता है। नब्बे के दशक के बाद से

संस्कृति-अध्ययन ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पर छाये हुए पश्चिमी वर्चस्व के खिलाफ़ हो रहे प्रतिरोध के स्थानीय और ग्लोबल रूपों का विश्लेषण करना भी शुरू किया है।

संस्कृति-अध्ययन के ब्रिटिश अध्याय पर जहाँ स्पष्ट रूप से राजनीतिक और वामपंथी रुझानों का बोलबाला था, वहीं उसके अमेरिकी अध्याय की दिलचस्पी परिणामवादी उदार-बहुलवादी परम्परा में साबित हुई। बरमिंघम का सेंटर मास-कल्चर को पूँजीवादी कह कर आड़े हाथों ले रहा था, तो अमेरिकी अध्येता दर्शकों और श्रोताओं की आत्मपरकता को टटोलने में लगे हुए थे। दरअसल, ब्रिटिश अध्याय फ्रैंकफ़र्ट स्कूल और फ्रांस में पनपे लुई अलथुसे के प्रभाव वाले संरचनावादी स्कूल से बहुत प्रभावित रहा। उसने मार्क्सवादी चिंतन की इन धाराओं से निकली हुई पद्धतियों को अपनाते हुए निष्कर्ष निकाला कि सांस्कृतिक जिंसों के थोक उत्पादन को नियंत्रित करने वाले लोग और वर्ग ही लाज़मी तौर पर संस्कृति के नियंत्रक हैं।

संस्कृति-अध्ययन के अमेरिकी अध्याय और नारीवादी अध्याय ने इस रवैये से खुद को दूर रखा। उन्होंने कहा कि किसी सांस्कृतिक उत्पाद का ऐसा कोई एक प्रधान तात्पर्य नहीं होता जिसे सब लोग मानते हों। सांस्कृतिक उत्पादों को लोग अलग-अलग तरीकों और मंशाओं के तहत इस्तेमाल करते हैं जिससे उनके लिए उत्पाद के तात्पर्य बदल जाते हैं। पॉल दु गे और उनके साथियों की रचना 'डूइंग कल्चरल स्टडीज़ : द केस ऑफ़ सोनी वॉकमैन' इस मार्क्सवादी आग्रह को चुनौती देती है कि सांस्कृतिक जिंसों के उत्पादक ही उनके मायनों को भी नियंत्रित करते हैं। नारीवादी संस्कृति-विश्लेषक ग्रेसिल्डा पोल्लॉक ने कला-इतिहास और मनोविश्लेषण के दायरे में योगदान किया है। इसी तरह फ्रांस की नारीवादी चिंतक जूलिया क्रिस्टेवा ने भी कला और मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से संस्कृति-अध्ययन पर अपनी छाप छोड़ी है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. एंड्रू ट्यूडर (1999), *डिकोडिंग कल्चर : थियरी ऐंड मेथड इन कल्चरल स्टडीज़*, सेज, लंदन, 1999
2. स्टुअर्ट हाल (1980), 'इनकोडिंग/डिकोडिंग', स्टुअर्ट हाल, डी. होब्सन, ए. लोव और पी. विलिस (सम्पा.), *कल्चर, मीडिया, लेंग्वेज*, हचिंसन, लंदन, 1980
3. एल. ग्रेसबर्ग, एन. कैरी और पी.ए. ट्रीशलर (सम्पा.) (1992), *कल्चरल स्टडीज़*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क, 1992

4. एफ. इंगलिस (सम्पा.) (1993), *कल्चरल स्टडीज़*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड, 1993

— अभय कुमार दुबे

संस्कृति-उद्योग

(Culture Industry)

उत्पादन और सामाजिक भूमिकाओं के लिहाज़ से संस्कृति और उद्योग एक-दूसरे के एंटीथीसिस हैं। इसके बावजूद फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों थियोडोर डब्ल्यू. एडोर्नो और मैक्स होर्खाइमर ने इस संस्कृति-उद्योग जैसी अवधारणा का प्रतिपादन किया ताकि औद्योगिक पूँजीवाद के तहत बड़े पैमाने पर उत्पादित करके बाज़ार में उपभोग के लिए बेची जाने वाले सांस्कृतिक ज़िंसों के सामाजिक और राजनीतिक चरित्र की शिनाख्त की जा सके। इन विद्वानों के लिए संस्कृति-उद्योग का मतलब था सिनेमा, रेडियो, विज्ञापन, पत्रिकाएँ और रिकॉर्डिड म्यूज़िक जैसी सांस्कृतिक ज़िंसों जिसे पूँजीवादी उत्पादन और बाज़ार समाज के हर तबके को कारख़ाना आधारित उत्पादन की तर्ज़ पर मुहैया कराने में कामयाब रहा है। समाज में इस 'लोकप्रिय संस्कृति' के चौतरफ़ा प्रसार-प्रचार को संस्कृति के लोकतंत्रीकरण की संज्ञा देने के बजाय इन विचारकों ने उसे जन-साधारण के मानस को निष्क्रियता और पालतूपन के गर्त में धकेल देने का दोषी पाया।

1947 में प्रकाशित अपनी रचना 'डायलेक्टिक ऑफ़ इनलाटेनमेंट' के अंतिम अध्याय 'द कल्चर इंडस्ट्री : एनलाटेनमेंट एज़ मास डिसेप्शन' में एडोर्नो और होर्खाइमर का विश्लेषण दिखाता है कि बाज़ारू संस्कृति रोज़मर्रा की ज़िंदगी में फ़र्जी ज़रूरतों की दुनिया गढ़ती है ताकि पूँजीवादी उत्पादन की निरंतर खपत से उसे संतुष्ट किया जा सके। जबकि वास्तव में मनुष्य की असली ज़रूरतें तो स्वतंत्रता, सृजनशीलता और सच्ची खुशी हैं। संस्कृति-उद्योग की थीसिस से पहले फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के एक अन्य विद्वान हर्बर्ट मारक्यूज़ अपनी रचना 'इरोज़ ऐंड सिविलाइज़ेशन' में असली और नकली आवश्यकताओं के बीच अंतर करने पर ज़ोर दे चुके थे।

पश्चिम में संस्कृति के जगत को आम तौर पर तीन हिस्सों में बाँट कर देखने का चलन रहा है : हाईब्राउ (उच्चवर्गीय), मिडिलब्राउ (मध्यवर्गीय) और लोब्राउ (निम्नवर्गीय)। लेकिन, पूँजीवादी आधुनिकता का दावा है कि मास-कल्चर इस तरह से तीन दायरों में नहीं बँटी होती।

वह तो बाज़ार में सभी के लिए उपलब्ध है। जो कृति सबसे ज्यादा अच्छी (सर्वाधिक लोकप्रिय) होगी, उसी को कामयाबी मिलेगी। संस्कृति-उद्योग की अवधारणा ने पूँजीवाद के इसी दावे की जाँच करते हुए दावा किया कि मास-कल्चर के पीछे एक राजनीतिक परियोजना है जिसके तहत संस्कृति के मानकीकरण और पण्यीकरण की प्रक्रियाएँ समाज को एक ख़ास तरह से ढालने की भूमिका निभा रही हैं। उपभोक्ताओं की मनोरंजन संबंधी ज़रूरतें पूरी करने के नाम पर खपाई जाने वाली यह संस्कृति असल में उपभोक्ताओं की अभिरुचियों और कामनाओं को पूँजीवाद की आवश्यकताओं के अनुरूप रंगों में रँग देती है।

संस्कृति-उद्योग की अवधारणा दस्तकारों, कारीगरों और प्रतिभाशाली कलाकारों द्वारा रची गयी संस्कृति और कलाकृतियों की अंतर्निहित स्वायत्तता के विपरीत खड़ी है। इस अवधारणा के मुताबिक औद्योगिक पूँजीवाद द्वारा किये गये सांस्कृतिक उत्पादन की सतही नवीनता या विशिष्टता अपने पीछे उसका अनिवार्य दोहराव छिपा लेती है। उसकी तथाकथित खूबियाँ उपभोग को तो प्रेरित कर देती हैं, पर उनमें ऐसी कोई बात नहीं होती कि वे मुनाफ़ाखोरी और उपभोग के गठजोड़ को चुनौती दे सकें। इसीलिए संस्कृति-उद्योग फ़ॉर्मूलाबद्ध (बाज़ारू सिनेमा, सोप ऑपेरा, पॉप म्यूज़िक, सस्ती भावनाएँ भड़काने वाले रेडियो कार्यक्रम, पल्प लिटरेचर आदि) कला को बढ़ावा देता है। विडम्बना यह है कि लोकप्रिय संस्कृति के फ़ॉर्मूले अपना स्रोत 'फ़ॉक' और 'हाई' आर्ट में ही खोजते हैं। संस्कृति-उद्योग उच्च और निम्न कला को आपस में जोड़ने की विफल इंजीनियरिंग करता है। इस प्रक्रिया में लोक और शास्त्रीय कलाएँ लगातार दोहन से न केवल खोखली होती चली जाती हैं, बल्कि उनका हाशियाकरण भी हो जाता है। इसका दूसरा परिणाम कला को शोषण की व्यापक प्रणाली का औज़ार बनाने में निकलता है। बाज़ारू कला पूँजीवाद को टिकाने और उसके विचारधारात्मक ढाँचे को मज़बूत करने के काम आती है। वह अपने दर्शकों और श्रोताओं की कुछ इस प्रकार प्रोग्रामिंग करती है कि उन्हें पूँजीवाद के अलावा दूसरे मूल्य दिखते ही नहीं। उनकी कुटाएँ और आक्रोश पर बार-बार ठंडी परतें चढ़ती चली जाती हैं।

संस्कृति-उद्योग की अवधारणा फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों के लम्बे सोच-विचार का परिणाम थी। इस सिलसिले में एडोर्नो द्वारा 3 मार्च, 1936 को वाल्टर बेंजामिन को भेजे गये एक पत्र का उल्लेख करना आवश्यक है। इस पत्र में एडोर्नो ने लिखा था कि चाहे अभिजन कला हो या औद्योगिक रूप से उत्पादित उपभोक्ता-कला, दोनों पर ही पूँजीवाद का कलंक लगा हुआ है। लेकिन, दोनों में ही (समाज) परिवर्तन के तत्त्व भी निहित हैं। दोनों ही एक समेकित स्वतंत्रता के

बीच में से फाड़ कर अलग-अलग कर दिये गये आधे-आधे हिस्से हैं। लेकिन एक बार अलग-अलग हो जाने के बाद दोनों मिल कर समेकित सम्पूर्ण नहीं बन सकते।

चिंतन का यह सिलसिला जैसे-जैसे आगे बढ़ा, इन विद्वानों की समझ में आने लगा कि ज्ञानोदय से उपजे पश्चिमी तर्कणावाद की चरण परिणति समाजवाद न होकर फ्रासीवाद है। उन्होंने पारम्परिक मार्क्सवादियों की इस आस्था के साथ चलने से इनकार कर दिया कि उत्पादन की पूँजीवादी शक्तियों में (अगर वे पूँजीवाद उत्पादन संबंधों की क़ैद से आजाद हों) एक मुक्त समाज बनाने की क्षमता है।

एडोर्नो का विचार था कि उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद में पण्यों का उपयोग मूल्य अपने-आप में अपेक्षाकृत स्वतंत्र था। इसके कारण पूँजीवाद के उस संस्करण के तहत मनुष्य में स्वायत्त होने की सम्भावनाएँ थीं। वह प्रतिरोध करने की क्षमताओं से लैस हो कर पूँजीवाद को अस्थिर कर सकता था। लेकिन बीसवीं सदी का पूँजीवाद इस तरह की स्वायत्तता प्रदान नहीं करता, क्योंकि उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों के बीच के रिश्ते ने मनुष्य के सांस्कृतिक प्रारब्ध को अभिशप्त कर दिया है। उद्योगों की दक्षता बढ़ाने के लिए विकसित की गयी प्रशासकीय तकनीकों और बाज़ार के संचालन के लिए तैयार किये गये तर्कबुद्धि के आधार पर काम करने वाले अधिकारीतंत्र ने उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के बीच उन अंतर्विरोधों को तक्ररीबन समाप्त कर दिया है जिनके आधार पर मार्क्स ने पूँजीवाद के अवश्यम्भावी पतन की भविष्यवाणी की थी।

एडोर्नो द्वारा दिये गये संस्कृति-उद्योग के आख्यान को संस्कृति-अध्ययन के दायरे के भीतर और बाहर आलोचनाओं का निशाना भी बनाया गया है। इस आलोचना के मुख्य पहलू इस प्रकार हैं : एडोर्नो और होर्खाइमर उपभोक्ताओं को संस्कृति-उद्योग के निष्क्रिय शिकारों की तरह पेश करते हैं। वे उपभोक्ताओं और संस्कृति के क्षेत्र के भीतर प्रतिरोध की सम्भावनाएँ नहीं देखते। दूसरे, फ्रैंकफर्ट स्कूल के विद्वान एक खुशहाल समाज की प्रवृत्तियों की ठीक-ठीक शिनाख्त नहीं कर पाये। ऐसा समाज चिंतन (रिफ्लेक्शन) में कम और गतिविधियों (एक्शन) में ज्यादा दिलचस्पी रखता है। तीसरे, जिन प्रशासकीय तकनीकों और अधिकारीतंत्र की चर्चा उन्होंने की है, वह मालिक वर्ग को भौतिक लाभ जरूर पहुँचाता है और दरिद्रों के शोषण को भी बढ़ावा देता है, पर वह कई बार पूँजीपतियों को भी अपने सामने शक्तिहीन कर देता है।

जाहिर है कि चालीस के दशक के आखिरी वर्षों में (द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण परिणामों की रोशनी में) किये गये इस प्रतिपादन के बाद संस्कृति-उद्योग के कार्य-व्यापार और उसके उपभोक्ताओं के उसके प्रति रवैये में कई तरह के अंतर आये हैं। सांस्कृतिक प्रवाहों की विविधता को देखने

और परखने के लिए नयी दृष्टियों का विकास भी हुआ है। लेकिन, इन तमाम आलोचनाओं और बदली हुई परिस्थिति के बावजूद एडोर्नो और होर्खाइमर का सूत्रीकरण आज भी पूँजीवादी सांस्कृतिक रूपों की आलोचना के औज़ार मुहैया कराने में कामयाब है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, दर्शक, फ्रैंकफर्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. थियोडोर डब्ल्यू. एडोर्नो और मैक्स होर्खाइमर (1947), 'द कल्चर इंडस्ट्री : एनलाटेनमेंट एज़ मास डिसेप्शन', *डायलेक्टिक ऑफ़ एनलाइटेमेंट*, हर्डर एंड हर्डर, न्यूयॉर्क.
2. थियोडोर डब्ल्यू. एडोर्नो (1991), *द कल्चर इंडस्ट्री : सिलेक्टड एसेज़ ऑन मास कल्चर*, (सम्पा. : जे.एम. बर्नस्टीन), रॉटलेज, लंदन.
3. आर. विगर्सहौज़ (1994), *द फ्रैंकफर्ट स्कूल : इट्स हिस्ट्री, थियरीज़, एंड पॉलिटिकल सिग्नीफिकेंस*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

(Culture: Marxist Perspective)

कार्ल मार्क्स के विशाल वांडुमय में आधार और अधिरचना के समीकरण के अलावा संस्कृति संबंधी किसी सिद्धांत का अलग से सूत्रीकरण नहीं मिलता। इसके बावजूद संस्कृति-विमर्श में मार्क्सवादियों का समृद्ध और विस्तृत योगदान है। राजनीतिक ज़मीन पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने सारी दुनिया में सांस्कृतिक संगठन बना कर इस दायरे में सक्रिय हस्तक्षेप करने की परम्परा डाली है। रूस में सर्वहारा संस्कृति रचने का प्रयोग, बोल्शेविक नेतृत्व द्वारा उसकी आलोचना, पूर्वी जर्मनी और चीन द्वारा सांस्कृतिक क्रांति करने की दावेदारियों से लेकर युरोपीय मार्क्सवाद के तहत चले संस्कृति-विमर्श तक एक ऐसा विविध बौद्धिक संसार तैयार हुआ है जिसे सांस्कृतिक मार्क्सवाद की संज्ञा भी दी जाती है। सांस्कृतिक मार्क्सवाद ने न केवल पूँजीवाद द्वारा उत्पादित सांस्कृतिक रूपों की परिष्कृत आलोचना करने की सामग्री मुहैया करायी है, बल्कि मार्क्सवाद के अंदरूनी दायरों में सर्वहारा-अधिनायकत्व के सिद्धांत और व्यवहार को आड़े हाथों ले कर



फ्रेड्रिख जेमसन (1934-)

एक आंतरिक आलोचक की भूमिका भी निभायी है।

मार्क्सवादी विमर्श के तहत संस्कृति की हैसियत चेतना के मर्म में एक सचेत अस्तित्व की तरह मौजूद है। संस्कृति के जरिये चेतना एक तरफ तो मौजूदा हालात से बँधी हुई मानी जाती है, पर दूसरी तरफ हालात बदलने की सम्भावनाएँ भी उसी से पैदा होती हैं। इस विरोधाभासी समझ के कारण मार्क्सवाद संस्कृति को आर्थिक आधार की प्रतिच्छाया मानने के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष के हथियार की तरह भी ग्रहण करता है।

रूस में क्रांति के बाद लेनिन ने समाजवाद के निर्माण में सांस्कृतिक क्रांति की भूमिका पर गौर किया था। सर्वहारा संस्कृति की रचना करने के लिए चलाया गया प्रोलेतकुल्ल आंदोलन लेनिन और ट्राट्स्की की निगाह में अप्रासंगिक और हानिकारक था। उनकी मान्यता थी कि समाजवादी संस्कृति की रचना केवल दीर्घकाल में ही हो सकती है। इसकी बुनियाद साक्षरता और शिक्षा के प्रसार से पड़ेगी और इसी आधार पर नया समाजवादी बुद्धिजीवी वर्ग पनपेगा। यह वर्ग पूँजीवादी संस्कृति के बहुमूल्य तत्वों को समेटता हुआ चलेगा। इसके बाद पचास के दशक में जर्मन जनवादी गणतंत्र (पूर्वी जर्मनी) और चीन में सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा पर अमल करने की कोशिशें की गयीं। साठ के दशक में माओ के नेतृत्व में पूँजीवादी संस्कृति पर आक्रमण के लिए जिस तरह से सांस्कृतिक क्रांति का उपयोग किया गया, वह लेनिन के बजाय रूस के उन रैंडिकल तत्वों के मुताबिक अधिक था जिनके खिलाफ लेनिन ने अपनी आलोचना दर्ज करायी थी।

पश्चिमी मार्क्सवाद के सामने क्रांति करने के बाद समाजवाद के निर्माण का प्रश्न नहीं था। उनकी समस्या कहीं पेचीदा थी। वे विकसित पूँजीवाद के तहत एक फलते-फूलते सांस्कृतिक जगत का साक्षात्कार कर रहे थे। उपलब्ध मार्क्सवादी औजारों और अधिरचना को आधार की प्रतिच्छाया मानने वाले सैद्धांतिक रवैये से इसे समझना नामुमकिन था। इसलिए उसने संस्कृति के प्रश्न को अलग तरीके से संबोधित किया। उसकी शुरुआत लूकाच और ग्राम्शी के चिंतन से होती है। हंगेरियन सिद्धांतशास्त्री लूकाच ने 1920 में लिखे अपने निबंध 'ओल्ड ऐंड न्यू कल्चर' में सभ्यता और संस्कृति को अलग-अलग करके देखा। सभ्यता उनकी निगाह में किसी मक्रान की मजबूती और टिकाऊपन का द्योतक थी। संस्कृति को उन्होंने उस मक्रान की बाहरी और भीतरी खूबसूरती के मानिंद बताया। अर्थात् लूकाच के लिए संस्कृति ऐसे मूल्यवान उत्पादों और योग्यताओं के सामूहिक प्रभाव से बनने वाली शै थी जिसे ज़िंदगी के फ़ौरी रख-रखाव के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इस लिहाज से वे मानते थे कि पूँजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया में संस्कृति नष्ट होती जाती है। उनका कहना था कि नयी संस्कृति की सम्भावना तो समाजवाद के साथ ही पैदा हो सकती है। इसके बाद लूकाच ने अपना अधिकतर काम सौंदर्यशास्त्र पर किया ताकि पूँजीवादी युरोप के विचार-रूपों के मुकाबले सर्वहारा के विश्व-दृष्टिकोण का विकास किया जा सके। लूकाच के इस योगदान ने न केवल मार्क्सवादियों द्वारा साहित्य के समाजशास्त्र और विचारों के इतिहास पर किये गये चिंतन पर असर डाला, बल्कि फ्रैंकफर्ट स्कूल द्वारा विकसित किये गये आलोचनात्मक सिद्धांत (क्रिटिकल थियरी) को भी प्रभावित किया।

फ्रैंकफर्ट स्कूल के विद्वानों (एडोर्नो, होर्खाइमर और मारक्यूजे) ने संस्कृति की एक साझा व्यापक समझ विकसित की। एडोर्नो ने वाल्टर बेंजामिन (जिनका इंस्टीट्यूट फ़ॉर सोशल रिसर्च से थोड़ा-बहुत ही ताल्लुक था) और फिर ब्रेख्त से इस विषय में संवाद भी किया। मारक्यूजे का सूत्रीकरण उनके निबंध 'ऑन द एफ़र्मेंटिव कंसेप्ट ऑफ़ कल्चर' में स्पष्ट हुआ। संस्कृति की निहायत जटिल भूमिका की चर्चा करते हुए मारक्यूजे का खयाल था कि वह मुक्ति और खुशी की उस आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती है जिसे आधुनिक समाज पूरा नहीं होने देता। हकीकत की जमीन पर इस इच्छा की पूर्ति नहीं हो पाती, पर यह कामना एक विभ्रम के जगत में प्रक्षेपित हो जाती है जिसका नतीजा 'विद्रोह की आकांक्षा को शांत करने' में निकलता है।

आगे चल कर एडोर्नो और होर्खाइमर ने 1947 में प्रकाशित *डायलेक्टिक ऑफ़ इनलाइटेनमेंट* में 'संस्कृति-उद्योग' का विश्लेषण किया। इन दोनों विद्वानों का विचार था

कि पारम्परिक पूँजीवादी संस्कृति में जिस नफ़ासत, रचनात्मकता और भावातीत पहलुओं की झलक मिलती थी, संस्कृति-उद्योग उनसे भी वंचित है। इस उद्योग में तो पण्यीकरण का बोलबाला इस हद तक है कि मनुष्य का व्यक्तित्व महज़ सफ़ेद चमकते हुए दाँतों और देह से आने वाली दुर्गंध को रोकने के उपायों तक सीमित रह गया है। मार्क्यूज़े ने नतीजा निकाला कि संस्कृति के पण्यीकरण के कारण 'उच्च संस्कृति' पतित हो कर 'भौतिक संस्कृति' में बदल गयी है। अपनी आलोचनात्मक सम्भावनाओं से वंचित हो जाने के बाद यह संस्कृति सेक्स की तरह सभी के लिए उपलब्ध तो हो गयी है, पर महज़ गिरे हुए रूपों में। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों में थोड़े-बहुत मतभेदों के साथ इस बात पर सहमति थी कि एक सच्ची वैकल्पिक संस्कृति की रचना करना सिर्फ़ दूर की कौड़ी ही है।

लूकाच के बाद संस्कृति के मार्क्सवादी विमर्श को सबसे ज़्यादा इतालवी सिद्धांतकार एंतोनियो ग्राम्शी ने प्रभावित किया। समाजवादी राजनीति के सांस्कृतिक आयामों पर जोर देते हुए ग्राम्शी ने आग्रहपूर्वक कहा कि पूँजीपति वर्ग ताक़त के दम पर कम और 'वर्चस्व' के दम पर ज़्यादा हुकूमत करता है। ग्राम्शी ने मार्क्सवाद को विज्ञान और वस्तुनिष्ठ समझने की प्रवृत्ति पर भी आपत्ति की। उन्होंने आधार और अधिरचना के प्रचलित मार्क्सवादी फ़ार्मूले में से अधिरचना समझे जाने वाले अवयवों (विधि व्यवस्था, राज्य, संस्कृति, विचारधारा, मूल्य, आस्थाएँ) की हस्तक्षेपकारी और निर्णायक भूमिकाओं का उद्घाटन किया। ग्राम्शी से पहले यह माना जाता था कि आधार यानी उत्पादन के साधन और उत्पादन के संबंध ही इतिहास का इंजन है, और अधिरचना आधार का प्रतिबिम्ब भर है। ग्राम्शी ने वर्चस्व की धारणा का सूत्रीकरण करते हुए यह मत प्रस्तुत किया कि शासकों और शासितों के बीच वर्चस्व और प्रतिरोध का वास्तविक संघर्ष अधिरचना के दायरे में होता है। अधिरचना को उन्होंने नागर समाज और राजनीतिक समाज-दो स्तरों में बाँटा और कहा व्यवस्थाएँ बल-प्रयोग और सहमति दोनों के संयुक्ताधार पर टिकी होती हैं। राजनीतिक समाज यानी राज्य और उसके तमाम अंग बल-प्रयोग का स्थल हैं, जबकि नागर समाज (परिवार, धर्म-संस्थान, शिक्षा-संस्थान, संस्कृति आदि तमाम ग़ैर-राजनीतिक और ग़ैर-आर्थिक इकाइयाँ) सहमति का मुक़ाम हैं। ग्राम्शी के इस सूत्रीकरण ने संस्कृति की मार्क्सवादी समझ को गहराई से प्रभावित किया। ब्रिटेन के बरमिंघम विश्वविद्यालय में विकसित हुए संस्कृति-अध्ययन से लेकर फ़्रांस में पिएर बोर्दियो द्वारा 'सांस्कृतिक पूँजी' के विचार तक ग्राम्शी की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

संस्कृति पर मार्क्सवादी चिंतन के अधिक संश्लिष्ट आयाम रेमण्ड विलियम्स, लुई अलथुसे, रिचर्ड होगार्टन और

स्टुअर्ट हाल जैसे समकालीन मार्क्सवादियों के विमर्श में मिलते हैं। संस्कृति-अध्ययन के प्रमुख संस्थापक और सांस्कृतिक भौतिकवाद के प्रतिपादक रेमण्ड विलियम्स ने संस्कृति के उन रूपों को अपने चिंतन का विषय बनाया जो लोगों द्वारा जिये जा रहे रूप या 'लिव्ड कल्चर' हैं। उन्होंने 'जीवन गुज़ारने के सम्पूर्ण तौर-तरीकों' को संस्कृति माना। उन्होंने उपन्यास और फ़िल्म जैसे स्थापित सांस्कृतिक उत्पादनों को ही नहीं विज्ञापन और टेलिविज़न को भी संस्कृति की विचारणीय अभिव्यक्तियों की तरह देखना शुरू किया। उनका विचार था कि समकालीन समाज में संस्कृति के इन सभी रूपों का सहअस्तित्व होता है इसलिए इन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। विलियम के लेखन में 'राष्ट्रीय' और 'सांस्कृतिक' के प्रत्ययों को प्रश्नांकित किया गया। इस प्रक्रिया में उन्होंने दिखाया कि किस तरह समाज के भीतर स्थानीयता, राष्ट्रीयता और भूमण्डलीयता के तात्पर्यों का परिसंचरण होता है और वे आपस में टकराते भी हैं।

संस्कृति के मार्क्सवादी सिद्धांतकार स्टुअर्ट हाल ग्राम्शी से प्रेरणा लेते हुए उनके वर्चस्व सिद्धांत से परे गये। उन्होंने दिखाया कि किस तरह भाषा का इस्तेमाल सत्ता, संस्थाओं, राजनीति और अर्थनीति के संरचनागत दायरों से प्रभावित होता है। उन्होंने संस्कृति को सिर्फ़ अध्ययन की वस्तु न मान कर सामाजिक क्रियाशीलता और हस्तक्षेप की ऐसी ज़मीन की तरह चिह्नित किया जहाँ सत्ता-संबंध न केवल बनते-स्थापित होते हैं, बल्कि उसी ज़मीन पर उन्हें अस्थिर किये जाने की सम्भावनाएँ भी होती हैं। स्टुअर्ट हाल टेलिविज़न स्टडीज़ के क्षेत्र में 'एनकोडिंग-डिकोडिंग' के सिद्धांतकार के तौर पर भी विख्यात हैं।

संस्कृति के मार्क्सवादी सिद्धांतकारों में अग्रणी फ्रेड्रिख जेमसन का एक लेख 'पोस्टमॉडर्निज़म, ऑर, द कल्चरल लॉजिक ऑफ़ द लेट कैपिटलिज़म' 1984 में *न्यू लेफ़्ट रिव्यू* में प्रकाशित हुआ। बात में 1991 में इसी शीर्षक से उनकी पूरी पुस्तक प्रकाशित हुई। जेमसन उत्तर-आधुनिकता के प्रत्यय की आलोचना करते हुए कहा कि यह विचार दरअसल परवर्ती पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क है जिसका स्रोत पूँजीवाद के इस दौर में हो रहे उत्पादन की विधियों में निहित है।

देखें : ज्यॉ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलाँ बाथ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. ग्योर्ग लूकाच, 'द ओल्ड कल्चर ऐंड द न्यू कल्चर', *टेलोस* 5, 1920 (1970)
2. स्टुअर्ट हाल, 'कल्चरल स्टडीज़ : टू पैराडाइम्स', टोनी बैनेट वगैरह (सम्पा.), *कल्चर, आइडियॉलॉजी ऐंड सोशल प्रोसेस*, बैट्सफ़र्ड्स, लंदन, 1990
3. हरबर्ट मारक्व्यूज़, *वन-डायमेंशनल मैन*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन, 1964
4. थियोडोर डब्ल्यू. एडोर्नो और मैक्स होर्खाइमर, *डायलेक्टिक ऑफ़ एनलाइटेमेंट*, हर्डर ऐंड हर्डर, न्यूयॉर्क, 1947
5. रेमण्ड विलियम्स, *कल्चर*, फ़ोंटाना, ग्लासगो, 1981

— अभय कुमार दुबे

संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण

(Institution and Institutionalisation)

अंग्रेजी में जिसे इंस्टीट्यूशन कहते हैं उसी का यहाँ संस्था और संस्थान के दो अर्थों में अनुवाद किया गया है। इस अंतर को इस तरह समझा जा सकता है : राज्य एक संस्था है, संविधान एक संस्था है और संसद भी एक संस्था है, लेकिन इनका कोई भौतिक और औपचारिक दिखने वाला रूप नहीं है; पर इन तीनों के तहत काम करने वाले कई इंस्टीट्यूशन संस्थान कहे जाते हैं। यहाँ संस्थान का अर्थ है सार्वजनिक या अर्धसार्वजनिक प्रकृति का कोई संगठन जिसका एक संचालक मण्डल, भवन या किसी प्रकार की भौतिक व्यवस्था होती है। इन संस्थानों की रचना किन्हीं निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए की जाती है (जैसे, कॉलेज, विश्वविद्यालय, अस्पताल आदि)। इसी तरह समाजशास्त्र जिन इंस्टीट्यूशनों के बारे में अध्ययन करता है उन्हें हिंदी में संस्था कहना ठीक होगा, लेकिन उन संस्थाओं का अध्ययन करने वाले अनुसंधान केंद्र को संस्थान ही कहा जाएगा। समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण के तात्पर्य अलग-अलग हैं। समाजशास्त्र में संस्था का अर्थ मानकों और मूल्यों के संदर्भ में समझा जाता है। इस अनुशासन में संस्था उसे कहते हैं जो साझा मूल्यों के तहत बनी नियमों और नियमित प्रक्रियाओं की अंतःसंबंधित संहिता के आधार पर काम करती है। समाजशास्त्र इस परिभाषा में विश्वासों, आस्थाओं, सोच-विचार और अनुभूतियों को भी जोड़ता है। ये संस्थाएँ (जैसे जाति,

परिवार, धर्म आदि) सामाजिक जीवन में गहरे जड़ जमाये होती हैं और इनमें लम्बी-लम्बी समयावधियों तक अपना पुरुत्पादन करते रहने की क्षमता होती है। इस प्रकार की संस्था सामाजिक संरचना के विचार के केंद्र में रहती है और मानवीय गतिविधि के संरचनात्मक संगठन को समझने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती है।

समाजशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में संस्था को लेकर समझ में कुछ भेद भी है। जैसे, प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र (फ़ंक्शनलिस्ट सोसियोलॉजी) के पैरोकार संस्थाओं को व्यक्ति या समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने वाले माध्यमों की तरह देखते हैं। जबकि, घटनाक्रियाशास्त्र को महत्त्व देने वालों का जोर एक भिन्न पहलू पर होता है। ये समाजशास्त्री देखते हैं कि लोगों ने संस्थाओं को कैसे बनाया है या उनके साथ अपना सामंजस्य कैसे बैठाया है। टैलकॉट पार्संस ने संस्थाओं को आर्थिक, राजनीतिक, घरेलू, धार्मिक जैसी श्रेणियों में बाँट कर देखा था। उनकी मान्यता थी कि हर क्रिस्म की संस्था समाज की किसी खास गतिविधि से सरोकार रखती है और कुल मिला कर पूरी सामाजिक प्रणाली के अंग की भूमिका निभाती है। इसमें अर्थव्यवस्थाएँ, राजनीतिक प्रणालियाँ और नातेदारी की व्यवस्थाएँ भी शामिल हैं। इस आधार पर कुल मिला कर संस्थाओं को पाँच मुख्य प्रकारों में विभाजित किया जाता है : आर्थिक संस्थाएँ उत्पादन, वितरण और सेवा का काम करती हैं; राजनीतिक संस्थाएँ सत्ता के विनियमन और इस्तेमाल की प्रक्रिया को तय करती हैं; स्तरीकरण से संबंधित संस्थाएँ हैसियत और संसाधनों का वितरण करती हैं; नातेदारी की संस्थाएँ विवाह, परिवार और समाजीकरण से संबंधित भूमिकाओं का निर्वाह करती हैं; और सांस्कृतिक संस्थाएँ धार्मिक, वैज्ञानिक और कलात्मक गतिविधियाँ चलाती हैं।

लेकिन इस तरह के विभाजनों में निहित दृष्टि की आलोचना उन विद्वानों ने की है जो मान कर चलते हैं कि संस्थाओं को उनमें निहित सत्ता की संचरना से अलग करके नहीं देखा जा सकता। संस्थाएँ हमेशा ही समाज के सत्ता-संबंधों की अभिव्यक्ति होती हैं, उन सत्ता-संबंधों की जिन्हें एक समूह किसी दूसरे समूह पर या बाक़ी समाज पर आरोपित करता है। समाज में अक्सर ऐसा लग सकता है कि मूल्यों, मानकों और संस्थाओं के स्तर पर सम्पूर्ण मतैक्य है, पर उसे हासिल करने में सत्ता और टकराव की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। हाल ही में फ़्रांसीसी चिंतक मिशले फ़ूको ने अपने अनूठे विश्लेषण में दिखाया है कि सामाजिक धरातल पर जिस विमर्शी ज्ञान में सबकी साझेदारी दिखती है और जिसके ज़रिये लोग अपने सामाजिक पर्यावरण को समझते और ग्रहण करते हैं, उसके भीतर भी सत्ता-संबंधों की एक इबारत छिपी रहती है अर्थात्

सामाजिक व्यवस्था ज्ञान और सत्ता के संयोग का नतीजा होती है। उसे इनमें से किसी एक के फलितार्थ की तरह नहीं देखा जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र की एक शाखा संस्थागत अर्थशास्त्र कहलाती है। यह आधुनिक अर्थशास्त्र की प्रमुख संस्थाओं के अध्ययन को अपना विषय बनाती है। इस प्रक्रिया में अर्थशास्त्री अक्सर किसी संस्था के साथ जुड़े हुए मानवशास्त्रीय पहलुओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, नौकरशाहानी नियमों, सम्पत्ति संबंधी अधिकारों और उसके संचालन से जुड़े हुए तंत्र आदि पहलुओं पर गौर करते हैं। दरअसल, अपनी इस शाखा के जरिये अर्थशास्त्र, विधि, राजनीति, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के साथ एक परस्पर उपयोगी संवाद स्थापित करने में सफल रहा है। इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स ने उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में अमेरिका में जन्म लिया। इसके प्रमुख हस्ताक्षरों ने ट्रेड यूनियनों के अध्ययन से शुरुआत की और औद्योगिक संरचनाओं की बदलती हुई प्रकृति की जाँच करने तक गये। इस अर्थशास्त्र ने कारपोरेशन की संरचना पर गहराई से विचार करके यह पता लगाने की कोशिश की है कि आर्थिक उत्पादन और वितरण की यह संस्था (जिसका मालिक हमेशा नजारे से गायब रहता है) किस तरह आर्थिक क्रिया को गति देने में कामयाब रहती है। इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स ने शुरू-शुरू में कारपोरेशनों में निर्णय-प्रक्रिया की जाँच करके अपने अनुसंधानों से नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र की कई दावेदारियों को गलत साबित किया। लेकिन आजकल इसके नये संस्करण ने नियोक्लासिकल इकॉनॉमिक्स के साथ दोस्ती कर ली है।

संस्थानीकरण उस प्रक्रिया का नाम है जिसके तहत समाज का कोई कार्य-व्यापार, नियमाचार और आचरण-संहिता पर्याप्त रूप से नियमित हो जाती है और परिणामस्वरूप उसे भी एक संस्था की संज्ञा दी जाने लगती है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि समाज में जब किसी प्रवृत्ति या रुझान में अपेक्षाकृत स्थायित्व आ जाता है तो कहा जाता है कि अमुक प्रवृत्ति का संस्थानीकरण हो गया है। संस्थानीकरण का यह विचार बताता है कि संस्थाएँ कोई अपरिवर्तनीय क्रिस्म की शै नहीं होतीं। सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रभाव के तहत संस्थाओं के बनने और बदलने का सिलसिला चलता रहता है। संस्थानीकरण अपनी प्रकृति में नकारात्मक भी हो सकता है और सकारात्मक भी। जैसे किसी समाज में नस्लवाद या किसी दूसरे क्रिस्म के भेदभाव का संस्थानीकरण हो सकता है। संस्थानीकरण के इस नकारात्मक अर्थ के विपरीत किसी समाज में अगर वर्ग-संघर्ष को नियंत्रित करने के लिए राजनीतिक और औद्योगिक संघर्ष का एक-दूसरे से लगभग स्थाई रूप से संबंध विच्छेद कर दिया जाता है, तो इसकी अभिव्यक्ति इस तरह से की जाएगी कि

उस समाज में वर्ग-संघर्ष का संस्थानीकरण हो गया है।

पूँजीवाद के शुरुआती दिनों में उद्योगीकरण के दुष्परिणामों के कारण सामाजिक टकराव इतना भीषण रूप ले लेता था कि क्रांतियों की सम्भावनाएँ पैदा हो जाती थीं। समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि इस परिस्थिति के पीछे पारम्परिक प्राक्-औद्योगिक सामाजिक संबंधों के लगातार क्षय के कारण पैदा होने वाली पीड़ा और हताशा की भूमिका थी। जैसे-जैसे पूँजीवाद परिपक्व हुआ और उसे सामाजिक एकजुटता और संसक्ति के पहलुओं पर ध्यान देते हुए नये विनियमन और आचार-संहिताओं का निर्माण करना शुरू किया, टकराव की परिस्थितियाँ कम से कमतर होती चली गयीं। वर्ग-संघर्ष के संस्थानीकरण के तर्ज पर इस प्रक्रिया को टकराव का संस्थानीकरण कहा गया।

राजनीतिशास्त्र में लोकतंत्र के स्थायित्व के लिए जरूरी माना जाता है कि उसका बाकायदा संस्थानीकरण हो। वह विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और स्वतंत्र प्रेस के संस्थागत ढाँचे पर टिका हो। राजनीतिक दल, एनजीओ वगैरह भी लोकतंत्र के इसी संस्थागत ढाँचे के महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। इस संबंध में कई नये सिद्धांत विकसित हुए हैं जिन्हें न्यू इंस्टीट्यूशनलिज्म की संज्ञा दी जाती है। यह थियरी संस्थाओं की संरचना पर तो गौर करती ही है, साथ ही यह भी पता लगाती है कि उनमें निहित एजेंसी की अपनी गतिशीलता क्या है। यह दृष्टि मुख्यतः तीन प्रश्नों के उत्तर खोजने की चेष्टा करती है : पहला, आखिर वे कौन से तौर-तरीके हैं जिनके जरिये संस्थाओं की सक्रियता अपना रूप लेती है? दूसरा, उन्हें सामाजिक सक्रियता के मैदान में उतारने वाले एजेंटों पर संस्थाओं का क्या असर होता है? तीसरा, राजनीतिक प्रक्रिया पर संस्थाओं का प्रभाव कितना गहरा होता है?

देखें : उद्योगीकरण-1 और 2, घटनाक्रियाशास्त्र और ऐडमण्ड हसर, टैलकॉट पार्सस, पूँजीवाद, मिशेल पॉल फूको-1 और 2.

संदर्भ

1. टैलकॉट पार्सस (1951), *द सोशल सिस्टम*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन.
2. ओ.ई. विलियम्सन (1985), *द इकॉनॉमिक इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ कैपिटलिज्म* : फ़र्म्स, मार्केट्स, रिलेशनल कांट्रेक्टिंग, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. बी. गार्ड पीटर्स (1999), *इंस्टीट्यूशनल थियरी इन पॉलिटिकल साइंस* : द न्यू इंस्टीट्यूशनलिज्म, कंटीनुम, लंदन.
4. जेम्स मार्च और योहान पी. ओल्सन (1989), *रिडिस्कवरिंग इंस्टीट्यूशंस* : द ऑर्गनाइजेशनल बेसिस ऑफ़ पॉलिटिक्स, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

सांख्य दर्शन-1

(सत्कार्यवाद का सिद्धांत)

(Philosophy of Sankhya-1)

सांख्य दर्शन प्राचीनतम भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में से एक है। महाभारत, गीता, छांदोग्य, प्रश्न, कठ तथा विशेषतः श्वेताश्वतर जैसे उपनिषदों के अलावा स्मृतियों और पुराणों में भी इस दर्शन की चर्चाएँ मिलती हैं। इस दर्शन ने तर्कपूर्ण युक्तियुक्त चिंतन को महत्त्व दिया है। सांख्य दार्शनिकों ने तर्क और युक्ति के प्रति अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि ब्रह्माण्ड पदार्थ से बना है। प्रकृति विकास की प्रक्रिया में है और जीवन तथा शक्ति, विचार और चेतना पदार्थ की ही उपज हैं। इसके ज़रिये जगत व मनुष्य के अस्तित्व के रहस्यों को युक्ति और तर्क के आधार पर सुलझाने का पहली बार प्रयास किया गया। यह दर्शन सारतः अनीश्वरवादी था। इसने वेदों को मानने से इनकार कर दिया और ब्राह्मणवादी परम्पराओं से स्वतंत्र रहा। यह अलग बात है कि आगे चलकर ब्राह्मणवादी विचारकों ने इसकी मूलभूत कुछ अवधारणाओं में उलट-फेर करके इसे परम्परानिष्ठ आदर्शवादी विचार बना दिया। लेकिन इस चिंतन की संरचना कुछ इस तरह की है कि इसमें से वेदों और स्मृति-तत्त्वों को निकाल देने पर भी कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

ब्रह्मसूत्र या वेदांतसूत्र के रचयिता बादरायण और शंकराचार्य जैसे सरीखे भाष्यकारों ने सांख्य दर्शन का ध्वंसात्मक खण्डन किया है। शंकराचार्य ने तो सांख्य को वेदांत के खिलाफ़ लड़ने वाला 'प्रधान मल्ल' कहा है। वे इसे द्वैतवादी होने की वजह से श्रुतिमूलक या उपनिषद्सम्मत मानने से इनकार करते हैं। इस बहस से सांख्य दर्शन के शंकराचार्य के ज़माने में प्रभाव का पता चलता है। वे नयी प्रस्थापनाएँ करना चाहते थे, इसलिए ज़रूरी था कि पहले से जमे हुए दर्शन का खण्डन किया जाता। एक सम्भावना यह भी व्यक्त की जाती है कि अपने आरम्भिक दिनों में सांख्य श्रुतिमूलक और ईश्वरवादी रहा होगा, लेकिन पश्चातकाल में आकर जैन और बौद्ध दर्शन के प्रभाव में अनीश्वरवादी और वस्तुवादी बन गया होगा। समझा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में आकर विज्ञान भिक्षु ने एक बार फिर सांख्य में ईश्वरवाद की स्थापना की। सांख्य दर्शन का प्रतिष्ठापक आचार्य कपिल और उनकी कृति *सांख्यप्रवचनसूत्र* को माना जाता है। लेकिन इस रचना को कुछ विद्वानों ने कपिल की कृति मानने से इनकार किया है। वे इसे चौदहवीं सदी की मानते हैं। शंकराचार्य तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने *सांख्यप्रवचनसूत्र* का न तो उल्लेख किया है और न उससे

कोई बात उद्धृत की है। निंदा और खण्डन के लिए भी नहीं। उसके स्थान पर ईश्वर कृष्ण रचित *सांख्यकारिका* से ही उद्धरण दिये गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी *सांख्यकारिका* पर अपनी प्रसिद्ध *सांख्यतत्त्वकौमुदी* टीका लिखी है। स्वयं ईश्वर कृष्ण ने कपिल, आसुरी तथा पंचशिख का प्राचीन सांख्याचार्यों के रूप में उल्लेख किया है। कपिल मुनि का काल बुद्ध से पूर्व का है। उन्होंने जिस *सांख्यप्रवचनसूत्र* की रचना की होगी वह दुर्भाग्यवश बहुत पहले ही विलुप्त हो गया होगा। *भागवत पुराण* में कपिल मुनि के दर्शन का प्रतिपादन है।

सांख्य से तात्पर्य है संख्या से संबंध रखने वाला दर्शन और संख्या का प्रचलित अर्थ है गणना या गिनती। इस दर्शन में सबसे पहले तत्त्वों की संख्या पच्चीस बतायी गयी। इसलिए इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा। कुछ लोग सांख्य से तात्पर्य सम्यक ज्ञान से मानते हैं, जिसका प्राचीन और आध्यात्मिक अर्थ है। यह दर्शन प्रकृति तथा पुरुष को भिन्न और स्वतंत्र मानता है तथा इस संसार में इनका अविवेक या अज्ञान हमेशा बना रहता है। प्रकृति और पुरुष परस्पर घुले-मिले होते हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इस दर्शन के मुताबिक संसार की यही दशा है। इनका पार्थक्य होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जब प्रकृति और पुरुष का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो जीव को क्लेशों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार इस दर्शन में संख्या और सम्यक ज्ञान का संयुक्त प्रतिष्ठापन है।

सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं। इन दुःखों का स्थाई नाश भी किया जा सकता है। इसके लिए इस दर्शन में सत्कार्यवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इसे कार्य और कारण का समेकन करने वाले सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है। वैदिक पुरोहितों का कहना था कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है जिसे बलि संबंधी कर्मकाण्ड के ज़रिये प्राप्त किया जा सकता है। सांख्य दर्शन ने अंधविश्वास कह कर इसकी आलोचना की और कहा कि यज्ञ हिंसा पर आधारित होने के कारण अपवित्र है। जीवों की हत्या के बिना यज्ञ पूरे नहीं किये जा सकते इसलिए उनसे दुःखों के छुटकारे का उपाय नहीं निकल सकता। सांख्य दर्शन कहता है कि दुःख और पीड़ा से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय अविकसित पदार्थ, विकसित ब्रह्मांड और ज्ञाता के बारे में विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण के बिना कार्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती। किसी भी वस्तु के अस्तित्व का एक कारण होता है। शून्य से कोई वस्तु पैदा नहीं हो सकती। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक व्यापार एवं घटनाओं का कोई कारण होता है और प्रत्येक कारण अपना कारण उत्पन्न करता है। प्रभाव

और कारण परस्पर अभिन्न रूप से सम्बद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि कारण में प्रभाव पहले से मौजूद रहता है। यह प्रभाव ठीक वैसे ही रहता है जैसे तिल का तेल तिल के बीजों में ही निहित है।

सत्कार्यवाद समस्त जगत को कार्य और कारण की लम्बी शृंखला मानता है। उसके हिसाब से कारण की प्रक्रिया स्वतः प्रकृति में अंतर्निहित है। इस जगत की समस्त वस्तुएँ यहाँ तक कि शरीर और मस्तिष्क, बुद्धि और इंद्रियाँ भी प्रकृति के रूपांतरण का परिणाम हैं। पूरे ब्रह्माण्ड की रचना प्रकृति से हुई है और प्रकृति ही आद्य पदार्थ है, जिससे पूरा सृजन हुआ है। परंतु परम प्रकृति का कोई मूल नहीं है। न ही स्वयं वह किसी रूपांतरण का परिणाम है। अस्तित्वपूर्ण से ही अस्तित्व का जन्म होता है। जो अस्तित्वहीन है उसे किसी भी उपाय से अस्तित्व में नहीं लाया जा सकता। धानों को कूटने से पहले उनमें चावल मौजूद रहते हैं, दुहने से पहले थनों में दूध मौजूद रहता है। इस प्रकार एक ऐसा कारण, जिसे पहचान पाना कठिन है, शाश्वत और सर्वव्यापी प्रकृति है जो अनंतकाल से अस्तित्व में है। किसी कछुए की भाँति ही वह अपने अंगों को बाहर निकालती है और उन्हें फिर समेट लेती है। प्रलय या निष्पत्ति के समय समस्त तत्त्व अंदर खींच लिए जाते हैं अर्थात् प्रकृति में वापस चले जाते हैं। प्रकृति या आद्य पदार्थ शाश्वत, अकारण, सर्वव्यापक और स्वतंत्र है। वह देखने वाले से स्वतंत्र है।

न्याय दर्शन मानता है कि चाक, डोरी, आदि की सहायता से कुम्हार मिट्टी के भीतर से 'घड़ा' नामक एक अपूर्व द्रव्य पैदा करता है, इसलिए घड़े की 'उत्पत्ति' होती है। सांख्य मत का मानना है कि मिट्टी में पूर्व-स्थित घड़े की अभिव्यक्ति कुम्हार के प्रयत्न से होती है। उसके प्रयत्न से पहले भी घड़ा उस मिट्टी के लोंदे में मौजूद था और प्रयत्न ने उसे केवल प्रकट कर दिया। सांख्य के इस विचार को सत्कार्यवाद के रूप में जाना जाता है। कुम्हार द्वारा दण्ड की सहायता से मिट्टी का घड़ा बनाने या घड़ा उत्पन्न होने से पहले वह मिट्टी में विद्यमान था या नहीं? न्याय-वैशेषिक के विद्वानों का इस मामले में उत्तर नकारात्मक है अर्थात् घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं था बल्कि सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है और घड़ा नवीन वस्तु होता है। यदि वह पहले से ही विद्यमान होता तो कुम्हार को मेहनत करने और चाक घुमाने की क्या ज़रूरत होती तथा घड़े की उत्पत्ति के क्या मायने रह जाते। यदि कार्य पहले से ही कारण में मौजूद रहता तो कार्य और कारण में भेद नहीं रहता। मिट्टी और घड़े दोनों का एक ही नाम होता। मिट्टी का लोंदा घड़े का काम करता। घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही काम हम मिट्टी के लोंदे से कर सकते हैं? इसलिए मिट्टी का घड़ा आकार तथा तात्पर्य दोनों में ही भिन्न है। घड़ा एक नयी

चीज़ है, जो मिट्टी में कभी भी विद्यमान नहीं था। घड़ा दण्ड, चाक आदि कारणों यानी सामग्री की सहायता से उत्पन्न एक नयी वस्तु है। नैयायिकों का यह मत असत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है। यह सिद्धांत प्रतिपादित करता है कि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान नहीं होता। कुम्हार के प्रयत्न द्वारा घड़ा नाम की एक नयी वस्तु की उत्पत्ति हुई। वह पहले मौजूद नहीं था। किंतु सांख्य दर्शन का इससे भिन्न मत है। अपने मत के समर्थन में सांख्यकारिका में कई युक्तियाँ मिलती हैं।

पहली युक्ति है असत्कारणात् अर्थात् यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान न हो तो, वह असत् होगा। असत् होने से वह शशशृंग तथा आकाश कुसुम के समान होगा यानी असत् की उत्पत्ति किसी प्रकार कभी नहीं हो सकती। मिट्टी में पहले से मौजूद था, नहीं तो लाख कोशिश करने पर भी घड़ा उत्पन्न नहीं हो पाता। वह उत्पन्न होता है, यही प्रमाण है कि वह मिट्टी में मौजूद है। दूसरी युक्ति है उपादानग्रहणात् अर्थात् प्रत्येक कार्य अपने उपादानकारण या समवायीकरण से सम्बद्ध रहता है और इसलिए उससे उसकी उत्पत्ति होती है। उपादानकारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। उपादान से तात्पर्य है द्रव्य की निष्पादक वस्तु, जैसे घड़े के लिए मिट्टी तथा वस्त्र के लिए तंतु उपादान है। घड़े बनाने के लिए मिट्टी का प्रयोग होता है, तेल के लिए सरसों या तिल का प्रयोग तथा वस्तु की बुनाई तंतु से की जाती है। किसी कार्य के वास्ते किसी विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है। तीसरी युक्ति है सर्वसम्भवात् अर्थात् कार्य की उत्पत्ति-पूर्व को भी उपादानकारण में मौजूद मानना पड़ेगा। अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो किसी भी कारण या सामग्री से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव माननी पड़ेगी जो कि असम्भव है। अगर हम मिट्टी में घड़े या तंतु में वस्त्र की पूर्व-स्थिति नहीं मानते, तो सबसे सब चीज़ें पैदा होने लगेंगी। मिट्टी से कपड़ा और कंबल भी तैयार होने लगेगा। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति दिखाई नहीं पड़ती। अतः कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाठ, भागवत पुराण, महाभारत, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), हमारी परम्परा, सस्ता साहित्य

मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

2. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनु. जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. सर्वपल्ली राधाकृष्ण (2012), *भारतीय दर्शन (दो भाग)*, अन. नंदकिशोर गोभिल, राजपाल एंड संज, दिल्ली।
4. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

— अजय कुमार पाण्डेय

सांख्य दर्शन-2

(भाग्य, अलौकिकता और ईश्वर से मुक्त)

(Philosophy of Sankhya-2)

चौथी युक्ति है शक्तस्य शक्य कारणात् अर्थात् शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उस कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो कार्य बीजरूप से जिस कारण में मौजूद होता, वही कारण उसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। तिलों को पेरने से तेल ही निकलता है, घी नहीं। इसका कारण यह है कि कार्य तथा कारण के बीच एक प्रकार की शक्ति का निवास है। कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान होता है। यही कारण है कि शक्त पदार्थ शक्य वस्तु को ही उत्पन्न करता है। जुलाहा कपड़ा बुनने के लिए तंतु को ही ग्रहण करता है। क्योंकि वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को ही पैदा करने की शक्ति होती है, दूसरे को नहीं। तिलहन से तेल ही निकलता है। लाख कोशिश के बाद भी उससे घी नहीं निकलता। मिट्टी से घड़ा ही बनेगा, लौहपात्र नहीं। ये उदाहरण इस बात के पुख्ता प्रमाण हैं कि कार्य तथा कारण परस्पर सम्बद्ध पदार्थ हैं तथा उत्पन्न होने के पूर्व भी कार्य कारण में अवश्य ही विद्यमान रहता है। पाँचवीं युक्ति है कारण भावात् अर्थात् कार्य और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है तथा कार्य कारण का व्यक्त रूप है। कारण का जो स्वभाव होता है वही कार्य का भी स्वभाव होता है। स्निग्ध स्वभाव वाले तिलों से स्निग्ध तेल उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घड़ा मिट्टी के स्वभाव वाला होता है। इस तरह से कार्य और कारण में स्वभाव की एकता बनी रहती है। यदि असत् स्वभाव वाला कार्य है तो वह असत् स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न होता है। परंतु कार्य तो सत्स्वभाव वाला ही होता है, क्योंकि वह तो विद्यमान ही है। फलतः वह सत्स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न होता है।

इस प्रकार सत्यकार्यवाद युक्तियुक्त सिद्धांत साबित होता है।

सांख्य दर्शन ने इस ब्रह्माण्ड और उत्पत्ति का मूल कारण शाश्वत रूप से मौजूद, अकारण और सर्वव्यापक पदार्थ को बताया है। इस तरह से उसकी मान्यता बनती है कि संसार की निर्मित के लिए किसी अन्य निर्माणक की कोई आवश्यकता नहीं। इस जगत का क्रमिक विकास प्रकृति अथवा प्रधान तत्त्व से हुआ जो बोधहीन और संवेदनाहीन है, अविकसित और अरूप है। इस ब्रह्माण्ड और विविध-व्यापारों की उत्पत्ति आद्य कारण से विकसित प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, नाद, स्पर्श, रंग, स्वाद, गंध, आँख, कान, जिह्वा, नासिका, त्वचा, बोलने की इंद्रिय, हाथ, पैर, गुदा, जननेंद्रिय, मनस्, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और पुरुष जैसे पच्चीस तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल स्वरूप हुई।

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् के परस्पर निर्भर तीन गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम प्रकृति में निहित है। विकास की प्रक्रिया में एक या दूसरा गुण विभिन्न वस्तुओं में प्रचुरता ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि वस्तुओं के इतने अनंत भेद हैं। विकास इन्हीं गुणों की सक्रियता एवं असंतुलन का परिणाम है। गुणों में परिवर्तन होने से प्रकृति में भी परिवर्तन होते हैं। इन तीनों गुणों की क्रियाएँ और अंतःक्रियाएँ अविकसित पदार्थ के विकास और उससे उत्पन्न वस्तुओं के लिए अनिवार्य शर्त है। प्रकृति से जो प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुई उसमें विभिन्न अनुपातों में ये तीन गुण मौजूद हैं। यही कारण है कि वस्तुओं में इतनी विविधता है। इसके साथ ही गुणात्मक रूप से भिन्न समस्त वस्तुओं और घटनाओं में एक सामान्य तत्त्व मौजूद रहता है, जिसे पदार्थ कहा जाता है।

सांख्य विचारकों का मत है कि तत्त्व, ज्ञानेंद्रियाँ, मन, अहंकार और बुद्धि इन सबका भी जन्म पदार्थ से हुआ है। सिर्फ अपवाद स्वरूप पुरुष ही पदार्थ से स्वतंत्र और शाश्वत है फिर भी पार्थिव शरीर द्वारा पदार्थ से सम्बद्ध है। पुरुष से तात्पर्य महज एक आत्मा न हो कर इस संसार में विभिन्न गुणों और व्यक्तित्वों वाले व्यक्तियों से है जिनकी आत्माएँ किसी सर्वव्यापक आत्मा का अंश न होकर अलग-अलग हैं। प्रकृति और पुरुष के बीच क्रिया और प्रतिक्रिया की अनवरत प्रक्रिया जारी रहने के बावजूद भी पुरुष सक्रिय नहीं है। मूल रूप से आद्य कारण प्रकृति ही है, जिससे हर वस्तु का विकास हुआ है। कुछ लोग द्वैतवादी दार्शनिक प्रणाली के अनुसार जगत की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष के समागम से मानते हैं किंतु यह विचार सांख्य दर्शन के विपरीत है।

कपिल का स्पष्ट मानना है कि संसार की उत्पत्ति का आत्मा से कोई संबंध नहीं है। भौतिक विकास की एक विशिष्ट दशा में ही मनुष्य का उद्भव हुआ। पंच महाभूतों, पाँच सूक्ष्म तत्त्वों, मनस्, बुद्धि, अहंकार और अव्यक्त के योग से ही मनुष्य का निर्माण हुआ। कर्म, ज्ञान, सुख और दुःख

इस सम्मिश्रण के अंतर्गत आते हैं। मनुष्य केवल इस जीवन में ही सुख-दुख, आनंद और पीड़ा का अनुभव कर सकता है। मानसिक-शारीरिक तत्त्वों के इस सम्मिश्रण में ही चेतना का अस्तित्व हो सकता है। आत्मा का शरीर से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। उसमें ज्ञान की संज्ञा केवल तब जागती है जब बोध-इंद्रियों से उसका सम्पर्क होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य तीन मूलभूत संघटकों से निर्मित है : दस बाह्य और तीन आंतरिक इंद्रियाँ तन्मात्राओं सहित अनुभवाश्रित मनुष्य के भौतिक अधोस्तर का उसकी 'भौतिक-आत्मा' लिंग का (जिसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जाता है) निर्माण करती हैं। यह सूक्ष्म-शरीर, अथवा लिंग ही व्यक्ति का आध्यात्मिक, मानसिक यंत्र होता है, इसमें मस्तिष्क, अहंकार, बुद्धि और पाँच सूक्ष्म-तत्त्व शामिल होते हैं। जिस प्रकार बिना अधोस्तर के कोई चित्र नहीं हो सकता, जिस प्रकार बिना वस्तु के उसकी परछाई नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक स्थूल शरीर के अभाव में सूक्ष्म शरीर अनुभव करने में अक्षम होता है। वह केवल शरीर में निवास कर सकता है।

यहाँ लिंग शब्द इच्छा शक्ति का, 'मैं' सिद्धांत का तथा प्रारम्भिक तत्त्वों का, द्योतक है क्योंकि वे ही ज्ञान अर्जित करने के साधन हैं और वे बिना किसी अधोस्तर के टिक नहीं सकते। केवल भौतिक जगत ही विचार को तत्त्व प्रदान करता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दिक प्रमाण— ये ज्ञान के तीन स्रोत हैं। इन तीनों प्रमाणों द्वारा पुष्टि के बाद ही कपिल किसी वस्तु के अस्तित्व को मान्य करते हैं। बाह्य या ईश्वर संबंधी विचारों को प्रत्यक्ष, अनुमिति और न ही विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर साबित नहीं किया जा सकता है, इसलिए कपिल की दृष्टि में ये अमान्य थे। सांख्यकारिका के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उस समय होता है जब दस बाह्य इंद्रियाँ उस वस्तु के बारे में अपनी अनुभूति को तीन आंतरिक इंद्रियों— मनस्, अहंकार और बुद्धि में संचारित करती हैं। अर्थात् बाह्य इंद्रियाँ जब आंतरिक इंद्रियों को संवेदनात्मक सामग्री प्रदान करती हैं केवल तभी वे सक्रिय होती हैं। ज्ञान यथार्थ, वस्तुगत, पार्थिव जगत से प्रभावित होता है।

सांख्य दर्शन वस्तुवाद और द्वितत्त्ववाद का प्रतिपादन करता है। यह प्रकृति और पुरुष— इन दो तत्त्वों के सहारे जगत के उत्पादन का दावा करता है। उसके अनुसार सारा संसार इन्हीं दो का खेल है। एक तरफ प्रकृति है, जो भौतिक जगत का मूल कारण है। यह प्रकृति संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। यह सक्रिय और निरंतर परिवर्तनशील होती है परंतु साथ ही यह अचेतन या जड़ है। इस तरह के अचेतन तत्त्व से नियंत्रित श्रृंखलापूर्ण जगत का विकास कैसे होता है? वह निश्चित ध्येय की तरफ कैसे बढ़ता है? जब आदि में प्रकृति साम्यावस्था में थी तब फिर पहले-पहल उसमें विकार या क्षोभ क्यों उत्पन्न हुआ? इसके निमित्त सांख्य दूसरे तत्त्व का

आश्रय लेता है, पुरुष या आत्मा। पुरुष शुद्ध चैतन्य-रूप आत्मा है जो नित्य और विकारी है। वह चेतन होता है परंतु साथ ही निष्क्रिय और अपरिणामी भी। इन्हीं चेतन पुरुषों के सम्पर्क से जड़ प्रकृति संसार की सृष्टि करती है।

सांख्य का कहना है कि पुरुष सन्निधि या सामीप्य मात्र से प्रकृति में क्रिया-प्रवर्तन हो जाता है। परंतु पुरुष की केवल सन्निधि मात्र से प्रकृति में क्यों विकार होने लगते हैं और पुरुष में क्यों नहीं विकार होता, इसका स्पष्ट समाधान नहीं मिलता। फिर यह प्रश्न भी उठता है कि अगर चैतन्य निराकार होता है तो निराकार चैतन्य की परछाई साकार बुद्धि पर कैसे पड़ती है? बुद्धि तो जड़ तत्त्व है, फिर उसमें ज्ञान का उदय कैसे हो जाता है? इन बातों को समझने के लिए सांख्य में जो दृष्टांत दिये गये हैं उनसे पूरा समाधान नहीं होता है। एक शंका यह भी है कि जीवों के गुण, क्रिया, जन्म, मरण और आकृति-प्रकृति के भेद से पुरुषों का अनेकत्व सिद्ध किया जाता है। परंतु ये सब शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। जो विभेद देखने में आते हैं वे प्रकृति के हैं, शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुष के नहीं। फिर उनके बल पर बहुपुरुषवाद की स्थापना कैसे की जा सकती है। व्यावहारिक जगत में जिन्हें भिन्न-भिन्न पुरुष समझते हैं वे भिन्न-भिन्न अहंकार मात्र कहे जा सकते हैं। तब पुरुष का अर्थ देह में समाया चैतन्य या एक व्यक्ति भी लिया जा सकता है। महाभारत में सेश्वर सांख्य की परम्परा बतायी गयी है। इसके आधार पर कारिका-पूर्व सांख्य तथा कारिका-पश्चात् सांख्य के दो प्रस्थान सांख्य माने गये हैं। बावजूद इसके सांख्य दर्शन का भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में अपना एक अलग महत्त्व इस बात में है कि इसके दार्शनिक सिद्धांत भाग्य, अलौकिकता, और ईश्वर की अवधारणा से पूर्णतः मुक्त हैं। सांख्य के तहत दर्शन को एक तर्क-संगत भौतिकवादी आधार पर विकसित करने का प्रयास किया गया है।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाठ, भागवत पुराण, महाभारत, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), हमारी परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. के. दामोदरन (2001), भारतीय चिंतन परम्परा, अनु. जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

3. सर्वपल्ली राधाकृष्ण (2012), *भारतीय दर्शन (दो भाग)*, अनु. नंदकिशोर गोभिल, राजपाल एंड संज, दिल्ली.
4. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

सांस्कृतिक पूँजी

(Cultural Capital)

सांस्कृतिक पूँजी को एक भौतिक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करके सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा का विकास करने का श्रेय फ्रांसीसी चिंतक पियरे बोर्दियो को है। साठ के दशक में नव-माक्सवादी सोच के दायरे में काम करते हुए बोर्दियो ने वर्ग-रचना की प्रक्रिया में सामाजिक पूँजी के साथ-साथ सांस्कृतिक ज्ञान और अभिरुचियों की भूमिका की भी जाँच-पड़ताल की। अपने साथी विद्वान ज्यॉन्-क्लॉड पासरसन के साथ उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न पीढ़ियों के बीच सत्ता और विशेष सुविधाओं का हस्तांतरण सांस्कृतिक पूँजी के रूप में होता है। बोर्दियो ने यह अवधारणा पूँजीपति वर्ग पर ही लागू नहीं की, बल्कि मध्य और उच्च वर्ग के बीच सत्ता और हैसियत के वितरण को भी इसी के जरिये समझने की कोशिश की। सांस्कृतिक पूँजी के प्रभाव को रेखांकित करने के लिए उन्होंने समाजशास्त्र की क्लासिक तकनीक का इस्तेमाल करते हुए बड़े पैमाने के सामाजिक सर्वेक्षण किये। हालाँकि उन दिनों फ्रांसीसी गणराज्य में मैरिट संबंधी मूल्य प्रचलित थे, पर बोर्दियो ने तर्क दिया कि जिन लोगों के पास पहले से ही सुविधासम्पन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि होती है वे कथित रूप से योग्यता आधारित शिक्षा प्रणाली का लाभ उठाने के मामले में फायदे में रहते हैं। शिक्षा और घरेलू पृष्ठभूमि का मिला-जुला प्रभाव उनके लिए कुछ ऐसी अभिरुचियों और प्राथमिकताओं के विकास में सहायक होता है जिनके आधार पर 'मँझोले स्तर' की या 'मजदूर-वर्गीय' के बरक्स एक तरह की 'वैध सांस्कृतिक' परिभाषित होती है। यह सांस्कृतिक पूँजी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती है। इसके आधार पर आर्थिक लाभ भी प्राप्त होता है। हालाँकि इन उच्चस्तरीय सांस्कृतिक अभिरुचियों की रचना सामाजिक रूप से होती है, पर वर्ग-व्यवस्था के प्रभाव में इन्हें कुछ विशेष वर्गों के लिए नैसर्गिक गुणों की तरह देखा जाता है।

बोर्दियो के इस प्रतिपादन से पहले समाजशास्त्री एमील

दुर्खाइम अपने अवलोकनों के जरिये सामाजिक पूँजी की अवधारणा के सूत्रीकरण के लिए रास्ता साफ़ कर चुके थे। उन्होंने मैकेनिकल और ऑर्गनिक सामाजिक एकजुटता की व्याख्या की थी। इसी विचार को बोर्दियो भिन्न दिशा में ले गये और इसके आधार पर समाज में सामाजिक-आर्थिक गैर-बराबरी के पुनरुत्पादन की व्याख्या की। बोर्दियो ने अपने साथी लोइक वाकाँ के साथ प्रकाशित रचना में लिखा कि सामाजिक पूँजी ऐसे वास्तविक और निराकार संसाधनों का योगफल है जो किसी व्यक्ति या समूह को किसी सामाजिक नेटवर्क की सदस्यता की बदौलत हासिल होते हैं। ये नेटवर्क आपसी जान-पहचान के कमोबेश संस्थागत रूप ले चुके संबंधों के जरिये टिके रहते हैं। व्यक्ति अपनी सामाजिक पूँजी के आधार पर हासिल की गयी उस सामाजिक-आर्थिक हैसियत को अगली पीढ़ी के हवाले कर पाता है जो उसने प्रभावशाली परिजनों, महँगे स्कूलों में पढ़ने वाले अपने सहपाठियों और किसी खास क्लब के साथी सदस्यों की सोहबत के बदौलत हासिल की होती है। इस सामाजिक पूँजी को लगातार प्रासंगिक और प्रभावी रखने के लिए व्यक्ति आपसी मेल-जोल में अपने समय का योजनाबद्ध निवेश करता है।

सामाजिक पूँजी से सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा निकाल लेना सांस्कृतिक संबंधी चिंतन के संदर्भ में एक रैडिकल उपलब्धि थी। क्ररीब सौ साल पहले अंग्रेज़ शिक्षाशास्त्री और लेखक मैथ्यू अरनॉल्ड अपनी रचना *क्लचर एंड एनार्की* (1869) में तर्क दे चुके थे कि तेज़गति से हो रहे उद्योगीकरण, शहरीकरण और जन-साधारण द्वारा नागरिक अधिकारों की माँग से पैदा हुई बेचैनियों का निवारण सौंदर्यमूलक सांस्कृतिक के उच्चतम रूपों के प्रचार-प्रसार से ही किया जा सकता है। अरनॉल्ड ने सुशिक्षित अभिजनों पर ज़िम्मेदारी डाली थी कि वे सामाजिक उथल-पुथल को शांत करने के लिए लोगों को सभ्य बनाने की मुहिम पर निकल जाएँ और इसके लिए सांस्कृतिक अभिरुचियों के विकास को औज़ार की तरह इस्तेमाल किया जाए। इस स्थापित विचार के मुकाबले बोर्दियो का सूत्रीकरण बताता था कि सौंदर्यमूलक उपलब्धियाँ अपने-आप में स्वयं-सिद्ध न हो कर वर्ग-संघर्ष का प्रत्यक्ष फलितार्थ होती हैं। लेकिन वर्ग-व्यवस्था इस हकीकत को छिपा कर उन्हें एक तटस्थ क्रिस्म की नैसर्गिक खूबी और योग्यता का जामा पहना देती है।

बोर्दियो ने दिखाया कि बाख के संगीत और उत्तर-अनुभववादी कला का आनंद लेने की क्षमता या स्कीइंग का मजा लेने की खूबी अपने-आप में किसी नैसर्गिक श्रेष्ठता का द्योतक नहीं है, बल्कि ये तमाम बातों को संकेतक की तरह इस्तेमाल करने के जरिये एक खास तरह का सामाजिक समूह अपनी आंतरिक एकजुटता और दूसरे समूहों पर अपना रुतबा क़ायम रखता है। यह प्रक्रिया न केवल वर्गों के बीच चलती

है, बल्कि वर्गों के भीतर भी चलती है। महँगे अभिजन स्कूलों में पढ़े उच्चवर्गीय लोग हमेशा बाख का क्लासिकल संगीत सुनना-सुनाना पसंद करेंगे, जबकि अच्छी शिक्षा से वंचित रहने वाले मजदूर वर्ग की संगीत संबंधी अभिरुचियाँ अपेक्षाकृत भदेस क्रिस्म की होंगी।

बोर्दियो ने अपना फ्रील्ड-वर्क साठ के दशक में किया था। वे यह मान कर चले थे कि उच्च-भ्रू पूँजीवादी संस्कृति की श्रेष्ठता का विचार काफ़ी टिकाऊ साबित होगा। लेकिन उनकी यह पूर्वधारणा सही नहीं निकली। बीसवीं सदी में ही बाद के वर्षों के दौरान बेहद बहुलतावादी लोकप्रिय संस्कृति के परिदृश्य का विकास हुआ। एक अपेक्षाकृत खुले बाज़ार में संस्कृति का उद्योग उभरा जिसके तहत भिन्न क्रिस्म की सांस्कृतिक अभिरुचियाँ सभी के लिए उपलब्ध होने लगीं। दरअसल इस नये नज़ारे ने अभिरुचियों का सवाल अस्पष्ट कर दिया। हर वर्ग से आने वाले युवजन तरह-तरह की सांस्कृतिक अस्मिताओं के साथ प्रयोगरत हो गये। इससे उच्च-भ्रू और निम्न संस्कृति के रूपों के बीच वर्गीय फ़ासले की धारणा पहले की तरह वैध नहीं रह गयी। बोर्दियो के सूत्रीकरण की दूसरी समस्या यह थी कि उन्होंने मजदूर वर्ग को सांस्कृतिक रूप से निष्क्रिय भी मान लिया था। कुछ समकालीन समाजशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि वर्ग को समाज व्यवस्था का आधार मानने का मार्क्सवादी विचार अब पुराना पड़ चुका है। चूँकि बोर्दियो की अवधारणा इसी पर टिकी है, इसलिए उनकी प्रस्थापनाओं की दोबारा जाँच की जानी चाहिए।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद बोर्दियो द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक पूँजी का सिद्धांत आज भी समाज-विज्ञान के हलकों में प्रभावी बना हुआ है। हालाँकि बोर्दियो ने अपने विश्लेषण में जेंडर के प्रश्न को नज़रअंदाज़ कर दिया था, पर नारीवादी विद्वानों ने उनकी अंतर्दृष्टियों का लाभ उठाते हुए उस सांस्कृतिक पूँजी को रेखांकित करने का प्रयास किया है जिसके कारण पितृसत्ता को अपना पुनरुत्पादन करने में आसानी होती है। सत्तर और अस्सी के दशकों में शिक्षा के समाजशास्त्र पर बोर्दियो के विचारों का काफ़ी असर रहा। कई समाजशास्त्री आज भी मानते हैं कि संस्कृति को एक भौतिक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करने की अहमियत अभी ख़त्म नहीं हुई है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. पियरे बोर्दियो (1986), *डिस्टिक्शन : अ सोशल क्रिटीक ऑफ़ द जजमेंट ऑफ़ टेस्ट, रॉटलेज, लंदन.*
2. पियरे बोर्दियो और ज्याँ-क्लॉद पासरसन (1973), *रिप्रोडक्शन इन एजुकेशन, सोसाइटी ऐंड कल्चर, सेज, लंदन.*
3. जेरेमी एफ़. लेन (2000), *पिएर बोर्दियो : अ क्रिटीकल इंट्रोडक्शन, प्लूटो प्रेस, लंदन.*
4. डेरेक रोबिंस (2000), *बोर्दियो ऐंड कल्चर, सेज, लंदन.*
5. पियरे बोर्दियो और लोइक वाकाँ (1992), *ऐन इन्विटेशन टू रिफ्लेक्सिव सोसियोलॉजी, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.*

— अभय कुमार दुबे

सांस्कृतिक मानवशास्त्र

(Cultural Anthropology)

मानवशास्त्र समाज-विज्ञान की एक विवादास्पद विधा रही है। आम तौर पर समझा जाता रहा है कि मानवशास्त्रियों का काम 'अन्य' संस्कृतियों का अध्ययन करना है। शुरुआती दौर में इस अनुशासन के तहत युरोपीय अनुसंधानकर्ता ग़ैर-युरोपियन संस्कृतियों को पिछड़ा, आदिम, बर्बर और असभ्य मान कर उनके बीच फ्रील्ड-वर्क किया करते थे। ज्ञान की इस राजनीति से युरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के राजनीतिक एजेंडे को बल मिलता था। यह बौद्धिक कारगुजारी दो रूपों में चलती थी। जैविक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र के रूप में। जैविक मानवशास्त्र का सरोकार मानवीय स्वरूप में आने वाले परिवर्तनों का पता लगा कर उन्हें निहायत सरलीकृत क्रम-विकासीय संदर्भों में समझना था ताकि उस समझ को श्वेत युरोपियनों की अन्य नस्लों पर श्रेष्ठता साबित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सके। आज मानवशास्त्र की यह शाखा अपने इन गहि़त उद्देश्यों से काफ़ी-कुछ मुक्त हो कर मानवों की प्रजातीय विविधता पर ज़ोर देने लगी है। मानवशास्त्र की दूसरी शाखा की दिलचस्पी मानव समाज के सांस्कृतिक आयामों की जाँच-पड़ताल करने में थी। इसके तहत भी सफ़ेद चमड़ी के युरोपीय मानवशास्त्री अन्य संस्कृतियों का अध्ययन प्रगति के विचार की रोशनी में करते थे। उनकी निगाह में संस्कृति का विचार मुख्यतः एकवचनात्मक था। आज सांस्कृतिक मानवशास्त्र का यह रवैया बदल चुका है। यह अनुशासन मानवीय संस्कृति को विविधतामूलक मान कर चलता है। उसकी मान्यता है कि क्रिस्म-क्रिस्म की मानव संस्कृतियाँ

अत्यंत जटिल और वैध संरचनाओं से सम्पन्न होती हैं।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में मानवशास्त्र की युरोकेंद्रीयता को चुनौती मिलनी शुरू हुई। जर्मन मानवशास्त्री एडोल्फ़ बास्टियन ने समग्र मानवता की मनोगत एकता का दावा करके युरोपीय अभिजनों की जीवन-शैली और उपलब्धियों को संस्कृति का आदर्श मॉडल मानने से इनकार कर दिया। 1874 में ब्रिटिश मानवशास्त्री एडवर्ड टायलर ने संस्कृति की उस समय तक की सर्वाधिक समावेशी व्याख्या की। फ्रेंज़ बोआस ने टायलर से सकारात्मक प्रभाव तो लिए ही, साथ ही सांस्कृतिक क्रम-विकास की उस प्रवृत्ति की आलोचना भी की जिसके आधार पर टायलर और लुइस हेनरी मोर्गन जैसे मानवशास्त्रियों ने अपने निष्कर्ष निकाले थे। बोआस के नेतृत्व में अमेरिकी मानवशास्त्रियों ने इस अनुशासन को नीचे से ऊपर तक बदल डाला। 1896 में बोआस के ही प्रयासों से कोलम्बिया विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र का स्नातक पाठ्यक्रम शुरू हुआ। इससे पहले मानवशास्त्री रवैया समाज का अध्ययन करने के लिए उसे बर्बरता से सभ्यता के बीच के चरणों में बाँट कर देखता था। बोआस ने अपने अध्ययनों के ज़रिये दिखाया कि यह रवैया पद्धति और सिद्धांत के तौर पर बुनियादी रूप से ग़लत है। उन्होंने संस्कृति के किसी एकक और सार्वभौम मॉडल की रचना को नामुमकिन मान कर सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सिद्धांत के लिए रास्ता साफ़ किया। उन्होंने अपने छात्रों को विभिन्न समाजों में सहभागी प्रेक्षक के तौर पर जम कर काम करने का प्रशिक्षण दिया। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र अमेरिकन इण्डियनों के बीच फ़ील्डवर्क करते हुए तर्क विकसित किया कि संस्कृति को जैविकी या किसी सांकेतिक विचार (जैसे भाषा) में नहीं घटाया जा सकता। संस्कृति को किसी 'चीज़' की तरह समझने के बजाय बोआस और उनके शिष्यों ने किसी संज्ञा के बजाय विशेषण की तरह ग्रहण करने पर जोर दिया। बोआस का कहना था कि जिस समाज का अध्ययन किया जाए, उसके बारीक से बारीक तथ्यों का वर्णन किया जाना चाहिए। उस समाज की रोज़ाना की जिंदगी की कोई भी बारीकी शोधकर्ता के फ़ील्ड वर्क से छूटनी नहीं चाहिए।

अगर अमेरिका में मानवशास्त्र को एक सम्मानित समाज-विज्ञान बनाने की मुहिम चलाते हुए बोआस ने उसके पद्धतिमूलक और आनुभविक पहलुओं को मज़बूत किया, तो फ़्रांस में समाजशास्त्री एमिल दुर्खाइम के भांजे और शिष्य मारसेल मॉज़ ने मानवशास्त्र में तुलनात्मक दृष्टिकोण का योगदान करके उसे मानकीय रूप से समृद्ध किया। मॉज़ ने दूसरे शोधकर्ताओं द्वारा कई तरह के प्राक्-औद्योगिक और लघु समाजों के बारे में जमा किये गये तथ्यों की मदद से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के समान प्रारूपों की

पहचान करने की कोशिश की। अपनी रचना 'द गिफ्ट' में उन्होंने दिखाया कि तोहफ़े का लेन-देन एक पारस्परिक नैतिक दायित्व की अनुभूति पैदा करता है। यह दायित्व आर्थिक, विधिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों को अर्थात् पूरे समाज को प्रभावित करता है। इस लिहाज़ से तोहफ़ा अपने आप में एक सम्पूर्ण 'सामाजिक तथ्य' है।

फ्रेंज़ बोआस के दो शिष्यों रुथ बेनेडिक्ट और मार्गरेट मीड ने एक विशिष्ट सांस्कृतिक विन्यास के दायरे में सम्भव व्यक्ति की रचनाशीलता के रूपों का विश्लेषण करके दिखाया। 1934 में प्रकाशित रुथ बेनेडिक्ट की रचना 'पैटर्स ऑफ़ कल्चर' ने उस बहस के कम से कम एक हिस्से का अंत कर दिया जो मानवशास्त्र में एक अरसे से चल रही थी। यह बहस संस्कृति के सार्वभौमिक और पारिवेशिक पहलुओं के बीच थी। बेनेडिक्ट ने इस रचना में बोआस के सांस्कृतिक सापेक्षतावाद का सार तो प्रस्तुत किया ही, पोलिश-ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्री ब्रोनिस्ला मैलिनोव्स्की, जर्मन इतिहासकार ओसवालड स्पेंगलर और गेस्टाल्ट मनोविज्ञान से प्रभावित हो कर बोआस की विरासत से भी परे जाने का प्रयास किया। बेनेडिक्ट ने कहा कि सभी संस्कृतियाँ प्रारूपबद्ध होती हैं, पर उनके प्रारूप मानवीय रचनाशीलता के हाथों समय के साथ बदलते रहते हैं। इसीलिए दुनिया भर की संस्कृतियाँ अपने अलग-अलग विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न हो जाती हैं। संस्कृतियों को 'अपने आप में एक अलग जगत' और 'अपेक्षाकृत स्थिर' संरचना की तरह देखने के इस प्रभावी दृष्टिकोण की आलोचना सिडनी वाल्टज़ और एरिक वोल्फ़ ने यह कह कर की कि यह नज़रिया संस्कृतियों पर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और भूमण्डलीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रभावों की अनदेखी करता है।

मानवशास्त्र में प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की नुमाइंदगी करने का श्रेय मुख्यतः मैलिनोव्स्की को जाता है। उन्हें मेलासिया और न्यू गिनी में किये गये फ़ील्डवर्क के लिए जाना जाता है। उन्होंने नृजाति वर्णन की तकनीकों का समृद्ध प्रयोग करते हुए समाज के विभिन्न लक्षणों और संस्थाओं की व्याख्या उनके प्रकार्यों (मसलन, संस्कृति को बनाये रखने और उसके पुनरुत्पादन की कौन-कौन सी ज़रूरतें वे पूरी करते हैं) की रोशनी में की। मैलिनोव्स्की की परम्परा को ब्रिटिश मानवशास्त्री ई.ई. इवांस-प्रिचार्ड और ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने अध्ययनों से समृद्ध किया।

फ़्रांसीसी मानवशास्त्री क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस ने दुर्खाइम, मारसेल मॉज़ और रैडक्लिफ़-ब्राउन से प्रभावित हो कर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की परिस्थितियों में संरचनागत मानवशास्त्र का विकास किया। 1970 से 1981 के बीच चार खण्डों में प्रकाशित महान् कृति *मायथोलॉजीज़* और 1966 में

प्रकाशित *सेवेज माइंड* में लेवी-स्ट्रॉस ने विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले समान पहलुओं पर जोर देने के बजाय अलग-अलग क्रिस्म के मिथकीय आख्यानों और वर्गीकरण करने वाली प्रणालियों के माध्यम से मानवीय प्रकृति के अमूर्त प्रारूपों की खोज करना पसंद किया। लेवी-स्ट्रॉस पर स्विस भाषाशास्त्री फ्रिदरिख सॅस्यूर का काफी असर था। उनकी मान्यता थी कि संस्कृतियों के अलग-अलग मिथक सॅस्यूर द्वारा वर्णित पारोल (बोली जाने वाली भाषा) के समान हैं, और उनकी आधारभूत संरचनाएँ लांगे (व्याकरणसम्मत भाषा) की तरह हैं।

बीसवीं सदी में हुए इस अनूठे और अद्भुत विकास से गुजरते हुए सांस्कृतिक मानवशास्त्र आज एक ऐसी विधा के रूप में स्थापित हो चुका है जो संस्कृतियों की विविधता और वैधता को विभिन्न संज्ञानात्मक प्रणालियों की तरह मान्यता देता है। बीसवीं सदी के दौरान मानवशास्त्र में हुए इन सकारात्मक विकासों के बावजूद उसके आलोचकों का आरोप है कि यह अनुशासन पहले उपनिवेशवादियों के औज़ार की तरह काम करता था, और वि-उपनिवेशीकरण हो जाने के बाद आज उसके जरिये पश्चिम के आधुनिकतावादी मूल्यों की कसौटी पर ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों को कसने की परियोजना चलाई जा रही है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. टी. इनगोल्ड (सम्पा.), *की डिबेट्स इन एंथ्रोपोलॉजी*, रॉटलेज, लंदन, 1996
2. ए. जेम्स, जे.एल. हॉकी और ए.एच. डॉसन (सम्पा.), *आफ्टर राइटिंग कल्चर : इपिस्टिमोलॉजी एंड प्रेक्टिस इन कंटेम्परेरी एंथ्रोपोलॉजी*, रॉटलेज, लंदन, 1997
3. ई. लीच, *सोशल एंथ्रोपोलॉजी*, फ्रोंटाना, ग्लासगो, 1982
4. एम. स्ट्रैथर्न (सम्पा.), *शिफ्टिंग कंटेक्ट्स : ट्रांसफ़ॉर्मेशन इन एंथ्रोपोलॉजी कल नॉलेज*, रॉटलेज, लंदन, 1995

— अभय कुमार दुबे

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद

(Cultural Relativism)

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद वह सिद्धांत है जिसने मानवशास्त्र को उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के एजेंट की छवि से मुक्त करके एक अपेक्षाकृत स्वतंत्र और वैज्ञानिक आधार से सम्पन्न समाज-विज्ञान की प्रतिष्ठा दिलायी। इसके सूत्रीकरण के लिए ज्ञानमीमांसात्मक आधार बनाने का श्रेय अमेरिकी मानवशास्त्री फ्रेंज़ बोआस को जाता है। पहले और दूसरे विश्व-युद्ध के बीच की अवधि में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद से प्राप्त औज़ारों की मदद से ही अमेरिकी मानवशास्त्रियों ने पश्चिम द्वारा की जाने वाली अपनी सार्वभौम सांस्कृतिक श्रेष्ठता की दावेदारियों को प्रश्नांकित किया और ज्ञान की राजनीति में ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों को उनकी वाजिब जगह दिलाने की कोशिश की। इसी प्रक्रिया में बोआस द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमीमांसक विचार को मानवशास्त्रीय पद्धति में विकसित होने का मौक़ा मिला। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के आधार पर ही मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान अलग छवि ग्रहण करने में सफल हो पाये। इसी सूत्र ने मानवशास्त्रियों को मौक़ा दिया कि वे प्राक्-आधुनिक समाजों का अध्ययन करके निकाले गये निष्कर्षों की रोशनी में समकालीन समाजों और संस्कृतियों की समस्याओं की समझ हासिल करने की कोशिश करें।

बोआस और उनके शिष्यों का खयाल था कि वे स्वजातिवादी (एथनोसेंट्रिक) पूर्वग्रहों से पल्ला छुड़ाये बिना अपने से भिन्न संस्कृतियों पर समुचित वैज्ञानिक शोध नहीं कर सकते। इसके लिए उन्हें कुछ नयी पद्धतियों की आवश्यकता महसूस हुई जिनमें से एक विधि नृशास्त्र (एथनोलॉजी) थी। इसके तहत उन्होंने तय किया किसी सांस्कृतिक समुदाय के बीच लम्बे अरसे तक रहने, उसकी भाषा सीखने और उसी संस्कृति में कम से कम आंशिक रूप से रचे-बसे बिना उसकी आंतरिक शर्तों पर उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक ऐसा ज्ञान न मिले, तब तक किसी संस्कृति को समग्र मानव-संस्कृति के एक सापेक्षिक अंश के रूप में नहीं समझा जा सकता। वह अंश समग्र में अपनी अवस्थिति के तौर पर ही अपना सांस्कृतिक महत्त्व ग्रहण करता है। इस अवस्थिति से बाहर किसी और परिस्थिति में वह अंश अपनी समेकित प्रासंगिकता से वंचित हो जाता है।

बोआस स्वयं एक जर्मन-यहूदी थे और उनके ऊपर इमैनुएल कांट के नेतृत्व में हुए जर्मन ज्ञानोदय के विचारों का गहरा असर था। कांट का विचार था कि मनुष्य में इस जगत

का प्रत्यक्ष और अ-विमर्शित ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता नहीं होती। वह दिक् और काल में पहले से मौजूद अवधारणाओं के मुताबिक अपनी समझ बनाता है। कांट के अनुयायी जोहान गोटेप्र्रीड हर्डर की मान्यता थी कि मानवीय अनुभव न केवल सार्वभौम विमर्श के हाथों बनता है, बल्कि वह पारिवेशिक सांस्कृतिक संरचनाओं के जरिये भी स्वरूप ग्रहण करता है। दार्शनिक और भाषाशास्त्री विल्हेल्म वॉन हुम्बोल्ट चाहते थे कि कांट और हर्डर के विचारों का संश्लेषण करने वाले मानवशास्त्र का सूत्रीकरण किया जाना चाहिए। समाजशास्त्री विलियम ग्राहम समर्स ने इस संदर्भ में उस मानवीय प्रकृति की तरफ ध्यान खींचा जिसके तहत न केवल व्यक्ति की समझ अपनी संस्कृति की सीमाओं में बँधी रहती है, बल्कि वह उसी की कसौटियों पर अन्य संस्कृतियों का मूल्यांकन करता है। इसी प्रवृत्ति को समर्स ने स्वजातिवाद या एथनोसेंट्रिज्म क्रार दिया।

जर्मन ज्ञानोदय से मिली इन शिक्षाओं की मदद से बोआस इस नतीजे पर पहुँचे कि सभी तरह के वैज्ञानिकों के व्यक्तित्व और बौद्धिकता की रचना आखिरकार किसी न किसी संस्कृति के हाथों होती है। इसलिए उनमें अनिवार्यतः स्वजातिवादी रुझान होते ही हैं। वैज्ञानिकता की उपलब्धि इनसे सचेत मुक्ति के बिना सम्भव नहीं है। भाषा का उदाहरण देते हुए बोआस ने कहा कि वह केवल संचार का उपकरण ही नहीं है, बल्कि उसके माध्यम से लोग अनुभवों को कोटियों में बाँट कर समझते हैं। बोआस के शिष्यों द्वारा किये गये एक प्रयोग में देखा गया कि जब कुछ दूसरी भाषाओं के लोगों को हरा रंग दिखाया गया तो उनमें से किसी ने उसके लिए नीला रंग बताने वाले शब्द का प्रयोग किया और किसी ने पीला रंग बताने वाले शब्द का। दरअसल, उनकी भाषाओं में अंग्रेजी का शब्द 'ग्रीन' था ही नहीं। इसी तरह अंग्रेजी में कुछ ध्वनियाँ हैं ही नहीं, इसलिए वे नहीं समझ पाते कि जापानी 'लाइस' बोल रहे हैं या 'राइस'। मेलविले हर्कोविट्ज़ ने निष्कर्ष निकाला कि लोग अनुभव के आधार पर निर्णय करते हैं और अनुभव की समझ संस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया (इनकल्चरेशन) के आधार पर बनती है। बोआस के शिष्यों ने सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सिद्धांत का विकास करने के लिए जर्मन ज्ञानोदय के साथ-साथ समकालीन दार्शनिकों और वैज्ञानिकों (कार्ल पियर्सन, अन्स्ट माक, हेनरी पोइन्केरी, विलियम जेम्स और जॉन डिवी) की प्रस्थापनाओं की मदद भी ली।

बोआस की मृत्यु के बाद एक स्थापना के रूप में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद का बोलबाला मानवशास्त्र की दुनिया में बढ़ता चला गया। उनके योग्य शिष्यों रुथ बेनेडिक्ट, मार्गरेट मीड और अल्फ्रेड क्रोबर ने अपने अध्ययनों से इस परम्परा को और समृद्ध किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद

एक स्थिति ऐसी भी थी कि कई हलकों में प्रचलित समझ में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को नैतिक सापेक्षतावाद का पर्याय समझा जाने लगा था। इस तरह की चर्चाएँ होने लगी थीं कि सभी संस्कृतियाँ परस्पर भिन्न और समान हैं। इसी तरह सभी मूल्य प्रणालियाँ भिन्न होते हुए भी समान रूप से वैध हैं। इस तरह के प्रश्न पूछे जाने लगे थे कि अगर कोई आदिम समुदाय खास तरह का आचरण करता है, तो उस व्यवहार-शैली को आधुनिक समाज में क्यों नहीं अपनाया जा सकता? इस तरह की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए 1944 में क्लायड क्लुकहोन ने सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को तत्कालीन धुँधलकों से निकले। उन्होंने कहा कि किसी समुदाय के सकारात्मक या नकारात्मक रिवाजों के औचित्य का मूल्यांकन न केवल उस समुदाय के अपने देश-काल के आधार पर किया जाना चाहिए, बल्कि तुलनात्मक रूप से यह भी देखना चाहिए कि वे रिवाज अन्य समुदायों की आदतों के प्रारूप में किस तरह फिट बैठते हैं। मसलन, चरवाहों के आर्थिक जीवन के लिए बहुपत्नी प्रथा लाभकारी हो सकती थी, पर आखेट पर जीवित रहने वाले समुदायों के लिए नहीं। क्लुकहोन ने साफ़ किया कि मानवशास्त्र किसी भी नैतिक मूल्य के आलोचनात्मक आकलन के पक्ष में तो है, पर वह नैतिक आदर्शों की मौजूदगी को नकारने वाला सिद्धांत नहीं हो सकता। दरअसल, ऐसा कोई समाज न कभी था और न है जो नैतिकता के नाम पर 'सब कुछ चलता है' का रवैया अपनाता हो। तुलनात्मक पद्धति का इस्तेमाल करके मानवशास्त्र यह पता लगा सकता है कि वे कौन सी नैतिक बंदिशें हैं जिन्हें तक्ररीबन सभी जीवित समाज नियम-क्रानुनों के रूप में इस्तेमाल करते हैं। ऐसे नैतिक मानकों को सार्वभौम की मान्यता दी जा सकती है।

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद एक तरफ तो मानवशास्त्र के लिए अनिवार्य सिद्धांत के तौर पर उभरा, पर दूसरी तरफ उसके इर्द-गिर्द पूरी बीसवीं सदी में कई तरह की समृद्ध बहसें चलती रहीं जिनमें विभिन्न अनुशासनों के विद्वानों ने भाग लिया। उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन से जुड़े विद्वानों ने सांस्कृतिक सापेक्षता की आड़ में मानवशास्त्रियों द्वारा चलाई गयी ज्ञान की स्वजातिवादी राजनीति और युरोकेंद्रीयता की प्रवृत्तियों पर भी रोशनी डाली है। इन आलोचकों की मान्यता है कि मानवशास्त्री प्रायः विज्ञान, धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाज और नातेदारी की जिन अवधारणाओं को प्रासंगिक मान कर चलते हैं वे मुख्यतः पश्चिमी चिंतन और अनुभव की देन हैं। ग़ैर-पश्चिमी समाजों की सही समझ हासिल करने के लिहाज से ये औजार भोथरे साबित होते हैं। दावा कुछ भी किया जाए, इन औजारों के माध्यम से पश्चिमी मानस से लैस मानवशास्त्री 'अन्य' की स्थानीयता की समझ अपनी स्थानीयता के संदर्भ में हासिल करता है। उसकी अपनी स्थानीयता ही उसके लिए वह

सार्वभौम मानक है जिसके आधार पर न केवल निष्कर्ष निकाले जाते हैं, बल्कि नृजाति-वर्णन भी किया जाता है। फ्रेंच बोआस द्वारा जिन सापेक्षतावादी इरादों की उद्घोषणा बीसवीं सदी की शुरुआत में की गयी थी, उन्हें इस पद्धति के रास्ते धरती पर नहीं उतारा जा सकता।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइव्हेसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. अल्फ्रेड क्रोबर (1952), *द नेचर ऑफ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. डेविड वॉंग (2006), *नेचुरल मॉरलिटीज़, अ डिफेंस ऑल प्लूरलिस्टिक रिलेविटिज़म*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
3. जॉर्ज मार्कुस और मिशेल एम.जे. फिशर (1986), *एंथ्रोपोलॉजी एज़ कल्चरल क्रिटिक : द एक्सपेरीमेंटल मोमेंट इन द ह्यूमन साइंसेज़*, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद

(Cultural Imperialism)

उपनिवेशवाद के ख़ात्मे के बाद राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली देशों ने अपने पूर्व उपनिवेशों के समाजों और उनकी जीवन-शैलियों को अप्रत्यक्ष तरीकों से अपने वर्चस्व के तहत लाने के लिए जिन सांस्कृतिक उपायों का सहारा लिया, उन्हें सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इसका मतलब है उन सांस्कृतिक मूल्यों, विचारों और आचरण संहिताओं का प्रचार, प्रसार और निर्यात जिन्हें 'श्रेष्ठ' माना जाता है। इस सिक्के का एक दूसरा पहलू भी है जिसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ग़रीब और पिछड़े हुए देशों की स्थानीय संस्कृतियों के मूल्यों और जीवन-शैलियों के विनाश और क्रमशः दरकिनार होते चले जाने का कारण बनता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की थीसिस के मुताबिक

विश्व में सूचना-व्यवस्था के सूत्र उन देशों के हाथ में हैं जिनके पास उपग्रहीय प्रसारण की प्रौद्योगिकी है और जिसके जरिये छवियों, सूचनाओं, विचारों, विश्लेषणों और मनोरंजन के कार्यक्रमों का ग्लोबल प्रवाह नियंत्रित किया जाता है। भूमण्डलीकरण के विरोधी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को एक फ़िकरे की तरह प्रयोग करते हैं। लेकिन, संस्कृति-चिंतन के क्षेत्र में इस विषय में एक बहस भी मौजूद है कि क्या संस्कृति के क्षेत्र पर इस तरह एकतरफ़ा प्रभुत्व कायम किया जा सकता है; और क्या भूमण्डलीकरण को सांस्कृतिक समरूपता का वाहक समझना उसकी जटिलता की एक सरलीकृत समझ नहीं है?

विचार-जगत में साम्राज्यवाद और संस्कृति के संबंधों का विधिवत् उद्घाटन सबसे पहले सत्तर और अस्सी के दशक में साहित्य के सिद्धांतकार एडवर्ड सईद के चिंतन में प्राच्यवाद की बहुचर्चित थीसिस के जरिये हुआ था। ज़ाहिर है कि सईद ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की शिनाख़्त साहित्यिक रूपों और विमर्श के दायरों में की थी। अस्सी के दशक में ही वी.एस. नैपॉल ने इस अभिव्यक्ति का कुछ दूसरा ही इस्तेमाल किया। उन्होंने अपनी दो रचनाओं 'एमंग द बिलीवर्स : ऐन इसलामिक जर्नी' और 'बियांड बिलीफ़ : इसलामिक एक्सकर्जस एमंग द कनवर्टिड पीपुल्स' में इसलाम की शिनाख़्त सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के तौर पर की। उनका कहना था कि इसलाम में सांस्कृतिक विविधता को जोर-ज़बरदस्ती अपने रंग में रँगने की प्रवृत्ति है।

नब्बे के दशक में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की अवधारणा ग्लोबल मीडिया जगत पर अमेरिकी कॉर्पोरेशनों के बोलबाले की आलोचना के रूप में विकसित होनी शुरू हुई। अफ़्रीका, एशिया, लातीनी अमेरिका और दुनिया के अन्य भागों में टीवी दर्शकों के सामने सुबह से शाम तक सिर्फ़ अमेरिकी और युरोपीय सांस्कृतिक उत्पादों की खुराक ही परोसी जाती थी। मीडिया विशेषज्ञों को साफ़ दिखाई पड़ रहा था कि पश्चिमी देश ग़रीब देशों को अपने यहाँ बने हुए टीवी सीरियल और अन्य कार्यक्रम लागत से कम दामों में निर्यात कर रहे हैं। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के बाद सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की इस परिभाषा में कुछ तब्दीली आयी। यह परिवर्तन अमेरिकीकरण की धारणा ने किया। इसका कारण यह था कि अमेरिकी खान-पान, रहन-सहन और जीवन-शैली के विभिन्न रूपों ने विकसित युरोपीय समाजों पर भी अपनी छाप छोड़नी शुरू कर दी। पहले इस परियोजना में युरोप और अमेरिका मिल कर सक्रिय नज़र आते थे।

अमेरिकीकरण के विचार को 1997 में 'फ़ारैन पॉलिसी' नामक पत्रिका में क्लिंटन प्रशासन के साथ जुड़े रह डेविड रँथकॉफ़ के लेख 'इन प्रेज़ ऑफ़ कल्चरल इम्पीरियलिज़म?' के प्रकाशन के बाद और हवा मिली।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय में इंटरनैशनल एफेयर्स के एसोसिएट प्रोफेसर और किसिंजर एसोसिएट्स के प्रबंध निदेशक रेंथकॉफ़ ने इस लेख में इम्पीरियलिज़म के कल्चरल संस्करण को सकारात्मक रूप से पेश करते हुए दावा किया कि इसे स्वैच्छिक रूप से अपनाया जाए या जबरिया, इसके जरिये सांस्कृतिक विविधता और प्रकारांतर से पारिस्थितिकीय विविधता की संरक्षा की जा सकती है। रेंथकॉफ़ का तर्क दुनिया में संस्कृति के नाम पर होने वाले रक्तपात और नरसंहारों का हवाला दे कर कहता है कि सारी दुनिया में सहिष्णुता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। सांस्कृतिक विविधता के भीतर दोनों तरह के पहलू मौजूद होते हैं। सहिष्णुता को प्रोत्साहित करने वाले उसके पहलुओं का विकास किया जाना चाहिए, और उसके खिलाफ़ खड़े होने वाले आयामों का बेहिचक उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। रेंथकॉफ़ को यह स्वीकार करने में भी कोई हिचक नहीं थी कि इंटरनेट, भूमण्डलीकरण और अंग्रेज़ी भाषा का इस्तेमाल अमेरिका के सांस्कृतिक प्रभाव को बढ़ा रहा है।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की थीसिस को सत्तर के दशक में हुए कुछ समाजवैज्ञानिक अध्ययनों के हवाले से भी पुष्ट किया जाता है। 1975 में प्रकाशित डॉर्फमैन और मैटेलार्ट की रचना *हाउ टू रीड डोनाल्ड डक* में दिखाया गया था कि कॉमिक्स और एनीमेशन जैसे सांस्कृतिक उत्पादों के जरिये 'अन्य' राष्ट्रीयताओं की नस्ली रूढ़ छवियों का कैसे इस्तेमाल किया जाता है। इसी तर्ज़ पर टीवी विज्ञापनों और उपभोक्ता संस्कृति के अध्ययनों ने पश्चिमी संस्कृतियों की श्रेष्ठता स्थापित करने वाली पूँजीवादी सांस्कृतिक परियोजना ने प्रकाश डाला।

लेकिन, पूँजीवाद के सभी आलोचक और अध्येता इस तरह के निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। ग्राम्शी के सिद्धांतों की रोशनी में संस्कृति का अध्ययन करने वाले विचारकों की मान्यता है कि संस्कृति का क्षेत्र राजनीति और अर्थनीति की तरह अधीनस्थ नहीं किया जा सकता। उसके भीतर प्रतिरोध की अलग तरह की क्षमताएँ होती हैं जिनके आधार पर एक तरह की सांस्कृतिक राजनीति का जन्म होता है। इस प्रतिरोध के प्रभाव में राष्ट्रीय सरकारें पश्चिमी मीडिया उत्पादों को अस्वीकार भी कर देती हैं।

भूमण्डलीकरण के कुछ अध्येताओं ने भी संस्कृति के एकतरफ़ा प्रवाह के आग्रह की आलोचना की है। उनका कहना है कि भूमण्डलीय व्यवस्था का विकास कहीं ज़्यादा पेचीदा नज़ारा पेश कर रहा है। सांस्कृतिक प्रवाह विभिन्न दिशाओं से हो रहे हैं। उनकी संरचनाएँ भी महज़ पश्चिमी या अमेरिकी या पूँजीवादी या उपभोक्तावादी न हो कर जटिल क्रिस्म की हैं। अगर एक तरफ़ सीएनएन न्यूज़, 'फ्रेंड्स', 'सेक्स ऐंड सिटी' और 'डेस्परेट हाउसवाइवज़' जैसे अमेरिकी

कार्यक्रम हैं, तो दूसरी ओर जापान (पोकेमन), लातीनी अमेरिका (टेलीनॉवेल्स) और भारत (बॉलीवुड संगीत और वीडियो) जैसे सांस्कृतिक प्रवाह भी हैं। इन अध्येताओं का यह भी कहना है कि जहाँ 'साम्राज्यवादी' कार्यक्रम देखे भी जा रहे हैं, वहाँ यह मानना अनुचित होगा कि दर्शक उन्हें निष्क्रिय रूप से आत्मसात् कर लेते हैं। दर्शकों पर स्थानीय संस्कृतियों और परिस्थितियों के असर को कम करके नहीं आँका जाना चाहिए। अमेरिकी सीरियल 'डलास' पर की गयी विस्तृत शोध से पता लगा है कि विभिन्न राष्ट्रीयताएँ और अस्मिताएँ उसके अलग-अलग तात्पर्य ग्रहण करती हैं। इसके अलावा न्यू मीडिया प्रौद्योगिकियों और मीडिया स्वामित्व के बदलते हुए पैटर्न ने भी एकतरफ़ा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की सम्भावनाओं को कमज़ोर किया है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्युअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. जॉन टॉमलिसन (1991), *कल्चरल इम्पीरियलिज़म : अ क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, कंटीनुअम इंटरनैशनल पब्लिशिंग ग्रुप, न्यूयॉर्क.
2. डेविड रेंथकॉफ़ (1997), 'इन प्रेज़ ऑफ़ कल्चरल इम्पीरियलिज़म', *फ़ॉरेन एफेयर्स*, अंक 107.
3. व्हाइट ए. लिविंगस्टोन (2001), 'रिकंसीडरिंग कल्चरल इम्पीरियलिज़म थियरी', *ट्रान्सनेशनल ब्रॉडकास्टिंग स्टडीज़*, अंक 6, वसंत/ग्रीष्म.
4. हरबर्ट आई. शिलर (1976), *कम्युनिकेशन ऐंड कल्चरल डॉमिनेशन*, इंटरनैशनल आर्ट्स ऐंड साइंस प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

संसरशिप

(Censorship)

संसरशिप का मतलब है समाज और राज्य के लिए आपत्तिजनक, नुकसानदेह, संवेदनशील और असुविधाजनक समझी जाने वाली किसी भी सामग्री के प्रचार-प्रसार पर आंशिक या पूर्ण पाबंदी। उदारतावादी चिंतन संसरशिप को खुले समाज के लिए एंटी-थीसिस मानते हुए एक त्याज्य असहिष्णुता के रूप में परिभाषित करता है। यह अभिव्यक्ति लैटिन भाषा के शब्द 'सेंसर' से निकली है। रोमन सिनेट दो व्यक्तियों को सेंसर के पद पर निर्वाचित करती थी। ये दोनों सेंसर सार्वजनिक आचरण और नैतिकताओं की निगरानी करते थे, और इस प्रक्रिया में स्थापित मान्यताओं और प्रावधानों के खिलाफ जाने वाली प्रवृत्तियों की रोकथाम करने की कोशिश की जाती थी। यह संस्था रोमनों ने सैकड़ों वर्षों तक क्रायम रखी। आधुनिक राज्य व्यवस्थाओं में सेंसर केवल एक संस्था ही नहीं, बल्कि एक प्रवृत्ति भी है। मुख्य तौर से सेंसर करने का काम सरकारों द्वारा नियुक्त अधिकारी करते हैं, पर सेंसरशिप के सैद्धांतिक विरोध में खड़े लोकतांत्रिक समाजों में भी ऐसे सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समूह सक्रिय होते हैं जिनकी तरफ से कानून और व्यवस्था के दायरे के बाहर जा कर मीडिया-उत्पादों और बौद्धिक सामग्री पर पाबंदियाँ थोपने की कोशिश की जाती है। लोकतांत्रिक समाजों में आम तौर पर सेंसर की माँग नव-दक्षिणपंथियों द्वारा की जाती है, लेकिन अपने विचारधारात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वामपंथी भी सेंसरशिप के समर्थक रहे हैं। वैसे तो सेंसरशिप के पक्ष में कई तरह के तर्क दिये जाते हैं, पर इसे मुख्य तौर पर चार तरह की दलीलों (नैतिक, राजनीतिक, फ़ौजी और धार्मिक) के आधार पर लागू किया जाता है।

नैतिकता के प्रश्न पर सहिष्णुता के समर्थकों और विरोधियों के बीच विवाद होता रहा है। पारम्परिक उदारतावादी विचार कहता है कि व्यक्ति क्या पढ़ना, देखना और सुनना चाहता है, यह उस समय तक उसका निजी मामला समझा जाना चाहिए जब तक उसका प्रभाव किसी अन्य पर नहीं पड़ता। इसके उलट अनुदारतावादी तर्क देते हैं कि सहिष्णुता के नाम पर 'अनुचित' को फलने-फूलने की इजाजत नहीं दी जा सकती। उनके अनुसार अनैतिकता की आलोचना करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसका सक्रिय और संस्थागत विरोध भी होना चाहिए। अस्सी के दशक से ही विकसित और लोकतांत्रिक देशों में सामाजिक नैतिकता की यह पैरोकारी उत्तरोत्तर मुखर होती जा रही है। इसके पीछे मान्यता यह है कि जब तक समाज किसी समान संस्कृति और साझा आस्थाओं के आधार पर नहीं चलेगा, तब तक उसे

पतनशीलता के खतरे का सामना करते रहना पड़ेगा। पश्चिमी संदर्भों में ईसाई कट्टरपंथियों और पूर्वी संदर्भों में मुसलमान और हिंदू कट्टरपंथी यह मान कर चलते हैं कि व्यक्ति और समाज को नैतिक गिरावट से बचाने के लिए उनकी पसंदीदा मूल्य-प्रणाली के आधार पर ही सार्वजनिक और व्यक्तिगत दायरों में उचित और अनुचित का फ़ैसला होना चाहिए। चूँकि दुनिया के अधिकतर आधुनिक समाज बहुसांस्कृतिकता और बहु-धार्मिकता की स्थिति में हैं, इसलिए किसी भी 'स्थापित', 'पारम्परिक' या 'बहुसंख्यक' मूल्य-प्रणाली को केवल लोकतांत्रिक भावना के उल्लंघन के जरिये ही लागू किया जा सकता है।

नैतिकता का प्रश्न अक्सर सेक्स और सेक्शुअलिटी से संबंधित मसलों से जुड़ा रहता है। पोर्नोग्राफी का उत्पादन और प्रसारण एक ऐसी ही समस्या है। नारीवादी आम तौर से सेंसरशिप के खिलाफ़ रहते हैं, पर पोर्नोग्राफी पर पाबंदी लगाने के प्रश्न पर कई देशों में वे नव-अनुदारतावादियों के साथ गठजोड़ करते देखे गये हैं। ऐसे नारीवादियों और नव-दक्षिणपंथी इस बात पर सहमत हैं कि अख़बारों, टीवी और सिनेमा में स्त्री-देह के यौनेत्तजक चित्रण से समाज में स्त्रियों के खिलाफ़ बलात्कार जैसे यौन-अपराधों की घटनाओं में बढ़ोतरी हुई है।

सेंसरशिप के इस रूप का चरित्र नैतिकता के नाम पर की जाने वाली सेंसरशिप से भिन्न होता है। सत्तारूढ़ शक्तियाँ अपने आपत्तिजनक कामों को छिपाने के लिए और अपने आलोचकों के प्रयासों और टीका-टिप्पणियों को प्रसारित होने से रोकने के लिए न केवल वस्तुनिष्ठ सूचनाओं को रोकने की कोशिश करती हैं, बल्कि उनके नेटवर्क द्वारा जनता को गुमराह करने के लिए पूरी तरह से असत्य या अर्धसत्य सूचनाएँ भी प्रसारित की जाती हैं। जो पत्रकार या लेखक सरकारों के इशारों पर काम करने से इनकार करते हैं उन्हें गिरफ़्तार किया जाता है या किसी और तरीके से सताने की योजनाओं पर अमल होता है। सेंसरशिप का विरोध करने वाले पत्रकारों की सरकारी एजेंटों द्वारा हत्याएँ तक की जाती रही हैं। पत्रकारों की सुरक्षा करने के लिए प्रतिबद्ध कमेटी द्वारा 2008 में किये गये 'प्रिजन सेंसस' से पता चला था कि चीन लोक गणराज्य, क्यूबा, बर्मा, इरीट्रिया और उज़बेकिस्तान की सरकारों की जेलों में सबसे ज्यादा पत्रकार बंद हैं। जाहिर है कि इनमें से कोई भी सरकार लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास करने वाली नहीं है।

राजनीतिक सेंसरशिप के मामले में फ़ौजी तानाशाहियों और कम्युनिस्ट पार्टी की हुकूमत वाले देशों का रिकॉर्ड काफ़ी खराब रहा है। सोवियत संघ में मिखाइल गोर्बाचेव के सत्तारूढ़ होने से पहले स्वतंत्र प्रेस का अस्तित्व नहीं था।

सद्दाम हुसैन की कथित समाजवादी सरकार और रोमानिया की सीसेस्व्यू सरकार अपने कड़े सेंसरशिप कानूनों के लिए सारी दुनिया में मानवाधिकार संगठनों की आलोचना का निशाना बनी थी। भारत में राजनीतिक सेंसरशिप की एकमात्र अवधि जून, 1975 से 1977 तक चले आंतरिक आपातकाल की थी।

इस तरह की सेंसरशिप सम्भवतः सबसे ज्यादा पेचीदा क्रिस्म की है। सलमान रश्दी की रचना *द सेटेनिक वर्सिस* से जुड़ा विवाद इसका प्रमाण है। सहिष्णुता की प्रचलित कसौटियाँ इससे जुड़ी उलझनों को सुलझाने में नाकाम रही हैं। 1989 में ईरान की इस्लामिक क्रांति के नेता अयातुल्ला खुमैनी ने इस रचना को ईशानिंदा की श्रेणी में मानते हुए भारतीय मूल के ब्रिटिश लेखक रश्दी को जान से मारने के लिए फतवा जारी किया था। खुमैनी की मान्यता थी कि यह पुस्तक इस्लाम की मान्यताओं का उल्लंघन करते हुए पैगम्बर हजरत मुहम्मद की छवि को खण्डित करती है। फतवा जारी होने के बाद भारत समेत दुनिया के कई देशों में इस किताब पर पाबंदी लगा दी गयी। पुस्तकों पर किसी भी क्रिस्म के प्रतिबंध का विरोध करने वाले उदारतावादियों के सामने प्रश्न उठा कि अगर किसी पुस्तक से किसी तरह के धर्मावलम्बियों की आस्थाओं को ठेस लगती है तो इस तरह के अंतर्विरोध का समाधान कैसे किया जा सकता है। एक तरफ व्यक्ति के तौर पर रश्दी की स्वतंत्रता थी जिसके तहत उन्हें धर्म की आलोचना करने का अधिकार था, दूसरी तरफ सवाल यह था कि किसी धार्मिक समुदाय की बुनियादी अस्मिता पर आघात करने वाली आलोचना के संदर्भ में सहिष्णुता के आग्रह को थोड़ी देर के लिए स्थगित नहीं करना चाहिए?

धार्मिक सेंसरशिप का दूसरा पेचीदा मामला तब सामने आया जब फ्रांस में कैथोलिक लॉबी ने मार्टिन स्कोरसीस की फ़िल्म 'द लास्ट टेम्पटेशन ऑफ़ क्राइस्ट' को कई नगरों में प्रदर्शित नहीं होने दिया। फ्रांसीसी राज्य सेकुलरवाद के सबसे ज्यादा कड़े रूप लाइसिज़म को अपनाने के लिए जाना जाता है। लेकिन वह भी प्रभावशाली कैथोलिक समूहों को गैरसंवैधानिक सेंसर लागू करने से नहीं रोक पाया।

युद्धकाल में लागू की जाने वाली इस सेंसरशिप का मुख्य उद्देश्य दुश्मन को किसी तरह की उपयोगी सूचनाएँ मिलने से रोकने का होता है। इसके तहत मानचित्रों को भी सेंसर किया जाता है। पूर्वी जर्मनी की कम्युनिस्ट हुकूमत ने पश्चिम जर्मनी से लगी हुई सीमा के इलाकों के नक्शों का प्रचार-प्रसार रोक दिया था ताकि सीमा पार करके पलायन करना मुश्किल हो जाए।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी,

डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाजार संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. द कमेटी टू प्रोटेक्ट जर्नलिस्ट्स, '10 मोस्ट सेंसर्ड कंट्रीज़', एचटीटीपी://डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.सीपेजे.ओआरजी/सेंसर्ड/सेंसर्ड__06.एचटीएमएल
2. फ्रेंक हॉफ़मेन (1989), *इंटलेक्चुल फ्रीडम ऐंड सेंसरशिप*, द स्केयरक्रो प्रेस, मेट्टुचेन, एनजे.

— अभय कुमार दुबे

सैं-सिमों

(Saint-Simon)

फ्रांसीसी समाजवाद के संस्थापक क्लॉड हेनरी द कॉम्ट द सैं-सिमों (1760-1825) का शुरुआती चिंतन वैज्ञानिक और राजनीतिक विषयों पर केंद्रित था। प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन करने के बाद 1817 में उन्होंने अपने समाजवादी विचारों का प्रतिपादन किया। लेकिन, अपने पीछे *नोवू क्रिश्चियनिज़म* के रूप में जो अधूरी रचना वे छोड़ गये थे, वह उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति साबित हुई। उनके चिंतन ने कार्ल मार्क्स के विचारों पर असर डाला, आग्युस्त कॉम्ट द्वारा प्रवर्तित औद्योगिक प्रगति के विचार को प्रभावित किया और आगे चल कर एमील दुर्खाइम जैसे महान समाजशास्त्री के विचारों पर भी अपनी छाप छोड़ी। सैं-सिमों नया समाज बनाना चाहते थे। फ्रांसीसी क्रांति के 'विनाशकारी उदारतावाद' के मुकाबले उन्होंने समाज के नये और सकारात्मक पुनर्संगठन पर जोर दिया। उनकी मान्यता थी कि हर मनुष्य समाज में अपने मौजूदा स्थान से ऊँची हैसियत प्राप्त करना चाहता है, भले ही वह कितना ही मामूली क्रिस्म का क्यों न हो। इस प्रवृत्ति के कारण उसके भीतर आत्मकेंद्रीयता आ जाती है जिसे लगातार शिक्षा और आचरण के जरिये दूर करना होगा। सैं-सिमों ने सामंती और फ़ौजी नियंत्रण के बजाय औद्योगिक सरबराहों के नियंत्रण को उचित माना। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट धर्मों को जड़सूत्रवादी ऋरार दे कर खारिज करने के बाद उन्होंने समाज को आध्यात्मिक



क्लॉद हेनरी द कॉम्ट द सैं-सिमों (1760-1825)

दिशा देने की जिम्मेदारी चर्च के बजाय वैज्ञानिक मानस के धनी लोगों को देने की पैरोकारी की। पहले सैं-सिमों मानते थे कि उत्पादक श्रम का नियंत्रण करने वाले लोगों के हाथों में समाज का शासन रहना चाहिए। लेकिन अपनी अंतिम रचना *नोवू क्रिश्चयनिज़म* में उन्होंने ग़रीबों पर जोर दिया और ईसाइयत को उसके बुनियादी पहलुओं तक सीमित करके एक नये बिरादराना धर्म की स्थापना की वकालत की। उन्होंने सिद्धांत दिया कि पूरे समाज का पुनर्गठन सर्वाधिक दरिद्र वर्ग की नैतिक और भौतिक समस्याओं के उन्मूलन के नज़रिये से करना ज़रूरी है।

सैं-सिमों का जन्म 1760 में पेरिस के एक सामंती परिवार में हुआ। उत्तरी फ़्रांस में स्थित अपने पिता की गढ़ी में उनका लालन-पालन हुआ। किशोरवय से ही सैं-सिमों स्वतंत्र प्रवृत्तियों का परिचय देने लगे थे। तेरह वर्ष की आयु में उन्होंने कम्प्यूनियन (प्रभु भोज) में भाग लेने से इनकार कर दिया और कहा कि देवताओं के प्रसाद में उनका कोई विश्वास नहीं है। परिवार के चलन के अनुसार उन्हें युवावस्था में सैनिक जीवन अपनाना पड़ा। वे इंग्लैण्ड के विरुद्ध विद्रोही अमेरिकी उपनिवेशों की मदद के लिए भेजी गयी फ़्रांसीसी अभियान सेना के साथ स्वयंसेवक बन कर अमेरिका गये। उनकी फ़्रांस वापसी एक नायक के रूप में हुई। लेकिन, एक सामंत का आरामतलब जीवन न चुन कर उन्होंने विविधता और अंतर्विरोधों से भरा जीवन चुना।

फ़्रांस में अपने समकालीन फ़ूरिए की भाँति सैं-सिमों भी 1789 की फ़्रांसीसी क्रांति की विफलताओं का संबंध ज्ञानोदय की अवधि में विकसित कुछ विचारों से जोड़ कर देखते थे। उन्हें लगता था कि ज्ञानोदय ने मानवीय प्रकृति को जिस तरह समझा, उसी के कारण क्रांति विनाशकारी रास्ते की तरफ़ भटक गयी। इसी आधार पर इन दोनों ने अलग-अलग शैली में मनुष्य की सहजात प्रकृति के बारे में अपनी अलग-अलग धारणाएँ बनायीं और सुधार के ज़रिये नयी समाज-व्यवस्था गढ़ने की मुहिम चलाई। सैं-सिमों और फ़ूरिये को यकीन था कि मनुष्य का मानस बदला जा सकता है और उनकी रची गयी व्यवस्था में रहने वाले लोग परस्पर अन्योन्य-क्रिया करते हुए समरसता को प्राप्त कर सकते हैं। जाहिर था कि इस सामाजिक परियोजना में ज्ञानोदय के विचारों की आलोचना निहित थी।

सैं-सिमोंवाद विकास की चार अवस्थाओं से गुज़रा। उनके पहले दौर की रचनाओं के मुख्य लक्षण थे : विज्ञान और विद्वत्ता की उपासना और अमूर्त मानवतावाद। दूसरी अवस्था उनके जीवन के अंतिम दस वर्षों के परिपक्व रचनाकाल से जुड़ी हुई है। इस दौरान उन्होंने पूँजीवाद को एक स्वाभाविक और स्थाई व्यवस्था मानने से इनकार करते हुए एक नयी समाज-व्यवस्था का तर्कसम्मत प्रतिपादन किया। यह था श्रमजीवी उद्यमियों का समाज। उन्हें उम्मीद थी कि शांतिपूर्ण विकास के ज़रिये इस समाज-व्यवस्था में विरोध और स्पर्धा की जगह आम लोगों के बीच सहयोग और मैत्री की भावना क्रायम होगी। सैं-सिमों का यह समाज सामंती तत्त्वों और निठल्ले परजीवी मालिक वर्ग की सत्ता के उन्मूलन पर आधारित था। अपनी अंतिम रचना *नया ईसाई धर्म* में सैं-सिमों ने सीधे-सीधे मज़दूर वर्ग के पक्ष में दलीलें दीं।

सैं-सिमोंवाद का तीसरा चरण उनके निधन के बाद शुरू हुआ। उनके विचारों पर उनके जीवन में विशेष अमल नहीं हुआ था, लेकिन उनके निधन के समय उनके मुट्ठी भर अनुयायी उन्हें नये धर्म का पैग़म्बर अवश्य मानते थे। उनका धर्म फैलाने की जिम्मेदारी उनके निकटस्थ अनुयायियों रॉदरीग, ऑफ़्रौँतैं और बाज़ार्ह ने सँभाली जो स्वयं को अपने पैग़म्बर द्वारा चुने गये एपोस्टल्स यानी धर्मदूतों की तरह ही देखते थे। इन्हीं तीनों के नेतृत्व में 1828 से सैं-सिमों के सम्प्रदाय का तेज़ी से प्रचार-प्रसार शुरू हुआ। 1830 की जुलाई क्रांति के समय यह प्रक्रिया चरम पर थी। 1828 में ही बाज़ार्ह ने अपने पैग़म्बर के सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या पेश की। इस व्याख्या के दूसरे खण्ड की रचना मुख्यतः ऑफ़्रौँतैं ने की। बाज़ार्ह के मुक़ाबले दर्शन में अधिक कुशाग्र होने के बावजूद ऑफ़्रौँतैं में अपने विचारों को अति तक ले जाने की प्रवृत्ति थी।

सैं-सिमोंवाद का चौथा चरण उसकी अवनति का काल है। सैं-सिमों समुदाय के कुनबे का जैसे-जैसे विस्तार हुआ, ऑ.फ्रोंतें और बाजारह में मतभेद बढ़े। ऑ.फ्रोंतें ने 'देह की पुनर्स्थापना' का सिद्धांत दिया जिसे ऐंद्रिक रहस्यवाद की संज्ञा दी गयी। स्त्री-पुरुष संबंधों और विवाह की संस्था के तत्कालीन मानकों के लिहाज से इस उसूल को यौन अनैतिकता का वाहक भी माना गया। 1832 आते-आते ऑ.फ्रोंतें और बाजारह में विभाजन हो गया। इन्हीं दिनों मनोरंजन के खर्चीले कार्यक्रमों के कारण सैं-सिमों कुनबे को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। कुनबे की गतिविधियाँ मेनिलोमौतों ले जायी गयीं जहाँ सैं-सिमों के अनुयायियों ने एक खास वर्दी पहन कर श्रम प्रधान कम्युनिस्ट सोसाइटी बनाने का प्रयास किया। इसी के कुछ दिनों बाद सैं-सिमों के धर्मदूतों पर समाज व्यवस्था में गड़बड़ी फैलाने के लिए मुकदमा चला और ऑ.फ्रोंतें को जेल जाना पड़ा।

फ्रांसीसी एनसाइक्लोपीडियावादियों की बौद्धिक परम्परा और अमेरिकी क्रांति के अनुभव से लैस सैं-सिमों एक निष्ठावान अध्येता भी थे। उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों का गहन अध्ययन किया और अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा हिस्सा बौद्धिक गतिविधियों को समर्पित कर दिया। 1903 में उनकी पहली मुद्रित रचना 'जेनेवा के एक वासी की ओर से अपने समकालीनों को पत्र' प्रकाशित हुई जिसमें फ्रांसीसी क्रांति का विश्लेषण तीन मुख्य वर्गों (सामंती, पूँजीपति और गरीब) के बीच संघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप में किया। *नया ईसाई धर्म* के प्रकाशन के कुछ सप्ताह बाद ही 1825 में उनका निधन हो गया।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने सैं-सिमों के चिंतन को यूटोपियायी समाजवाद की श्रेणी में डाल कर कुछ इस तरह परिभाषित किया है : 'वर्ग संघर्ष की अविकसित स्थिति और उनके अपने माहौल के कारण इस क्रिस्म के समाजवादी ख़ुद को सभी तरह की वर्ग-शत्रुताओं से परे मान बैठे थे। वे समाज के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि सर्वाधिक सुविधाभोगियों तक की स्थिति में सुधार करना चाहते थे। यही वजह है कि वे बिना वर्ग-भेद किये हुए आदतन पूरे समाज से अपील करते रहते थे, और कुल मिला कर प्राथमिकता शासक वर्ग को ही मिल जाती थी।' मार्क्स ने कहा कि सैं-सिमों जैसे समाजवादी चिंतक सभी तरह की राजनीतिक और क्रांतिकारी कार्रवाई को खारिज करके छोटे-छोटे प्रयोगों, शांतिपूर्ण प्रयासों, शिक्षा और सुधार के जरिये एक नये सामाजिक धर्म-सिद्धांत की स्थापना करना चाहते थे जो विफल होने के लिए अभिशप्त था।

संदर्भ

1. ए.वी. एनिकन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवाकाल : मार्क्स-पूर्व का राजनीतिक अर्थशास्त्र*, अनु. गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. जॉर्ज लिचहीम (1969), *द ऑरिजिंस ऑफ सोशललिज्म*, वीडनफेल्ड एंड निकल्सन, लंदन.
4. जी.सी. इगर्स (सम्पा.) (1958), *डॉक्ट्रिन ऑफ सैं-सिमों : एन एक्सपोजीशन*, बीकन, बोस्टन.
4. जाक रॉसिएर (2009), *सर्वहारा रातें : उन्नीसवीं सदी के फ्रांस में मजदूर-स्वप्न*, अनु. अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-सराय-वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सौंदर्यशास्त्र

(Aesthetics)

सौंदर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है जिसके तहत कला, साहित्य और सुंदरता से संबंधित प्रश्नों का विवेचन किया जाता है। ज्ञान के दायरे से भिन्न इंद्रिय-बोध द्वारा प्राप्त होने वाले तात्पर्यों के लिए यूनानी भाषा में *एस्तेतिको* शब्द है जिससे एस्थेटिक्स की व्युत्पत्ति हुई। प्रकृति, कला और साहित्य से संबंधित क्लासिकल सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण विकसित हुआ। यह नज़रिया केवल कृति की सुंदरता और कला-रूप से ही अपना सरोकार रखते हुए उसके राजनीतिक और संदर्भगत आयामों को विमर्श के दायरे से बाहर रखता है। लेकिन कला और साहित्य विवेचना की कुछ ऐसी विधियाँ भी हैं जो कृतियों के तात्पर्य और उनकी रचना-प्रक्रिया के सामाजिक और ऐतिहासिक पहलुओं से संवाद स्थापित करती हैं। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र एक ऐसा ही विमर्श है। दरअसल, मार्क्सवादी हस्तक्षेप के बाद आधुनिक सौंदर्यशास्त्र कला की मूलभूत अवधारणा परिभाषित करते हुए कृति को समझने की विधियाँ प्रस्तुत करने के अलावा, कला और यथार्थ-जगत के संबंध में कलात्मक अभिव्यक्ति व निरूपण के प्रश्नों पर गहरी नज़र डालने में भी दिलचस्पी रखता है। आज सौंदर्यशास्त्र विभिन्न कला-विधाओं के लिए जो आलोचना-पद्धति प्रस्तावित करता है उसके तहत नैतिकता और कला के बीच एवं राजनीतिक-कर्म और कला के बीच संबंधों की विवेचना भी की जाती है।

प्राचीन यूनानी दर्शन में प्लेटो की रचना *हिप्पियाज़ मेजर* में सौंदर्य की अवधारणा पर चर्चा मिलती है। नाटक की दुखांत शैली पर अरस्तू द्वारा अपनी रचना *पोइटिक्स* में किये गये विचार ने कला-आलोचना को लम्बे अरसे तक प्रभावित

किया है। कला और सौंदर्य पर हुए गैर-पश्चिमी प्राचीन चिंतन के संदर्भ में भारत के नाट्यशास्त्र, अभिनव गुप्त के रस-सिद्धांत और चीनी विद्वान चेंग यिन-युवान की रचना ली-ताई मिंग-हुआ ची (रिकॉर्ड ऑफ़ फ़ेमस पेंटिंग्ज़) द्वारा प्रस्तुत अनूठे और विस्तृत विमर्शों का लोहा पश्चिमी जगत में भी माना जाता है। कला-अनुशीलन की इस परम्परा की व्याख्या करने के गैर-पश्चिमी मानक अभी तक नहीं बन पाये हैं, और पश्चिमी मानकों के जरिये की गयी व्याख्याओं के नतीजे असंतोषजनक निकले हैं।

पश्चिमी विचार-जगत में एक दार्शनिक गतिविधि के तौर पर सौंदर्यशास्त्र की पृथक संकल्पना अट्टारहवीं सदी में उभरी जब कला-कृतियों का अनुशीलन हस्त-शिल्प से अलग करके किया जाने लगा। इसका नतीजा सिद्धांतकारों द्वारा ललित कला की अवधारणा के सूत्रीकरण में निकला। अलेक्सांदेर गोत्तलीब बॉमगारतेन ने 1750 में *एस्थेटिका* लिख कर एक बहस का सूत्रपात किया। इसके सात साल बाद डेविड ह्यूम द्वारा 'ऑफ़ द स्टैंडर्ड ऑफ़ टेस्ट' लिख कर सौंदर्यशास्त्र के उभरते हुए विमर्श को प्रश्नांकित किया गया। लेकिन आधुनिक युरोपीय सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श की वास्तविक शुरुआत इमैनुएल कांट की 1790 में प्रकाशित रचना *क्रिटिक ऑफ़ जजमेंट* से हुई। अपनी इस कृति में कांट ने सौंदर्यशास्त्रीय आकलन की कसौटियों को सार्वभौम बनाने पर जोर दिया। लेकिन दूसरी ओर वे किसी भी तरह के सार्वभौम सौंदर्यशास्त्र की सम्भावना पर संदेह करते हुए भी नज़र आये। इस विरोधाभास के बावजूद कांट की उपलब्धि यह रही कि उन्होंने कला और सौंदर्य की विवेचना के लिए कुछ अनिवार्य द्विभाजनों को स्थापित कर दिया। इन द्विभाजनों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं : इंद्रियबोध और तर्क-बुद्धि, सारवस्तु और रूप, अभिव्यक्ति और अभिव्यक्त, आनंद और उपसंहार, स्वतंत्रता और आवश्यकता आदि। कांट की दूसरी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने सौंदर्यशास्त्रीय अनुभव और ऐंद्रिक अनुभव के बीच अंतर स्थापित किया। उनका कहना था कि सौंदर्यशास्त्रीय व्याख्या और उसकी निष्पत्ति विश्लेषण के लक्ष्य के प्रति बिना किसी व्यावहारिक आसक्ति के ही की जानी चाहिए।

उन्नीसवीं सदी के बारे में कहा जा सकता है कि वह सौंदर्यशास्त्र की शताब्दी थी। कांट की बनायी गयी ज़मीन पर ही बाद में जर्मन विद्वानों ने सौंदर्यशास्त्र का वृहत्तर दार्शनिक ढाँचा खड़ा किया। हीगेल ने अपनी रचना *लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक्स* में, शॉपेनहॉर ने *द वर्ल्ड एज़ विल ऐंड रिप्रज़ेंटेशन* में और नीत्शे ने *बर्थ ऑफ़ ट्रैजेडी* में पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र के विभिन्न पहलुओं की बारीक व्याख्याएँ कीं और उसके नये आयामों को प्रकाशित किया। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में अंग्रेज़ी भाषी सौंदर्यशास्त्र में रूपवाद का

उभार हुआ। विक्टोरियायी ब्रिटेन ने 'कला के लिए कला' का नारा दिया जिसके प्रवक्ताओं में ऑस्कर वाइल्ड का नाम उल्लेखनीय है। विशुद्ध सौंदर्यशास्त्रीय अनुभव पर बल देने वाले रूपवादी दृष्टिकोण ने लगभग सभी क्षेत्रों में आधुनिक कला-रूपों को गहराई से प्रभावित किया। लेकिन इस आंदोलन के विरोध की ध्वनियाँ महान रूसी साहित्यकार लियो तॉल्स्टॉय की रचना *व्हाट इज़ आर्ट?* और अमेरिकी परिणामवाद के प्रमुख प्रवक्ता जॉन डिवी की कृति *आर्ट एज़ एक्सपीरिएंस* में सुनायी दीं। तॉल्स्टॉय का तर्क था कि जो कला मनुष्यों के बीच नैतिक अनुभूतियों का सम्प्रेषण नहीं कर सकती, वह रूपवादी कसौटियों के हिसाब से कितनी भी महान क्यों न हो, उसकी सराहना नहीं की जा सकती। डिवी ने भी सम्प्रेषण की भूमिका के सवाल पर रूपवाद से लोहा लेते हुए कला को सौंदर्यशास्त्र के नाम पर उसके दायरे के बाहर मौजूद अनुभव की संरचनाओं से काट कर रखने का विरोध किया।

सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन की जर्मन परम्परा बीसवीं सदी में भी जारी रही। घटनाक्रियाशास्त्र, व्याख्याशास्त्र और मार्क्सवाद के औज़ारों का इस्तेमाल करके सौंदर्यशास्त्र संबंधी सिद्धांतों को और समृद्ध किया गया। 1936 में मार्टिन हाईडैगर ने 'द ओरिजन ऑफ़ द वर्क ऑफ़ आर्ट' जैसा निबंध लिखा जिसे कला के दर्शन की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक माना जाता है। हाईडैगर ने इस निबंध में दावा किया कि कला-कृति को इस जगत में स्थित वस्तु के रूप में देखना आधुनिकता की मूलभूत लाक्षणिक त्रुटियों में से एक है। हाईडैगर के मुताबिक कला तो एक नये जगत के द्वार खोलती है, कला के रूप में सत्य अपने-आप में घटता ही नहीं हमारे अपने अनुभव के दायरे में वस्तुओं के अस्तित्व का उद्घाटन भी करता है। इस तरह सौंदर्यशास्त्र के माध्यम से हाईडैगर ने आधुनिकता की आलोचना करते हुए वस्तुओं की पारम्परिक अस्तित्व-मीमांसा और प्रौद्योगिकीय व्याख्या को आड़े हाथों लिया।

बीसवीं सदी के मध्य तक सौंदर्यशास्त्र की उपयोगिता पर सवाल उठने लगे। सदी की शुरुआत में दिये गये अपने कुछ व्याख्यानों में एडवर्ड बुलो यह प्रश्न पूछ चुके थे कि कहीं कला और सौंदर्य की परिभाषाएँ कलाकार की सृजन-क्षमता का क्षय तो नहीं कर रही हैं। ये व्याख्यान 1957 में छपे और साठ के दशक में अमेरिकी कलाकार बारनेट न्यूमैन ने एलान कर दिया कि सौंदर्यशास्त्र का उपयोग कला के लिए वही है जो पक्षीशास्त्र का पक्षियों के लिए है। अर्थात् सौंदर्यशास्त्र से अनभिज्ञ कलाकार ही अच्छा है।

संस्कृति-अध्ययन के तहत सौंदर्यशास्त्र के अभिजनोन्मुख रुझानों की कड़ी परीक्षा की गयी है। पिएर बोर्दियो ने संस्कृति के समाजशास्त्र के तहत कला के

विचारधारात्मक आधार की न केवल शिनाख्त की बल्कि यह भी कहा कि इसी कारण से सौंदर्यशास्त्र अपनी ही सांस्कृतिक और राजनीतिक जड़ों का संधान नहीं कर पाया है। बोर्दियो के इस विचार का प्रतिवाद एडोर्नो की रचना *एस्थेटिक थियरी* में मिलता है। एडोर्नो बीसवीं सदी की अवाँगार्द कला का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कला में अभी भी विचारधारा का प्रतिवाद करने की क्षमता है। एडोर्नो के मुताबिक कला अपने समाज की उपज जरूर होती है, पर उसका रचना-प्रक्रिया में सामाजिक नियतत्ववाद से स्वायत्त क्षण भी निहित होता है। इसलिए वह कलाकार और उसके दर्शक या पाठक को तत्कालीन प्रभुत्वशाली संस्कृति द्वारा थमाये गये तौर-तरीकों से इतर सोचने का मौका भी देती है।

कुछ मार्क्सवादी विद्वानों ने सौंदर्यशास्त्र की एक मार्क्सवादी श्रेणी विकसित करने की कोशिश भी की है। हिंदी के प्रमुख मार्क्सवादी साहित्यालोचक नामवर सिंह ने इस तरह की कोशिशों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हुए इसका पहला उदाहरण सोवियत संघ में 'समाजवादी यथार्थवाद' का शास्त्र-निर्माण माना है। उन्होंने कहा है, 'शास्त्र बनते ही सामाजिक यथार्थ भी सूत्रबद्ध हो गया और उस यथार्थ को अभिव्यक्त करने की शैली भी। देखते-देखते एक नया रीतिवाद चल पड़ा, रचना में भी, आलोचना में भी। जिस देश ने समाजवादी क्रांति की, वह साहित्य और कला के क्षेत्र में कोई क्रांति करने से ठिठक गया। यथार्थ का ऐसा और इतना अपमान तो क्रांति के पहले के साहित्य में भी नहीं हुआ था और उन्नीसवीं सदी के युरोप के साहित्य में भी नहीं जब बूर्जुवा क्रांति ने यथार्थवाद को जन्म दिया था। हालत बहुत कुछ हिंदी की रीतिवादी कही जानेवाली साहित्य-प्रवृत्ति की-सी हो गयी, जब अलंकारशास्त्र के लक्षण ग्रंथों को सामने रख कर कविताएँ लिखी जा रही थीं।'

नामवर सिंह ने दूसरा उदाहरण ग्योर्गी लूकाच द्वारा रचित *सौंदर्यशास्त्र* नामक विशाल ग्रंथ का दिया है। वे इसे लूकाच द्वारा अपने लगभग साठ वर्षों के दीर्घ साहित्य-चिंतन को अंततः एक व्यवस्थित शास्त्र में बाँधने का विराट प्रयास करार देते हैं, 'हजारों पृष्ठों का यह विशाल ग्रंथ अभी तक जर्मन भाषा में ही उपलब्ध है और जो जर्मन अच्छी तरह जानते होंगे, वही इसके बारे में कुछ विश्वासपूर्वक कह सकने में सक्षम होंगे। अंग्रेजी में अभी तक उसके बारे में जो कुछ कहा गया है और उसके छिटपुट अंशों से जो आभास मिला है उसके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसमें समस्त कलाओं को 'अनुकरण' में निश्शेष करने की असफल चेष्टा की गयी है। इस प्रकार मार्क्सवादी लूकाच जब सभी कलाओं को एक शास्त्र में बाँधने चलते हैं तो अंततः अरस्तू की शरण जाने को बाध्य होते हैं। किसी अंग्रेजी साप्ताहिक ने इस ग्रंथ की समीक्षा के साथ एक ऐसा कार्टून छपा था,

जिसमें लूकाच मार्क्स की दाढ़ी के साथ अरस्तू की शकल-सूरत और पोशाक में पेश आते हैं।'

नामवर सिंह की मान्यता है कि लूकाच के दृष्टांत से मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की इस लम्बी परम्परा का एक कमजोर पहलू सामने आता है। वे कहते हैं कि 'अक्सर वह स्वयं 'कला' नामक संस्था को चुनौती देने में चूक गया और कला की क्लासिकी परिभाषा को स्वीकार कर लेने में उसे कोई हानि नहीं दिखाई पड़ी। बुनियादी रूप में एक बार इन परिभाषाओं को स्वीकार कर लेने के बाद तो फिर थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ इस-उस कवि या कृति के मूल्यांकन का कार्य ही शेष रहता है; और कहने की आवश्यकता नहीं कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों ने इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का जौहर बखूबी दिखाया है— ऊँची संस्कृति के बड़े-से-बड़े विचारकों से होड़ लेते हुए। व्याख्या और मूल्यांकन की भाषा निश्चय ही भौतिकवादी भी है और ऐतिहासिक भी, लेकिन कुल मिलाकर वह प्रभुत्वशाली परम्परा से बहुत अलग नहीं है।'

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, नामवर सिंह, पिएर बोर्दियो, फ्रैंकफर्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. डी.ई. कूपर (1992), *अ कम्पैनिन टू एस्थेटिक्स*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड, 1992
2. टैरी इंगलटन (1999), *द आइडियॉलॉजी ऑफ़ द एस्थेटिक*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड, 1999
3. इमैनुएल कांट (1790/1987), *द क्रिटिक ऑफ़ जजमेंट*, अनु, डब्ल्यू.एस. प्लुहर, हैकेट, इण्डियापोलिस, आईएन.
4. टी.डब्ल्यू. एडोर्नो (1984), *एस्थेटिक थियरी*, सॉटलेज एंड कीगन पॉल, न्यूयॉर्क.
5. नामवर सिंह (2013), 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की दिशा', *डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू हिंदीसमय.कॉम* पर उपलब्ध, 18 अगस्त, 2013 को देखा गया।

— अभय कुमार दुबे

स्टार

(Star)

किसी अभिनेता के स्टार बनने की प्रक्रिया और उसके निहितार्थों पर फ़िल्म-अध्ययन ने गहरी नज़र डाली है। एक फ़िल्म के निर्माण में कई विधाओं का योगदान होता है जिनमें केंद्रीय भूमिका निर्देशक की होती है। लेकिन स्टार वही बनता है जो एक्टिंग के माध्यम से इस पूरी टीम के प्रयासों को पर्दे पर पेश करता है। अभिनेताओं में से भी स्टार की हैसियत एक, दो, तीन या ज्यादा से ज्यादा चार लोगों को मिल पाती है : नायक, नायिका, खलपात्र और कॉमेडियन। फ़िल्म-व्यवसाय में इन चारों का मूल्य-क्रम भी इसी प्रकार है। अगर फ़िल्म हास्य-प्रधान है तो कॉमेडियन मुख्य भूमिका ग्रहण करके यह क्रम बदल सकता है। अभिनेताओं ने स्टार को पाँच तरीकों से परिभाषित करने का प्रयास किया है। एक : स्टार फ़िल्म के लिए पूँजी की भूमिका निभाता है यानी फ़िल्म उसके कारण बिकती है। दो : स्टार होता नहीं बल्कि गढ़ा जाता है। उसे न केवल फ़िल्म-उद्योग गढ़ता है बल्कि वह खुद भी अपने-आप को गढ़ने का ज़िम्मेदार होता है। तीन : स्टार का मतलब है स्थापित सामाजिक मानकों से अलग हट कर ज़िंदगी गुज़ारना अर्थात् अपनी शर्तों पर अपने ढंग से आचरण करना। चार : स्टार अपने-अपने देश-काल में कुछ खास सांस्कृतिक संहिताओं की नुमाइंदगी करता है। पाँच : स्टार अपने दर्शकों द्वारा भी कल्पित किया जाता है।

स्टार स्टूडियो-सिस्टम की देन है। फ़िल्म-उद्योग के शुरुआती सालों में फ़िल्मों के प्रचार में स्टूडियो के अलावा किसी का नाम नहीं दिया जाता था। सबसे पहले फ्रांस के स्टूडियो-प्रबंधकों ने महसूस किया था कि अभिनेता या अभिनेत्री की लोकप्रियता का लाभ उठाने से फ़िल्म बेहतर मुनाफ़ा कमा सकती है। अमेरिकी फ़िल्म-उद्योग में हॉलीवुड के स्टूडियोज़ ने इस प्रवृत्ति को न केवल अपनाया बल्कि 1920 तक इसे एक प्रणाली (स्टार-सिस्टम) के रूप में विकसित कर दिया। मैरी पिकफ़ोर्ड को पहला और चार्ली चैप्लिन को हॉलीवुड का दूसरा स्टार माना जाता है। मूक फ़िल्मों के दौर का स्टार आम तौर पर एकायामी होता था। सवाक फ़िल्मों के साथ ही पुरुष-स्टार की शिखर पर पहुँचने का समय आया (आदर्श चरित्रवान नायक, विद्रोही नायक, प्रति-नायक, जागरूक नायक) होनी शुरू हो गयी, लेकिन स्त्री-स्टारों से अपेक्षाएँ पहले जैसी ही रहीं। उन्हें या तो चरित्रवान नायिका और चरित्रहीन खलनायिका के द्विभाजन का प्रतिनिधित्व करना होता था, या फिर वे दर्शकों और पुरुष-स्टार के लिए सौंदर्य और शृंगार की सामग्री प्रस्तुत करने वाली 'सेक्स-गॉडसेस' होती थीं। बहरहाल, मूक फ़िल्मों से

सवाक फ़िल्मों की तरफ़ जाने की प्रक्रिया में ही फ़िल्म-उद्योग ने स्टार की शिखर पर पहुँचने के रूप में विकसित किया। इस दौरान हॉलीवुड के हर बड़े स्टूडियो के पास फ़िल्मी सितारों, पटकथा लेखकों, निर्देशकों और डिज़ाइनरों की टीमें हुआ करती थीं जिन्हें वह वेतन पर रखता था। स्टारों की आमदनी इस बात पर निर्भर करती थी कि स्टूडियो कितना कमा रहा है। स्टार-सिस्टम के ज़रिये हॉलीवुड पश्चिम की अन्य फ़िल्म-संस्कृतियों से अभिनय प्रतिभाओं को अपनी तरफ़ आकर्षित कर पाया। मूक फ़िल्मों के ज़माने में ग्रेटा गार्बो और बाद में सोफ़िया लारेन, ब्रीजी बारदो, जीना लोलोब्रिजिदा और रिचर्ड बर्टन जैसे एक्टरों का हॉलीवुडीकरण इसका सबूत है। आज हॉलीवुड का स्टूडियो-सिस्टम ख़त्म हो चुका है, अर्थात् स्टूडियो हैं और फ़िल्म-निर्माण में उनकी मुख्य भूमिका है पर फ़िल्म के वितरण और प्रदर्शन पर उनकी इजारेदारी नहीं है। इस स्थिति ने उन्हें अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की 'स्टार-पावर' पर और निर्भर बना दिया है। दर्शकों के मानस पर स्टार की पकड़ के कारण न केवल फ़िल्म वितरकों के बीच आसानी से बिक जाती है और प्रदर्शन के पहले हफ़्ते में उसके टिकटों की जम कर बिक्री होती है, बल्कि उन फ़िल्मों में निर्मातागण आसानी से धन लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं जिनके साथ कोई लोकप्रिय स्टार जुड़ा हो। स्टार की प्रचलित छवि को व्यावसायिक रूप से भुनाने के लिए विशेष रूप से पटकथाएँ लिखी जाती हैं। अगर कोई स्टार खास तरह की भूमिका (जैसे काउबॉय या डकैत) करना चाहता है तो वह उद्योग पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके उस तरह की फ़िल्म बनवाता है।

ज़ाहिर है कि अभिनेताओं को स्टार बनाने का काम फ़िल्म उद्योग करता था, लेकिन अपनी शिखर पर पहुँचने के इर्द-गिर्द मिथकों का विकास करने में खुद स्टारों की भी भूमिका होती थी। दूसरी तरफ़ किसी को स्टार का दर्जा दिलाने में मीडिया (प्रेस, टीवी, रेडियो, फ़ैन-क्लबों की पत्रिकाएँ) की कारसाजी की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। अपनी स्टार-छवि के प्रति सतर्क अभिनेता अक्सर कोशिश करते थे कि दर्शकों के सामने उनका स्क्रीन-अवतार ही रहे और उनके व्यक्तित्व के वास्तविक पहलू किसी न किसी तरह छिपे रहें। स्टार अपनी देह और उसकी शैलीबद्ध प्रस्तुति के माध्यम से दर्शकों तक पहुँचते हैं, इसलिए उनके जीवन में आयु बढ़ने का बहुत महत्त्व होता है। स्टार का बूढ़ा होना एक समस्या है, जिसका सामना न केवल वह और उसके कारण फ़ायदा कमा रहा फ़िल्म-उद्योग करता है, बल्कि दर्शकों का मानस भी प्रभावित होता है। पुरुष-स्टारों के मामले में उम्र बढ़ने का घाटा देर से शुरू होता है, जबकि स्त्री-स्टारों को इस समस्या का सामना जल्दी करना पड़ता है। पुरुष अंधेड़ होने और



हॉलीवुड के स्टूडियो-सिस्टम ने अभिनेताओं को स्टार बनाया.

चेहरे पर पड़ने वाली खराशों और थोड़े-बहुत मोटापे के बावजूद दर्शकों द्वारा स्वीकार किये जाते रहते हैं। पर स्त्रियों का चेहरा तीस-पैंतीस की उम्र के बाद जैसे ही अपनी कमसिनी खोता है, वे दर्शकों की आलोचनाओं का सामना करने पर मजबूर हो जाती हैं। अपनी सुंदर छवि को दर्शकों के मानस में सुरक्षित रखने के लिए कई स्त्री-स्टार उम्र पकने से पहले ही रिटायरमेंट ले लेती हैं। अभिनेत्रियों को अक्सर यह शिकायत रहती है कि प्रौढ़ होने पर उनके लिए सार्थक और केंद्रीय भूमिकाओं का अकाल पड़ जाता है।

किसी स्टार की शिखरयुत के तीन या चार पहलू हो सकते हैं : वास्तविक व्यक्ति, पर्दे पर दिखाई जाने वाली हस्ती, उसका अपना स्टार-व्यक्तित्व जिसके जरिये वह खुद को निजी और पर्दे की जिंदगी के बाहर पेश करता है। इन तीनों पहलुओं से मिल कर बनने वाली स्टार-छवि के भी चार पहलुओं की शिनाख्त की गयी है : एक पहलू फ़िल्म-उद्योग की मर्जी से तय होता है, दूसरा मीडिया और समीक्षकों की राय के आधार पर बनता है, तीसरी खुद स्टार की कथनी और करनी से निकलता है, और चौथा दर्शकों के बीच मिलने वाली उसकी स्वीकारोक्ति की अभिव्यक्ति होता है। एक बार जब स्टार की छवि बन जाती है तो वह महज़ एक कल्पित बिम्ब नहीं रह जाती। उनका विस्तार सार्वजनिक और निजी दायरों तक हो जाता है। मल्टीमीडिया (फ़ोटोग्राफी, फ़िल्म, प्रेस, टीवी आदि) की कोशिशें उसे और भव्यता प्रदान करती हैं। स्टार का इतिहास उसके वजूद के ख़त्म होने के बाद भी जारी रहता है। इस लम्बी और पेचीदा अवधि में स्टार-बिम्ब के साथ कई तरह के तात्पर्य जुड़ते चले जाते हैं।

स्टार होने के लिए स्टार जैसी जीवन-शैली होना भी ज़रूरी है। स्टार न तो साधारण लोगों जैसा जीवन जी सकता

है, और न ही मध्यवर्गीय नैतिकताओं की उसके लिए कोई अहमियत होती है। उपभोग और सेक्शुअलिटी के मामले में अतिवादी रवैया उसके लिए स्वाभाविक है। उसका यह दुहरा अतिवाद फ़िल्म-उद्योग के लिए फ़ायदेमंद माना जाता है। साधारण लोगों को हमेशा लगता रहता है कि स्टार का निजी जीवन भव्य क्रिस्म की ज़्यादातियों से भरा होगा। इसलिए वे इंटरनेट की उन साइटों की सर्फ़िंग करते रहते हैं जिनका दावा होता है कि उन्होंने छिपे हुए कैमरों से स्टार या स्टारों की कारगुज़ारियों की तस्वीरें उतारी हैं। पहले इस तरह की दृश्य-रत्यात्मकता केवल स्टार की 'रील' लाइफ़ तक ही सीमित थी जो अब पेपराज़ी (निजी जीवन की तस्वीरें खींच कर बेचने वाले कैमरामैन) और नेट-संस्कृति के कारण फ़िल्मी सितारों की वास्तविक जिंदगी तक फैल गयी है। यह अलग बात है कि स्टार-अभिनेताओं की यह वास्तविक जिंदगी भी उनके स्टार-बिम्ब का ही एक पहलू होती है।

स्टार अपने ज़माने के सांस्कृतिक मूल्यों की नुमाइंदगी भी करता है। एक व्यक्ति और अनुकरणीय प्रतीक के रूप में वह साधारण भी होता है और असाधारण भी। कई स्टारों में अमेरिकी मूल्यों (या भारतीय मूल्यों) का फ़िल्म उद्योग और दर्शकों द्वारा आरोपण किया गया है। कई अभिनेत्रियाँ पारिवारिक मूल्यों और उन्हें क़ायम रखने के लिए त्याग की नुमाइंदगी करती रही हैं। समाज के धरातल पर स्त्री या पुरुष सेक्शुअलिटी की परिभाषा जैसे-जैसे बदलती है, स्क्रीन पर उसका निरूपण भी रंग बदलता है। स्टार भी कोशिश करते हैं कि उसी के अनुरूप उनकी छवि भी बदले। मसलन, कभी 'गर्ल नेक्स्ट डोर' जैसा लगने या मज़दूरवर्गीय या मध्यवर्गीय आदर्शवाद की छवि प्रक्षेपित करने के जरिये दर्शकों के साथ अधिक तादात्म्य हो सकता है, तो कभी क़ानून का तिरस्कार करने वाले विद्रोही की छवि समाज के मूड में ज़्यादा फ़िट बैठती है। फ़िल्म-उद्योग और स्टार बनाने की उसकी प्रौद्योगिकी इस तरह के पारिवेशिक परिवर्तनों पर बारीक़ निगाह रखती है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. रिचर्ड डायर (1980), *स्टार्स*, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट पब्लिशिंग, लंदन.
2. सी. ग्लैडहिल (सम्पा.) (1987), *स्टारडम : द इंडस्ट्री ऑफ़ डिज़ायर, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.*
3. बी. किंग (1985), *आर्टीकुलेटिंग स्टारडम, स्क्रीन, खण्ड 26, अंक 5.*

— अभय कुमार दुबे

स्तालिन और स्तालिनवाद

(Stalin and Stalinism)

स्तालिनवाद किसी विचारधारा या किसी दार्शनिक अवधारणा का नाम नहीं है। रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति और उसके नेता लेनिन की मृत्यु के बाद तीन दशकों में धीरे-धीरे एक राजनीतिक परिघटना के रूप में इसका विकास हुआ। चूँकि 1927 से लेकर 1956 के बीच सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख रहे जोसेफ़ स्तालिन के जीवन में ही कुछ बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्तालिनवाद नामक नयी विचारधारा का सूत्रीकरण करने का कमज़ोर सा प्रयास किया था। इसकी मिसाल दिसम्बर, 1934 के *प्रावदा* में प्रकाशित कार्ल रैडेक के एक लेख के रूप में मिलती है। पर इस रवैये को न तो स्तालिन ने प्रोत्साहित किया, और न ही सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के अन्य सिद्धांतकारों ने। फिर भी इस परिघटना के केंद्र में मौजूद स्तालिन की बौद्धिक और राजनीतिक शिखरयत के कारण इसे स्तालिनवाद का नाम मिल गया। इसे दो तरीके से समझा जा सकता है : सोवियत संघ में स्तालिन के नेतृत्व में तीस साल तक चली समाजवाद के निर्माण की परियोजना के तौर पर, और इस दौर से निकली वैचारिक और सांगठनिक प्रवृत्तियों के रूप में जिन्होंने सारी दुनिया में मार्क्सवादी राजनीति (कला और संस्कृति के क्षेत्रों समेत) को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया।

मार्क्सवादी आंदोलन के भीतर सोवियत इतिहास में स्तालिन की भूमिका और मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर स्तालिन के प्रभाव का मूल्यांकन करने के बारे में ज़बरदस्त विवाद है। इस लिहाज़ से सारी दुनिया के मार्क्सवादी तीन हिस्सों में बँटे हुए हैं : एक हिस्सा वह है जो स्तालिनवाद को पूरी तरह से स्वीकारते हुए उसे मार्क्सवाद का प्रमुख व्यावहारिक रूप प्रसार देता है (भारत में इसका उदाहरण खुद को मार्क्सवादी-लेनिनवादी कहने वाले नक्सलवादी गुटों के रूप में मौजूद है), दूसरा हिस्सा उसे पूरी तरह से खारिज करते हुए

मार्क्सवादी प्रयोग की त्याज्य विकृति प्रसार देता है (जैसे, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी), और तीसरा हिस्सा वह है जो स्तालिनवाद के प्रभाव को आम तौर पर प्रेरक और सकारात्मक मानने के बावजूद उसके कुछ पहलुओं की आलोचना करता है (जैसे, माओ त्से तुंग जो स्तालिन को सत्तर फ़ीसदी सही और तीस फ़ीसदी ग़लत मानते थे)। वामपंथियों के ग़ैर-मार्क्सवादी हिस्सों और अन्य वैचारिक हलकों में स्तालिनवाद को एक ऐसी अधिनायकवादी प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है जिसने एक अत्यंत हिंसक और दमनकारी राज्य की स्थापना की।

पार्टी कार्यकर्ताओं के बीच स्तालिन (मैन ऑफ़ स्टील) के नाम पुकारे जाने वाले जोसेफ़ विस्सियारोविच जुगाश्विली का जन्म ज्यार्जिया में 21 दिसम्बर, 1879 को एक ग़रीब मोची के घर में हुआ था। उनकी पढ़ाई-लिखाई तिबलिसी की एक धार्मिक सेमिनरी में हुई जहाँ अपने क्रांतिकारी रुझानों के कारण उन्हें अक्सर सज़ा भुगतनी पड़ती थी। 1899 में वे पेशेवर क्रांतिकारी हो कर मार्क्सवादी आंदोलन में सक्रिय भागीदारी करने लगे। कुशल संगठक और भूमिगत राजनीतिक काम में महारत होने के कारण स्तालिन को क्रांतिकारी हलकों में प्रमुखता मिलने लगी। 1904 से ही उन्होंने खुद को लेनिन और बोल्शेविकों के साथ जोड़ लिया और 1912 में बोल्शेविक केंद्रीय समिति के सदस्य बने। 1902 से 1917 के बीच स्तालिन अनगिनत बार गिरफ़्तार हुए, उन्हें लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दी गयीं और कई बार उनका निष्कासन हुआ। 1913 में उन्हें पकड़ कर साइबेरिया के सुदूर उत्तरी इलाक़े में भेज दिया गया जहाँ से उनकी रिहाई 1917 की फ़रवरी क्रांति के बाद ही हो पायी। बोल्शेविक क्रांति के तुरंत बाद और गृह-युद्ध के दौरान स्तालिन पार्टी के कई प्रमुख पदों पर रहे। पोलित ब्यूरो के सबसे शुरुआती सदस्यों में से एक स्तालिन को 1922 में पार्टी का महासचिव नियुक्त किया गया। समाज के सबसे निचले तबके से उभर कर सर्वोच्च पदों पर पहुँचने वाले वे पार्टी के एकमात्र नेता थे। जनवरी, 1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद उन्होंने एक-एक करके अपनी नीतियों का विरोध करने वाले ट्रॉट्स्की, जिनोवीव और बुखारिन को पराजित किया और 1929 के अंत तक सोवियत पार्टी और राज्य के सर्वोच्च नेता के रूप में उभरे। स्तालिन का देहांत पाँच मार्च, 1953 को हुआ।

स्तालिन के आलोचक अक्सर उन्हें केवल जोड़-तोड़ में माहिर और मामूली बौद्धिक क्षमताओं वाले नेता के रूप में पेश करते हैं। लेकिन 1906 में ही प्रिंस क्रोपाटकिन के विचारों की आलोचना करने वाली उनकी रचना *अनार्किज़्म ऑर सोशलज़िज़्म?* का प्रकाशन हो चुका था। उनके सैद्धांतिक लेखन की विशेषता थी बेहद सरल अभिव्यक्ति जिसके कारण वह कार्यकर्ताओं के बीच काफ़ी पसंद किया जाता था।



जोसेफ़ विस्सियारोविच जुगारिबली उर्फ़ स्तालिन (1879-1953)

स्तालिन मुख्य रूप से विश्व-क्रांति के बिना ही एक देश में समाजवाद की स्थापना के सिद्धांत के लिए जाने जाते हैं। 1924 के बाद से स्तालिन ने अपने इस तर्क को मजबूत करने वाला लेखन और विश्लेषण किया।

स्तालिनवाद को अक्सर एक व्यक्ति स्तालिन की कारिस्तानी के रूप में देखने का सरलीकरण किया जाता है, पर इस राजनीतिक परिघटना के पीछे मौजूद संरचनागत कारणों की समझ ज़रूरी है। बोल्शेविक क्रांति के परिणामस्वरूप स्थापित हुई कम्युनिस्ट सत्ता दो विरोधाभासी आयामों से मिल कर बनी थी। एक तरफ़ उसमें सोवियतों (मजदूरों और किसानों की निर्वाचित परिषदें) के रूप में आम जनता की सीधी भागीदारी के पहलू थे जिनमें प्रत्यक्ष लोकतंत्र की झलक दिखती थी। लोकतंत्र का यह रूप पश्चिमी देशों में विकसित हो रहे बाज़ार आधारित उदारतावादी लोकतंत्र से बेहतर और रैडिकल लगता था। दूसरी तरफ़ एक नयी उदीयमान व्यवस्था को एक अनुशासित कार्यकर्ता आधारित कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा निर्देशित-नियंत्रित किया जा रहा था। इस पार्टी की बागडोर लेनिन के हाथ में थी जो सर्वहारा की तानाशाही, लोकतांत्रिक केंद्रवाद और क्रांतिकारी हरावल दस्ते के आधार पर बनी पार्टी की भूमिका में यत्न रखते थे। 1920 में प्रकाशित अपनी रचना *वामपंथी कम्युनिज़म : एक बचकाना मर्ज़* में उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि सोवियत सत्ता की तारतम्यता का क्रम क्या रहेगा। सबसे ऊपर नेता, फिर पार्टी, फिर मजदूर वर्ग और फिर जनता।

नेता और पार्टी की सर्वोच्चता की पृष्ठभूमि में पनपे स्तालिनवाद की ज़िम्मेदारी कुछ वैचारिक रुझानों के साथ-साथ अपने देश-काल की मजबूरियों के असाधारण संयोग पर भी डाली जा सकती है। 1918-21 के बीच चले गृह युद्ध, उसके बाद के दो वर्षों और फिर 1924-27 के बीच की अवधि को इतिहासकारों ने 'सर्वसत्तावादी लोकतंत्र' का विरोधाभासी नाम दिया है। समझा जाता है कि स्तालिनवाद का बीज इसी मुकाम पर पड़ा। बाद के सालों में पश्चिमी ताकतों द्वारा पहले समाजवादी राज्य की 'पूँजीवादी और साम्राज्यवादी घेरेबंदी' का मुकाबला करने के नाम पर कई तरह के संस्थागत और वैचारिक तौर-तरीके ईजाद किये गये। इनमें कुछ को छोड़ कर हर एक के लिए स्तालिन खुद ज़िम्मेदार नहीं थे। लेनिन की मृत्यु के बाद पार्टी के शीर्ष नेतृत्व में शामिल उनके तत्कालीन साथी और सत्ता के लिए उनसे होड़ करने वाले नेता भी उन अधिनायकवादी और दमनकारी प्रवृत्तियों की शुरुआत में भागीदार थे जिनके आधार पर आने वाले समय के लिए सोवियत राज्य की व्यावहारिक नींव रखी जा रही थी।

रूसी विद्वान मिखाइल इल्यिन ने स्तालिनवाद की परिघटना के विकास को कई चरणों में बाँट कर पेश किया है। सोवियत पार्टी के भीतर कई साल तक चले गहन सत्ता-संघर्ष का अंत दिसम्बर, 1927 में हुई पार्टी कांग्रेस के रूप में हुआ। इस दौर को उन्होंने नवजात स्तालिनवाद की संज्ञा दी है। बचकाना वामपंथ के मर्ज़ की आलोचना करते हुए लेनिन ने ट्राट्स्की द्वारा प्रवर्तित सतत क्रांति की थीसिस से असहमति व्यक्त की थी। इससे पाँच साल पहले ही अपने एक लेख में लेनिन ने स्थापित मार्क्सवादी नज़रिये के विपरीत दिखा दिया था कि असमान आर्थिक-राजनीतिक विकास के कारण कुछ देशों में या एक ही देश में समाजवाद की स्थापना का प्रयास करना होगा। 1921 में हुई दसवीं कांग्रेस से ही पार्टी में 'पर्जिंग' अर्थात् विरोध की आवाज़ उठाने वालों का निष्कासन करके पार्टी की सफ़ाई का चलन शुरू हो गया था। 1922 में पार्टी महासचिव के तौर पर केंद्रीय स्थिति प्राप्त करने वाले स्तालिन ने लेनिन के इस विश्लेषण को समझ कर ही 1924 में अपनी रचना *फ़ाउंडेशंस ऑफ़ लेनिनिज़म* के दूसरे संस्करण में एक देश में समाजवाद की स्थापना के विचार को जोड़ा। स्तालिन के समकालीन सोवियत सिद्धांतकार निकोलाई बुखारिन ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए कहा कि अगर दुनिया के पहले समाजवादी राज्य को फ़ौजी सुरक्षा की गारंटी दी जा सके तो एक देश में समाजवाद की रचना की जा सकती है। पर्जिंग का बार-बार इस्तेमाल करते हुए स्तालिन ने पंद्रहवीं कांग्रेस तक अपनी नीतियों के विरोधियों से पार्टी को मुक्त कर लिया। पार्टी के प्रत्येक पद पर नियुक्ति उनके हाथ में आ गयी और उन्होंने

क्षेत्रीय पार्टी कमेटियों में विशेष विभाग स्थापित किये ताकि हर तरह की नियुक्तियों की कड़ी निगरानी की जा सके। इस तरह 1927 आते-आते सोवियत संघ में पार्टी-राज्य के रूप में सर्वसत्तावादी शासन क्रायम करने का रास्ता पूरी तरह से साफ़ हो गया।

दूसरे दौर को उदीयमान स्तालिनवाद का नाम दिया गया है जो 1930 तक चला। यह उद्योगीकरण, कृषि के सामूहिकीकरण और पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत का समय था। अर्थव्यवस्था पूरी तरह से राज्य के नियोजित नियंत्रण में चली गयी। समाज के धरातल पर किसी भी तरह की पृथक अस्मिता सोवियत विरोधी मान ली गयी। समरूपीकरण का बोलबाला हो गया। इन क्रदमों का पार्टी के भीतर विरोध हुआ, जिसके कारण स्तालिन को 1929 से 30 के दौरान पार्टी में पर्जिग की ज़बरदस्त मुहिम चलानी पड़ी। करीब एक लाख कम्युनिस्ट निकाल दिये गये। कोई दस फ़ीसदी पुराने सदस्य हटाये गये और नये औद्योगिक मज़दूरों को पार्टी का सदस्य बनाया गया। 1930-34 की अवधि को शुरुआती स्तालिनवाद क्रार देते हुए इल्यिन ने बताया है कि इस दौर में स्तालिन ने वर्ग संघर्ष को और तीखा करने की घोषणा करते हुए यह दिखाने की कोशिश की कि समाजवाद को पूँजीवादी साज़िशों से बचाने के लिए राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ़ चल रहा दमनचक्र किस तरह ज़रूरी है। 1933 में एक बार फिर पर्जिग का दौर चला और पार्टी के 18 फ़ीसदी सदस्य हटा दिये गये। लेकिन इस बार उनकी जगह नये सदस्यों की भर्ती नहीं की गयी।

1934-41 की अवधि सम्पूर्ण स्तालिनवाद की थी। इस दौर में स्तालिन की व्यक्ति-पूजा को बढ़ावा दिया गया। स्तालिनवाद की यह अवधि बोल्शेविक क्रांति के कुछ महत्वपूर्ण नेताओं के ऊपर चलाये गये मुकदमों के लिए भी जानी जाती है। इन मुकदमों में बुखारिन और कामेनेव जैसे नेताओं को अपने अपराध (सोवियत संघ के खिलाफ़ साज़िश और पूँजीवाद की स्थापना की कोशिशों) स्वीकार करने के लिए मजबूर करके मौत की सज़ा दी गयी। इसी अवधि में *नोमेनक्लेतुरा* की परिघटना उभरी। यह एक लैटिन शब्द था जिसका मतलब था नामों की सूची। *नोमेनक्लेतुरा* में अग्रिम नामज़दगी की प्रक्रिया के माध्यम से विभिन्न कमेटियों के लिए कार्यकर्ताओं और नेताओं को शामिल किया जाता था। इस सूची में नाम आने का मतलब था कि वह व्यक्ति पार्टी-प्रणाली द्वारा नियंत्रित रहेगा, पार्टी जब चाहेगी उसे हटा देगी, पदोन्नति करेगी या उसे हाशिये पर फेंक दिया जाएगा। मिलोवान जिलास ने स्तालिनवाद की आलोचना करते हुए *नोमेनक्लेतुरा* को नये वर्ग की संज्ञा दी है। लेकिन सोवियत संघ में शासन चलाने वालों का यह तबका मुख्यतः पार्टी और प्रशासनिक मशीनरी के बीच पुल का काम करता था। यह

सरकार के नियंत्रण और सुसंगतीकरण की प्रणाली का प्रमुख अंग था। इसने राज्य की संस्था को एक प्रशासनिक बंदोबस्त में सीमित करके रख दिया।

1936 के बाद पार्टी-पर्जिग की जगह 'जनता के गद्दारों के खिलाफ़ संघर्ष' किया जाने लगा। यह 'संघर्ष' निकोलाई येज़ोव के नेतृत्व में कार्यरत आंतरिक मामलों के मंत्रालय (एनकेवीडी) की देखरेख में चलने वाली सीक्रेट पुलिस के हवाले कर दिया गया। 1938 तक येज़ोव ने स्तालिन के सीधे आदेश के तहत जम कर राजकीय दमन किया। द्वितीय विश्व-युद्ध में सोवियत पार्टी-राज्य प्रणाली की फ़ौजी जीत ने स्तालिन की व्यक्ति-पूजा को ज़बरदस्त उछाल दिया। विश्व-युद्ध के परिणामस्वरूप सोवियत संघ को अमेरिका के साथ-साथ दुनिया की दूसरी महाशक्ति का दर्जा मिल गया। 1945-52 के बीच का दौर विकसित स्तालिनवाद माना जाता है जिसमें स्तालिन के नेतृत्व में दुनिया के पैमाने पर एक समाजवादी ख़ेमा उभरा। इस दौर में मार्क्सवाद को विज्ञान घोषित करके सभी तरह के विज्ञानों को उसमें समाहित मान लिया गया। प्राकृतिक विज्ञानों से निकली दलीलों के जरिये द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद को पुष्ट किया जाने लगा। स्तालिन ने ख़ुद कई तरह के विज्ञानों के बारे में मुहिमें चलवायीं। इसी दौरान भाषा-विज्ञान पर ख़ुद उनकी पुस्तिका प्रकाशित हुई।

स्तालिनवाद को सोवियत संघ से बाहर विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की प्रधान प्रवृत्ति बनाने में कम्युनिस्ट इंटरनैशनल यानी कोमिंटर्न (1919-1943) की उल्लेखनीय भूमिका रही। इसकी स्थापना बोल्शेविक क्रांति की पृष्ठभूमि और मध्य युरोप में चल रही क्रांतिकारी उभार की परिस्थितियों में लेनिन द्वारा 1919 में की गयी थी। इसका सदस्य बनने के लिए हर कम्युनिस्ट पार्टी को लाज़मी तौर पर सुधारवादियों और मध्यमार्गियों से ख़ुद को मुक्त घोषित करना पड़ता था। दूसरे, केवल वे ही पार्टियाँ इसकी सदस्य बन सकती थीं जो कठोर अनुशासन और संगठन के अत्यंत केंद्रीकृत नियमों का पालन करते हुए खुली राजनीति के साथ-साथ भूमिगत राजनीति का भी तालमेल बैठाती हों और जो अपने देश की सेनाओं में भी कम्युनिस्ट प्रचार चलाती हों। स्तालिन सोवियत संघ में समाजवादी अर्थव्यवस्था और सामाजिक संबंधों की रचना जिस तरह से कर रहे थे, कोमिंटर्न अपनी सदस्य कम्युनिस्ट पार्टियों को ठीक उसी पैटर्न पर चलाने की कोशिश करता था।

1952 में तेरह साल के अंतराल के बाद उन्नीसवीं पार्टी कांग्रेस हुई जिसमें स्तालिन ने पार्टी-राज्य प्रणाली में कई तरह के सुधारों की भूमिका बाँधी। इस कांग्रेस में पार्टी की गतिविधियों पर स्वयं रिपोर्ट पेश न करके स्तालिन ने ज्यार्जी मैलेंकोव से रपट रखवाई थी। कुछ लोगों का ख़याल था कि

यह पर्जिंग के नये दौर की तैयारी है। दरअसल, यह परवर्ती स्तालिनवाद की तैयारी थी जिसे सोवियत संघ की उत्तर-विश्वयुद्धीन भूमिका की रोशनी में की जाने वाली नयी तैयारियों का आगाज करना था। लेकिन मार्च, 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद पार्टी के भीतर सत्ता-संघर्ष शुरू हो गया जिसमें निकिता ख्रुश्चेव स्तालिन के उत्तराधिकारी के रूप में उभरे।

ख्रुश्चेव ने देखा कि स्तालिनवाद के तहत अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण तो हो गया है, पर कृषि की बुरी हालत है और उपभोक्ताओं को बुनियादी चीजें भी नसीब नहीं हैं। उन्होंने सोवियत व्यवस्था को स्तालिनवाद के प्रभाव से मुक्त करने का अभियान चलाया ताकि उसे आर्थिक रूप से अधिक कामयाब बनाया जा सके। उन्होंने स्तालिन द्वारा की गयी पर्जिंग को मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी क्रार दिया। हालाँकि कई प्रेक्षकों की उस समय भी मान्यता थी कि सोवियत प्रणाली ने जो रूप ले लिया है, उसमें किसी तरह का सुधार करना तक्ररीबन नामुमकिन है।

संदर्भ

1. मिलोवान ज़िलास (1957), *द न्यू क्लास : ऐन एनालिसिस ऑफ़ कम्युनिस्ट सिस्टम*, प्रेजर, न्यूयॉर्क.
2. एम. वोस्लेस्की (1984), *नोमैनक्लेतुरा : एनाटॉमी ऑफ़ सोवियत रूलिंग क्लास*, बोडली हेड, लंदन.
3. रॉय मेडवेडेव (1971), *लैट हिस्ट्री जज : द ओरिजिस ऐंड कांसिक्वेंसिज ऑफ़ स्तालिनिज़म*, नोफ़, न्यूयॉर्क.
4. रॉबर्ट टकर (1977), *स्तालिनिज़म : एसेज इन हिस्टोरिकल इंटरप्रिटेशन*, नॉर्टन, न्यूयॉर्क.
5. दिमित्री वोल्कोगोनोव (1991), *स्तालिन : ट्राइम्फ़ ऐंड ट्रेजेडी*, ग्रोव वीडनफील्ड, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

स्मृति और अभिलेखागार

(Memory and Archives)

वैश्विक स्तर पर हमेशा काम करते रहने वाले महा-अभिलेखागार के रूप में इंटरनेट के उदय के कारण मानवीय स्मृति की प्रकृति में उल्लेखनीय परिवर्तन की सम्भावनाएँ पैदा हो गयी हैं। स्मृति के सामूहिक रूपों के साथ व्यक्ति के संबंधों का पहले से कहीं ज्यादा विस्तार हो गया है। इसके साथ ही इतिहास और स्मृति के संबंधों की परिभाषा पर भी

नये सिरे से गौर करने की ज़रूरत उभर आयी है। दरअसल, नये मीडिया की प्रौद्योगिकी में सूचना-सामग्री के भण्डारण की अभूतपूर्व क्षमता है और इस प्रौद्योगिकी से बनी मशीनें रोज़मर्रा की ज़िंदगी में साधारण लोगों को आसानी से उपलब्ध हैं। हर व्यक्ति नेट पर मौजूद डिजिटल आरकाइवों तक पहुँच सकता है, वेब 2.0 टेक्नॉलॉजी का सहारा ले कर अपनी मर्जी से उनकी सामग्री का सम्पादन कर सकता है, नयी सामग्री पोस्ट कर सकता है और पहले से मौजूद सामग्री को चाहे तो मिटा सकता है। इस प्रक्रिया में हुआ यह है कि अभिलेखागार की परिघटना शासन और उसके द्वारा नियुक्त संचालक-अधिकारियों की जकड़ से छूट कर उसे इस्तेमाल करने वालों के हाथ में चली गयी है। डिजिटल आरकाइव का चरित्र और उसका विस्तार उसके यूज़र्स पर निर्भर है जिनकी संख्या अनगिनत है। जाहिर है कि अभिलेखागार का लोकतंत्रीकरण हो गया है जिसकी वजह से फ़ोटोग्राफ़, संगीत, वीडियो और तरह-तरह की इबारतें हमारी निजी स्मृतियों और अस्मिताओं को काफी हद तक प्रभावित करने लगी हैं। कागज़ों पर छपे हुए या दर्ज दस्तावेज़ों का सरकारी नियमों के मुताबिक संग्रह और नियंत्रण करने वाले अभिलेखागारों के ज़माने में यह सम्भव नहीं था।

फ़्रांसीसी दार्शनिक जॉक देरिदा ने नब्बे के दशक के मध्य में दिये गये *द कंसेप्ट ऑफ़ आरकाइव : अ फ़ॉयडियन इम्प्रेशन* में अभिलेखागार और मानवीय स्मृति के संबंधों की दोबारा जाँच करने का प्रस्ताव किया था। फ़ॉयड की रचनाओं पर विचार करते हुए देरिदा अपने इस व्याख्यान में ई-मेल की परिघटना की तरफ़ ध्यान दिलाते हैं कि अगर फ़ॉयड के ज़माने में यह होती तो मनुष्य के मानस की संरचना कुछ और होती। परिणामस्वरूप मनोविश्लेषण के मानक वे नहीं होते जो फ़ॉयड और उनके साथी मनोविश्लेषकों ने स्थापित किये हैं। देरिदा फ़ॉयड की इस नाकामी के लिए आलोचना भी करते हैं कि वे मीडिया प्रौद्योगिकी में हो सकने वाले इस तरह के विकास की भविष्य-कल्पना करने में असमर्थ रहे। दिलचस्प बात यह है फ़ॉयड की जिस कमी की तरफ़ देरिदा ने इशारा किया है, उसके शिकार वे कहीं ज्यादा हैं। नब्बे के दशक के मध्य में इंटरनेट के शुरुआती रूप प्रचलित हो चुके थे। पर, देरिदा ने ज्यादा से ज्यादा ई-मेल को ही अपने चिंतन का विषय बनाया। दरअसल, लिखी हुई (या कम्पोज़ की हुई) इबारत का विचार उन पर इतना हावी था कि वे डिजिटल आरकाइवों की सम्भावना कल्पित नहीं कर पाये, और इसीलिए निकट भविष्य में ही मानवीय स्मृति में हो सकने वाली तब्दीलियों तक उनकी पहुँच नहीं हो पायी।

इक्कीसवीं सदी में माइक फ़ेदरस्टोन ने नये मीडिया द्वारा रचे जाने वाले अभिलेखागार की विराट कल्पना सूचना-

सामग्री के एक समूचे नगर के रूप में की जिसमें संस्कृति के विशाल कोषागार की समस्त सम्पदा जमा होगी, जिसमें रखे हुए हर दस्तावेज़ के उपलब्ध होने की सम्भावना रहेगी, जिसमें मौजूद प्रत्येक रिकॉर्डिंग कभी भी सुनी जा सकेगी और हर तस्वीर को देखना आसान होगा। ऐसे आरकाइव या आरकाइवों को अर्जुन अप्पादुरै ने व्यक्ति के निजी अस्तित्व के ऐसे कृत्रिम अंगों की संज्ञा दी है जो उसकी स्मृति-विषयक क्षमता का विस्तार कर देते हैं। इसके जरिये एक ऐसी संस्कृति के उभरने की सम्भावना पैदा हुई है जो अपने अनगिनत सुराग तैयार करके उसे डिजिटल अभिलेखागार में जमा कराती जाएगी। यह एक ऐसा अभिलेखागार होगा जिससे किसी भी तरह के हालात में सामग्री को निकाल कर नष्ट नहीं किया जा सकेगा। इस तरह स्मृति के सभी रूप सुरक्षित रहने की सम्भावना को बल मिलेगा। अभिलेखागारों के पुराने रूपों के संदर्भ में किन्हीं खास परिस्थितियों में सामग्री नष्ट करने का तर्क काम करता है।

इसी मुकाम पर आरकाइव में यादों का जमा होना और इतिहास को स्मृति के आगार के रूप में देखने का फ़र्क सामने आता है। अभिलेखागार सामग्री जमा और दर्ज करता है, पर इतिहास अभिलेखागार से सामग्री के टुकड़े चुन-चुन कर उसका इस्तेमाल आख्यान रचने में करता है। आरकाइव नाना प्रकार के स्रोतों और तरह-तरह की आवाज़ों से बनते हैं, जबकि कोई खास इतिहास ज्ञान के एक निश्चित रूप की रचना करने के दावे के साथ सामने आता है। डिजिटल प्रौद्योगिकी ने अभिलेखागार और स्मृति के इस संबंध में एक नये आयाम का समावेश कर दिया है। कागज़ आधारित अभिलेखागारों के मुक़ाबले ये नये आरकाइव ब्राउज़िंग, हायपरलिंकिंग और टैगिंग के सहारे बनते और खँगाले जाते हैं। इसके कारण उनमें प्रवेश करने के मुक़ाम हमेशा एक से अधिक होते हैं और प्रवेशकर्ता सामग्री के आर-पार एक उछाल मार कर पल भर में कहीं से कहीं पहुँच सकता है। अर्थात् डिजिटल अभिलेखागार में घूम रहा यूज़र पहले से तय नियमित रास्ते पर चलने के लिए मजबूर नहीं है। उसे किन्हीं पूर्व-निर्धारित और तथाकथित तर्कसंगत तौर-तरीकों को भी नहीं अपनाना पड़ता। इलेक्ट्रॉनिक सर्च और कागज़ी रिसर्च प्रक्रिया के फ़र्क पर जोर देते हुए फ़ेदरस्टोन कहते हैं कि सामग्री में घुस कर ज़रूरत की चीज़ें निकालना एक कोटिक्रमवादी तरीका है, जबकि इलेक्ट्रॉनिक सर्च हायपरटेक्स्ट के इस्तेमाल से होती है जो ज्ञान को पार्श्वीय दृष्टि से देखने के आधार पर बने सामग्री को जोड़ने वाले लिंक्स के जरिये काम करता है।

फ़ेदरस्टोन का दावा है कि एक तरफ़ तो इन लिंक्स के कारण ही डिजिटल आरकाइव में बहुआयामी खोजबीन आसानी से हो सकती है, दूसरी तरफ़ स्मृति का ग़ैर-

कोटिक्रमवादी रूप बनता है। इस दावेदारी से सभी लोग सहमत नहीं हैं। हॉवर्ड केगिल की मान्यता है कि वेब आधारित स्मृति के मर्म में स्मृति के दो रूपों के बीच का तनाव मौजूद है : एक रूप है मौलिकता के रूप में स्मृति और दूसरा है स्मरण के रूप में स्मृति। वे कहते हैं कि सभी लोगों के लिए इंटरनेट का संचालन सुलभ होना और उसकी व्यावसायिकता ने हायपरटेक्स्ट को उसके सर्वाधिक मौलिक आयामों से वंचित कर दिया है। इन्हीं कारणों से वेब अभिलेखन की ऐसी प्रणाली बन कर रह गया है जिसका इस्तेमाल मौजूदा भण्डार से सूचना निकालना भर है। केगिल के इस अवलोकन से टकराये बिना कुछ अन्य विद्वानों की राय है कि वेब 2.0 की प्रौद्योगिकी के चलन ने इंटरनेट के रूप में भारी परिवर्तन कर दिया है। इसके कारण अभिलेखन की प्रौद्योगिकी में रैडिकल तब्दीलियाँ आ गयी हैं। संस्कृति संबंधी तथ्यों और सामग्रियों को दर्ज करने के रूप में हुए बदलाव ने संस्कृति के उत्पादन और प्रदर्शन की परिस्थितियों को पहले जैसा नहीं रहने दिया है।

अभिलेखागार और इतिहास के संबंध पर मिशेल फ़ूको ने मुख्यतः राजनीतिक दृष्टिकोण से विचार किया है। फ़ूको के विमर्श से स्पष्ट होता है कि कुछ खास तरह के क़ानूनों के जरिये ऐतिहासिक ज्ञान की 'अधिकारिक' सामग्री अभिलेखों के रूप में दर्ज कर ली जाती है, जबकि ज्ञान की 'अधीनस्थ' संरचनाएँ अभिलेखागारों से बहिष्कृत करके उनकी स्मृति तक मिटा दी जाती है। इस तरह फ़ूको अभिलेखागार को बहिष्करण और समावेशन के एक दायरे के रूप में देखते हैं जहाँ ऐतिहासिक स्मृति नियमानुसार दर्ज की जाती है। वेब 2.0 प्रौद्योगिकी के बाद यह सवाल उठना लाज़मी है कि क्या उत्तरोत्तर व्यक्तिपरक और खुले होते जाने वाले डिजिटल आरकाइवों पर भी फ़ूको का यह विमर्श लागू होता है? इस प्रश्न को नये संदर्भ में सामग्री के बहिष्करण और समावेशन की रोशनी में न देख कर इंटरनेट में इस्तेमाल की जाने वाली विभिन्न अभिलेखक प्रौद्योगिकियों तक नेट-यूज़र्स की पहुँच की रोशनी में भी देखा जा सकता है। इसकी वजह यह है कि नेट की दुनिया में कोटिक्रम और विषमताओं की संरचना प्रौद्योगिकी आधारित है। साथ ही यह ऊँच-नीच 'डिजिटल डिवाइड' की परिघटना में भी देखा जा सकता है। एक तरफ़ वे हैं जिनके पास कम्प्यूटर और ब्रॉडबैंड है, और एक तरफ़ वे हैं जिनके पास यह सुविधा नहीं है। दूसरे, न्यू मीडिया के आरकाइव पूँजीवादी बाज़ार के तर्क से मुक्त नहीं हैं। फ़ेसबुक, माईस्पेस, यू ट्यूब और विकीपीडिया जैसे निःशुल्क आरकाइव हैं, तो नेट पर एडीवीएफ़एन और मनीएएम जैसे आरकाइव भी हैं जो माँगी गयी सामग्री के आधार पर शुल्क माँगते हैं। नेट पर ऐसे सर्च-इंजिनों की कमी नहीं है जो मुफ़्त सुविधा उपलब्ध कराते हैं, पर प्राथमिकता

उन्हें दी जाती है जो उसके लिए भुगतान करने के लिए तैयार हैं। मुफ्त सर्च करने वालों को अपनी बारी का इंतजार करना पड़ता है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, सेंसरशिप, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. अर्जुन अप्पादुरै (2003), 'आरकाइव ऐंड इंस्पिरेशन', जे. ब्रौवर और ए. मुल्डर (सम्पा.), *इंफॉर्मेशन इज एलाइव*, वी2/एनयेआई, रोट्टरडम.
2. माइक फेदरस्टोन (2000), 'आर्काइविंग कल्चर्स', *ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोसियोलॉजी*, खण्ड 51, अंक 1.
3. हॉवर्ड केगिल (1999), 'मेन ऐंड द इंटरनेट : बिटविन मेमरी ऐंड आरकाइव', *हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन साइंसेज़*, खण्ड 12, अंक 2.
4. मिशेल फ़ूको (1972), *द आर्कियालॉजी ऑफ नॉलेज*, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

स्मृति की राजनीति

(Politics of Memory)

स्मृति की राजनीति के तहत बनाया गया अतीत और वर्तमान के बीच का रिश्ता व्यक्तियों, समूहों, संस्कृतियों और पूरे के पूरे समाजों के भविष्य को प्रभावित करता है। समाज-विज्ञान में इस पद को ऐतिहासिक स्मृति या सामूहिक स्मृति या सामाजिक स्मृति के तौर पर भी जाना जाता है। विभिन्न समुदायों, समूहों, संस्कृतियों और राष्ट्रीयताओं के भीतर उनकी अपनी ऐतिहासिक अवधियों और प्रमुख घटनाओं या हस्तियों से संबंधित आख्यानों के बारे में एक आम सहमति बन जाती है। इसकी रचना का काम उन समाजों के इतिहासकार, समाज-वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी, साहित्यकार और अन्य लेखक किसी न किसी विचारधारा और राजनीतिक के प्रभाव में करते हैं। इस गढ़ी गयी स्मृति के आधार पर समुदायों का आपसी संबंध और राष्ट्रों का भविष्य बनता-

बिगड़ता है। एक निश्चित मकसद से तैयार की गयी ये स्मृतियाँ एक खास राजनीतिक-ऐतिहासिक मुकाम पर सामाजिक और राजनीतिक अस्मिताओं की शक्ति-सूरत का फ़ैसला कर सकती हैं। समाज-विज्ञान के अन्य अनुशासनों में स्मृति का अध्ययन करने की पुरानी परम्पराएँ हैं, पर राजनीतिशास्त्र में यह एक नया अनुशासन ही है। इसका चलन सत्तर के दशक के मध्य में हुआ। उस समय स्पेन तानाशाही को छोड़ कर लोकतंत्र की तरफ बढ़ रहा था। इस समयावधि को लोकतंत्रीकरण के उभार की दूसरी लहर के रूप में जाना जाता है। इसी दौरान स्पेनी विद्वान पलोमा अगुइलर ने याद रखने और भूलने के बीच अपने देश में चले गृह-युद्ध का विशद अध्ययन पेश किया। उनकी रचना *मेमोरी ऐंड एमनीजिया : द रोल ऑफ सिविल वार इन द ट्रांज़ीशन टू डेमोक्रेसी* के बाद राजनीतिशास्त्र में स्मृति-अध्ययन एक विषय के रूप में स्थापित हो गया।

इससे पहले ज्यादातर राजनीतिशास्त्री ऐतिहासिक स्मृति को एक आत्मगत कवायद मान कर उसे इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के दायरे का विषय समझते थे। वे कहते थे कि स्मृति को न तो नापा जा सकता है, न ही उसका तुलनात्मक और सामान्यीकृत अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे, राजनीतिशास्त्रियों को यह भी लगता था कि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के भीतर स्मृति की पूँजी पहले से ही संचित होती है, इसलिए क्यों न इन संस्थाओं का ही अध्ययन किया जाए। यह बात राजनीतिशास्त्रियों ने कुछ देर में ही समझी कि ऐतिहासिक स्मृतियाँ राजनीति को इस शिद्दत से प्रभावित करती हैं कि उनके असर पर अलग से ध्यान देना ज़रूरी हो जाता है। ये स्मृतियाँ तथ्यों, मिथकों और व्याख्याओं के खास विन्यास का परिणाम होती हैं जिनके पीछे स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य होते हैं। एक तरफ़ राजनीति की संस्थागत अभिव्यक्तियाँ हैं, और दूसरी तरफ़ तरह-तरह के प्रतिवेदनों, गवाहियों, बिम्बों, मीडिया, जनमत और राजनीतिक विमर्शों की कारीगरी से बनने वाली स्मृति की राजनीति होती है। दोनों अलग-अलग भी हैं, और काफ़ी हद तक परस्परव्यापी भी।

सामाजिक संघर्षों, राष्ट्रों के बीच युद्धों, गृह-युद्धों और निरंकुश हुकूमतों द्वारा किये गये अधिकारों के दमन की दारुण स्मृतियों की निजी और सामूहिक मानस पर गहरी छाप पड़ती है। जब इस उथल-पुथल भरे समय से शांतिकाल में संक्रमण होता है तो उस प्रक्रिया में बनने वाला राज्य, लोकतंत्र और अन्य संस्थाओं का शीराज़ा इन स्मृतियों के आधार पर ही खड़ा किया जाता है। स्मृतियों के आधार पर विपक्षियों को चुनौती दी जाती है, राष्ट्रीय स्मृति के आधार पर इतिहास का पुनर्लेखन करने की अपील की जाती है और किसी ज़माने के दबे हुए वीडो पॉवर हासिल करने का दावा करने लगते हैं।

ऐसी स्मृतियों के आगार के तौर पर पूरी दुनिया में जगह-जगह संग्रहालयों की स्थापना हुई है ताकि आने वाली पीढ़ियों को स्मृतियाँ और उनकी राजनीति का तैयारशुदा माल मिलता रहे। दरअसल, आज इतिहास और समाजशास्त्र के हलकों में यह दलील स्थापित हो चुकी है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्मृति को इस तरह सँजोया और गढ़ा जाता है कि उसके आधार पर ख़ास तरह के राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

स्मृति-अध्ययन की समाजशास्त्रीय परम्परा के जनक फ्रांसीसी विद्वान मॉरिस हालबॉश माने जाते हैं। 1925 में रचा गया उनका ग्रंथ *ऑन क्लेक्टिव मेमोरी* ज्ञान की राजनीति के लिए बेहद अहम साबित हुआ। हालबॉश का निष्कर्ष था कि समूहों और सामूहिकताओं के संदर्भ में व्यक्ति की निजी स्मृति पर सामाजिक अन्योन्यक्रियाओं का बुनियादी असर पड़ता है। याद करना अपने आप में उस प्रक्रिया का अंग होता है जिसके पीछे समाज की ज़रूरतें चालक-शक्ति की भूमिका अदा करती हैं। हाल ही में फ्रांसीसी इतिहासकार पिएर नोरा ने स्मृति और इतिहास के बीच सूत्र की पुनर्व्याख्या करने के लिए कई शोधकर्ताओं की मदद से सात खण्डों का एक महाग्रंथ रचा है जिसमें स्मृति के मुकामों (जैसे, ऐतिहासिक स्मारक, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय संग्रहालय, स्कूलों में पढ़ाई जो वाली इतिहास की पाठ्यपुस्तकें) की फिर से जाँच करके फ्रांसीसी राष्ट्र का भावनात्मक इतिहास उकेरने की चेष्टा की गयी है। कई विद्वानों ने नोरा पर आरोप लगाया है कि उन्होंने स्मृति और इतिहास में जबरदस्त घालमेल करके राष्ट्रीय स्मृति का जज़्बातीकरण कर दिया है। उत्तर-औपनिवेशिक और सबाल्टर्न रुझानों वाले आलोचकों का कहना है कि नोरा का मक़सद एक बार फिर साज़ा राष्ट्रीय आख्यान तैयार करना है। इससे पहले अल्जीरिया, हैती और दूसरी जगहों पर फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों के आचरणों का पर्दाफ़ाश करने वाले स्मृतिजन्य विवरणों के कारण फ्रांसीसी राष्ट्र का रोमानीकरण तक्ररीबन नामुमकिन हो गया था।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में कार्यरत ब्रिटिश सिद्धांतकार जेनी एडकिंस के अनुसार युद्धों, जन-संहारों, अकालों और आतंकवाद की भीषण वारदातों के बाद स्मारकीकरण की युक्ति का इस्तेमाल करके सरकारें और संगठन लोगों की स्मृतियों को एक ख़ास मोड़ देने की कोशिश करते हैं। एडकिंस ने दिखाया है कि उनका यह प्रयास हमेशा सफल ही नहीं होता। उन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध, वियतनाम युद्ध और होलोकास्ट के संदर्भ में लोगों की उस प्रवृत्ति को रेखांकित किया है जिसके कारण कुछ तथ्यों को उभारने और कुछ को दबाने की राज्य की परियोजना समाज की तरफ़ से प्रशंस्कित होती रहती है। दूसरी तरफ़ ऐतिहासिक स्मृति के विद्वानों ने यह भी चेताया है कि स्मृति

को लेकर होने वाले विवादों में राज्य और समाज के द्विभाजन से भी बचने की ज़रूरत है। ऐसे द्विभाजन में फँसने के बजाय विद्वानगण इन दोनों पक्षों के बीच होने वाले स्मृति-विषयक संवाद, आनुषंगिकताओं और तनाव भरे सहयोग-समझौतों के साथ-साथ नागर समाज के दायरों में होने वाली जद्दोजहद की समझ बनाने की सिफ़ारिश करते हैं।

निरंकुश शासन से मुक्ति पा कर लोकतंत्र की तरफ़ संक्रमण करने वाले कई देशों में स्मृति की राजनीति पर उल्लेखनीय बहस हुई है। चाहे वे लातीनी अमेरिका के देश हों, पूर्वी युरोप के हों या फिर पूर्व सोवियत संघ से टूट कर अलग हुए नये राष्ट्र हों। यहाँ रंगभेद से मुक्त हुए दक्षिण अफ्रीका में बने टूथ ऐंड रिकंसिलिएशन कमीशन का जिक्र करना भी ज़रूरी है। अफ्रीका में गोरे नस्लवादी शासन द्वारा किये गये अत्याचारों, भेदभाव, सांस्कृतिक-संहार और विभिन्न अन्यायों की स्मृति को याद रखा जाए या उसे भूलने की तरफ़ बढ़ा जाए : यह एक ऐसा प्रश्न है जिससे अफ्रीकी जनगण जूझ रहे हैं। इसी जगह कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक न्याय और राजनीतिक न्याय की तुलनात्मक परख का प्रश्न उठाया है। अतीत में हुई नाइंसाफ़ियों के प्रतिकार के लिए क्या किया जाना चाहिए? इस संबंध में एक सूत्रीकरण यह भी है कि ऐतिहासिक न्याय की अवधारणा अतीतपरक है, जबकि राजनीतिक न्याय का विचार भविष्यपरक है। राजनीतिक न्याय का मतलब है अतीत के अप्रिय सत्य को याद रखा जाए, लेकिन भविष्य को मेल-मिलाप के दृष्टिकोण से सँवारा जाए। लोकतंत्र में संक्रमण कर रहे कई देशों के राजनीतिक अभिजन ही नहीं, बल्कि अत्याचारों के शिकार रहे समुदाय और परिवार भी भूल जाने और क्षमा करने के पक्ष में हैं। शायद उन्हें लगता है कि प्रतिकार की राजनीति उनके लिए नये सिरे से पीड़ादायक और महँगी साबित हो सकती है।

दूसरी तरफ़ अधिनायकवादी शासन के जुल्मों की सामूहिक स्मृतियों का आरकाइव तैयार करने जैसे समाज-वैज्ञानिक प्रोजेक्ट भी चलाये गये हैं ताकि जानबूझ कर भूलने का प्रतिकार किया जा सके। होलोकास्ट पर हुए अध्ययनों से काफ़ी-कुछ लेते हुए एलिज़ाबेथ जेलिन ने अर्जेंटीना, चिली, उरुग्वे, पेरू और ब्राज़ील में निरंकुश शासन द्वारा किये गये दमन और मानवीय विनाश की स्मृतियों को सुरक्षित रखने के लिए 12 खण्डों का एक अध्ययन तैयार किया है। ऐतिहासिक स्मृति के अध्ययन की ऐसी परियोजनाएँ सरकारों और अभिजनों द्वारा वर्तमान और भविष्य के नाम पर या राष्ट्रीय एकता और शांति के नाम पर सुविधापूर्वक भूलने के खिलाफ़ संघर्ष से उपजी हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ जाक रूसो, जॉन लॉक,

जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. मॉरिस हालबॉश (1980), *ऑन क्लेक्टिव मेमॅरी*, हार्पर एंड रो, न्यूयॉर्क.
2. पलोमा अगुइलर (2002), *मेमॅरी ऐंड एमनीज़िया : द रोल ऑफ़ स्पेनिश सिविल वार इन द ट्रांज़िशन टू डेमोक्रेसी*, बरगैन बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. पिएर नोरा (सम्पा.) (1984), *द प्लेसिज़ ऑफ़ मेमॅरी*, गालीमार्द, पेरिस.
4. एलिजाबेथ जेलिन (2003), *स्टेट रिप्रेज़ेंट एंड लेबर्स ऑफ़ मेमॅरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, मिनापोलिस.
5. आर, विल्सन (2001), *पॉलिटिक्स ऑफ़ ट्रुथ ऐंड रिक्विसिज़िएशन इन साउथ अफ्रीका : लेजिटिमाइज़िंग द पोस्ट-अपार्थाइड स्टेट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

— अभय कुमार दुबे

स्मृति-साहित्य

(Smriti Literature)

स्मृति साहित्य धर्मशास्त्र के उन ग्रंथों को कहते हैं जिनमें प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार की व्यवस्था और समाज-संचालन के लिए नीति और सदाचार से संबोधित बातों का निर्देश हो। एक अन्य मत के अनुसार ऋषियों ने वेदों का चिंतन करते हुए जिन ग्रंथों की रचना की, उन्हें स्मृति कहा जाता है। श्रुति और स्मृति का नाम एक साथ ही आता है। श्रुति का अर्थ वैदिक संहिताओं से लिया जाता है और स्मृति का संबंध धर्मशास्त्र से है। विवाद की स्थिति में वेद को प्रमाण माना गया है। स्मृतियाँ कई लोगों ने लिखी हैं। लेकिन

स्मृतियों में मनु द्वारा लिखी गयी स्मृति को काफी महत्त्व प्राप्त है। इसके अलावा याज्ञवल्क्य-संहिता भी अहमियत रखती है। इनके बाद बीस और प्रामाणिक स्मृतियों का उल्लेख किया जाता है : अत्रि-स्मृति, विष्णु-स्मृति, हरीत-स्मृति, औषनसी-स्मृति, आंगिरस-स्मृति, यम-स्मृति, आपस्तंब-स्मृति, संवर्त-स्मृति, काव्यायन-स्मृति, बृहस्पति-स्मृति, पाराशर-स्मृति, व्यास-स्मृति, शंख-स्मृति, लिखित-स्मृति, दक्ष-स्मृति, गौतम-स्मृति, शातातप-स्मृति, वशिष्ठ-स्मृति, भृगु-स्मृति और नारद-स्मृति। अपने निर्देशों का उल्लंघन करने के फलस्वरूप स्मृतियों में अनेकानेक अमानवीय और नृशंस प्रावधान भी किये गये हैं। ऐसे दण्डात्मक प्रावधान अधिकतर शूद्रों के विरुद्ध और द्विजों के पक्ष में जाते हैं। इस कारण से समतामूलक राजनीति के पैरोकारों द्वारा स्मृतियों की कठोर आलोचना की जाती है।

मनु-स्मृति के संबंध इसके स्मृतिकार मनु का संबंध कुछ लोग सृष्टि के आदि पुरुष मनु से जोड़ कर देखते हैं। भृगु संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि स्मृतिकारों में मनु को उँचा स्थान प्राप्त है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि किसी स्मृति का मनु-स्मृति के साथ विरोध होने पर वह स्वीकार्य नहीं होगी। वेदों में भी मनु का उल्लेख मिलता है। इसे प्रायः पिता मनु कहा गया है। उसी मनु को मनु-स्मृति का स्मृतिकार भी बताया गया है। यह भी कहा जाता है कि सामाजिक और नैतिक व्यवस्था के पहले स्थापक के रूप में मनु ने ही हिंदू धर्म को व्यवस्थित रूप दिया। लेकिन ऐतिहासिकता के हिसाब से यह प्रमाणित नहीं है कि मनु-स्मृति के स्मृतिकार ऋग्वेद में आये मनु ही हैं, क्योंकि इतिहास में कई मनुओं का उल्लेख मिलता है।

विलियम जॉस के अनुसार मनु-स्मृति का रचना-काल 1250 ईसा पूर्व है। श्लेगल इसे एक हजार ईसा पूर्व की रचना मानते हैं। मोनियर विलियमस इसका रचना-काल 500 वर्ष ईसा पूर्व मानते हैं। वेबर मनु-स्मृति को महाभारत के बाद की रचना मानते हैं। उनका कहना है मनु-स्मृति का रचनाकार वैदिक साहित्य से अपरिचित है और वह पहले के विधि निर्माताओं एवं परम्पराओं का उल्लेख करता है। मनु-स्मृति पर मानव धर्मशास्त्र का गहरा प्रभाव है। प्राचीन ग्रंथों में जहाँ मानव धर्मशास्त्र के उद्धरण आये हैं वे सूत्र रूप में हैं। यह मानव धर्मशास्त्र अन्य स्मृतियों का भी आधार माना जाता है क्योंकि ये सभी बाद की रचनाएँ हैं। भाषा और शैली के लिहाज से कुछ लोग मनु-स्मृति का रचनाकाल महाकाव्य काल का मानते हैं। इसकी रचना उन लोगों के लिए की गयी जो वेदों को नहीं समझ सकते थे। इसमें क्रानून एवं धर्म के पारस्परिक संबंधों का प्रस्तुतीकरण है। मेघातिथि के अनुसार मनुस्मृति का कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है और जो थोड़े-बहुत दार्शनिक अंश हैं वे इस पुस्तक की भूमिका के रूप में

है। वे पुराणों से लिए गये हैं। मनुस्मृति में जो सृष्टि विषयक उल्लेख है वह ऋग्वेद की सृष्टि-संबंधी ऋचाओं पर आधारित है।

मनु-स्मृति मूलतः एक धर्मशास्त्र है जो नैतिक नियमों का नागरिक-प्रावधान करता है। मनु ने गंगा के किनारे बसे हिंदुओं के रिवाजों, परम्पराओं एवं आचारों को अपने नैतिक विधान का आधार बनाया जो काफ़ी प्रचलित थे। उन्होंने वैदिक रीतियों को मान्यता दी तथा वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरीय आज्ञा समझ कर मानने और धर्म विरुद्ध इच्छाओं को त्याग देने को कहा। स्त्रियों और पुरुषों के संबंध में मनु-स्मृति का मत है कि माँ बनने के लिए स्त्री की तथा पिता बनने के लिए पुरुष की सृष्टि हुई है। जिसकी स्त्री और संतान हो वही पूर्ण पुरुष होता है। मनु ने सामाजिक कर्तव्यों का पालन पहली प्राथमिकता बतायी है। वे कहते हैं कि जिस ब्राह्मण ने वेदों का अध्ययन नहीं किया, संतानोत्पत्ति नहीं की है, न यज्ञ किया है तथा इसके बावजूद वह परम-मोक्ष की कामना करता है तो ऐसा ब्राह्मण पतित हो जाता है। मनु के अनुसार एकाग्रचित्त होकर अध्ययन करना ही ब्राह्मण का तप है, निर्बलों की रक्षा करना क्षत्रिय का तप है। व्यापार, वाणिज्य तथा कृषि वैश्य के लिए तप है और शूद्र के लिए अन्यो की सेवा करना ही तप है। आदर्श वीर वही है जिसने सबके ऊपर विजय पा ली हो। दूसरे मनुष्यों की अधीनता का नाम दुःख है और सुख अपनी निजी अधीनता है।

मनु के अनुसार ऐसा व्यक्ति जो केवल अपनी आत्मा के लिए यज्ञ करता है लेकिन सब उत्पादक प्राणियों में भी आत्मा को समान रूप से जानता है और सब उत्पादक प्राणियों को अपनी आत्मा में जानता है, वह आत्मशासक एवं स्वतःप्रकाश बन जाता है। नैतिक कर्म व्यक्ति के आगामी जीवन प्रभावित करते हैं। ऐसा आचरण जिसकी प्रवृत्ति उत्तम जन्म दिलाने की ओर है, सदाचार का कर्म है। इसी प्रकार जिस आचरण से निकृष्ट जीवन मिलेगा वह दुराचार का कर्म है। मनु ने वेद, स्मृति, आचार और अपनी अंतरात्मा को उचित और अनुचित कर्मों के निर्णय के लिए साधन बताये हैं। यानी आत्मा की आवाज सुन कर भी व्यक्ति को कर्म करने का अधिकार दिया है और तार्किक आधार पर भी।

मनु-स्मृति के अलावा अन्य स्मृतियाँ भी विषय की दृष्टि से लगभग एक-सी हैं। आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त का विवेचन प्रायः सभी स्मृतियों में है। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार चारों वर्षों के लिए कर्मों का निर्देशन किया गया है। तथा कई प्रकार के दानों और उनकी महिमा के बारे में बताया गया है। सभी दानों में भूमि का दान प्रशंसित है। कई स्मृतियों में अनेक कर्मों के प्रायश्चित्त का प्रावधान है। बावड़ी कुएँ और तालाबों का जीर्णोद्धार कराना शुभ फलादायी सत्कर्म करार दिया गया है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि लोगों द्वारा

बुरी समझी जाने वाली बात स्मृति-सम्मत होने पर भी उसका आचरण नहीं करना चाहिए। बृहस्पति का विचार है कि प्रत्येक देश, जाति और कुटुम्ब की चिरकाल से चली आ रही प्रथाओं या परम्पराओं को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना चाहिए। किसी जीते हुए देश के विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि प्रथाएँ अनैतिक लोकहित-विरोधी नहीं हैं और सदाचार के अनुकूल हैं तो उस देश में चाहे जो भी प्रथाएँ, क़ानून और रीति-रिवाज प्रचलित हो, राजा को चाहिए कि उनका पालन पहले की ही तरह होने दे। गौतम अपनी स्मृति में देशों जातियों और कुटुम्बों के आचरण के नियम यदि श्रुति-विरोधी न हों तो प्रामाणिक मानते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्वयं को प्रिय लगने वाले अच्छे अंतःकारण के विचार को धर्म रूप में मानने के लिए कहा है। मनु के अनुसार जिस चीज़ से आत्मा संतुष्ट हो, वे कार्य करने चाहिए। जो युक्तियुक्त हो उसे स्वीकार करना चाहिए, चाहे वह बात बालक ने कही हो या तोते ने। पर जो बात युक्तियुक्त न हो, वह चाहे किसी वृद्ध ने कही हो या स्वयं मुनि शुकदेव ने, उसे अस्वीकार ही किया जाना चाहिए। स्मृतियों ने कुछ अपवाद भी स्वीकार किये हैं और उसके लिए उन्होंने अपने नियमों में छूट दी है। जैसे, जब व्यक्ति के जीवन और अस्तित्व का संकट पैदा हो जाए। एक-बार विश्वामित्र के लिए परिस्थिति वश प्राण-रक्षा के लिए कुत्ते का मांस चुराना आवश्यक हो गया तो उन्होंने अपने उस कृत्य को उचित ठहराया और कहा कि मरने की अपेक्षा जीवित रहना अच्छा है। व्यक्ति जीवित रहेगा तभी उससे धर्मानुसार आचरण की उम्मीद भी का जा सकेगी।

व्यास-स्मृति के अनुसार धर्म का पालन करना ही चाहिए, भले ही उसके लिए अपनी समस्त सांसारिक इच्छाओं का बलिदान क्यों न करना पड़े और चाहे उसमें प्राण जाने तक का भय क्यों न हो। धर्म के वे नियम जिनका उल्लंघन करने से क़ानूनी कार्रवाई करना आवश्यक होता है, व्यवहार या वास्तविक विधान कहलाते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में तीन अध्याय हैं : आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। व्यवहार या दीवानी क़ानून-अर्थविधान का संबंध विवाह पूरा गोद लेने बँटवारे और उत्तराधिकार से है। यह पहले से चली आ रही प्रथाओं पर आधारित है। बृहस्पति का कथन है कि चार प्रकार के विधान हैं, जिनका प्रबंध शासकों को करना होता है: धर्म या नैतिक विधान व्यवहार या दीवानी क़ानून अर्थ विधान चरित्र या प्रथाएँ और राज्यशासन या राजा के अध्यादेश। विज्ञानेश्वर का मत है कि शास्त्रसम्मत अनुपयुक्त क़ानूनों को समाप्त कर देना चाहिए और गो-बलि और गो-मांस भक्षण की पूर्व की प्रचलित परंपरा का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि अनुपयुक्तता की वजह से उन्हें समाप्त कर दिया गया। नियोग की प्रथा भी हमारे समाज में थी लेकिन कालांतर में समाप्त हो गयी। हमारे स्मृतिकार समय की आवश्यकता के अनुसार

क्रानून बनाने और समाप्त करने की इजाजत देते हैं। धार्मिक सिद्धांतों मान्यताओं और मानदण्डों में बदलते समय के अनुसार परिवर्तन के लिए स्मृतियाँ व धर्म ग्रंथ संस्तुति देते हैं। वैदिक युग में आर्यों से कहा गया था कि वे अनार्य भारतीयों द्रविड़ों, आंध्रों और पुलिंदों को सामाजिक मान्यता दें। ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्रों को विश्वामित्र की संतान बताया गया है तथा उन्हें आर्यों के समान माना गया है। ब्राह्मण कौन थे इस बारे में कोई जानकारी तो नहीं है लेकिन ब्राह्मण्यस्तोम यज्ञ करने के बाद उन्हें आर्यों में सम्मिलित करने का प्रावधान वेदों में है ब्राह्मणों के बारे में एक मत है कि वे यवन और असभ्य थे। काफ़ी मात्रा में यूनानी यवन और सीथियन लोगों ने हिंदू धर्म अपनाया। एक यवन उपराजदूत हीलियोडोरस विष्णु का भक्त हुआ और उसने श्रद्धावश एक वैष्णव मंदिर में एक स्तम्भ गरुड़ ध्वज खड़ा कराया था। विष्णु के भक्तों और उपासक होने वाले विदेशियों में यवन सीथियन और हूण शामिल थे। अनेक विदेशी आक्रमणकारी हिंदुस्तान में क्षत्रिय बनकर रहने लगे। जब मुसलमानों की विजय के कारण हिंदू स्त्री पुरुषों का सामूहिक रूप धर्मांतरण होने लगा, तब देवल-स्मृति ने जो ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी के पश्चात् किसी समय सिंध में लिखी गयी उन्हें फिर हिंदूधर्म में दीक्षित कर लेने को उचित ठहराया। स्मृतियों में कुछ ऐसे सामाजिक प्रावधान भी किये गये हैं: जो न तो इस समय स्वीकार किये जा सकते हैं और संभवतः शायद ही उस ज़माने में भी प्रचलन में रहे होंगे। ये प्रावधान वृद्ध पुरुष रोगी या अपराधी पुरुषों की आत्महत्या से संबंधित थे। मनु और याज्ञवल्क्य के हवाले से काणे के अनुसार वानप्रस्थगामी जब किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो जाता था और अपने आश्रम के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता था, तो उस दशा में उसे उत्तर-पश्चिम दिशा में महाप्रस्थान कर लेने की अनुमति प्राप्त थी। इस प्रस्थान में व्यक्ति तब तक चलता जाता था जब तक कि वह थककर गिर न जाए और फिर न उठ सके। इसी प्रकार ब्रह्महत्या के अपराधी को धनुर्धरों के बाणों से बिद्ध होकर मर जाने या अपने को अग्नि में झोंक देने की अनुमति प्राप्त थी। रामविलास शर्मा का मत है कि सामंती समाज एक विशेष अवस्था में अपने वृद्धों एवं रोगियों की परिचर्या का प्रबंध न कर सकता था। उन्हें अपने हाल पर छोड़ देता था और जंगल में जाकर मर जाने या अन्य प्रकार से आत्महत्या करने की अनुमति देता था।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदान्त दर्शन,

वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (2010), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश-1*, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2009), *भारतीय-दर्शन-1*, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

स्वच्छंदतावाद

(Romanticism)

अठ्ठारहवीं सदी से आज तक दर्शन, राजनीति, कला, साहित्य और संगीत को गहराई से प्रभावित करने वाले वैचारिक रुझान स्वच्छंदतावाद को एक या दो पंक्तियों में परिभाषित करना मुश्किल है। कुछ मानवीय प्रवृत्तियों का पूरी तरह से निषेध और कुछ को बेहद प्राथमिकता देने वाला यह विचार निर्गुण के ऊपर सगुण, अमूर्त के ऊपर मूर्त, सीमित के ऊपर असीमित, समरूपता के ऊपर विविधता, संस्कृति के ऊपर प्रकृति, यांत्रिक के ऊपर आंगिक, भौतिक और स्पष्ट के ऊपर आध्यात्मिक और रहस्यमय, वस्तुनिष्ठता के ऊपर आत्मनिष्ठता, बंधन के ऊपर स्वतंत्रता, औसत के ऊपर विलक्षण, दुनियादार किस्म की नेकी के ऊपर उन्मुक्त सृजनशील प्रतिभा और समग्र मानवता के ऊपर विशिष्ट समुदाय या राष्ट्र को तरजीह देता है। सामंती जकड़बंदी का मूलोच्छेद कर देने वाले फ्रांसीसी क्रांति जैसे घटनाक्रम के पीछे भी स्वच्छंदतावादी प्रेरणाएँ ही थीं। फ्रांसीसी क्रांति का युगप्रवर्तक नारा 'आजादी, बराबरी और भाईचारा' लम्बे अरसे तक स्वच्छंदतावादियों का प्रेरणा-स्रोत बना रहा।

इस क्रांति के बौद्धिक नायक ज्यॉ-ज्याक रूसो को स्वच्छंदतावादी चिंतन की शुरुआत का श्रेय दिया जाता है। रूसो ने अपने ज़माने की सभ्यतामूलक उपलब्धियों पर आरोप लगाया था कि उनकी वजह से मानवता भ्रष्ट हो रही है। उनका विचार था कि अगर नेकी की दुनिया में लौटना है और भ्रष्टाचार से मुक्त जीवन की खोज करनी है तो प्रकृत-अवस्था की शरण में जाना होगा। 1761 में प्रकाशित रूसो की दीर्घ औपन्यासिक कृति *ज्यूली ऑर द न्यू हेलोइस* और अपने

ही जीवन का अनूठा अन्वेषण करने वाली उनकी आत्मकथा *कनफेशंस* इस महान विचारक के स्वच्छंदतावादी नज़रिये का उदाहरण है। प्रेम संबंधों पर आधारित भावनाप्रवण कहानी *ज्यूली* ने युरोपीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद के परवर्ती विकास के लिए आधार का काम किया। अंग्रेज़ी भाषा में स्वच्छंदतावाद का साहित्यिक आंदोलन विकसित हुआ जिसके प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में ब्लैक, वड्सवर्थ, कोलरिज, बायरन, शैली और कीट्स के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वच्छंदतावाद के ही प्रभाव में जर्मन दार्शनिक हर्डर ने अपने विशिष्ट रोमांटिक नैशनलिज़म की संकल्पना की। यही प्रेरणाएँ हर्डर को गैर-युरोपीय संस्कृतियों की तरफ ले गयीं और उन्होंने उन्हें युरोपीय सभ्यता की आदिम प्राक्-अवस्थाओं के बजाय अपनी विशिष्ट निजता, वैधता और तात्पर्यो से सम्पन्न संरचनाओं के रूप में देखा। जर्मन दार्शनिकों में आर्थर शॉपेनहॉर को स्वच्छंदतावाद की श्रेणी में रखा जाता है। उन्होंने कांट के बुद्धिवादी नीतिशास्त्र को नज़रअंदाज़ करते हुए उनकी ज्ञान-मीमांसा और सौंदर्यशास्त्र संबंधी विमर्श की पुनर्व्याख्या की। शॉपेनहाउर का लेखन जगत के प्रति निरुत्साह और हताशा से भरा हुआ है, पर उन्हें अभिलाषाओं के संसार में राहत मिलती है। शॉपेनहॉर का लेखन दर्शन रिचर्ड वागनर की संगीत-रचनाओं के लिए प्रेरक साबित हुआ। भारत में स्वच्छंदतावाद की पहली साहित्यिक अनुगूँज बांग्ला में सुनायी पड़ी। आधुनिक हिंदी साहित्य में स्वच्छंदतावाद की पहली सुसंगत अभिव्यक्ति छायावाद के रूप में मानी जाती है।

अपने प्रभावशाली राजनीतिक और दार्शनिक तात्पर्यो के अलावा स्वच्छंदतावाद की एक बहुत बड़ी उपलब्धि क्लासिकल भाषाओं को रचनाशीलता के केंद्र से विस्थापित करके जनप्रिय भाषाओं में लेखन की शुरुआत करने से जुड़ी है। एक ज़माने में केवल लैटिन में ही लेखन होता था, उसी के पाठक और प्रकाशक थे। लेकिन स्वच्छंदतावाद ने इस परम्परा का उल्लंघन करने की ज़मीन बनायी और पहले फ्रांसीसी और फिर अंग्रेज़ी में लेखन करने का आग्रह बलवती हुआ। स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने मनोभावों पर नये सिरे से जोर दे कर रचनाशीलता में क्लासिकीय अभिजनोन्मुखता को झटक दिया। इसका नतीजा केवल रोमानी प्रेम पर आधारित विषय-वस्तुओं में ही नहीं निकला, बल्कि साहित्य और कला ने मन के अँधेरों में छिपे भयों और दुखों की अनुभूति को भी स्पर्श करना शुरू कर दिया।

स्वच्छंदतावाद की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि युरोपीय ज्ञानोदय द्वारा आरोपित बुद्धिवाद के ख़िलाफ़ विद्रोह के रूप

में देखी जाती है। ज्ञानोदय के विचारक प्रकृति को तर्क-बुद्धि और व्यवस्थामूलक क्रम के उद्गम के तौर पर देखते थे। न्यूटन द्वारा प्रवर्तित मैकेनिक्स इसी की चरम अभिव्यक्ति है। लेकिन स्वच्छंदतावादियों ने प्रकृति को आंगिक विकास और विविधता के स्रोत के रूप में ग्रहण किया। वे प्राकृतिक और अलौकिक को अलग-अलग मानने के लिए तैयार नहीं थे। पार्थिव और अपार्थिव के द्विभाजन को नकारते हुए उन्होंने-उसे एक-दूसरे से गुँथे हुए की संज्ञा दी। ज्ञानोदय के विचार के लिए स्वच्छंदतावादियों का यह रवैया काफ़ी समस्याग्रस्त था। वे प्रकृति को भावप्रवण और आध्यात्मिक शक्ति के आदिम प्रवाह के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। स्वच्छंदतावादियों ने क्लासिकल द्वारा रोमन और यूनानी मिथकों पर जोर को नकारते हुए मध्ययुगीन और पागान सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को अपनाया। इसका नतीजा गोथिक स्थापत्य के पुनरुद्धार में निकला। स्वच्छंदतावाद ने युरोपीय लोक-संस्कृति और कला के महत्त्व को स्वीकारा। फ़िनलैण्ड के महाकाव्यात्मक ग्रंथ *कालेवाला* का सृजन इसी रुझान की देन है।

स्वच्छंदतावाद के विकास में फ्रेड्रिख और ऑगस्त विल्हेम वॉन श्लेगल की भूमिका उल्लेखनीय है। अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी के संधिकाल पर सक्रिय इन विचारकों का कहना था कि रोमानी साहित्य और कला का स्वभाव तरल और खण्डित है। इसलिए सुसंगत और सम्पूर्णता प्राप्त करने की वह महत्त्वाकांक्षा उसमें नहीं होती जो क्लासिकल साहित्य और कला का मुख्य लक्षण है। जो रोमानी है वह व्याख्या की समस्याओं से ग्रस्त रहेगा ही। श्लेगल के अनुसार कला-कृतियाँ इसीलिए समझ के धरातल पर सौ फ़ीसदी बोधगम्य होने से इनकार करती हैं। ऑगस्त श्लेगल ने रोमानी विडम्बना की थीसिस का प्रतिपादन करते हुए कविता की विरोधाभासी प्रकृति को रेखांकित किया। इसका मतलब यह था कि किसी वस्तुनिष्ठ या सुनिश्चित तात्पर्य की उपलब्धि न कराना कविता का स्वभाव है। स्वच्छंदतावादियों ने शेक्सपियर की सराहना इसलिए की कि उनमें अपने नाटकों के पात्रों के प्रति एक विडम्बनात्मक विरक्ति है। इसीलिए वे अंतर्विरोधी स्थितियों और मुद्राओं के सफल चितरे बन पाये हैं, और इसीलिए उनके नाटक किसी एक दृष्टिकोण के पक्ष में उपसंहार नहीं करते।

हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रभाव बीसवीं सदी के दूसरे दशक में छायावादी कविता के रूप में सामने आया। *हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली* के रचनाकार डॉ. अमरनाथ के अनुसार हिंदी में स्वच्छंदतावाद का ज़िक्र सबसे



ऑगस्त विल्हेम वॉन श्लेगल
(1767-1845)

पहले रामचंद्र शुक्ल के विख्यात ग्रंथ *हिंदी साहित्य का इतिहास* में मिलता है जहाँ उन्होंने श्रीधर पाठक को स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक करार दिया है। अमरनाथ के अनुसार छायावाद और स्वच्छंदतावाद में गहरा साम्य है। दोनों में प्रकृति-प्रेम, मानवीय दृष्टिकोण, आत्माभिव्यंजना, रहस्यभावना, वैयक्तिक प्रेमाभिव्यक्ति, प्राचीन संस्कृति के प्रति व्यामोह, प्रतीक-योजना, निराशा, पलायन, अहं के उदात्तीकरण आदि के दर्शन होते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एम. क्रैस्टन (1979), *द रोमांटिक मूवमेंट*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. एच. ऑनर (1979), *रोमांटिसिज़्म*, एलन लेन, लंदन.
3. एम. प्रैज़ (1970), *द रोमांटिक एगेंनी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
4. कैनेथ आर. जांस्टन वगैरह (1990), *रोमांटिक रेवोल्यूशन : क्रिटिसिज़्म ऐंड थियरी*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.
5. डॉ. अमरनाथ (2009), *हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

स्वजातिवाद

(Ethnocentrism)

स्वजातिवाद एक हानिकारक वैचारिक प्रवृत्ति है। इसके प्रभाव में कोई समूह अपनी जातीय और सांस्कृतिक श्रेष्ठता में इस क्रूर यत्नी करने लगता है कि उसे दूसरे सभी समूह, उनकी संस्कृतियाँ और जीवन-शैलियाँ हेय लगने लगती हैं। स्वजातिवादी आग्रह विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में उपनिवेशवाद और नस्लवाद के वाहक बन जाते हैं। स्वजातिवाद के कारण 'अपने' और 'पराये' का द्वि-भाजन इतना तीखा हो जाता है कि 'अन्य' संस्कृतियों, समुदायों या सभ्यताओं के प्रति द्वेष, घृणा, संदेह, उदासीनता और अरुचि जैसे मनोभाव पैदा होने लगते हैं। अपने से भिन्न भाषाओं, विचारों, धर्मों, नैतिकताओं और दृष्टिकोणों को समझना मुश्किल हो जाता है। 'अन्य' संस्कृतियों की रूढ़-छवियाँ ही यथार्थ की जगह ले लेती हैं। बौद्धिक दायरे में स्वजातिवाद ने एक ख़ास तरह की विश्लेषण पद्धति को जन्म दिया है जिसमें विश्लेषक अपनी संस्कृति से उपजी कसौटियों को प्राथमिकता देता हुआ 'अन्य' संस्कृतियों के मूल्यांकन की परियोजना चलाता है। ऐतिहासिक रूप से इस विचार का प्रभाव युरोपीय बौद्धिक दृष्टिकोण पर सबसे ज़्यादा देखा गया है। प्रौद्योगिकीय रूप से विकसित पश्चिमी युरोप में पनपा स्वजातिवाद अश्वेत, ग़ैर-ईसाई और ग़ैर-युरोपीय संस्कृतियों को बर्बर, सुखवादी और कभी-कभी तो अ-मानवीय तक करार देता रहा है। स्वजातिवाद या एथनोसेंट्रिज़्म की अभिव्यक्ति गढ़ने का श्रेय समाजशास्त्री विलियम जी. समनर को जाता है जिन्होंने 1906 में एक समूह के भीतरी और बाहरी दायरों के बीच पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तियों को समझने के लिए इस अवधारणा का प्रयोग किया था। इसके बाद इस पद का इस्तेमाल मानवशास्त्रियों द्वारा किया जाने लगा। समाज-विज्ञान में संकुचित और संकीर्ण विचारों की आलोचना एथनोसेंट्रिज़्म का आक्षेप लगा कर की जाती है।

किसी ख़ास संस्कृति में पैदा हुए और पनपे लोग उसके मूल्यों और व्यवहार-शैलियों को जज़ब करके एक ऐसा सोच विकसित कर लेते हैं जिसके तहत उन्हें अपना सांस्कृतिक आचरण स्वाभाविक और नैसर्गिक लगने लगता है। आधुनिक मानवशास्त्र के संस्थापक फ्रेंज़ बोआस की मान्यता थी कि समाज वैज्ञानिक भी अपने तमाम ज्ञानार्जन के बावजूद इस समस्या से मुक्त नहीं हो पाते। वे अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को विधेयक मान कर अन्य संस्कृतियों का अध्ययन करने निकलते हैं। बोआस और उनके शिष्यों का ख़याल था कि वे स्वजातिवादी पूर्वग्रहों से पल्ला छुड़ाये बिना

अपने से भिन्न संस्कृतियों पर समुचित वैज्ञानिक शोध नहीं कर सकते। इसी उद्देश्य से बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सूत्रीकरण के लिए ज्ञानमीमांसक जमीन साफ़ की गयी और चालीस के दशक तक आते-आते यह सिद्धांत सांस्कृतिक मानवशास्त्र का केंद्रीय उसूल बन गया।

इसमें कोई शक नहीं है कि स्वजातिवाद मुख्य तौर पर युरोपीय प्रवृत्ति रही है, पर इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि ग़ैर-युरोपीय संदर्भ में यह पूरी तरह से प्रभावहीन है। कोई भी स्वजातिवादी हो सकता है। यहाँ तक कि दूसरे के स्वजातिवादी रवैये के जबाब में प्रतिक्रियात्मक स्वजातिवाद विकसित किया जा सकता है। नारीवाद जैसे समतामूलक और रैडिकल विमर्शों तक पर इसका असर देखा गया है। एलिजाबेथ स्पेलमैन ने अपनी रचना 'इनइसेंशियल वुमन : प्रॉब्लम्स ऑफ़ एक्सक्यूज़न इन फ़ेमिनिस्ट थॉट' में दिखाया है कि किस तरह नारीवादी विधि-सिद्धांत के कुछ पहलू एक तरह के 'फ़ेमिनिस्ट स्वजातिवाद' से पीड़ित हैं। नारीवादी सिद्धांतकार जूडिथ बटलर ने अपनी रचना 'प्रिकेरियस लाइफ़' में अपनी इयत्ता बनाये रखने के संदर्भ में 'अन्य' को मान्यता देने से जुड़ी समस्याओं की चर्चा की है। बटलर का विश्लेषण बताता है कि 'अन्य' को मान्यता देने की शर्त यही है कि उसे ऐसा माना जाए जो 'मेरे जैसा नहीं है'। अर्थात् 'अन्य' की शिनाख़्त हमेशा एक विभेद की रोशनी हो पाती है। इस प्रक्रिया में होता यह है कि उसी विभेद की फिर से स्थापना हो जाती है जिसे ख़त्म करने के लिए 'अन्य' को मान्यता देने का प्रयास किया गया था। एक अन्य नारीवादी सिद्धांतकार जैकलीन रोज़ के मुताबिक़ शिनाख़्त की प्रक्रिया, अस्मिता निर्धारित करने में ख़प जाती है और उस प्रक्रिया का मक्रसद ही बदल जाता है।

इस नारीवादी विमर्श से समझा जा सकता है कि स्वजातिवाद से पल्ला छुड़ाना कितना मुश्किल है। यहाँ तक कि सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की सतत पैरोकारी करने के बावजूद मानवशास्त्र को आज तक स्वजातिवादी होने के आरोपों का सामना करना पड़ता है। उत्तर-आधुनिकतावादी विद्वानों और उत्तर-उपनिवेशवादी विमर्श ने ख़ास तौर से मानवशास्त्र को इसके लिए आड़े हाथों लिया है। उनका कहना है कि वि-उपनिवेशीकरण के बाद मानवशास्त्री पश्चिमी संस्कृति की दार्शनिक, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक सफलताओं को पैमाना बनाते हुए एक अनुदार मानक अपनाते हैं जो उन्हें अन्य संस्कृतियों की उपलब्धियों का सही आकलन करने से रोकता है। पश्चिम की दृष्टि से जो प्रौद्योगिकी 'अपरिष्कृत' है, उसे धार्मिक संरचनाओं की दुर्बलता, शक्तिहीन चिंतन, क्षयग्रस्त कर्मकाण्डों, कमजोर राजनीति और अर्थव्यवस्था का नतीजा मान लिया जाता है।

सादगी प्रौद्योगिकी स्तरहीन बौद्धिकता का पर्याय समझ ली जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिकता के मुकाबले पूर्व को 'अन्य' जादू से गुज़र-बसर करता दिखाया जाता है। पश्चिम के पास इतिहास के बरक्स 'अन्य' के लिए सिर्फ़ मिथकों की पूँजी होती है। पश्चिम के विचार को दर्शन माना जाता है, और पूर्व के विचारों को महज़ आस्था। पश्चिम के लेखन और साक्षरता के मुकाबले पूर्व वाचिक परम्परा में जीता है और समुदाय की जकड़बंदी में क़ैद है। ऐसे तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य से निकलने वाला विश्लेषण सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की परियोजना का क्षय कर देता है।

स्वजातिवाद का एक पेचीदा पहलू यह भी है कि उससे प्रभावित समुदाय कुछ विशेष स्थितियों में अपनी जन्मना संस्कृति को ख़ारिज करके नयी संस्कृति अपनाने की तरफ़ भी जा सकते हैं। इसके पीछे यह धारणा काम करती है कि नयी संस्कृति उनकी संस्कृति से श्रेष्ठ है। स्वजातिवाद का यह संस्करण अपने शिकारों को हमेशा के लिए एक पीड़ाजनक सांस्कृतिक अंतर्विरोध से ग्रस्त कर देता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख़ वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-ट्रेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. वी. रेनॉल्ड्स, वी. फैल्गर और आई. वाइन (सम्पा.) (1987), *द सोसियोबायलॉजी ऑफ़ एथनोसेंट्रिज़म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ ज़ार्जिया प्रेस, एथेंस, जी.ए.
2. ज़ोर्न रूजेन (2004), 'हाऊ टू ओवरकम एथनोसेंट्रिज़म : एप्रोचिज़ टू अ कल्चर ऑफ़ रेकगनीशन बाई हिस्ट्री इन द ट्वेंटी-फ़र्स्ट सेंचुरी', *हिस्ट्री ऐंड थियरी : स्टडीज़ इन फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री*, 43.

स्वतंत्रता

(Liberty)

स्वतंत्रता (स्वाधीनता या आज़ादी या मुक्ति) का विचार तीन आयामों से मिल कर बनता है। पहला है चयन करना, दूसरा है चयन करने और उस पर अमल करने में आने वाली बाधाओं का अभाव, और तीसरा है उन परिस्थितियों की मौजूदगी जो चयन करने के लिए प्रेरित करती हों। मसलन, अगर कोई सोचता है कि वह कार चलाना सीखने के लिए स्वतंत्र है, तो सबसे पहली बात तो उसे चुनाव करना होगा कि वह कार चलाना सीखना चाहता है। दूसरी यह कि इसमें कोई बाधा न डाली जाए यानी उसे शारीरिक रूप से न रोका जाए। तीसरी बात यह होनी चाहिए कि हालात कार चलाना सीखने लायक हों यानी एक कार उपलब्ध हो, उसे चलाना सिखाने वाला हो और एक सुरक्षित सड़क हो जहाँ चलाने का अभ्यास किया जा सके। स्वतंत्रता की एक कारगर परिभाषा एक तितरफ़ा संबंध के रूप में भी दी जाती है कि (क) स्वतंत्र है (ख) से ताकि (ग) कर सके या बन सके। इसमें एक पक्ष यानी (क) कर्ता (एजेंट) है, दूसरा पक्ष यानी (ख) उसे रोकने वाली परिस्थिति है, और तीसरा पक्ष यानी (ग) वह क्रिया या परिणाम है जो ख की अनुपस्थिति में क हासिल करेगा। स्वतंत्रता या अ-स्वतंत्रता के बारे में प्रत्येक वक्तव्य इसी परिभाषा के मुताबिक सूत्रीकृत किया जा सकता है : क्या स्वतंत्र या अस्वतंत्र है, किससे स्वतंत्र या अस्वतंत्र है और क्या करने या बनने के लिए स्वतंत्र या अस्वतंत्र है। स्वतंत्रता के विचार की सभी व्याख्याएँ इसी परिभाषा के इर्द-गिर्द गोलबंद की जा सकती हैं।

राजनीतिक चिंतन के इतिहास में स्वतंत्रता के विचार का विकास कई चरणों में मिलता है। प्रकृत अवस्था की अपनी कल्पना के तहत थॉमस हॉब्स क्रिया की स्वतंत्रता में आने वाली उन बाधाओं की अनुपस्थिति को स्वतंत्रता करार देते हैं जो कर्ता की प्रकृति और सहजात गुणों में निहित नहीं हैं। मसलन, जंजीरों में जकड़े व्यक्ति की अ-स्वतंत्रता उसके भीतर से नहीं निकली है, पर एक रोगी या विकलांग की अ-स्वतंत्रता सहजात है। हॉब्स डर और आवश्यकता को भी ऐसे कारकों के रूप में पेश करते हैं जिनकी वजह से व्यक्ति स्वतंत्रता की तरफ बढ़ता है। जैसे जेल जाने से डरने वाला व्यक्ति अपना क़र्ज़ अदा कर देता है। यह परिभाषा कई सवालों को जन्म देती है : क्या दूसरे की सुरक्षा पर आँच आने की क़ीमत पर किया जाने वाला स्वयं-संरक्षण स्वतंत्रता की श्रेणी में आता है? क्या भय या आवश्यकता के अधीन की जाने वाली कार्रवाई स्वतंत्रता है? क्या भुखमरी के डर से भीख माँगना आज़ादी है, क्योंकि उस सूरत में भिखारी को

भीख माँगने से कोई नहीं रोक रहा है? जाहिर है कि बाधाओं की अनुपस्थिति को ही स्वतंत्रता मानने का विचार चयन की धारणा को दरकिनार कर देता है और नैतिकता के प्रश्न की कोई परवाह नहीं करता। भिखारी मजबूरीवश भीख माँगता है, न कि अपने चयन के आधार पर। जबकि, कार चलाना सीखने का निर्णय चयन आधारित है। खुद को बचाने के चक्कर में लूट-मार न कर पाने वाले लुटेरे की स्वतंत्रता के दावे में नैतिकता अनुपस्थिति है।

हॉब्स के स्वतंत्रता संबंधी चिंतन की यह ख़ामी जॉन लॉक के चिंतन में नहीं दिखाई पड़ती जहाँ स्वतंत्रता एक नैतिकतापूर्ण चयन के रूप में परिभाषित होती है। जैसे, कोई वाडियो जॉकी बनने का चयन करता है तो उसे आईएस या एमबीए होने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए, वरना वह स्वाधीन नहीं रह जाएगा। पर किसी को स्वतंत्रता के तर्क के तहत लुटेरा या हत्यारा बनने का अधिकार भी नहीं है, क्योंकि तब उसके चयन से दूसरे को नुक़सान पहुँचेगा। लॉक के लिए स्वतंत्रता का अधिकार जीवन और सम्पत्ति की ही तरह प्राकृतिक अधिकार है। इसलिए इसका उतना ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए जितना प्राकृतिक क़ानून इजाज़त देता है। ये अधिकार सबके लिए बराबर हैं, इसलिए प्राकृतिक क़ानून के मर्म में समानता है। परिणामस्वरूप स्वतंत्रता का दावा समानता की क़ीमत पर नहीं किया जा सकता।

एक अविभाज्य और सार्वभौम अधिकार के रूप में लॉक के अनुसार स्वतंत्रता नागरिक और राजनीतिक समाज से पहले आती है। नागर समाज जिस अनुबंध के तहत बनता है, उसका मक़सद स्वतंत्रता समेत सभी प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। राजनीतिक समाज स्वतंत्रता को विनियमित तो कर सकता है, पर सीमित नहीं। लॉक जिस स्वाधीन व्यक्ति की कल्पना करते हैं वह बुद्धिसंगत व्यवहार के मुताबिक स्वतंत्रता का दावा उन परिस्थितियों में करेगा जिन्हें बदला जा सकता है। अर्थात् वह स्वाधीन व्यक्ति किसी पक्षी की तरह हवा में उड़ने की स्वतंत्रता का दावा करने के बजाय अल्पसंख्यक होने के बावजूद अपनी बात कहने और उसके सुने जाने का दावा करना पसंद करेगा। लेकिन लॉक भी उन परिस्थितियों के बारे में चर्चा नहीं करते जो चयन की प्रक्रिया को सुगम और सुलभ करती हों। यानी वे सामाजिक बाधाओं और विषमताओं की बात नहीं करते। हॉब्स और लॉक की स्वतंत्रता संबंधी चर्चा व्यक्ति के स्तर पर ही है।

रूसो के चिंतन से यह कमी पूरी होती है। उनके यहाँ स्वतंत्रता एक सामूहिक उद्यम है जिसके तहत पूरे समूह के वृहत्तर हित के लिए स्वार्थी आग्रहों से मुक्त होना ज़रूरी है। रूसो की मान्यता के अनुसार अन्यायपूर्ण और पदानुक्रम से निकलने वाली सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन के बिना स्वतंत्रता असम्भव है। इसलिए रूसो स्वतंत्रता को प्राकृतिक

अधिकार नहीं मानते। वह तो नागरिक और राजनीतिक समाज बनने के बाद अ-स्वतंत्रता से मुक्ति के रूप में मिलती है। अगर कोई निजी दासता के मुक्त होना चाहता है तो दूसरे व्यक्तियों या संस्थाओं पर निर्भर होने के बजाय उसे पूरे समुदाय पर निर्भर होना चाहिए, उस एकताबद्ध समुदाय पर जो प्रत्येक नागरिक के जान-माल की हिफाजत करता है। रूसो की निगाह में व्यक्ति पूरे समुदाय से एकजुट हो कर अपनी निम्न प्रकृति का उन्नयन करता है। स्वाधीन लोग अनुपालन करते हैं, दासता नहीं। उनके नेता होते हैं, मालिक नहीं। वे क्रान्ति पर चलते हैं, उन क्रान्तियों पर जिनके कारण उन्हें मनुष्यों का आज्ञापालन नहीं करना पड़ता। और, क्रान्ति 'जन-इच्छा' (जनरल विल) का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् रूसो की निगाह में चयन का अधिकार सही विकल्प चुनने का पर्याय है। कार चलाने और साइकिल चलाने के विकल्पों में से रूसो का नागरिक साइकिल चलाने का चयन करेगा, क्योंकि प्रदूषण से समाज को बचाया जा सकेगा और पैदल चलने वालों को सुविधा होगी।

उपयोगितावाद के पैरोकार जेरेमी बेंथम ने स्वतंत्रता को सुख प्राप्त करने और दुःख से बचने के साथ जोड़ कर देखा है। यह परिभाषा एक बलात्कारी और हत्यारे की स्वतंत्रता को उसके उत्पीड़ित की स्वतंत्रता के साथ प्रतियोगिता में खड़ा कर देती है। दरअसल, उपयोगितावादी सुखों की प्रकृति में फर्क नहीं करते। सूर्योदय निहारने के सुख में निहित स्वतंत्रता और नशीले पदार्थों के सेवन से मिलने वाला सुख एक ही पायदान पर खड़ा हो जाता है। स्वतंत्रता की यह सरलीकृत व्याख्या बेंथम के शिष्य जॉन स्टुअर्ट मिल के चिंतन में अधिक परिष्कृत हो कर उभरती है।

मिल का तर्क है कि किसी व्यक्ति के मत का समाज या राज्य के सामूहिक निर्णय के आधार पर दमन नहीं किया जा सकता। अपनी विख्यात रचना *ऑन लिबर्टी* में वे निजी स्वतंत्रता को बचाना चाहते हैं और बेंथम से परे जाते हुए सुख को वैयक्तिकता की रक्षा के रूप में देखते हैं। उनके यहाँ वैयक्तिकता मनुष्य की इयत्ता के विकास की पूर्वशर्त है। प्रगति तभी होगी जब अपनी वैयक्तिकता में दूसरों से भिन्न हो कर व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी होगा। मिल स्वतंत्रता के तीन आयाम बताते हैं : विचार और बहस की स्वतंत्रता, वैयक्तिकता का सिद्धांत और व्यक्ति की क्रियाओं पर प्राधिकार की सीमा।

आम तौर पर स्वतंत्रता को एक उदारतावादी सिद्धांत मान लिया जाता है। पर उदारतावादी न समझे जाने वाले दार्शनिकों ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। रूसो के उदाहरण पर हम गौर कर ही चुके हैं। मार्क्स इसके दूसरे उदाहरण हैं। वे अ-स्वतंत्रता की मिसाल के जरिये स्वतंत्रता के विचार को सामने लाते हैं। उनके लिए अ-

स्वतंत्रता अपने आप से पराया हो जाने में है। मसलन, लेखक बनने की इच्छा रखने वाला अगर कारखाने में मजदूरी करने के लिए विवश है तो दिन-रात की मेहनत-मशक़त उसे अपने एहसासों में डूबने या अपने-आप से जुड़ने से रोकेगी। इस प्रकार उसका अपने श्रम उसे स्वयं की इयत्ता से पराया कर देगा। यह प्रक्रिया चार चरणों में चलती है : कर्ता का अपने श्रम के उत्पाद से परायापन, उत्पादक गतिविधि से परायापन, स्वयं की मानवीय प्रकृति (मार्क्स मानवीय प्रकृति की परिभाषा सृजनशीलता की अभिव्यक्ति-क्षमता के रूप में करते हैं) से परायापन और फिर दूसरे मनुष्यों से परायापन। इस तरह परायेपन का शिकार मनुष्य खाने, पीने, प्रजनन करने और ज्यादा से ज्यादा अपनी रिहाइश में वक्रत गुजारने वाला महज प्राणी बन कर रह जाएगा।

मार्क्स लिबरेशन या मुक्ति की जिस धारणा को पेश करते हैं वह आत्मविकास के बिना सम्भव नहीं हो सकती। पूँजीवाद की आलोचना वे इसीलिए करते हैं कि वह आत्मविकास के मौक़े न देने के लिए जिम्मेदार है। पूँजीवाद के तहत कामनाएँ व्यक्ति की समझ से बाहर प्रक्रिया के जरिये बनती हैं जिसके कारण वह अपनी कामनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। वे कामनाएँ उसका मुक्त चयन न हो कर परायी शक्तियों की तरह लगने लगती हैं। नियोजन और समन्वय के अभाव में कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। उनके लिए की जाने वाली व्यक्ति की क्रियाएँ भी स्वतंत्र और किसी परायी शक्ति की तरह लगती हैं, न कि स्वतंत्र और संयुक्त इच्छा का परिणाम। मार्क्स अपनी ही कामनाओं से तादात्म्य न कर पाने और अपनी ही इयत्ता के साथ उनके टकराव को परायेपन की संज्ञा देते हैं। लेकिन, पूँजीवाद की गहन आलोचना करते हुए वे यह भी मानते हैं कि पूँजीवाद ही ऐसी भौतिक परिस्थितियाँ बनाता है जिनके आधार पर उस समाज की रचना की जा सकती है जिसमें व्यक्ति पूरी तरह से आत्मविकास के रास्ते पर चल सकेगा।

समकालीन दार्शनिक ईसैया बर्लिन ने स्वतंत्रता के विचार को नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रताओं में बाँट कर देखा है। दोनों स्वतंत्रताएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। नकारात्मक स्वतंत्रता यानी किसी भी हस्तक्षेप या बाधा से स्वतंत्रता। यह क्रिया करने के अवसर पर निर्भर है, न कि क्रिया पर। अवसर की अनुपलब्धि स्वतंत्रता में बाधक बन जाती है। सकारात्मक स्वतंत्रता वह है जिसके तहत व्यक्ति की उच्चतर इयत्ता उसकी निचली इयत्ता पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है जिसके जरिये वह अपना स्वामी बन कर आत्मसिद्धि कर सकता है। यह अवसर पर निर्भर नहीं होती, बल्कि अवसरों को उपलब्ध करने के लिए क्रदम भी उठाती है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद,

उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. वी. श्रीरंजनी (2008), 'लिबर्टी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. ईसैया बर्लिन (1996), *फ़ोर एसेज़ ऑन लिबर्टी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. एफ़.ए. हॉयक (1960), *द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ लिबर्टी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो,
4. सी.एल. टेन (सम्पा.) (1999), *मिल्स मॉरल, पॉलिटिकल ऐंड लीगल फ़िलॉसफ़ी*, डार्टमाउथ पब्लिशिंग कम्पनी लि., इंग्लैण्ड.

— अभय कुमार दुबे

स्वतंत्रता, भारतीय विचार

(Liberty, The Indian Concept)

स्वतंत्रता के लिए भारतीय परम्परा के पास अगर कोई निकटतम शब्द है तो वह है मुक्ति। लेकिन इस मुक्ति का तात्पर्य मोक्ष से है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से पारलौकिक धरातल पर मिलने वाला छुटकारा। लेकिन आधुनिक और लौकिक संदर्भों में यहाँ जिस मुक्ति की चर्चा की जा रही है उसका अर्थ है सामाजिक-राजनीतिक बंधनों से छुटकारा। भारत में स्वतंत्रता का यह आधुनिक विचार मुख्यतः दो अर्थों में ग्रहण किया जाता है : राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक स्वाधीनता। स्वाधीनता के इन दोनों रूपों की चेतना का स्पर्श साथ-साथ मिलने के बावजूद भारत ज़्यादा से ज़्यादा यह कह

सकता है कि उसे राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो चुकी है, और सामाजिक स्वतंत्रता के रास्ते पर कई सकारात्मक क्रदम बढ़ा चुका है पर इस सिलसिले में मंजिल तक पहुँचने की जद्दोजहद अभी जारी है। स्वतंत्रता के विचार का भारत में आगमन तीन विभिन्न रास्तों से हुआ। पहला, औपनिवेशिक शासन व्यवस्था द्वारा किये गये क्रान्ती विन्यास में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की प्रच्छन्न समझ निहित होना। दूसरा, पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था का संस्थागत प्रसार। तीसरा, पश्चिमी सामाजिक चिंतन का प्रभाव।

भारत में जैसे-जैसे मध्य वर्ग का उभार हुआ और नौकरी पेशा लोगों की संख्या बढ़ी, स्वतंत्रता का विचार व्यक्तिगत संदर्भों में व्यक्त किया जाने लगा। संयुक्त परिवारों में स्त्रियों की स्थिति पुरुष के मुकाबले दोगुने की थी, लेकिन स्वतंत्रता के व्यक्ति आधारित विचार ने पुरुष के साथी की उनकी परिभाषा का रास्ता खोला। विभिन्न जाति सभाओं और धार्मिक संगठनों के गठन ने धर्म, जाति और समाज के समीकरण में उल्लेखनीय तब्दीलियाँ कीं। आधुनिक दायरे में सक्रिय रहने की विवशता से जातियों का परस्पर कर्मकाण्डीय अलगाव टूटा और धार्मिक संगठनों ने औपनिवेशिक आधुनिक राज्य द्वारा प्रदत्त लाभों में हिस्सा बाँटने के लिए सामुदायिकता की राजनीति शुरू की। शिक्षा संस्थाएँ खोलने, स्त्रियों की उन्नति और खेल-कूद क्लबों के मक़सद से स्वयंसेवी संस्थाएँ बनने का सिलसिला शुरू हुआ। शुरुआती दौर में इन संगठनों में भागीदारी का मौक़ा केवल ऊँची जातियों के अभिजनों को ही प्राप्त था। सामाजिक पाबंदियों से छुटकारे की इन विविध मुहिमों के शीर्ष पर बंगाल का नवजागरण था जिसके एक सिरे पर राजा राममोहन राय थे, और दूसरे सिरे पर रवींद्रनाथ ठाकुर। यह धारा आगे चल कर कमोबेश राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए चलाये जा रहे उपनिवेशवादी संघर्ष में विकसित हुई।

लेकिन, पश्चिम भारत में आधुनिकता और सामाजिक मुक्ति की इस अन्योन्यक्रिया का परिदृश्य कुछ अलग तरह का था। निचली जातियों से निकले दो चिंतकों ने सामाजिक स्वतंत्रता के आधुनिक विचारों के ज़रिये जातिगत ऊँच-नीच पर आक्रमण शुरू किया। यह मशाल पहले ज्योतिबा फुले ने जलायी और फिर भीम राव आम्बेडकर उसके प्रमुख वाहक बने। सामाजिक मुक्ति का यह संदर्भ रोज़ाना की जिंदगी में जातिगत अवमानना से मुक्ति के रूप में परिभाषित हुआ। इसके दो रूप थे : ऊँची जातियों के प्रभुत्व से निचले जाति-समूहों की मुक्ति, और औपनिवेशिक प्रशासन में नौकरियों के लिए आरक्षण की राजनीति। सामाजिक स्वतंत्रता की यह धारा उपनिवेशवाद विरोध की राजनीतिक धारा से अलग और अक्सर उसके साथ तनाव में विकसित हुई।

स्वतंत्रता की इन दोनों धाराओं को अगर किसी एक

मुकाम पर एक साथ अभिव्यक्ति मिली तो वह था गाँधी-विचार। गाँधी ने स्वतंत्रता के लिए 'स्वराज' शब्द का इस्तेमाल किया जो 'स्व' और 'राज' से मिल कर बना था। इसे दो अर्थों में समझा जा सकता था : स्व या अपना शासन और स्व पर राज या अपने ऊपर शासन। इस तरह स्वराज का एक मतलब संवैधानिक और राजनीतिक स्वतंत्रता समझा गया और दूसरा मतलब सामाजिक और सामूहिक स्तर पर स्वतंत्रता के रूप में लिया गया। गाँधी ने सामाजिक मुक्ति को एक नया आयाम भी दिया जिसका तात्पर्य न केवल परंपरा की जकड़ से मुक्ति था, बल्कि पश्चिम के सांस्कृतिक रुतबे से भी मुक्ति के रूप में भी था। अपनी विख्यात रचना *हिंद-स्वराज* में गाँधी ने स्वराज की वह समझ पेश की जिसका मतलब था अमानवीकरण करने वाली संस्थाओं से मुक्ति के लिए आत्म-गौरव की उपलब्धि, अपने उत्तरदायित्व की समझ और आत्म-मुक्ति की क्षमता का विकास। इस स्वराज की प्राप्ति की लिए ज़रूरी था अपनी वास्तविक इयत्ता का साक्षात्कार करते हुए समुदाय व समाज से उसके संबंध की गहन अनुभूति। गाँधी का लक्ष्य था कि स्वराज की इस समझ के मुताबिक ऐसी संस्थाओं, संरचनाओं और प्रक्रियाओं के विकास का सतत प्रयास किया जाए जो भारत की विविध संस्कृतियों और परम्पराओं के मुताबिक होने के साथ-साथ प्राकृतिक जगत के उसूलों पर भी खरी उतरती हों। गाँधी का विश्वास था कि इस प्रकार होने वाला विकास न केवल व्यक्ति को स्वाधीन करेगा, बल्कि उन सामूहिक क्षमताओं को भी उन्मुक्त करेगा जिनकी बुनियाद न्याय के उसूल पर रखी गयी होगी।

सवाल यह है कि क्या स्वतंत्रता के विचार की ये धाराएँ स्वतंत्र भारत के संविधान में मूर्त होती हैं? दरअसल, भारतीय संविधान के तीसरे हिस्से में मूलाधिकारों के तहत स्वतंत्रता की चर्चा मिलती है। ये मूलाधिकार राज्य को दी जाने वाली सकारात्मक हिदायतों के रूप में न हो कर राज्य पर लगायी गयी कुछ पाबंदियों के नकारात्मक रूप में हैं। ये अधिकार मूल होने के बावजूद निर्बाध नहीं हैं। एक सिद्धांत के रूप में स्वतंत्रता के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकारों द्वारा ही नहीं बल्कि राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों द्वारा भी सुरक्षित की गयी है। संविधान के इस हिस्से के अनुच्छेद 19 में विभिन्न स्वतंत्रताओं का जिक्र है और अनुच्छेद 21 स्वतंत्रता के सिद्धांत के दायरे को परिभाषित करता है। इक्कीसवाँ अनुच्छेद कहता है : *.कानून द्वारा स्थापित क्रियाविधि को छोड़ कर किसी और तरीके से किसी व्यक्ति को उसके जीवन या निजी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।* मूलाधिकारों के परिच्छेद में यह अकेला सूत्रीकरण है जिसके कार्यान्वयन में किसी अपवाद या शर्त का उल्लेख नहीं है। अर्थात् अनुच्छेद 21 के मुताबिक भारतीय संविधान

जीवन के अधिकार और निजी स्वतंत्रता को मानव अधिकार के स्तर पर ले जाता है। इसका उपभोग करने के लिए भारत का नागरिक होना भी ज़रूरी नहीं है।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेठ, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागरिक समाज पर भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भारत में सार्विक मताधिकार, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. सुदीप्त कविराज (2002), 'आइडियाज़ ऑफ़ फ्रीडम इन मॉडर्न इण्डिया', राबर्ट एच. टेलर (सम्पा.), *द आइडिया ऑफ़ फ्रीडम इन एशिया एंड अफ्रीका*, स्टेनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टेनफ़र्ड, सीए.
2. वी. श्रीरंजनी (2008), 'लिबर्टी' अध्याय में 'द कंसेप्ट ऑफ़ लिबर्टी इन इण्डिया', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीरोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
3. गंगाधर पानतावणे (1993), 'महात्मा फुले और डॉ. आम्बेडकर', हरि नरके (सम्पा.), *महात्मा फुले : साहित्य और विचार*, महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिती, मुम्बई.

— अभय कुमार दुबे

स्वतंत्रतावाद

(Libertarianism)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूँजीवादी देशों में लोकोपकार के आग्रह के तहत राज्य की बढ़ी हुई भूमिका की प्रतिक्रिया में स्वतंत्रतावाद के सिद्धांत का विकास हुआ है। स्वतंत्रतावाद मनुष्य और समाज के जीवन में राज्य की भूमिका को बेहद सीमित कर देना चाहता है। इसकी दो प्रमुख शाखाएँ हैं। एक शाखा अराजकतावादियों की है जो मानते हैं कि सरकार अपने आप में वैध संस्था है ही नहीं। दूसरी शाखा न्यूनतमवादियों की है जो मानती है कि सरकार को न्यूनतम काम करने का अधिकार है जिनमें पुलिस-सुरक्षा, अनुबंधों का कार्यान्वयन करवाना, नागरिक और फ़ौजदारी अदालत क्रायम करना शामिल है। लेकिन अधिकतर न्यूनतमवादी यह भी मानते हैं कि उनकी सूची में टैक्स वसूलने का अधिकार शामिल नहीं है। यहाँ तक कि ऊपर वर्णित काम पूरे करने के लिए भी

सरकार को लोगों से टैक्स नहीं लेना चाहिए। अराजकतावादियों का खयाल है कि क्रिकेट के नाइटवाचमैन क्रिस्म का यह राज्य भी कुछ ज़्यादा ही व्यापक है। वे मानते हैं कि न्यूनतमवादियों ने सरकार को जो काम दिये हैं, वे भी निजी एजेंसियों द्वारा किये जाने चाहिए। कुछ अराजकतावादी तो व्यक्ति की सुरक्षा के लिए भी सरकार को किसी तरह की शक्ति का उपभोग नहीं करने देना चाहते।

स्वतंत्रतावादी व्यक्ति के आत्म-स्वामित्व या 'सेल्फ ऑनरशिप' के विचार पर बल देते हैं। आत्म-स्वामित्व का विचार कांट द्वारा लोगों को अपने-आप में साध्य मानने के सूत्र का ही एक रूप है। इसका अर्थ यह है कि हर व्यक्ति खुद अपना मालिक है। इसलिए उसकी जिंदगी में किसी को भी ऐसा दखल देने की ज़रूरत नहीं है जिससे उसके आत्म-स्वामित्व का उल्लंघन होता हो। इस आधार पर भी स्वतंत्रतावाद दो धाराओं में बँट जाता है : पहला, दक्षिणपंथी स्वतंत्रतावाद और दूसरा वामपंथी स्वतंत्रतावाद।

दक्षिणपंथी स्वतंत्रतावादी न्यूनतम राज्य की अवधारणा का समर्थक है। उसका मानना है कि व्यक्ति को असीम सम्पत्ति का अधिकार है। यदि राज्य व्यक्ति पर किसी भी तरह का कर लगाता है तो वह आत्म-स्वामित्व के उसूल का उल्लंघन होगा। लॉक के विचारों में इसके सूत्र पाये जा सकते हैं। बीसवीं सदी में हायक और फ्रीडमैन ने भी इस विचार का समर्थन किया है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस आंदोलन को बौद्धिक समर्थन देने वाले प्रमुख विद्वानों में अमेरिकी अर्थशास्त्री मरे एन. रोथबर्ड का नाम भी प्रमुख है। रोथबर्ड ने अ-हस्तक्षेपकारी राज्य के सिद्धांत को मानवाधिकारों के असीमवादी संस्करण से जोड़ कर राज्य को खारिज कर दिया। समकालीन विद्वानों में रॉबर्ट नॉज़िक इस के सबसे बड़े समर्थक हैं। दूसरी ओर, वाम-स्वतंत्रतावाद की भी एक लम्बी परम्परा रही है। वाम-स्वतंत्रतावादी अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी विचारकों, जैसे थॉमस पेन, हेनरी जॉर्ज और पीटर वालरस, के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। आजकल हीलेल स्टीनर और पीटर वेलेनटाइन जैसे विचारकों ने इसका समर्थन किया है। वाम-स्वतंत्रतावाद भी आत्म-स्वामित्व पर जोर देता है। वह मानता है कि संपत्तिहीन लोगों को आत्म-स्वामित्व का अधिकार देने के लिए या तो संसाधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए, या फिर सभी लोगों तक इनकी पहुँच सुनिश्चित करनी चाहिए। फिलहाल स्वतंत्रतावाद के नाम पर केवल दक्षिणपंथी-स्वतंत्रतावाद का ही बोलबाला है।

1974 में दार्शनिक राबर्ट नॉज़िक की कृति *एनार्की, स्टेट एंड यूटोपिया* के प्रकाशन के बाद इस आंदोलन पर काफ़ी अकादमीय ध्यान दिया गया। यह पुस्तक जॉन रॉल्स

की *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* के 1971 के प्रकाशन में कुछ सामने आयी थी। अपनी किताब में नॉज़िक यह तर्क देते हैं कि राज्य को सिर्फ़ सुरक्षा और न्याय के काम करने चाहिए न्याय के इस सिद्धांत के तहत माना जाता है कि लोगों की विशेषताओं का ध्यान रखते हुए एक खास तरीके से सम्पत्ति और आय का वितरण किया जाना चाहिए। नॉज़िक ने विख्यात बास्केटबॉल खिलाड़ी विल्ट चेम्बरलेन के उदाहरण से दिखाया है कि किस तरह छोटी-छोटी गतिविधियाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उल्लंघन करती हैं। नॉज़िक कहते हैं कि अगर चेम्बरलेन को बास्केटबॉल का खेल दिखाने के लिए एक समतावादी समाज में सभी लोग अपने एक डॉलर का चौथाई हिस्सा दें तो उसके पास बहुत ज़्यादा सम्पत्ति जमा हो जाएगी।

नॉज़िक पैटर्न आधारित न्याय की समस्याओं से बचने के लिए इसकी जगह ऐतिहासिक सिद्धांत अपनाते हैं। उन्होंने लॉक के वर्णन को अपने इस ऐतिहासिक सिद्धांत का आधार बनाया है। उनके अनुसार यह ज़रूरी नहीं है कि व्यक्ति नैतिक रूप से अपनी सम्पत्ति के लायक हो। इसकी जगह व्यक्ति सम्पत्ति का सिर्फ़ हक़दार हो सकता है। एक व्यक्ति सम्पत्ति का तभी हक़दार हो सकता है जब उसने किसी लावारिस पड़ी वस्तु का न्यायपूर्ण अधिग्रहण किया हो; या फिर उसने किसी ऐसे व्यक्ति से सम्पत्ति ली हो जिसका उस पर न्यायपूर्ण शुरुआती अधिग्रहण हो। साथ ही, नॉज़िक अतीत के अन्यायों के परिशोधन की व्यवस्था भी करते हैं। अर्थात् यदि ऊपर-वर्णित प्रक्रिया के अनुसार सम्पत्ति हासिल नहीं की गयी है तो व्यक्ति इसके लिए परिशोधन का दावा कर सकता है। अपनी किताब में नॉज़िक यह भी दिखाने की कोशिश करते हैं कि एक स्वतंत्रतावादी समाज यूटोपियाई सामाजिक व्यवस्था की सबसे सुसंगत परिभाषा पर खरा उतरता है।

इसके अलावा, डेविड गौथियर जैसे विद्वानों ने पारस्परिक लाभ के आधार पर स्वतंत्रतावाद की तरफ़दारी की है। दूसरी ओर, बहुत से विद्वानों ने स्वतंत्रता को ज़्यादा-से-ज़्यादा बढ़ाने को तर्क के आधार पर भी स्वतंत्रतावाद की वकालत की है।

स्वतंत्रतावाद के दक्षिणपंथी संस्करण का आधारभूत तर्क बेहद कमज़ोर है। यह समाज में सम्पत्ति और संसाधनों की असमानता को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। नॉज़िक के सिद्धांत में इस सवाल का जवाब देने की कोशिश नहीं की गयी है कि क्या वर्तमान दौर में बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने अपनी सम्पत्ति न्यायपूर्ण अधिग्रहण के सिद्धांत के अनुसार हासिल की थी। इसी तरह इसमें यह भी स्पष्ट नहीं है कि क्या सभी लोगों को शुरुआती रूप से समान संसाधन दिये गये थे? यदि

ऐसा नहीं हुआ तो सम्पत्तिहीन और साधनहीन लोगों को संसाधनों के पुनर्वितरण की माँग क्यों नहीं करनी चाहिए? यद्यपि वामपंथी-स्वतंत्रतावाद इस तरह के मुद्दे उठाता है लेकिन दक्षिणपंथी-स्वतंत्रतावाद का प्रभाव लगातार बढ़ता गया है। इसका मुख्य कारण लोकोपकारी राज्य की नाकामी है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ जॉक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वजातिवाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय* (दूसरा संस्करण) (अनु. कमल नयन चौबे), पियर्सन लॉंगमैन, नयी दिल्ली.
2. राबर्ट नॉज़िक (1974), *एनार्की स्टेट ऐंड यूटोपिया*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. पीटर वेलेनटाइन और एच. एल. स्टीनर (सम्पा.) (2000), *लेफ्ट-लिबरटेरियनिज़म ऐंड इट्स क्रिटिक्स : द कंटेम्प्यरी डिबेट*, पॉलग्रेव, लंदन.
4. एम. रॉथबार्ड (1982), *इथिक्स ऑफ लिबर्टी*, ह्यूमैनिटी प्रेस, अटलांटिक हाइलैण्ड्स, एनजे.

— कमल नयन चौबे

स्वामी अछूतानंद हरिहर

(Swami Achhutanand 'Harihar')

आदि हिंदू आंदोलन के संस्थापक और उत्तर भारत में दलित चेतना के प्रमुख अग्रदूतों में से एक स्वामी अछूतानंद हरिहर (1879-1933) उन संत-महापुरुषों में से थे जिन्होंने ब्रिटिश भारत में अंग्रेजों की ग़लत नीतियों का विरोध करते हुए भारतीय समाज की विषमता पर ज़बरदस्त चोट करने के साथ-साथ सामंतों और ज़मींदारों के अत्याचारों के खिलाफ़ भी आवाज़ उठायी। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की दावेदारी करने के साथ-साथ दलितों को भारत का मूल निवासी बताने का अभियान चलाया। उन्होंने सरकार को कई माँग-पत्र दिये जिनमें दलितों के लिए सार्वजनिक बहालियों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में विशेष प्रावधान की बात कही गयी थी। उनके इन प्रयासों के कारण छुआछूत के शिकार समुदायों ने औपनिवेशिक आधुनिकता को मुक्ति के एक सीमित अवसर के रूप में देखना शुरू किया। आज उत्तर भारत, खास कर उत्तर प्रदेश में जिस दलित राजनीतिक जागरूकता के दर्शन होते हैं उसकी नींव बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक में स्वामी अछूतानंद के अहर्निश संघर्ष के आधार पर ही रखी गयी थी। यह स्वामी अछूतानंद द्वारा बनायी गयी ज़मीन ही थी जिसकी बिना पर इस क्षेत्र में चालीस के दशक तक आम्बेडकरवादी चेतना अपने क़दम जमा सकी। अछूतानंद की समयावधि में उत्तर भारत में कम से कम चार और मुकामों पर आदि हिंदू आंदोलन चल रहा था। पंजाब में बाबा मंगूराम मुग्गोवालिया ने इसकी स्थापना की थी। इसके अलावा इस आंदोलन की गतिविधियाँ आज के हरियाणा, नयी दिल्ली, उत्तराखण्ड और राजस्थान में भी देखी जा सकती थीं।

स्वामी अछूतानंद का जन्म उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद ज़िले के सौरिख नामक गाँव में 1879 में वैशाख पूर्णिमा के दिन एक अत्यंत साधारण परिवार में हुआ था। उनके परिजन उन्हें बचपन में हीरालाल के नाम से पुकारते थे। उनकी दिलचस्पी शुरुआत से ही लिखने-पढ़ने में थी, बावजूद इसके कि उनके परिवार में शिक्षा की कोई सुविधा न थी। उन्हें किताबी ज्ञान से अधिक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का मौक़ा मिला। प्रतिभाशाली होने के कारण छोटी-सी उम्र में ही उन्हें हिंदी, संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू, गुरुमुखी तथा मराठी आदि भाषाओं का ज्ञान हो गया। जितना अधिक वे पढ़ते उतना ही ज़्यादा ज्ञान प्राप्त करने की भूख उनके मन में पैदा होती। दलितों के बीच समाज-सुधार और जागरण के लिए काम करते-करते दिन-रात के कठोर परिश्रम के कारण 1933 में

उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और मई के महीने में 23 दिन बीमार रहने के बाद उन्होंने अपना शरीर छोड़ा।

अछूतानंद ने 1905 से 1917 तक आर्य समाजियों के साथ जाति और छुआछूत के उन्मूलन के लिए काम किया। आर्य समाज में उन्हें पण्डित हरिहरानंद का नाम दिया गया, लेकिन जल्दी ही उनका आर्य समाज से मोहभंग हो गया और उन्होंने पण्डित हरिहरानंद के बजाय अछूतानंद 'हरिहर' नाम लेना पसंद किया। उन्होंने गाँव-गाँव और क़स्बे-क़स्बे घूम कर दलित जातियों में शिक्षा की आवश्यकता पर बल देना शुरू किया। समाज सुधार के उनके एजेंडे पर दहेज, बाल-विवाह और मृत्यु-भोज इत्यादि पर होने वाले खर्चों का विरोध करना शामिल था। वे जहाँ भी जाते दलित समाज को कुरीतियों तथा पाखण्ड से बचने की सलाह देते। बच्चों को स्कूल जाने के लिए उत्साहित करते साथ ही महिलाओं को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करते।



स्वामी अछूतानंद हरिहर (1879-1933)

इस बीच स्वामी अछूतानंद को अनेक प्रलोभन दिये गये। जहाँ एक तरफ़ ब्रिटिश हुकूमत ने उन्हें पदवी देकर अपना पिटू बनाना चाहा, वहीं दूसरी ओर देशी राजाओं, सामंतों तथा जागीरदारों ने भी तरह-तरह के लालच भिजवा कर उन्हें अपनी ओर मिलाने का भरपूर प्रयास किया। लेकिन वे अपने कर्तव्य से ज़रा भी नहीं डिगे।

1917 में अछूतानंद दिल्ली गये और अछूतों के नेता वीर रतन, देवी दास जातिया और जगताराम जातिया के साथ मिल कर काम किया। इन लोगों ने मिल कर अछूत महासभा की स्थापना की और एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। 1922 में प्रिंस ऑफ़ वेल्स के दिल्ली आगमन के मौक़े पर अछूतानंद ने पुराने क़िले पर एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया जिसमें करीब दस हजार दलितों ने भागीदारी की। प्रिंस ऑफ़ वेल्स इस सम्मेलन के मुख्य अतिथि थे। अछूतानंद ने उनके सामने 17 माँगों का एक ज्ञापन पेश किया। ज्ञापन में अछूतों को आदि हिंदू बताया गया था और उनके लिए पृथक् मतदाता मण्डलों की माँग करते हुए ज़ोर दिया गया था कि अछूतों के लिए स्कूल-कॉलेजों के दरवाज़े खोले जाएँ, छुआछूत निवारण के लिए कड़ा क़ानून बने, शिक्षा प्राप्त करने वाले अछूतों को सरकारी नौकरियाँ प्रदान की जाएँ, नगर पालिकाओं परिषदों-पंचायतों आदि में अछूतों को नामज़द किया जाए, अछूतों को व्यवसाय करने और दूकानें खोलने की आज़ादी मिले, बेगार कराने पर रोक लगे, राज्य विधानसभाओं में अछूतों की नुमाइंदगी हो, उन्हें पट्टे पर

जमीनें मिलें, अछूत छात्रों के लिए वज़ीफ़ों की प्रावधान हो, सघन अछूत आबादी वाले इलाक़ों में उनके लिए कॉलेज खोले जाएँ और उन्हें मिलने वाली मज़दूरी में बढ़ोतरी हो। दिलचस्प बात यह है कि इस ज्ञापन में एक माँग ब्राह्मण और क्षत्रिय समुदायों की स्त्रियों के बारे में भी थी। ज्ञापन में कहा गया था कि इन स्त्रियों का ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषों द्वारा काफ़ी शोषण होता है इसलिए उनके बुनियादी अधिकार सुनिश्चित किये जाने चाहिए। 1920 में उन्होंने दिल्ली के जाटव सम्मेलन में भागीदारी की और 1923 में दिल्ली में उन्होंने आदि हिंदू धर्म की स्थापना की।

दलितोद्धार की इस मुहिम में अछूतानंद को तीन तरफ़ से हमलों का सामना करना पड़ा। पहला, हिंदू धर्म में फैली कुरीतियों और छुआछूत के समर्थक मठाधीशों से, दूसरा मुसलमानों की धर्म-परिवर्तन नीति से और तीसरे अंग्रेज़ों की राजनीतिक गुलामी से। वे जहाँ भी जाते स्थानीय लोगों को इसी तरह के तितरफ़ा संघर्ष के लिए तैयार करने की कोशिश करते। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने

1926 में कानपुर में दलितों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य की माँग की। उन्होंने कहा कि जिस तरह हिंदू और मुसलमान स्वराज की माँग कर रहे हैं, हम दलित भी पूर्ण-स्वराज की माँग करते हैं। हम भी स्वाधीनता के सच्चे हक़दार हैं। 30 नवम्बर, 1930 को लखनऊ में स्वामी अछूतानंद अपने साथियों तिलक चंद्र कुरील, गिरधारी भगत, लक्ष्मण प्रसाद और करोड़ीमल खटीक के साथ साइमन कमीशन से मिले और दावा किया कि 'हमें अंग्रेज़ों से हमदर्दी नहीं, सम्मानपूर्वक जीवन अधिकार चाहिए।' उन्होंने इस अवसर पर ज़मींदारी उन्मूलन क़ानून बनाने की भी बात भी कही। साइमन कमीशन के सामने अछूतानंद ने 'सोसियो इकॉनॉमिक कण्डीशंस ऐंड आल्टरनेटिव प्लांस फ़ॉर द लिबरेशन ऑफ़ अनटचेबिल्स' पेश किया। कमीशन के सामने उनका तर्क था कि कांग्रेस और उसके गाँधी जैसे नेता दरअसल हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अछूतों के नुमाइंदे नहीं हो सकते। लंदन में हुए गोलमेज़ सम्मेलन के समय भी अछूतानंद ने अनगिनत पत्र और तार भेज कर अछूतों के अलग प्रतिनिधित्व का सवाल उठाया था। जिस समय गाँधी अछूतों के लिए पृथक् मतदाता मण्डलों के सवाल पर आमरण अनशन पर बैठे, अछूतानंद ने प्रयाग, इटावा, लखनऊ और कानपुर में इसके खिलाफ़ प्रतिरोध-सभाएँ आयोजित की थीं। इसी संदर्भ में मोतीलाल नेहरू ने उन्हें एक पत्र लिखा था कि आप तथा आपके सहयोगी आज़ादी के संघर्ष में सहयोग दें क्योंकि आज़ादी के बाद ज़मींदारी उन्मूलन अपने आप हो जाएगा।

लेकिन अछूतानंद का संघर्ष बहुमुखी था। वे राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक स्वतंत्रता के प्रश्न को अलग-अलग करके देखने या एक की क्रीम पर दूसरे को प्राथमिकता देने के लिए तैयार नहीं थे।

अछूतानंद ने हिंदी में छह किताबें लिखीं : *शम्बूक बलिदान* (नाटक), *मायानंद बलिदान* (जीवनी), *अछूत पुकार* (गीत), *पाखण्ड खंडिनी*, *आदिवंश का डंका* (कविता), *रामराज्य का न्याय* (नाटक)। स्वामी अछूतानंद की साहित्य और पत्रकारिता के लिए भी प्रतिबद्ध थे। उन्होंने कानपुर में ही आदि हिंदू प्रेस स्थापित किया और 1925 से 1932 तक *आदि हिंदू* मासिक पत्र का प्रकाशन करते रहे।

अछूतानंद द्वारा शुरू किये गये संघर्ष का इतिहास हमें बताता है कि उनके नेतृत्व में आठ राष्ट्रीय अधिवेशन, तीन विशेष सम्मेलन और पंद्रह प्रांतीय सभाओं के साथ-साथ सैकड़ों की संख्या में जनपदीय सभाएँ हुईं। 1923 में दिल्ली में पहले वार्षिक अधिवेशन के अलावा दूसरा नागपुर (1924), तीसरा हैदराबाद (1925), चौथा मद्रास (1926), पाँचवाँ इलाहाबाद (1927), छठा बम्बई (1928), सातवाँ अमरावती (1929), और आठवाँ (1930) में इलाहाबाद में हुआ था। प्रांतीय सभाएँ लखनऊ कानपुर, मेरठ, मैनपुरी, मथुरा, इटावा, आगरा आदि में आयोजित की गयी थीं। अपने व्यस्त कार्यक्रम से समय निकाल कर अछूतानंद अपने जमाने के महापुरुषों से भी मिलते थे। इन्हीं दिनों उन्हें डॉ. आम्बेडकर के बारे में जानकारी मिली। दूसरी ओर डॉ. आम्बेडकर भी अछूतानंद से मिलना चाहते थे। इस तरह नवम्बर, 1928 में बम्बई में आदि हिंदू आंदोलन के राष्ट्रीय अधिवेशन में पहली बार इन दोनों महापुरुषों की मुलाकात हुई। बहुत समय से स्वयं डॉ. आम्बेडकर को उत्तरी-भारत के लिए ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता थी।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आर्यकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भीमराव रामजी आम्बेडकर।

संदर्भ

1. कैवल भारती (2011), *स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर' और हिंदी नवजागरण*, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली।
2. प्रो. अंगनेलाल और डॉ. राहुल राम (2011), *उत्तर-प्रदेश में दलित आंदोलन*, गौतम बुक सेंटर, नयी दिल्ली।
3. रामनारायण एस. रावत (2012), *रीकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी चमार्स एंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इण्डिया*, परमानेंट ब्लेक, रानीखेत केंद्र।

4. चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1960), *आदि हिंदू आंदोलन के प्रवर्तक 108 स्वामी अछूतानंद जी हरिहर*, हिंदू समाज सुधार कार्यालय, लखनऊ।
5. मार्क जुरेगेंसमेयर (1982), *द रिलीजस रिबेल्स इन पंजाब : द आदि धर्म चैलेंज*, नवभान पब्लिकेशन।

— मोहनदास नैमिशराय

सत्ता

(Power)

अगर कोई किसी से अपनी मर्जी के आधार पर कुछ ऐसे काम करवा सकता है जो वह अन्यथा नहीं करता, तो इसे एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता की संज्ञा दी जाएगी। सत्ता की यह सहज लगने वाली परिभाषा रॉबर्ट डाहल की देन है। इसका सूत्रीकरण केवल व्यक्तियों के संदर्भ में किया गया है। जैसे ही समूह और सामूहिकता के दायरे में सत्ता पर गौर किया जाता है, कई पेचीदा और विवादास्पद प्रश्न खड़े हो जाते हैं। समझा जाता है कि सामूहिक संदर्भ में सत्ता का आशय ऐसे फ़ैसले करने से है जिन्हें मानने के लिए दूसरे लोग मजबूर हों। मसलन, अध्यापक द्वारा किये गये निर्णय उसकी कक्षा के छात्र मानते हैं और परिवार के सदस्य माता-पिता के फ़ैसलों के आधार पर चलते हैं। लेकिन, राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज-नीति के मामलों के लिए सत्ता की यह परिभाषा अपर्याप्त साबित होती है।

समाज-विज्ञान के छात्र यह पूछ सकते हैं कि समाज के संदर्भ में सत्ता किस के पास रहती है, किसके पास रहनी चाहिए और किस आधार पर उसका प्रयोग किया जाना चाहिए? इन सवालों की रोशनी में आधुनिक विचार के दायरे में सत्ता के प्रश्न पर गहराई से चिंतन-मनन किया गया है। सत्ता से जुड़े अहम सवालों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि सत्ता समाज में व्यापक और समान रूप से वितरित है या किसी शासक वर्ग या किसी 'पॉवर इलीट' के हाथों में केंद्रित है? सत्ता का प्रश्न उस समय और जटिल हो जाता है जब सत्ता और उसका प्रयोग करने से जुड़े इरादे के समीकरण पर गौर किया जाता है। पार्टियाँ, सरकार, हित-समूह और बड़े-बड़े कॉर्पोरेशन सत्ता का इस्तेमाल करते हुए देखे जा सकते हैं। यह सत्ता के इरादतन प्रयोग के उदाहरण हैं। पर क्या यही बात एक विज्ञापक के लिए भी कही जा सकती है? उसका इरादा तो महज़ अपने उत्पाद की बिक्री बढ़ाना है। तो फिर उसके द्वारा जारी विज्ञापन उपभोक्ताओं पर अपनी सत्ता किस तरह से क्रायम करता है? उपभोक्ता उस विज्ञापन के प्रभाव

में कुछ खास तरह के मूल्यों के हक में क्यों झुक जाते हैं ? जाहिर है कि सत्ता के 'अभिप्रेत' रूपों के अलावा भी कुछ ऐसे रूप हैं जिन्हें सत्ता के 'संरचनागत' रूपों की संज्ञा दी जा सकती है।

स्टीवन ल्यूक्स ने सत्ता के तीन आयामों की चर्चा करके उसके कई पहलुओं को समेटने की कोशिश की है। उनके अनुसार सत्ता का मतलब है निर्णय लेने का अधिकार अपनी मुट्ठी में रखने की क्षमता, सत्ता का मतलब है राजनीतिक एजेंडे को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए निर्णयों के सार को बदल देने की क्षमता, और सत्ता का मतलब है लोगों की समझ और प्राथमिकताओं से खेलते हुए उनके विचारों को अपने हिसाब से नियंत्रित करने की क्षमता।

रॉबर्ट डाहल यह नहीं मानते कि निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता किसी सुपरिभाषित 'शासक अभिजन' या रूलिंग क्लास की मुट्ठी में रहती है। 1963 में प्रकाशित अपनी रचना *हू गवर्न्स?* में डाहल ने अमेरिका के न्यू हैविंस, कनेक्टिकट का अध्ययन पेश किया। इसमें उन्होंने पहले अपने लिहाज से निर्णय के तीन प्रमुख क्षेत्रों (शहरी नवीकरण, सार्वजनिक शिक्षा और राजनीतिक उम्मीदवारों का चयन) को छाँटा, निर्णय-प्रक्रिया में शामिल लोगों और उनकी प्राथमिकताओं की शिनाख्त की और फिर उन लोगों द्वारा किये गये फैसलों का उनकी प्राथमिकताओं से मिलान किया। डाहल ने यह तो पाया कि आर्थिक और राजनीतिक रूप से ताकतवर लोगों की आम लोगों के मुकाबले फैसलों में ज्यादा चलती है, पर उन्हें अभिजनों के किसी स्थाई समूह द्वारा फैसले करने या उन्हें प्रभावित करने के सबूत नहीं मिले। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि निर्णयों को प्रभावित करने में सत्ता की भूमिका तो होती है, पर सत्ता एक नहीं बल्कि कई केंद्रों में होती है। दाहल की मान्यता है कि अगर इसी तरह से सत्ता के स्थानीय रूपों के अध्ययन कर लिए जाएँ तो उसके राष्ट्रीय स्वरूप के बारे में नतीजे निकाले जा सकते हैं।

राजनीतिक एजेंडा अपने हिसाब से बनवाने में सत्ता के इस्तेमाल की शिनाख्त करना थोड़ा मुश्किल है। इस प्रक्रिया में जोर फैसले करने पर कम और दूसरों को फैसलों में शामिल होने से रोकने या किसी खास मत को व्यक्त होने से रोकने पर ज्यादा रहता है। सत्ता की इस भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है कि स्थापित मूल्यों, राजनीतिक मिथकों, चलन और संस्थाओं के काम करने के तरीकों पर ध्यान दिया जाए। इनके जरिये किसी एक समूह का निहित स्वार्थ दूसरे समूहों पर हावी हो जाता है, और कई मामलों में उन समूहों को अपनी बात कहने या निर्णय-प्रक्रिया में हिस्सेदारी का मौका भी नहीं मिल पाता। अक्सर यथास्थिति के पैरोकार परिवर्तन की वकालत करने वालों को इन्हीं तरीकों से हाशिये पर धकेलते रहते हैं। उदार-लोकतांत्रिक

राजनीति की प्रक्रियाओं को अभिजनवादियों द्वारा ऐसे फिल्टरों की तरह देखा जाता है जिनके जरिये रैडिकल प्रवृत्तियाँ छँटती चली जाती हैं।

सत्ता का तीसरा चेहरा यानी लोगों के विचारों को नियंत्रित करके अपनी बात मनवाने की प्रक्रिया लोगों की आवश्यकताओं को अपने हिसाब से तय करने की करामात पर निर्भर है। हरबर्ट मारक्यूज़ ने अपनी विख्यात रचना *वन-डायमेंशनल मैन* (1964) में विश्लेषण किया है कि क्यों विकसित औद्योगिक समाजों को भी सर्वसत्तावादी की श्रेणी में रखना चाहिए। मारक्यूज़ के अनुसार हिटलर के नाज़ी जर्मनी में या स्टालिन के रूस में सत्ता के आतंक का प्रयोग करके सर्वसत्तावादी राज्य क्रायम किया गया था, पर औद्योगिक समाजों में यही काम आधुनिक प्रौद्योगिकी के जरिये बिना किसी प्रत्यक्ष क्रूरता के लोगों की आवश्यकताओं को बदल कर किया जाता है। ऐसे समाजों में टकराव ऊपर से नहीं दिखता, पर इसका मतलब सत्ता के व्यापक वितरण में नहीं निकाला जा सकता। जिस समाज में विपक्ष और प्रतिरोध नहीं है, वहाँ माना जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और जकड़बंदी के बारीक हथकण्डों का इस्तेमाल हो रहा है।

सत्ता की अवधारणा पर विचार करने के लिए जरूरी है कि उसके मार्क्सवादी, उत्तर-आधुनिक, नारीवादी आयामों और हान्ना अरेंड्ट द्वारा प्रतिपादित सत्ता की वैकल्पिक धारणा पर भी गौर कर लिया जाए।

मार्क्सवादी विद्वान मानते हैं कि वर्गों में बँटे समाज में (जैसे कि पूँजीवादी समाज) शासक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर कब्ज़ा होता है और वह मज़दूर वर्ग पर अपनी सत्ता थोपता है। पूँजीवादी वर्ग की सत्ता न केवल विचारधारात्मक, बल्कि आर्थिक और राजनीतिक भी होती है। मार्क्स का विचार था कि किसी भी समाज में विचारों, मूल्यों और आस्थाओं के प्रधान रूप शासक वर्ग के अनुकूल होते हैं। मज़दूर वर्ग के मानस पर उन्हीं की छाप होती है जिसका नतीजा श्रमिकों की 'भ्रांत चेतना' में निकलता है। चेतना के इसी रूप के कारण मज़दूर अपने शोषण की असलियत को पहचान नहीं पाते। इसीलिए उनके 'वास्तविक' हित यानी पूँजीवादी के उन्मूलन और उनके 'अनुभूत' हित में अंतर बना रहता है। लेनिन की मान्यता थी कि पूँजीवादी विचारधारा की सत्ता के कारण मेहनतकश वर्ग ज्यादा से ज्यादा केवल 'ट्रेड यूनियन चेतना' ही प्राप्त कर सकता है। अर्थात् वह पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर अपनी जीवन-स्थितियाँ सुधारने से परे नहीं जा पाता।

मिशेल फूको ने अपने विमर्श में सत्ता और विचार-प्रणालियों के बीच सूत्र की तरफ ध्यान खींचा है। फूको

विमर्श को सामाजिक संबंधों और आचरणों की ऐसी प्रणाली के रूप में देखते हैं जो अपने दायरे में रहने वाले लोगों को अपने हिसाब से तात्पर्य थमाती रहती है। चाहे मनोचिकित्सा हो, औषधि हो, न्याय प्रणाली हो, या कारागार, अकादमीय अनुशासन या राजनीतिक विचारधाराएँ हों, फूको की निगाह में ये सभी विमर्श की प्रणालियाँ हैं, और इस नाते सत्ता के रूप हैं। फूको के मुताबिक आधुनिक युग में सत्ता किसी को कुछ करने से नहीं रोकती, बल्कि अस्मिताओं और आत्मपरकताओं की रचना करती है। सत्ता का राज्य या शासक वर्ग जैसे कोई एक केंद्र नहीं होता, बल्कि वह उसी तरह पूरी व्यवस्था में प्रवाहित होती रहती है जिस तरह शरीर में धमनियों द्वारा रक्त प्रवाहित होता है। इस प्रक्रिया का नियंत्रण 'शासकीयता' के जरिये किया जाता है। एक विशाल नौकरशाही तंत्र द्वारा अननिगनत तरीके अपना कर लोगों का वर्गीकरण किया जाता है। समाज को उत्तरोत्तर संगठित और समरूपीकृत करते हुए उन पर निगरानी के विभिन्न रूप (आइडेंटिटी कार्ड्स, पासपोर्ट आदि) थोपे जाते हैं। इस प्रक्रिया में लोग तरह-तरह की आत्मपरकताएँ (हिंदू-मुसलमान, भारतीय-पाकिस्तानी, शिक्षित-निरक्षर, स्वस्थ-रोगी, स्त्री-पुरुष) जज़ब कर लेते हैं। इसी आत्मसातीकरण के माध्यम से व्यक्ति सत्ता को 'नॉर्मल' ढंग से स्वीकार करता रहता है। शासकीयता इसी 'नार्मलाइजेशन' के माध्यम से व्यक्ति को 'सब्जेक्ट' में बदलती है। सब्जेक्ट एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका एक अर्थ है स्वतंत्र कर्ता और दूसरा है शासित प्रजा का सदस्य। फूको का मतलब यह है कि विमर्श के जरिये सब्जेक्ट में बदलते ही व्यक्ति शासकीयता की कारगुजारियों की मातहत में चला जाता है।

नारीवादी विद्वान सत्ता को पितृसत्ता की अवधारणा की रोशनी में परखते हैं। पितृसत्ता प्रभुत्व की एक ऐसी सर्वव्यापी संरचना है जो हर स्तर पर काम करती है। पितृसत्ता के तहत कोई स्त्री व्यक्तिगत स्तर पर सत्तावान भी हो सकती है। लेकिन उसे पितृसत्तात्मक शासन द्वारा तय की गयी सीमाओं में ही काम करना होगा। मसलन, घर के दायरे में स्त्री सास के रूप में तो एक हद तक सत्ताधारी हो सकती है, पर बेटी, बहू, पत्नी या बहिन के रूप में नहीं। हर जगह उसकी स्थिति पुरुष के सापेक्ष और उसके साथ संबंध के तहत ही परिभाषित होने के लिए मजबूर है। अकेली और पृथक् कोई अस्मिता न होने के कारण वह अदृश्य और सत्ता से वंचित होने के लिए अभिशप्त है।

नारीवादियों के मुताबिक पितृसत्ता की कोई ऐसी समरूप संरचना नहीं होती जो हर जगह एक ही रूप में मिलती हो। इतिहास, भूगोल और संस्कृति के मुताबिक उसके भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसके अलावा पितृसत्ता शोषण और प्रभुत्व के अन्य रूपों (वर्ग, जाति, साम्राज्यवाद, नस्ल

आदि) के साथ परस्परव्यापी भी है। हर जगह उसके प्रभाव अलग-अलग निकलते हैं। एक अमेरिकी श्वेत स्त्री और भारतीय दलित स्त्री को पितृसत्ता का उत्पीड़न अलग-अलग ढंग से झेलना पड़ता है।

हान्ना एरेंट सत्ता को केवल प्रभुत्व की संरचना के तौर पर देखने के लिए तैयार नहीं हैं। अपनी रचना 'व्हाट इज़ अथॉरिटी?' में वे सत्ता को एक बढ़ी हुई क्षमता के रूप में व्याख्यायित करती हैं जो सामूहिक कार्रवाई के जरिये हासिल की जाती है। लोग जब आपस में संवाद स्थापित करते हैं और मिल-जुल कर एक साझा उद्यम की खातिर क्रदम उठाते हैं तो उस प्रक्रिया में सत्ता उद्भूत होती है। सत्ता का यह रूप वह आधार मुहैया कराता है जिस पर खड़े हो कर व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व का वहन करते हुए सक्रिय होता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-ट्रेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. निवेदिता मेनन (2008), 'पाँवर', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. बी. बैरी (सम्पा.) (1976), *पाँवर ऐंड पॉलिटिकल थियरी*, विली, लंदन.
3. स्टीवन ल्यूक्स (सम्पा.) (1980), *पाँवर*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
4. मिशले फूको, *पाँवर/नालेज : सिलेक्टड इंटरव्यूज़ ऐंड द अदर राइटिंग्स 1972-1977*, हारवेस्टर व्हीटशीफ़, लंदन.
5. रॉबर्ट डाल्ल (1956), *अ प्रिफ़ेस टू डेमाॅक्रेटिक थियरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

स्त्री-अध्ययन

(Women's Study)

एक अकादमिक विषय के रूप में स्त्री-अध्ययन की शुरुआत नारीवाद की दूसरी लहर के दौरान हुई। इसका पहला पाठ्यक्रम अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने साठ के दशक के आखिरी दौर में शुरू किया। इससे पहले ब्रिटेन में उच्च शिक्षा के तहत इस प्रकार के कुछ पाठ्यक्रम चल रहे थे, लेकिन वहाँ भी स्त्री-अध्ययन के नाम पर 1980 में ही केंट विश्वविद्यालय में पहला स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चालू हो पाया। दरअसल, यह एक ऐसा विषय था जिसने धीरे-धीरे वैश्विक रूप लिया, हालाँकि इसके पाठ्यक्रम की रूपरेखा बहुत हद तक किसी भी देश के सांस्कृतिक, सामाजिक तथा सांस्थानिक प्रवृत्तियों पर निर्भर थी। नारीवाद की दूसरी लहर बहुत हद तक इस आग्रह पर केंद्रित थी कि किस प्रकार विचार-प्रक्रिया तथा ज्ञान-परम्परा ने स्त्री के हितों और उसकी अस्मिता को लगातार हाशिये पर ढकेला। स्त्री-अध्ययन विषय की स्थापना इस प्रस्थापना के साथ हुई थी कि स्त्रियों को अपने अधिकारों का ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए एक तार्किक पहल के रूप में इस अध्ययन-क्षेत्र ने नारीवादी ज्ञानमीमांसा विकसित की और इस प्रक्रिया में पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा प्रश्नांकित हुई। यह अनुशासन अपनी प्रवृत्ति में अन्तर-अनुशासनिक और बहु-अनुशासनिक है जिसके कारण सभी अनुशासन उसकी समग्रता में समाहित हो गये हैं। यह न सिर्फ स्थापित ज्ञानानुशासनों की आलोचना प्रस्तुत करता है बल्कि स्त्री-जीवन के सम्यक् विश्लेषण से भी प्रतिबद्ध है। जैसे-जैसे स्त्री अध्ययन का संस्थानीकरण हो रहा है, इसे अपनाने वाले उन विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही है जो इस विषय को एक समृद्ध तथा वैविध्यपूर्ण शोध परम्परा के रूप में सुदृढ़ करना चाहते हैं।

अपनी साख क्रायम करने के लिए शिक्षा-जगत में स्त्री अध्ययन को काफ़ी संघर्ष करना पड़ा। अमेरिका और ब्रिटेन के अलावा पूरे युरोप, ऑस्ट्रेलिया, एशिया तथा मध्य-पूर्व में भी स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर शुरू होने के बाद कई महिला महाविद्यालयों में स्त्री-अध्ययन के तहत नारीवादी पाठ्यक्रम पढ़ाये जाने लगे। लेकिन वहाँ यह धारणा बनी रही कि वास्तविक पाठ्यक्रम पुरुष-केंद्रित ही हो सकता है। स्त्री-अध्ययन तो एक बकवास सी चीज़ है जिसके अध्ययन-अध्यापन में लगी हुई स्त्रियाँ बेवकूफ़ और ग़ैर-प्रोफ़ेशनल हैं। इस तरह के पूर्वाग्रहों के कारण स्त्री-अध्ययन पाठ्यक्रमों को महत्त्व नहीं मिल पा रहा था और इसके तहत किये जाने वाले शोधों की वैधता भी लगातार संदिग्ध बनी हुई थी।

एक औपचारिक विषय के रूप में लगातार संशयग्रस्त रहने के कारण स्त्री-अध्ययन सांस्थानिक तथा सरकारी स्तर पर अभी भी अन्य विषयों के साथ होड़ में पिछड़ जाता है। उसे ज़रूरी संसाधन प्राप्त करने में दिक्कत होती है। ब्रिटेन में स्त्री-अध्ययन का विडंबनापूर्ण इतिहास इस बात का गवाह है कि इसने वहाँ बाज़ार के दबाव तथा स्त्री-अध्ययन द्वारा जीविकोपार्जन की क्षमता जैसे प्रश्नों को लगातार झेला। हालाँकि विद्यार्थियों ने काफ़ी संख्या में स्त्री-अध्ययन अपनाना शुरू कर दिया है, लेकिन यह भी सच है कि उनमें से अधिकांश स्थापित विषयों की सुरक्षा चाहते हैं।

विक्टोरिया रॉबिन्सन का तर्क है कि अकादमिक दुनिया का सामाजिक आंदोलनों के साथ जुड़ाव का नतीजा इस तरह के पाठ्यक्रमों के रूप में निकला। दरअसल यह एक राजनीतिक एवं शैक्षिक रणनीति थी। भारतीय स्त्री-अध्ययन संघ की सदस्य नीरा देसाई मानती हैं कि स्त्री-अध्ययन महिला आंदोलन की शैक्षणिक रणनीति थी। इसके तहत स्त्री-अध्ययन की कक्षाएँ बदलाव की राजनीति से ओतप्रोत रहती हैं। इसके सैद्धांतिक विश्लेषणों का सामाजिक परिवर्तन के साथ गहरा संबंध होता है। स्त्री-अध्ययन एक तरफ़ तो अकादमिक जगत में एक औपचारिक विषय के रूप में उपस्थित है, और दूसरी तरफ़ इसका एक अनौपचारिक चरित्र भी है जिसका संबंध स्त्रियों तथा जेंडर असमानता पर केंद्रित संघर्षों से है।

उत्तर-संरचनावाद तथा उत्तर-आधुनिकता जैसे महत्त्वपूर्ण विमर्शों की तरह स्त्री-अध्ययन भी ज्ञान निर्माण की आधारभूत संरचना पर सवाल उठाता है। स्त्री-अध्ययन के तहत विद्यार्थियों को गुणवत्तापूर्ण लेखन के लिए प्रोत्साहित करने पर विशेष जोर दिया जाता है ताकि वे नारीवादी सिद्धांतों के केंद्रीय सरोकारों, विमर्शों एवं पारिभाषिक शब्दावली से परिचित हो सकें। यह अकादमिक जगत में नारीवाद पढ़ाने का एक तरीका भी है। साथ ही यह अध्ययन एक पद्धति के रूप में अपने विद्यार्थियों के जीवन-अनुभवों तथा व्यक्तिगत व्यवहार को भी सम्बोधित करता है ताकि वे यह समझ सकें कि किस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाएँ स्त्री तथा पुरुष को स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व की जेंडर संरचनाओं में ढाल देती हैं। कई बार स्त्री-अध्ययन की कक्षाओं में चेतना-जागृति के सत्र में विद्यार्थियों को शिक्षक एवं विद्यार्थियों के बीच के सत्ता-संबंधों से भी अवगत कराया जाता है। इसके पठन-पाठन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ज्ञान की रचना में निहित सत्ता-संबंधों को तोड़ने तथा ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया को जनतांत्रिक बनाने पर केंद्रित है। स्त्री-अध्ययन की बेहतर समझ के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक एवं विद्यार्थी अपने अनुभवों को साझा करते हुए उसके विश्लेषण की तरफ़ बढ़ें और यह समझने का प्रयास करें कि वे स्वयं ज्ञान को किस प्रकार से व्याख्यायित करते हैं तथा उसके उपयोग की



विक्टोरिया रॉबिन्सन

कौन सी प्रविधि स्त्री-अध्ययन में विद्यमान है।

भारत में स्त्री-अध्ययन की शुरुआत सत्तर के दशक में हुई। इसके केंद्र में उस प्रक्रिया की शक्तिशाली आलोचना थी जिसके तहत आजादी के बाद न केवल समाज और राज्य के मंचों से स्त्री का वजूद अदृश्य कर दिया गया, बल्कि उच्च-शिक्षा और उससे संबंधित विभिन्न अनुशासनों में स्त्री दिखाई देनी ही बंद हो गयी। 2008 में मैरी ई. जॉन द्वारा सम्पादित *वुमंस स्टडीज़ इन इण्डिया : अ रीडर* का प्रकाशन हुआ। अस्सी से ज्यादा सम्पादित निबंधों का यह अत्यंत उपयोगी संकलन सत्तर के दशक से शुरू करके राजनीति, इतिहास, विकास, हिंसा, कानून, शिक्षा, स्वास्थ्य, घर-परिवार, जाति और जनजाति, धर्म और साम्प्रदायिकता, सेक्सुअलिटीज़, साहित्य और मीडिया के दायरों में नारीवादियों के बौद्धिक हस्तक्षेप के प्रमाण प्रस्तुत करता है। सत्तर के दशक से नब्बे के दशक तक की इस तस्वीर में स्त्री-आंदोलन और उच्च-शिक्षा की संरचनाओं के उन आपसी संबंधों पर रोशनी पड़ती है जो अक्सर आँखों से ओझल हो जाते हैं।

स्त्री-अध्ययन पर आलोचनात्मक निगाह डालने वालों का विचार है कि नारीवादी सिद्धांतों के साथ सिर्फ संवेदना के स्तर पर जुड़ाव ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर राजनीतीकरण किये बगैर यह सुनिश्चित कर पाना कठिन है कि अंततः स्त्री-अध्ययन या अकादमिक नारीवाद का आंदोलन से क्या संबंध है। कई नारीवादी विदुषियों का यह मानना है कि अकादमिक दायरे में प्रवेश करने के उपरांत नारीवाद के क्रांतिकारी तेवर में कमी आयी है, जबकि दूसरों का मानना है कि अकादमिक नारीवाद तथा राजनीतिक नारीवाद में स्पष्ट विभाजक रेखा है जो भविष्य में एक खाई का रूप लेगी। परिणामस्वरूप स्त्री-अध्ययन एक उच्च-सिद्धांत की व्याख्या करने वाले निज़ाम में तब्दील होकर रह जाएगा।

1971 के प्रारम्भ में लिलियन रॉबिन्सन ने अपने एक आलेख में स्त्री-अध्ययन की सांस्थानिक स्वीकार्यता के

मद्देनजर पैदा होने वाले खतरों से पाठकों को आगाह कराया था। एड्रियन रिच ने अपने महत्वपूर्ण आलेख *टुवर्ड्स अ वुमॅन सेन्टर्ड युनिवर्सिटी* (1973) में यह दिखाने का प्रयास किया कि स्त्री-अध्ययन स्वयं को ज्ञान-उत्पादन की प्रक्रिया के अनुकूल बना रहा है जिससे स्त्रियों की वास्तविक जीवन-स्थितियों को बदलने में मदद मिलेगी। उदाहरणस्वरूप स्वास्थ्य तथा गर्भ-नियंत्रण पर कार्य करने वाली शोध-परियोजनाओं से स्त्रियों को अंततः लाभ ही हो सकता है। विश्वविद्यालय की वर्तमान संरचना के अन्दर भी नारीवादी विदुषियाँ संस्थान के संसाधनों का लाभ उठा कर पुस्तक तथा शोध आलेखों के प्रकाशन से अकादमिक दुनिया के इतर भी अपना प्रभाव छोड़ सकेंगी। नारीवादी शिक्षक/शिक्षिकाओं तथा उनकी पुस्तकों की चेतना-जागृति में महत्वपूर्ण भूमिका होगी जिससे इस विषय में पठन-पाठन कर रहे लोग उन विचारों को समझते हुए विमर्श की ज़मीन तैयार कर पाने में सफल होंगे।

इसी तरह की उम्मीदों के आधार पर यह समझा जाता है कि स्त्री-अध्ययन न सिर्फ एक वैध विषय के रूप में प्रतिष्ठित होगा, बल्कि उसे अकादमिक जगत तथा उसके बाहर भी नारीवादी मुहिमों की निरंतरता बनाये रखने में सफलता मिलेगी। 1980 के दशक से एक विषय के रूप में स्त्री-अध्ययन की लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही धीरे-धीरे इसके पर्यायवाची शब्द के रूप में जेंडर स्टडीज़ अभिव्यक्ति का भी प्रयोग शुरू हुआ। इसके पीछे तर्क था कि जेंडर स्टडीज़ अकादमिक जगत में ज्यादा सामंजस्य बैठाने वाला शब्द है जिसकी तरफ पुरुष विद्यार्थी भी आकर्षित होते हैं। परन्तु कई नारीवादी विदुषियों का यह मानना है कि एक पद के तौर पर स्त्री-अध्ययन ज्यादा महत्वपूर्ण है। उसमें एक राजनीतिक सन्दर्भ छिपा हुआ है जो हमें याद दिलाता है कि स्त्रियाँ की ज्ञान-रचना में सहभागिता को अकादमिक संस्थानों में कई वर्षों से लगातार नज़रअंदाज़ किया जाता रहा है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जूलिया क्रिस्टेवा, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, पुरुषत्व, प्रजनन प्रौद्योगिकी, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मनोविश्लेषण और नारीवाद, मैरी वोल्सनक्राफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवाद परिप्रेक्ष्य, सीमोन द बोडवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. वी. रॉबिंसन और डी. रिचर्डसन (सम्पा.) (1997), *इंट्रोड्यूसिंग वुमंस स्टडीज़*, दूसरा संस्करण, मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
2. मैरी ई. जॉन (2008), *वुमंस स्टडीज़ इन इण्डिया : अ रीडर*, पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

— सुप्रिया पाठक

स्त्री-आरक्षण

(Women Reservation)

स्त्रियों को प्रातिनिधिक संस्थाओं में आरक्षण राजनीतिशास्त्र के केंद्रीय प्रश्नों में से एक है। स्त्री-पुरुष संबंधों में समानता का विरोध तो अब शायद ही कोई करता हो, पर समानता के सैद्धांतिक आग्रह को वास्तविक और तात्त्विक लैंगिक समानता में बदलने के प्रश्न पर तीखी बहस है। स्त्रियों को आरक्षण देने के माध्यम से तात्त्विक समानता हासिल करने के पैरोकारों की मान्यता है कि समाज में ढाँचागत रुकावटों के कारण गुण और योग्यता के मुताबिक चयन होना असम्भव हो जाता है। ये रुकावटें स्थापित पितृसत्तात्मक आग्रहों के कारण पैदा हुई हैं। आरक्षण इन रुकावटों के कारण हुए नुकसानों की भरपाई करता है और स्त्रियों को सांकेतिक और दिखावटी क्रिस्म की नुमाइंदगी की सीमाओं से मुक्त करता है। आरक्षण के जरिये स्त्रियों का प्रतिनिधित्व बढ़ने से राजनीतिक जीवन में स्त्री के अनुभव की भूमिका सक्रिय हो जाती है। पिछले डेढ़ दशक में करीब पचास देशों ने अपने कानून के तहत स्त्रियों के लिए आरक्षण को विशेष प्रावधान किये हैं। नोर्डिक देशों में 41.4 फ़ीसदी, अमेरिकी देशों में 21.8 फ़ीसदी, अन्य युरोपीय देशों में 19.1 फ़ीसदी, एशियायी देशों में 17.4 फ़ीसदी, प्रशांत क्षेत्र के देशों में 13.4 फ़ीसदी, सब-सहारन अफ्रीकी देशों में 17.2 फ़ीसदी और अरब देशों में 9.6 फ़ीसदी स्त्रियाँ विधायिकाओं की सदस्य हैं।

स्त्री-आरक्षण के विरोधियों का कहना है कि लैंगिक आधार पर कोटा निर्धारित करने से व्यक्तिगत अधिकारों का हनन होता है और योग्यतम उम्मीदवार के चयन में बाधा पहुँचती है। आरक्षण के विपक्षी उसे अलोकतांत्रिक भी बताते हैं क्योंकि आरक्षित सीटों पर मतदाता अपने चयन संबंधी अधिकारों का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। दूसरे, अमेरिका और जर्मनी में स्त्री-आरक्षण के अनुभव का हवाला देते हुए इन विरोधियों ने तर्क दिया है कि श्वेत और वित्तीय रूप से समृद्ध स्त्रियों को ही इसका लाभ मिला है। इसी तरह की

बहस और दुविधाओं के कारण सारी दुनिया में नारीवादी आंदोलन के उभार और ज्ञान के क्षेत्रों पर नारीवादी सिद्धांत के गहरे असर के बावजूद विधायिकाओं में उनकी संख्या अफ़सोसनाक ढंग से कम बनी हुई है।

राजनीति में स्त्रियों को आगे बढ़ाने के पक्ष में मुख्य तौर से तीन तर्क दिये जाते हैं : पहला, चूँकि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह पूर्ण नागरिक हैं और आबादी में उनकी संख्या तक्ररीबन हर जगह पचास फ़ीसदी के आसपास है; दूसरा, स्त्रियों की जीवन-स्थितियों और पुरुषों की जीवन-स्थितियों के बीच स्पष्ट रूप से अंतर है इसलिए स्त्री के अनुभव और नज़रियों की छाप राजनीति पर पड़नी चाहिए; और तीसरा, चूँकि स्त्रियों और पुरुषों के बीच कुछ मुद्दों पर अंतर्विरोध ज़रूर रहता है इसलिए स्त्री का हित स्वयं स्त्री के हाथों में ही सुरक्षित रह सकता है। नारीवादी विद्वानों ने राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाने के लिए चार तरह के परिवर्तनों के सुझाव दिये हैं : राजनीतिक संस्थाओं को स्त्रियों के लिए सुगम और सहज बनाने के लिए उनके भीतर क्रियाविधि संबंधी तब्दीलियाँ की जाएँ, प्रतिनिधित्व के नियमों को इस तरह से बदला जाए कि स्त्रियों की बढ़ी हुई नुमाइंदगी की गारंटी हो सके, संस्थाओं के बाहर और भीतर विमर्श में तब्दीली लायी जाए ताकि स्त्री को देखने के नज़रिये का सामान्यीकरण हो सके, और अंत में विधि-निर्माण का स्त्रीकरण हो ताकि स्त्रियों के सरोकारों को उस प्रक्रिया के दायरे में लाया जा सके। नारीवादियों की यह भी मान्यता है कि ये चारों परिवर्तन तभी सम्भव हो सकेंगे जब स्त्रियाँ खुद अपनी तरफ़ से विधायी संस्थाओं के नियमों को समझेंगी, उनका इस्तेमाल करना सीखेंगी और अंत में उन्हें बदलने की पहल करने तक लेंगी।

एन फ़िलिप्स की रचना *पॉलिटिक्स ऑफ़ प्रजेंस* ने राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी के सवाल को प्रबलता से रेखांकित किया है। स्वीडिश नारीवादियों ने तर्क दिया है कि जब तक स्त्रियों को राजनीति में स्पष्ट आरक्षण नहीं दिया जाएगा तब तक विधायी संस्थाओं में उनकी तीस से चालीस फ़ीसदी तक की महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक उपस्थिति भी नहीं बन पायेगी। यह प्रयास तब तक जारी रखना होगा जब तक स्त्रियों के रास्ते में आने वाली दृश्य और अदृश्य बाधाएँ नहीं हट जातीं। केवल मतदान का अधिकार देना ही काफी नहीं है। संसद में स्त्रियों की सांकेतिक उपस्थिति के बजाय उनकी संख्या कम से कम इतनी ज़रूर होनी चाहिए कि उसके दबाव से राजनीतिक मानक और राजनीतिक संस्कृति में तब्दीलियाँ आ सकें। आरक्षण के जरिये स्त्रियों को एक व्यक्ति के तौर पर अपने हितों को बुलंद करने में सुविधा होती है। स्त्री-आरक्षण की प्रक्रिया स्त्रियों के बीच राजनीतीकरण को बढ़ाती है। स्त्रियों के बीच से उभरने वाले नेता अन्य स्त्रियों

को राजनीति में लाते हैं। इस प्रक्रिया का कुल मिला कर असर संस्थाओं के चरित्र में परिवर्तन के रूप में निकलता है।

संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा तय किये गये लक्ष्य के मुताबिक 1995 तक संसदों में स्त्री-विधायिकाओं का प्रतिशत तीस फ़ीसदी तक हो जाना चाहिए था। पर इंटर पार्लियामेंट यूनिन के सालाना रिपोर्ट कार्ड के मुताबिक करीब डेढ़ सदी पुराने स्त्री-आंदोलन के बावजूद संसदों और अन्य विधायिकाओं में स्त्रियों की संख्या महज़ 18.3 फ़ीसदी है। अगर यही रफ़्तार चलती रही तो विधायिकाओं में लैंगिक प्रतिनिधित्व की समानता बाईसवीं सदी तक हासिल हो पायेगी। कुल मिला कर 2,656 सीटें स्त्रियों के पास हैं जिनमें से 1,707 प्रत्यक्ष निर्वाचन के जरिये, 878 अप्रत्यक्ष चुनाव से और 71 नामज़दगियों के जरिये संसदों में पहुँची हैं। 2008 का यह आँकड़ा भी तब है जब 1995 के बाद इसमें करीब 60 फ़ीसदी की बढ़ोतरी देखी गयी है। दुनिया की 264 संसदों में केवल 39 में ही स्त्रियों की भागीदारी 30 फ़ीसदी तक पहुँच सकी है। 25 फ़ीसदी संसदों में स्त्री सांसद दस फ़ीसदी से भी कम हैं। क्रतर, सऊदी अरब और माक्रोनेसिया की संसदों ने तो स्त्रियों की शकल तक नहीं देखी है। केवल रवांडा की संसद में स्त्रियों की संख्या 56.3 प्रतिशत है। इस कामयाबी का संबंध इस संसद में स्त्रियों को मिलने वाले तीस फ़ीसदी आरक्षण से जोड़ा जाता है।

स्त्रियों को प्रतिनिधित्व देने के मामले में युरोप सबसे आगे है। स्वीडन, फ़िनलैण्ड और नीदरलैण्ड्स दुनिया के पाँच सबसे ज़्यादा स्त्री-प्रतिनिधित्व वाले देशों में हैं। बेलारूस, स्पेन, मेसिडोनिया, मोनाको और फ़्रांस ने भी इस दिशा में ख़ासी प्रगति की है। अफ़्रीकी देशों ने भी इस संबंध में सराहनीय प्रगति की है। 2008 में अंगोला की संसद ने 37 फ़ीसदी स्त्रियों को सांसद चुना। मोज़ाम्बीक, नामीबिया, दक्षिण अफ़्रीका और तंज़ानिया की संसदों में भी स्त्री सदस्यों की संख्या 25 फ़ीसदी तक पहुँच चुकी है।

एशिया के देशों में यह प्रगति सबसे धीमी है। इस क्षेत्र में स्त्रियों की संसदीय उपस्थिति केवल 17 फ़ीसदी ही है। सबसे ज़्यादा स्त्रियाँ नेपाल की संसद में (32.8 फ़ीसदी) और सबसे कम ईरान की संसद में (2.8 फ़ीसदी) हैं। भारतीय लोकतंत्र सैद्धांतिक रूप से स्त्रियों को आरक्षण देने के पक्ष में है। इसका सबूत नब्बे के दशक में किये गये 73वें और 74वें संविधान संशोधन से मिलता है जिनके मुताबिक स्त्रियों को ग्राम पंचायतों और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में 33 प्रतिशत सीटों का आरक्षण मिला हुआ है। भारत में स्त्रियाँ सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थाओं में भी विशेष अवसरों के सिद्धांत का लाभ उठा रही हैं। लेकिन, संसद और प्रांतीय विधायिकाओं में उन्हें 33 फ़ीसदी आरक्षण देने का प्रस्ताव पिछले पंद्रह साल से लटका हुआ है। संविधान के 108वें

संशोधन का विधेयक 9 मई, 2010 को राज्यसभा द्वारा पारित किया जा चुका है, पर आरक्षण देने के तौर-तरीकों पर मतभेदों के कारण लोकसभा में इसके पास होने की नौबत नहीं आ पायी है।

संदर्भ

1. ड्यूड डालेरूप, 'यूज़िंग कोटाज़ टू इनक्रीज़ वुमंस पॉलिटिकल रिप्रज़ेंटेशन', अज़ज़ा करम (सम्पा.), *वुमंस इन पार्लियामेंट : बियांड नंबर्स*, द इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फ़ॉर डेमोक्रेसी ऐंड इलेक्टोरल असिस्टेंस, स्टॉकहोम, 1998,
2. अज़ज़ा करम और जोनी लोवेंड्क्सी, 'वुमंस इन पार्लियामेंट : मेकिंग अ डिफ़रेंस', करम अज़ज़ा (सम्पा.), *वुमंस इन पार्लियामेंट : बियांड नंबर्स*, द इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फ़ॉर डेमोक्रेसी ऐंड इलेक्टोरल असिस्टेंस, स्टॉकहोम, 1998,
3. ऐन फ़िलिप्स, *एनजेंडरिंग डेमोक्रेसी*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1991

— अभय कुमार दुबे

स्त्री और साम्प्रदायिकता

(Women and Communalism)

भारत में साम्प्रदायिक-हिंसा की घटनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता के संदर्भ में स्त्री-प्रसंग के मुख्यतः तीन आयाम हैं। पहला आयाम यह है कि स्त्रियाँ साम्प्रदायिकता की शिकार रही हैं और उन्हें साम्प्रदायिकता के नये रूपों में उत्तरोत्तर अधिक शिकार बनाया जा रहा है। दूसरा आयाम यह है कि स्त्रियों का एक हिस्सा साम्प्रदायिकता और उससे उपजने वाली हिंसा का वाहक भी है। तीसरा आयाम उन स्त्रियों और उनके संगठनों का है जिन्होंने धर्मनिरपेक्षता का माहौल बनाने के लिए उल्लेखनीय संघर्ष किया है। भारत में स्त्री-अध्ययन के लिए साम्प्रदायिकता का प्रश्न 1986 में उस समय महत्वपूर्ण बौद्धिक उलझन के रूप में उभरा जब एक तलाक़शुदा मुसलमान महिला शाह बानो के मुक़दमे पर दिये गये अदालती फ़ैसले को लेकर हुए विवाद से राजनीतिक हलके बेचैन हो गये। स्त्री-मुक्ति आंदोलन के लिए धर्म या धार्मिक विविधता का सवाल इससे पहले ख़ास महत्वपूर्ण नहीं था। नारीवाद यह मान कर चलता था कि स्त्री-आंदोलन की राजनीति स्वाभाविक रूप से सेकुलर या अ-साम्प्रदायिक ही हो सकती है। इस लिहाज़ से नारीवाद की निगाह में स्त्रियाँ ज़्यादा से ज़्यादा साम्प्रदायिकता की शिकार ही थीं।



राष्ट्र सेविका समिति : स्त्रियों की बहुसंख्यकवादी गोलबंदी

लेकिन शाह बानो के मामले ने इसलाम, राष्ट्र और स्त्री के अधिकारों के त्रिकोण को कुछ इस तरह से सामने रखा कि नारीवादी विमर्शकारों को समकालीन समाज में धर्म के मुक़ाम की राजनीतिक अहमियत का पहली बार गम्भीर एहसास हुआ। गैब्रिएल डीट्रिश ने अस्सी के मध्य में लिखे एक बेहतरीन निबंध के ज़रिये भारतीय स्त्री आंदोलन की इस बात के लिए आलोचना की थी कि उसमें धर्म के प्रश्न को नज़रअंदाज़ करने की प्रवृत्ति है। वह अपने सेकुलर ढाँचे में धार्मिक सुधारों और धार्मिक आस्था के महत्त्व पर ग़ौर करने के लिए तैयार नहीं है। डीट्रिश ने अपने ज़्यादातर तर्क दो स्रोतों से जुटाये थे : ईसाई धर्मशास्त्रीय नारीवादी विद्वत्ता से और स्त्रियों के जीवन की वर्ग-जाति आधारित आलोचनाओं से। शाह बानो वाले मामले ने समान नागरिक संहिता के प्रश्न को एक नयी रोशनी में पेश किया। आगे चल कर कुमकुम संगारी ने एक विस्तृत निबंध में यह मानने से इनकार कर दिया कि धर्म आधारित अस्मिता को पुष्ट करने से नारीवादी आंदोलन को अग्रगति प्राप्त होगी।

इसके बाद 1992 में बाबरी मसजिद के ध्वंस के बाद बम्बई में हुए दंगों की रोशनी में कुछ विमर्शकारों ने देखा कि स्त्री-संगठनों और साम्प्रदायिक संगठनों की सीमाएँ बहुत साफ़ तौर पर रेखांकित नहीं रह गयी हैं। फ़्लैविया एग्निस ने सत्तर के दशक और अस्सी की शुरुआत की परिस्थितियों में स्त्री-आंदोलन के सेकुलर चरित्र की सतर्क जाँच-पड़ताल की। उन्होंने कई प्रसंगों की छानबीन करके दिखाया कि कई स्त्री संगठन अपने कामों के अल्पसंख्यक विरोधी फलितार्थों के प्रति सचेत नहीं थे।

नब्बे के दशक में ही हिंदू दक्षिणपंथियों के उग्र हिस्सों द्वारा साम्प्रदायिक रूप से भड़काऊ भाषा बोलने वाले स्त्री-वक्ताओं और नेताओं (साध्वी ऋतुम्भरा और उमा भारती) के इस्तेमाल ने नारीवादियों का ध्यान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की

स्त्री-शाखा राष्ट्र सेविका समिति की गतिविधियों की तरफ़ खींचा। 2002 में गुजरात में हुए दंगों में मुसलमान स्त्रियों और बच्चों को विशेष रूप से निशाना बनाया गया और दूसरी तरफ़ हिंदू साम्प्रदायिक तत्त्वों ने अपने लक्ष्यों के लिए स्त्रियों का इस्तेमाल भी किया। एक तरफ़ अल्पसंख्यक समुदाय की नारी साम्प्रदायिकता की शिकार हो रही थी और दूसरी तरफ़ हिंदू समुदाय की नारी उसे अपमानित करने के लिए पुरुषों को प्रोत्साहित भी कर रही थी। साफ़ देखा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता के इस नये दौर ने स्त्रियों के कम से कम एक हिस्से को अभूतपूर्व ढंग से उसकी ख़तरनाक राजनीति के जोड़ दिया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की महिला शाखा राष्ट्र सेविका समिति पर मीडिया या बुद्धिजीवी हलकों में बहुत कम चर्चा होती है। स्त्री-अध्ययन के क्षेत्र में इतिहासकार तनिका सरकार के अनुसंधान ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। राष्ट्र सेविका समिति एक-दूसरे से जुड़ी हुई साम्प्रदायिक-संस्थाओं के जाल का अंग है। छह दशक पहले स्थापित देश का सबसे पुराना महिला-संगठन होने के बावजूद इसने अधिकतर प्रचार से दूर से ही रखा। संघ के समान ही समिति के साहित्य में भी राष्ट्रीय ध्वज या केसरिया झंडे एवं वंदेमातरम् गान को प्रतीक के रूप में दर्ज किया जाता है। समिति में शामिल होते ही उसकी सदस्याएँ नियोजित रूप से अन्य स्त्रियों तक पहुँचने का प्रयास शुरू कर देती हैं। इनके प्रचार में व्यापकता और गहराई होती है। स्त्री-कार्यकर्ताओं का घरों में प्रवेश आसान होता है। वे संगठन की शाखा लगाने की कोशिश करती हैं। जहाँ शाखा चलाना मुश्किल होता है वहाँ समिति हर तीन महीने में निर्देश भेजती है। ज़ाहिर है कि समिति की कार्यकर्ता साम्प्रदायिकता का प्रचार तो करती हैं, पर खुले तौर पर नहीं। विश्व हिंदू परिषद् का भी एक स्त्री संगठन दुर्गा-वाहिनी है। इसका उद्भव 1990 में अयोध्या आंदोलन के उद्देश्य से लड़कियों की भर्ती के साथ हुआ। इसमें लड़कियों को शस्त्र चलाने और मारपीट का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ उग्र नारेबाजी और भाषणबाजी सिखाई जाती है। तर्क यह दिया जाता है कि लड़कियों को आत्मरक्षा और सुरक्षा के दृष्टिकोण से प्रशिक्षित किया जा रहा है।

पिछले दो दशकों के इस घटना-क्रम ने साम्प्रदायिक-हिंसा के दौरान महिलाओं की मौजूदगी का प्रश्न काफ़ी पेचीदा कर दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि दंगों के दौरान छेड़छाड़, यौन-उत्पीड़न, अपहरण और बलात्कार के ज़रिये स्त्रियों पर हिंसा बरपायी जाती है। स्त्रियों को मानसिक उत्पीड़न का भी ज़बरदस्त शिकार होना पड़ता है। दो धर्मों की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में उन्हीं का दमन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, शाहबानो केस को देखा जा सकता है। लेकिन, दूसरी तरफ़ साम्प्रदायिकता फैलाने के लिए सिर्फ़

संघ, भाजपा, बजरंग दल इत्यादि से जुड़े पुरुष ही जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि, इसके लिए इन संगठनों से संबंधित स्त्रियाँ भी जिम्मेदार हैं। साम्प्रदायिक-हिंसा की वाहक स्त्रियाँ धर्म को राष्ट्रवाद से जोड़कर देखती हैं। तीसरी तरफ़ स्त्रियों के संगठन सेकुलरवाद का माहौल बनाने के लिए भी संघर्ष कर रहे हैं। ये स्त्री-संगठन धर्म और राष्ट्रवाद के अंतर्संबंधों की अहमियत अच्छी तरह जानते हैं। ये स्त्रियाँ साम्प्रदायिक राजनीति के तहत होने वाले भेदभाव की वजह से अल्पसंख्यक समुदाय एवं नारी-अस्तित्व को लेकर काफी चिंतित हैं। सचेत स्त्रियों की प्रभावशाली संख्या नागरिक अधिकार संगठनों, सहमत, और निरंतर जैसी संस्थाओं के साथ मिलकर काम कर रही हैं। इसके अलावा कुछ जागरूक महिलाओं ने स्वयं भी संगठित होकर इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए कुछ संस्थागत उपाय किये हैं जिनमें आवाज़-ए-निसवां, सहेली, अनहद, जागोरी, नारी-अत्याचार विरोधी मंच इत्यादि प्रमुख हैं। इन संस्थाओं के तहत महिला कार्यकर्ता धर्म-जाति-लिंग के तहत होने वाले भेदभाव के अलावा अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों और स्त्रियों पर पड़ने वाले असर पर अपना ध्यान केंद्रित करती हैं।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, रमाबाई रानाडे, विजय लक्ष्मी पण्डित, विद्याबेन शाह, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. मैरी ई. जॉन (सम्पा.) (2008), 'कम्युनलिज़्म ऐंड रिलीजन' खण्ड के पाँच लेख (राधा कुमार, फ़्लैविया एग्नस, गैब्रिएल डीट्रिश, कुमकुम संगारी और तनिका सरकार), *वुमंस स्टडीज़ इन इण्डिया : अ रीडर*, पेंगुइन, नयी दिल्ली.
4. गैब्रिएल डीट्रिश (1988), *वुमंस मूवमेंट इन इण्डिया, कंसेप्चुअल ऐंड रिलीजस रिफ्लेक्शंस : सिलेक्टिड एसेज़*, ब्रेकथ्रू पब्लिकेशंस, बंगलुरु.
5. कुमकुम संगारी (1995), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ डायवर्सिटीज़ : रिलीजस कम्युनिटीज़ ऐंड मल्टीपल पैट्रियार्कीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 30, अंक 12.
6. तनिका सरकार (1999), 'प्रेग्मैटिक्स ऑफ़ द हिंदू राइट : पॉलिटिक्स ऑफ़ वुमंस ऑर्गनाइज़ेशंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 34, अंक 31.

— आकांक्षा कुमारी

स्त्री-श्रम

(Women-Labour)

स्त्री को समान आर्थिक-नागरिक की हैसियत दिलाने के लिए सत्तर के दशक से ही स्त्री-श्रम का प्रश्न नारीवादी विमर्श के केंद्र में रहा है। श्रमिक स्त्रियों के जीवन, जेंडर और गरीबी के बीच संबंध, घर-परिवार के दायरे में स्त्री-श्रम के मूल्य और संबंधित नीति-निर्माण की समस्याओं ने नयी पीढ़ी के अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा है। सभ्यता के विकास में स्त्री-पुरुष का बराबर योगदान है, लेकिन प्रमुखता केवल पुरुष को दी गयी है और स्त्री-कार्य को गौण करार दिया गया है। सच्चाई यह है कि घर संभालने, मवेशियों की देखभाल करने, बच्चों का पालन-पोषण करने जैसे कामों के अलावा खेती में भी स्त्री ने पुरुष की अपेक्षा अधिक योगदान दिया है। लेकिन 'किसान' कहलाने का अधिकार पुरुषों को ही मिला। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री के काम को कभी श्रम माना ही नहीं। इसीलिए उसकी श्रम-शक्ति का मूल्यांकन नहीं किया गया। श्रम और श्रम-मूल्य की क्रांतिकारी व्याख्या करने वाले कार्ल मार्क्स ने भी औरतों की मेहनत को उत्पादक-श्रम का दर्जा नहीं दिया है। भूमण्डलीकरण की शुरुआत के बाद से स्त्री-श्रम के मुद्दे पर नये सिरे से ध्यान दिया गया है। बाज़ार के प्रसार ने स्त्रियों को बड़े पैमाने पर काम में उतारा है और इस परिघटना को श्रम के स्त्रीकरण की संज्ञा दी गयी है। हालाँकि पिछले दिनों औपचारिक क्षेत्र में स्त्रियों के काम-काज की दशाओं में कुछ सुधार आया है, लेकिन अनौपचारिक क्षेत्र में उनकी दुर्दशा की आज भी कोई सीमा नहीं है।

आँकड़ों के मुताबिक सारे संसार में काम के कुल घंटों का लगभग दो-तिहाई भाग औरतों की मेहनत का होता है। इसमें से भी अधिकतर काम ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली स्त्रियाँ करती हैं। विकासशील विश्व में कुल जनसंख्या का तिहाई भाग ग्रामीण औरतें हैं, इसलिए वहाँ घरेलू उपयोग के लिए ज़्यादातर भोजन औरतें ही पैदा करती हैं। वही कूटती, पीसती, भोजन बनाती और परिवार को खिलाती हैं। इसके अतिरिक्त देखभाल की जिम्मेदारी भी उन्हीं की है। इसके बावजूद औरतों को संसार की कुल आय का दस प्रतिशत ही मिलता है और वे एक प्रतिशत से भी कम सम्पत्ति की स्वामिनी हैं। असंख्य स्त्रियाँ अपनी और अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए बाज़ार और उद्योग-धंधों में भी कार्य करती हैं। कार्यस्थलों पर उन्हें लैंगिक भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। उद्योगपति उन्हें नौकरी इसलिए देते हैं कि वे आसानी से उपलब्ध सस्ता श्रम

हैं, असंगठित और दबी हुई हैं और बिना किसी अतिरिक्त खर्च के मजदूरों की नयी पीढ़ी को जन्म देती हैं।

इस भेदभाव का मुकाबला करने के लिए महिला आंदोलनों ने स्त्री को उचित श्रम-मूल्य प्रदान करने को प्रमुख मुद्दा बनाया है। उन्होंने इस धारणा को चुनौती दी है कि परिवार मुख्यतः प्यार और लगाव का केंद्र है जहाँ कोई काम करने के लिए किसी प्रकार का शुल्क देने की ज़रूरत नहीं होती। अर्थात् पति और पत्नी के बीच यह अलिखित समझौता होता है कि पति बाहर से कमा कर लाता है पत्नी बच्चों का पालन-पोषण करती है। नारीवादियों ने घर के भीतर किये जाने वाले काम की अपने ढंग से व्याख्या की। उनके अनुसार पूँजीवाद और भूमण्डलीकरण के इस युग में महिलाओं को एक आरक्षित श्रम-शक्ति के रूप में देखा जाता है। राज्य अपनी आवश्यकता के अनुसार स्त्रियों को दहलीज़ के बाहर निकालता है और आवश्यकता पूरी होने पर उन्हें वापस घरों में भेज दिया जाता है।

महिलाओं द्वारा किये जाने वाले घरेलू श्रम पर सबसे अधिक काम मार्क्सवादी नारीवादियों ने किया। क्रिस्टीन डेलफी एक ऐसी ही विख्यात नारीवादी हैं। उनका मानना है कि घरेलू श्रम पूँजीवादी समाज के लिए एक सामाजिक-सांस्कृतिक पीढ़ी तैयार कर रहा है। वह भी एक पूँजी का निर्माण कर रहा है, पर इसके लिए उसे कोई क्रीम नहीं मिल रही है। इसलिए घरेलू श्रम को निश्चित ही सामाजिक विस्तार देते हुए उसके श्रम का मूल्य तय किया जाना चाहिए।

समाजवादी मार्क्सवादियों ने इसकी व्याख्या अलग ढंग से की है। उनके अनुसार चूँकि औरतें और मर्द समान कार्य करते हैं इसलिए उन्हें समान श्रम-मूल्य दिया जाना चाहिए। डला कोस्टा के अनुसार परिवार के भीतर स्त्री कार्य भी करती है और शोषित भी है। घरेलू काम के जरिये वह अधिशेष मूल्य की रचना करती है, पर वह पूँजीवाद के खाते चला जाता है। अर्थात् पूँजीपति जब किसी पुरुष की श्रम-शक्ति खरीदता है तो उसे एक ही श्रम-मूल्य पर दो श्रमिक प्राप्त हो जाते हैं। एक श्रमिक और उसकी पत्नी। इसमें एक उजरती मजदूर है और दूसरा ग़ैर-उजरती मजदूर। इसलिए घरेलू कार्य व्यक्तिगत नहीं अपितु सामाजिक माना जाना चाहिए। इसके जरिये घर के भीतर एक नया श्रमिक वर्ग तैयार किया जाता है। इस घरेलू श्रम के लिए भी मूल्य चुकाया जाना चाहिए।

इस पूँजीवादी समाज में स्त्री-श्रम की समीक्षा करते हुए जॉन हार्कसन कहती हैं कि विश्व-स्तर पर कार्यरत पूँजीवादी व्यवस्था देशों के भीतर काम कर रही पूँजीवादी व्यवस्था से भिन्न है। इन दोनों को मिला कर विश्वस्तरीय पूँजीवादी व्यवस्था की रचना होती है जिसमें घरेलू काम एक

मौन उत्पादन-विधि की भूमिका निभाता है। उससे छोटे पैमाने का पण्यीकरण होता है। इस प्रक्रिया में स्त्रियाँ अपने श्रम का और अपना मूल्य घटा कर अपने पति के लिए सेवाएँ उपलब्ध कराती हैं। हीदी हार्टमान का तर्क है कि एक पूँजीवादी समाज में जेंडर, नस्ल और जाति के आधार पर तय किया जाता है कि कौन क्या कार्य करेगा। उच्चस्तरीय नौकरियाँ हमेशा ही उच्च वर्ण और पुरुष वर्ग को दी जाती हैं। बाहर के कार्यों में भी स्त्रियों और पुरुषों को असमान वेतन दिया जाता है। स्त्री द्वारा सहे जा रहे इन समस्त दबावों और असमानता का वर्णन हमें बेबी हालदार लिखित आत्मकथा *आलो आंधारि* में मिलता है।

बेबी हालदार जैसी श्रमिक स्त्रियों के हिस्से में प्रायः असंगठित क्षेत्र आता है। इस दायरे में काम करने वाली मजदूर औरतों को तीन प्रकार के दुर्व्यवहार और शारीरिक हिंसा का सामना करना पड़ता है। एक तो वे रूढ़िवादी समाज की सबसे गिरी हुई प्राणी होने के नाते पति या परिवार के दूसरे पुरुषों द्वारा भेदभाव और मारपीट का शिकार होती हैं। पुरुषों की शराबखोरी मारपीट का एक बड़ा कारण है। चाय बागानों में परम्परागत पदानुक्रम ढाँचे के कारण औरतों को अपने पुरुष अधिकारियों द्वारा यौनिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है। तीसरी प्रकार की हिंसा स्त्रियों के आपस में असंगठित होने के कारण होती है जिसका भरपूर फ़ायदा ठेकेदारों या पूँजीपतियों को होता है। *आलो आंधारि* में बेबी का पति उसे तब नहीं मारता जब वह आस-पास के घरों में काम करती है, बल्कि अन्दर ही अन्दर खुश भी रहता है कि उसे अब घर का खर्च चलाने के लिए पैसे देने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। लेकिन जैसे ही वह उसकी इच्छा के खिलाफ़ अपनी सखी पट्टी से संबंध बनाती है या अपने मायके जाने की बात करती है, तो वह पति द्वारा बनायी गयी मर्यादा का उल्लंघन करने के लिए उसकी जम कर पिटायी करता है। श्रमिक-महिलाओं को अक्सर बहुत तनाव में रहना पड़ता है। बच्चों और घर की देखभाल करने की ज़िम्मेदारी के साथ-साथ शारीरिक मेहनत के काम भी उन्हें ही करने होते हैं। कभी-कभी ये काम जोखिम वाले भी होते हैं और उनके बदले पैसा भी कम मिलता है। घर और परिवार का दोहरा भार उठाना वैसे भी मुश्किल होता है, लेकिन ग़रीबी की हालत में यह भार दोगुना हो जाता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इसलामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जूलिया क्रिस्टेवा, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, पुरुषत्व, प्रजनन प्रौद्योगिकी, प्रेम,

प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मनोविश्लेषण और नारीवाद, मैरी वोल्सनक्राफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री-अध्ययन, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सम्पत्ति : नारीवाद परिप्रेक्ष्य, सीमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलेन सिचू।

संदर्भ

1. रीना झाबवाला और आर.के.ए. सुब्रह्मण्य (सम्पा.) (2000), *द अनऑर्गनाइज्ड सेक्टर : वर्क सिन्ड्रोम एंड सोशल प्रोटेक्शन*, सेज, नयी दिल्ली.
2. जी. स्टेंडिंग (1989), 'ग्लोबल फ्रेमिनाइजेशन थ्रू फ्लेक्जिबिल लेबर', *वर्ल्ड डिवेलपमेंट*, खण्ड 17, अंक 7.

— सुप्रिया पाठक

सन् 1857 का संग्राम-1

विद्रोह के कारण

(War of 1857-1)

अंग्रेजों के खिलाफ भारत की स्वाधीनता के लिए चला पहला राष्ट्रीय संग्राम 29 मार्च, 1857 को शुरू हो कर 8 जुलाई, 1859 तक चला। हालाँकि यह संघर्ष अंग्रेजों को भारत से भगाने में नाकाम रहा, लेकिन इसके कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सौ साल पुरानी अमलदारी खत्म हो गयी और रानी विक्टोरिया को भारत का शासन अपने हाथ में लेना पड़ा। आजादी की इस लड़ाई में मुख्यतः ब्रिटिश सेना के भारतीय सिपाहियों और उत्तर भारत के जुझारू किसानों ने भाग लिया था। जनता की भागीदारी का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि केवल अवध के इलाके में अंग्रेजों से लड़ते हुए मारे गये डेढ़ लाख लोगों में से एक लाख लड़ाके गैर-फ़ौजी थे। देशी रजवाड़ों में कुछ विद्रोहियों के साथ थे, और कुछ अंग्रेजों के साथ। संग्राम का मुख्य घटनास्थल वह विशाल प्रदेश था जिसे आज हिंदीभाषी क्षेत्र के रूप में जाना जाता है। कहीं कम तो कहीं ज्यादा इस लड़ाई में पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक और हैदराबाद की हिस्सेदारी भी थी। दिल्ली से बहुत दूर पड़ने वाले कश्मीर, गुजरात, केरल, तमिलनाडु और बंगाल का इस संग्राम में न के बराबर ही योगदान था। लखनऊ, नयी दिल्ली और पटना जैसे नगर इस दौरान अंग्रेज विरोधी चेतना के केंद्र के तौर पर उभरे। विद्रोह के समय पश्चिमी शिक्षा से निकले बुद्धिजीवी वर्ग का अधिकतर हिस्सा इससे दूर रहा। आगे चल कर भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद डालने वाले इस संघर्ष की प्रेरक स्मृति लोकगाथाओं में

बदल गयी जिनके आधार पर लोकप्रिय कला, साहित्य और सिनेमा का सृजन हुआ। 1857 के गदर के नाम पर गदर पार्टी बनी। उपनिवेशवाद विरोध की सशस्त्र क्रांतिकारी धारा इस विद्रोह से लगातार प्रेरणा प्राप्त करती रही। आंदोलन की स्मृतियाँ भारतवासियों को ब्रिटिश शासन की दुर्बलता का एहसास दिलाती रहीं कि किसानों और सिपाहियों की उस संग्रामी एकता ने उसे किस क्रूर हिला कर रख दिया था।

भारत में अपनी अमलदारी कायम रखने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अठारहवीं सदी के मध्य से ही भारतीयों को फ़ौज में भर्ती करके युरोपीय ढंग से प्रशिक्षित करना शुरू कर दिया था। इन तमाम सैनिकों को वर्दी पहने हुए किसानों के रूप में देखा जा सकता है। 1794 में इन भारतीय सिपाहियों की संख्या 82,000 थी, जो 1856 तक बढ़ कर 2,14,000 हो चुकी थी। बंगाल आर्मी, बॉम्बे आर्मी और मद्रास आर्मी में बँटे हुए इन सैनिकों को युरोपियन अफ़सरों की कमान में रखा जाता था। भारतीय अफ़सर कितना भी योग्य हो, ऊँचे पद पर नहीं पहुँच सकता था। एक अंग्रेज़ सार्जेंट ज़्यादा अनुभवी और योग्य भारतीय अफ़सर पर हुक्म चला सकता था या गाली दे कर अपमान कर सकता था। बड़े अंग्रेज़ अफ़सर ज़रूरी नहीं कि योग्य होते ही हों। उनकी तैनाती का तरीका भी काफ़ी संदिग्ध क्रिस्म का था। कई नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर न हो कर ऊँचे खानदान का होने के कारण हो जाती थीं। और तो और, पदों और हैसियत को ख़रीदने की दम रखने वाले अंग्रेज़ों को आसानी से कमीशन मिल जाता था। तीनों आर्मियों में सबसे बड़ी और पुरानी बंगाल आर्मी थी जिसके ज़्यादातर सिपाही अवध और बिहार के ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार थे। सिपाही को सिर्फ़ सात रुपये तनख़्वाह मिलती थी जिसमें उसे अपनी वर्दी के लिए जेब से भुगतान करना पड़ता था। इतने वेतन में उसका काम बहुत मुश्किल से चलता था। बम्बई और मद्रास की फ़ौजें बंगाल के मुकाबले ज़्यादा मिली-जुली थीं। संरचना में अंतर होने के बावजूद इन तीनों सेनाओं के सिपाहियों में ब्रिटिश अफ़सरों के नस्लवाद, उनकी अयोग्यता, वेतन से जुड़ी शिकायतों, भेदभाव और जुल्म-ज़्यादती के कारण असंतोष और बगावत की भावना थी।

1806 में वेल्लोर में विद्रोह हुआ जिसमें सिपाहियों ने गुप्त रूप से संगठित होने की क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने रात में चुपचाप सभाएँ कीं और ज़मींदारों को विद्रोह करने के लिए पत्र लिखे। इस विद्रोह को अंग्रेज़ों ने बर्बर आतंक द्वारा दबा दिया, लेकिन यह केवल सैनिकों तक महदूद नहीं था और न ही धर्म बिगड़ने के डर से यह क्रम उठाया था। उस समय तक तो चर्बी वाले कारतूसों का दूर-दूर तक पता नहीं था। यह एक राजनीतिक विद्रोह था जिसमें सिपाहियों ने



विद्रोह का दमन करने के लिए बागी सिपाहियों को तोप के मुँह से बाँध कर उड़ाया गया।

अंग्रेजी राज खत्म करके देशी राज कायम करने की कोशिश करते हुए किले पर टीपू का झण्डा फहरा दिया था। इसके बाद दक्षिण भारत में पल्लमकोट्टा में सिपाहियों ने विद्रोह की कोशिश की। उन्होंने अपने इशतहार एक साथ हिंदुस्तानी, तमिल और तेलुगु में निकाले। 1822 में आर्कट की घुड़सवार लाइनों में विद्रोह का प्रयास हुआ। देश से बाहर तैनात के लिए दूगने भत्ते की माँग पर भी कई बगावतें हुईं।

1857 में बगावत करने वाली बंगाल आर्मी में पहले भी बगावती स्वर उभर चुके थे। इसके सिपाही 1815 में जावा में और 1834 में ग्वालियर में विद्रोह कर चुके थे। 1839-42 के बीच चले अफ़गान युद्ध में भी इस सेना के फ़ौजियों ने अपने अक्षम विलायती कमांडरों के खिलाफ़ बगावत का परचम उठाया था। दरअसल, पचास का दशक आते-आते विभिन्न कारणों से सिपाहियों के बीच असंतोष काफ़ी मुखर हो चुका था। इसके पीछे 1856 के जनरल सर्विस इनलिस्टमेंट एक्ट की भूमिका भी थी। यह एक्ट माँग करता था कि देश से बाहर भेजे जाने के लिए सिपाहियों को तैयार रहना होगा। अंग्रेज़ चाहते थे कि इस आर्मी में सिक्ख सिपाहियों की भर्ती करके अवध के सिपाहियों का वर्चस्व तोड़ दिया जाए। वाज़िद अली शाह से अवध की सल्तनत हथिया लिए जाने से भी ये सिपाही काफ़ी नाख़ुश थे। इसका एक मतलब कम्पनी द्वारा थोपे गये ऊँचे करों के रूप में सामने आया जिनका भुगतान इन सिपाहियों के घरवालों को करना पड़ रहा था।

इसी मुक़ाम पर गाय और सुअर की चर्बी वाले कारतूसों को विद्रोह का प्रमुख कारण मानने वाली थियरी पर विचार करना ज़रूरी है। तीस के दशक से ही अंग्रेज़ सेना में ब्राउन बेस बंदूक की जगह ली एनफ़ील्ड रायफ़लों को ला रहे थे। इनका कारतूस एक ऐसे खोल में बंद था जिसे चलाने से पहले दाँत से काट कर फाड़ना पड़ता था। बंगाल आर्मी के सिपाहियों को जैसे ही यह पता चला, हिंदू और मुसलमान फ़ौजियों के बीच नाराज़गी भड़क उठी। साथ ही यह

अफ़वाह भी फैली कि जब सिपाहियों का धर्म भ्रष्ट हो जाएगा तो उन्हें आसानी से क्रिस्तान बनाया जा सकेगा। प्रश्न यह है कि क्या विद्रोह का कारण केवल धर्म-भ्रष्ट होने का डर ही था? इस थियरी पर शक होने का मुख्य कारण यह है कि विद्रोह शुरू हो जाने पर सिपाहियों ने इन्हीं कारतूसों को बार-बार दाँत से काट कर अंग्रेज़ों को निशाना बनाया था। दरअसल, कारतूस वाली थियरी पर बहुतों को विश्वास नहीं है। इस सिलसिले में सवाल उठाया गया है कि धर्म भ्रष्ट हो जाने का डर दक्षिण भारत में क्यों नहीं था? क्या वहाँ के सिपाही सेकुलर हो गये थे? वैसे भी सेना के एक बड़े हिस्से को चर्बी वाले कारतूस तब तक दिये ही नहीं जा सके थे। दूसरे, इस सवाल का जवाब तो किसी ने नहीं दिया है कि जब ब्रिटिश गवर्नर जनरल ने चर्बी वाले कारतूसों को फ़ौज से हटा लेने की घोषणा कर दी, फिर भी विद्रोह क्यों बंद नहीं हुआ?

चर्बी वाले कारतूस विद्रोह का सिर्फ़ एक पहलू था। दरअसल, विद्रोह के पीछे यह विश्वास काम कर रहा था कि अंग्रेज़ों के शासन का वक्रत अब गुज़र चुका है। यह एक राजनीतिक विश्वास था जो उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही पनप रहा था। इस विश्वास के पीछे कम्पनी की हुकूमत के खिलाफ़ लगातार जारी सशस्त्र विद्रोहों की परम्परा थी। विविध कारणों से होने वाली इन बगावतों का मक़सद अंग्रेज़ों को भारत से भगाना था। इतिहासकारों ने इन विद्रोहों के पीछे मुख्यतः तीन कारणों का उल्लेख किया है : राजनीतिक कारणों से होने वाले विद्रोह, व्यक्तिगत कारणों से हुए विद्रोह और आर्थिक कारणों से होने वाले विद्रोह। इसके अलावा एक श्रेणी धार्मिक कारणों से हुए विद्रोहों की है जिसमें वहाबी और संन्यासी विद्रोहों को रखा गया है। बंगाल का संन्यासी विद्रोह हिंदू संन्यासियों, मुसलमान फ़कीरों ने शुरू किया था पर वह भूखे किसानों, ज़मीन खोने वाले भू-स्वामियों और फ़ौज से अलग किये गये सिपाहियों के समर्थन से ताक़तवर हुआ था। यह रुज़ान सारे देश में था। हिंदी-प्रदेश हो या सावंतवाड़ी, खानदेश, गंजम, कोल्हापुर, सिलहट, पर्लाकीमेंडी, विशाखासटनम, कच्छ और सीमांत प्रदेश हो, लगभग हर जगह जनता ने विद्रोह किया। इन संघर्षों में कभी तो किसान अकेले लड़े, कभी सामंतों के साथ लड़े, कभी अंग्रेज़ों के हाथ बिके हुए अपने ही राजा के खिलाफ़ लड़े। कोल, संथाल, खासी आदि जनजातियों ने भी उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ हथियारबंद बगावतों का सिलसिला बनाया। 1819 में मध्य भारत में भीलों के शक्तिशाली संघर्ष से लेकर 1957 की पूर्व-संध्या पर 1855-56 में हुआ संथालों का महा-विद्रोह इस बात का सबूत था कि उन्नीसवीं सदी अंग्रेज़ी अमलदारी के खिलाफ़ लगातार खदबदाती रही। बड़े-बड़े आंदोलनों के अलावा अध्येताओं ने ऐसे अपेक्षाकृत छोटे 77 किसान आंदोलनों की सूची भी बनायी है जिनके

तहत समय-समय पर तहत हज्जारों किसानों की गोलबंदी हुई।

सामंती असंतोष का मुख्य कारण लॉर्ड डलहौजी द्वारा अपनायी जाने वाली डॉक्ट्रिन ऑफ़ लैप्स थी जिसके तहत अंग्रेज़ दत्तक पुत्र को क्रान्ती वारिस मानने से इनकार कर देते थे। 1848 से 1853 के बीच सतारा, नागपुर, सम्भलपुर, उदयपुर और झाँसी की रियासतें इसी तरह से हड़पी गयीं। 1856 में जैसे ही उन्होंने कुशासन के नाम पर अवध का राज हथियाया, वैसे ही राजे-रजवाड़ों में हड़कम्प मच गया। अंग्रेज़ों ने यह भी घोषित कर दिया कि दिल्ली में बहादुर शाह ज़ाफ़र की मृत्यु के बाद मुग़लों की बादशाहत भी ख़त्म हो जाएगी। 1857 के विद्रोह से पहले स्थिति यह थी कि बिठूर के नाना साहब, लखनऊ में बेगम हज़रत महल, रुहेलखण्ड में ख़ान बहादुर ख़ान और झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई विद्रोह को राजनीतिक नेतृत्व देने के लिए तैयार थे। इंदौर के होल्कर और ग्वालियर के सिंधिया अंग्रेज़ों के वफ़ादार थे, पर उनके सिपाहियों में बगावत की भावना थी। नये रेवेन्यू सेटलमेंट के कारण अपनी आधी रियासतें खो चुके बहुत से ताल्लुक़ेदार विद्रोह की कगार पर थे। इनमें अवध और उत्तर-पश्चिम प्रांत के ताल्लुक़ेदारों की संख्या बहुत थी।

अंग्रेज़ों के खिलाफ़ नफ़रत तो आम तौर पर थी ही, आम किसान इन राजे-रजवाड़ों और सिपाहियों के साथ एक तात्कालिक कारण से भी जुड़े। खेती से होने वाली आमदनी से जुड़ी असुरक्षाओं के साथ लगान की मात्रा बढ़ते चले जाने से किसान कर्जों में घिरते जा रहे थे। ब्रिटिश अदालतें और क्रान्ती लगान न दे पाने के कारण किसानों से ज़मीन छीने ले रहे थे। 1853 में उत्तर-पश्चिम प्रांत में ही अंग्रेज़ों ने 1,10,000 एकड़ ज़मीन की नीलामी कर दी थी। एस.बी. चौधरी द्वारा किये गये विद्रोह के क्लासिक अध्ययन से पता चलता है कि किस तरह नयी राजस्व प्रणाली ने किसानों का शोषण करने वाले सामंतों और शोषित होने वाले किसानों को अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एक-दूसरे से जोड़ दिया था।

लगभग सभी इतिहासकार एक तथ्य पर एकमत हैं कि सारे देश में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ घृणा व्याप्त थी। उनके वफ़ादारों का मानस भी अंग्रेज़ विरोधी भावनाओं से पूरी तरह मुक्त न था। इसके पीछे अंग्रेज़ों का नस्लवादी रवैया और भारतीयों के साथ अपमानजनक ढंग से व्यवहार करना तो था ही, एक बड़ा कारण ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ थीं। ये मिशनरी हिंदुओं और मुसलमानों की धार्मिक परम्पराओं और रीति-रिवाजों की खिल्ली उड़ाते थे, और येन-केन-प्रकारेण धर्मांतरण करवाने की कोशिश करते थे।

उन्नीसवीं सदी में एक और ख़ास बात थी। 1757 में प्लासी का युद्ध जीतने के बाद से अंग्रेज़ों का जो प्रौद्योगिकी रुतबा बना था, वह 1838-42 के पहले अफ़ग़ान युद्ध, 1845-59

के बीच हुए पंजाब के युद्धों और 1854-56 के बीच हुए क्रीमियायी युद्ध में उनकी पराजय के कारण नष्ट हो गया था। इससे सिपाहियों और किसानों को यह लगने लगा था कि अंग्रेज़ों को हराया जा सकता है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेल्सिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (1957/1990), *सन् सत्तावन की राज्य-क्रांति और मार्क्सवाद*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. विनायक दामोदर सावरकर (1947), *द इण्डियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस : 1857*, फ़ीनिक्स, बम्बई.
3. एस.बी. चौधरी (1965), *थियरीज़ ऑफ़ इण्डियन म्यूटिनी 1857-1859*, वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता.
4. जे.डब्ल्यू. के (1878), *अ हिस्ट्री ऑफ़ सिपाय रिवोल्ट इन इण्डिया*, तीन खण्ड, डब्ल्यू.एच. एलेन, लंदन.
5. ए.टी. एम्ब्री (1963), *1857 इन इण्डिया : म्यूटिनी ऑर वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस*, डी.सी. हीथ, लेक्सिंगटन, एमए.

— अभय कुमार दुबे



पहला विद्रोही : मंगल पाण्डे

सन् 1857 का संग्राम-2

युद्ध, पराजय और दमन

(War of 1857-2)

लॉर्ड डलहौजी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा था कि उसके शासनकाल में नये-नये राज्य मिलाने से अंग्रेजी राज की आमदनी चालीस लाख पाउण्ड बढ़ गयी है। इसी के साथ डलहौजी ने यह अंदेशा भी जताया था कि इस शांतिपूर्ण लूट में विघ्न पड़ सकता है। डलहौजी ने लिखा, 'हमारे खिलाफ़ कभी भी बाहर से लड़ाई छिड़ सकती है या भीतर से विद्रोह फूट सकता है। और ये युद्ध और विद्रोह ऐसे लोग शुरू कर सकते हैं जिनसे हम इनकी कम से कम आशा करते हैं, जो युद्ध और विद्रोह के लिए बहुत ही कमजोर समझे जाते हैं और जिनसे लड़ाई की कल्पना भी नहीं की जाती। इसलिए कोई भी व्यक्ति बुद्धिमानी से इस बात का आश्वासन नहीं दे सकता कि हिंदुस्तान में बराबर शांति बनी रहेगी।' पी.ई. रॉबर्ट्स द्वारा *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया* में उद्धृत डलहौजी का यह वक्तव्य बताता है कि बगावत की गंध काफ़ी समय से हवाओं में थी जिसे अंग्रेज़ भी महसूस कर रहे थे।

लेकिन, इतिहासकारों में इस प्रश्न पर विवाद है कि क्या 1857 के विद्रोह के पीछे कोई व्यापक योजना थी, या इसे

सिपाहियों, किसानों और सामंतों के असंतोष की अलग-अलग अभिव्यक्ति ही माना जाना चाहिए? सिपाहियों ने यदि संगठित होकर संघर्ष किया होता तो विद्रोह एक ही दिन में सभी छावनियों में न फूट पड़ता? इसी के साथ एक प्रश्न यह भी है कि अगर इस विद्रोह के पीछे कोई योजना थी तो उसे षड्यंत्र की श्रेणी में रखा जाना चाहिए या आंदोलन की श्रेणी में? इसमें कोई शक नहीं कि व्यापक असंतोष के बावजूद सारे देश में मौजूद भारतीय सिपाहियों की सारी पलटनें एक साथ अंग्रेज़ों के खिलाफ़ अंतिम लड़ाई के लिए उस तरह तैयार नहीं थी जिस तरह 1917 में जार के खिलाफ़ रूसी फ़ौज की पलटनें तैयार कर ली गयी थीं। सेना का विद्रोह पहले कुछ धीमे और फिर तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ा। उसकी प्रगति विषम थी। रामविलास शर्मा का मत है अगर इस विद्रोह को एक आंदोलन के रूप में देखा जाए तो समझ में आ सकता है कि वह कहीं तेज़ और कहीं मंद क्यों था। उन्होंने विद्रोही-रणनीति के मुश्तरका पहलुओं पर विस्तार और प्रामाणिकता से लिख कर साबित किया है कि कोई पलटन राजनीतिक रूप से ज्यादा तैयार थी और कोई कम, लेकिन इसके पीछे एक समग्र राजनीतिक योजना थी जिसके मुताबिक़ सिपाही अंग्रेज़ी राज की जगह भारतीय राज्य स्थापित करना चाहते थे। 29 मार्च, 1857 को बंगाल आर्मी की 34वीं पलटन के 26 वर्षीय सैनिक मंगल पाण्डे ने कलकत्ता से थोड़ी दूर स्थित बैरकपुर छावनी में विद्रोह की पहली गोली दागी जिसने उसे पकड़ने के लिए झपट रहे लेफ़्टिनेंट बौ के घोड़े को गिरा दिया। बौ ने ज़मीन से उठ कर दोबारा हमला किया तो पाण्डे ने उसे और उसकी मदद के लिए आये सार्जेंट मेजर को भी तलवार से घायल कर दिया। इसके बाद मेजर जनरल हेयरसे ने सिपाहियों के साथ पाण्डे पर हमला किया। इस पर मंगल पाण्डे ने अपने साथी सिपाहियों को ललकारा, पर उन्होंने न तो उसकी और न ही उसे पकड़ने में अंग्रेज़ों की मदद की। इस पर पाण्डे ने उन्हें कायर कह कर लज्जित किया और यह आरोप भी लगाया कि पहले तो उसे उत्तेजित किया गया और फिर साथ नहीं दिया। इसके बाद पाण्डे ने बंदूक का कुंदा ज़मीन पर रखा और नली छाती से सटा कर पैर से ट्रिगर दबा दिया। घायल मंगल पाण्डे को सिपाहियों के सामने ही आठ अप्रैल को अंग्रेज़ों ने फ़ाँसी पर चढ़ा दिया।

इसके बाद 10 अप्रैल तक कुछ नहीं हुआ। बंगाल आर्मी ऊपर से शांत बनी रही। अम्बाला, लखनऊ और मेरठ की छावनियों में गहरा असंतोष पनप रहा था। 24 अप्रैल को तीसरी घुड़सवार सेना ने मेरठ में अफ़सरों की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। 85 सिपाहियों को कैद कर लिया गया। 3 मई को लखनऊ में सातवीं पैदल सेना ने विद्रोह किया। अंग्रेज़ों ने उसके हथियार रखवा लिए और नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया। पहले से तयशुदा योजना के अनुसार 10 मई को मेरठ में सिपाहियों ने कछ युरोपियन अफ़सरों को मार

कर अपने गिरफ्तार साथियों को छोड़ा लिया। लेकिन छावनी में 2,357 भारतीय सिपाहियों के मुक्राबले 2,038 युरोपियन सैनिक थे जिनके पास 20 तोपें भी थीं। इस टकराव में फँसने के या हथियार डालने के बजाय खुद को और भी हथियारों से लैस करके विद्रोही सिपाही रात में दिल्ली रवाना हो गये। मेरठ के बागियों को शहर की जनता का पूरा समर्थन था। जब वे बाजार से निकले तो बहुत से लोग तलवारें, भाले और बल्लम लिए उनकी मदद को तैयार खड़े थे। जनता के इसी समर्थन के कारण अंग्रेज सिपाही उनका पीछा न कर सके। उधर दिल्ली की पलटनें मेरठ के सिपाहियों का स्वागत करने के लिए तैयार बैठी थीं। पहले उनकी कमान बहादुर शाह के बड़े बेटे मिर्जा मुगल के हाथों में रही। विद्रोहियों ने बहादुर शाह ज़फ़र को हिंदुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया। जून में बरेली से आने वाली विद्रोही सिपाहियों की सेना उनसे आ मिली। इसके सिपहसालार जनरल बख्त ख़ाँ थे। इसके बाद बख्त ख़ाँ ने दिल्ली के युद्ध की कमान सँभाल ली।

इसके बाद बगावत बहुत तेज़ी से फैली। हफ़्ते भर में अवध, रुहेलखण्ड, दोआब, बुंदेलखण्ड, मध्य भारत, बिहार के बड़े हिस्से और पंजाब में ब्रिटिश राज थरा उठा। अंग्रेजों की ताबेदारी कर रही देशी रियासतों के सैनिक भी विद्रोही मूड में आ गये। ग्वालियर के सिंधिया की फ़ौज के बीस हजार सिपाही नाना साहब के सेनापति तात्याँ टोपे के साथ चले गये। झाँसी की रानी ने भी विद्रोह घोषित कर दिया। महाराष्ट्र और राजस्थान के छोटे राजाओं और ताल्लुक़ेदारों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। मई के महीने में ही पंजाब की अनेक छावनियों में विद्रोह हुए। लाहौर, फ़िल्लौर, पेशावर और फ़िरोज़पुर में अंग्रेजों को तोपख़ाने का इस्तेमाल करके बगावत दबानी पड़ी। हैदराबाद में भी स्थानीय स्तर पर बगावत देखी गयी। वहाँ की जनता ने रेजीडेंसी पर ज़बरदस्त आक्रमण किया। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के कुछ भागों को छोड़ कर सारे भारत में अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गये।

दिल्ली पर विद्रोहियों का क़ब्ज़ा होने के बाद 16 मई को गुड़गाँव में, 20 मई को अलीगढ़ में, 23 मई को मैनपुरी और इटावा में, 30 मई को लखनऊ में, 31 मई को शाहजहाँपर और बरेली में सिपाहियों और जनता के आपसी गठजोड़ का परिणाम विद्रोह में निकला। यानी 10 से 31 के बीच केवल 21 दिन में उत्तर-पश्चिम प्रदेश, अवध और सीमांत प्रदेश में पचासों जगहों पर अंग्रेजी राज को चुनौती दी गयी। अंग्रेज लेखकों द्वारा दिये गये विवरणों से साबित हो जाता है कि जगह-जगह शहरों और गाँवों की जनता ने देशी सेना का साथ दिया, अक्सर उसे विद्रोह करने के लिए उत्तेजित किया और कई जगह विद्रोह करने में पहल भी की। देखते-देखते उत्तर भारत में अंग्रेजी राज न केवल अपदस्थ हो गया, बल्कि जब अंग्रेजों ने प्रत्याक्रमण किया तो सिपाही

जन-सहयोग से बहुत दिनों तक मोर्चा भी टिकाए रहे।

विद्रोहियों से लड़ने के लिए अंग्रेजों ने क्रीमिया युद्ध में लगी हुई सेना को बुलाया और चीन में फ़ौजी कार्रवाई के लिए जमा की गयी फ़ौज का इस्तेमाल किया। उन्होंने सिक्ख और गुरखा सिपाहियों का भी प्रयोग किया। अंग्रेजों की दो फ़ौजें मेरठ और शिमला से दिल्ली की तरफ़ रवाना हुईं। बदली की सराय पर विद्रोहियों से उनकी ज़बरदस्त टक्कर हुई जिसे उन्होंने जीत लिया, और फिर उत्तर की तरफ़ दिल्ली रिज पर अपना आधार क़ायम किया। एक जुलाई से दिल्ली का घेरा शुरू हो कर 31 अगस्त तक चला। जर्नल बख्त ख़ाँ के नेतृत्व में विद्रोहियों ने बेहतरीन संघर्ष किया। 14 सितम्बर को अंग्रेज कश्मीरी गेट की तरफ़ से दिल्ली में घुस पाये। एक हफ़्ते तक दिल्ली की सड़कों और गलियों में भीषण युद्ध हुआ। अंग्रेजों को एक-एक इंच दिल्ली के लिए लड़ना पड़ा। 20 सितम्बर को उन्होंने दिल्ली पर फिर से क़ब्ज़ा कर लिया। फिर दिल्ली की जम कर लूट शुरू हुई, अनगिनत लोगों की हत्याएँ की गयीं, मंदिरों और मसजिदों को ढहा दिया गया। 21 को बहादुरशाह ने समर्पण किया। अगले दिन बादशाह के बेटों मिर्जा मुगल, मिर्जा ख़िज़्र सुल्तान और मिर्जा अबू बक्र को ब्रिटिश अफ़सर हडसन ने ख़ूनी दरवाज़े पर गोली से उड़ा दिया।

1857 के युद्ध में कानपुर के बीबी-घर में अंग्रेजों और उनकी औरतों-बच्चों के क़त्ल की घटना का ब्रिटिश समर्थक इतिहासकारों ने बढ़ा-चढ़ा कर ज़िक्र किया है। उनका ज़ोर यह दिखाने पर है कि विद्रोही सिपाही कितने बर्बर थे। दूसरी तरफ़ राष्ट्रवादी इतिहासकार सावरकर ने इस कृत्य को प्रशंसात्मक निगाहों से देखा है। इस घटना का एक अधिक निष्पक्ष प्रतीत होने वाला विवरण भी मिलता है। इसके मुताबिक़ विद्रोही सिपाहियों से घिरे हुए अंग्रेजों को नाना साहब ने परिवार सहित सुरक्षित निकल जाने के लिए नावें प्रदान की थीं। पानी के बीच में जब नावें पहुँच गयीं तो उन्हें खेने वाले मल्लाह कूद पड़े और किनारे की ओर जाने लगे, क्योंकि मल्लाहों का उनके साथ रहना आत्मसमर्पण की शर्तों में शामिल न था। लेकिन, अंग्रेजों ने उन निहत्थों पर गोलियाँ चलाईं। यह देख कर किनारे खड़े घुड़सवार सिपाहियों को गुस्सा आ गया और वे पानी में कूद कर अंग्रेजों को मारने के लिए झपटे। यह विवरण कैप्टन मौब्रे टॉमसन का है जो उसकी रचना *कानपुर की कहानी* में दर्ज है। इस घटना का समाचार पाते ही नाना साहब ने संदेश भेजा कि किसी अंग्रेज को न छोड़ा जाए लेकिन औरतों-बच्चों का वध नहीं होना चाहिए। इन औरतों-बच्चों को बीबी-घर में रखा गया। जब सर हेनरी हैवलाक की सेना इलाहाबाद से नरसंहार करते हुए कानपुर आ रही थी, उस समय बदले की भावना से स्त्रियों-

बच्चों को काट कर उनके शव कुएँ में डाल दिये गये। उन्हें किसने मारा? क्या सिपाहियों ने? जे. डब्ल्यू. के के अनुसार सिपाहियों ने तो उन पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था। इसलिए मरवाने वालों ने बाजार से कसाई बुलाए, जिन्होंने उन औरतों-बच्चों को मारा। अंग्रेजों ने जब कानपुर पर कब्जा किया तो दस हजार नागरिकों की हत्या की और जम कर लूटमार की। हिंदुओं और मुसलमानों से बीबी-घर की ज़मीन पर पड़ा खून चटवाया गया और और फिर उन्हें या तो फ़ाँसियाँ दी गयीं या तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया गया।

लखनऊ में ब्रिटिश कमांडर हेनरी लारेंस ने विद्रोहियों की घेरेबंदी का नब्बे दिन तक मुकाबला किया। फिर हैवलॉक और आउटरम की सेना की मदद से देशी सैनिकों को हराया जा सका। बेगम हज़रत महल ने बहादुरी के साथ विद्रोहियों का नेतृत्व किया। वे दिल्ली के बूढ़े बादशाह के मुकाबले अधिक मज़बूत और बहादुर साबित हुईं। उन्होंने अंग्रेजों के सामने कभी हथियार नहीं डाले। यह लड़ाई अक्टूबर तक चलती रही। बुंदेलखण्ड में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई एक साथ अंग्रेजों की ताबेदारी करने वाले दतिया और ओरछा की फ़ौजों से भी लड़ीं और सर हू रोज़ की सेनाओं से भी। मार्च 1858 में रोज़ ने झाँसी के किले पर कब्जा किया। रानी अपने बेटे को पीठ पर बाँध कर भाग निकलीं। उनके साथ तात्याँ टोपे मिल गये। दोनों ने एक जून को ग्वालियर पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों के वफ़ादार सिंधिया को आगरा में शरण लेनी पड़ी। तीन हफ़्ते बाद 17 जून को जब अंग्रेजों ने ग्वालियर का घेरा डाला तो एक लड़ाई में असाधारण पराक्रम दिखाते हुए लक्ष्मीबाई खेत रहीं।

अवध के इलाक़े में मौलवी अहमद शाह (जो मुख्यतः मद्रास के थे, लेकिन फ़ैजाबाद में बस गये थे) ने विद्रोह का नेतृत्व किया। लखनऊ के छिनने के बाद उन्होंने रुहेलखण्ड में फ़ौजों की अगुआई की। बाद में पोवायों के राजा जगन्नाथ सिंह ने 50,000 रुपये के इनाम के बदले उन्हें धोखे से मरवा दिया। बिहार में जगदीशपुर के अस्सी वर्षीय शासक कुँवर सिंह ने एक योग्य सेनापति की तरह अंग्रेजों से लोहा लिया और आरा की लड़ाई में शानदार जीत हासिल की। बिहार में अंग्रेजों से लड़ने के बाद कुँवर सिंह नाना साहब की फ़ौजों से आ मिले। उन्होंने अवध और मध्य भारत में लड़ाइयाँ लड़ीं। लेकिन आरा की लड़ाई में घायल हो जाने के कारण 27 अप्रैल, 1858 को उनका देहांत हो गया। उनके भाई अमर सिंह को अंग्रेजों ने पराजित कर दिया। इन तमाम लड़ाइयों में जीतने के बावजूद अंग्रेज विद्रोहियों के एक सिपहसालार को आखिर तक नहीं हरा पाये। वे थे तात्याँ टोपे, नाना साहब के मुख्य सेनापति। रण कौशल में तात्याँ का कोई सानी नहीं था। पण्डित सुंदर लाल ने अपनी पुस्तक *भारत में अंग्रेजी राज* में

तात्याँ की व्यूह रचना का प्रभावी वर्णन किया है। वेश बदलने में कुशल तात्याँ की योजना दक्षिण निकल जाने की थी ताकि हैदर अली के साथ मिल कर अंग्रेजों के ऊपर ज़बरदस्त हमला किया जा सके। तात्याँ की गति और चपलता से अंग्रेज घबराये हुए थे। उन्हें लग रहा था कि अगर दक्षिण भी इस विद्रोह में कूद पड़ा तो भारत उनके हाथ से निकल जाएगा। लेकिन राजा मान सिंह की गद्दारी के कारण 7 अप्रैल, 1859 को उन्हें पकड़ लिया गया। 18 अप्रैल को इस महान् सेनापति को फ़ाँसी दी गयी। ऐसे ही एक सेनानायक राणा बेनीमाधो थे जिन्होंने तात्याँ की ही संघर्ष को व्यापक बनाने के लिए उल्लेखनीय कूटनीतिक प्रयास किये। उन्होंने आखिर तक हथियार नहीं डाले। अंग्रेज न हज़रतमहल को पकड़ पाये, न नाना साहब को। अंग्रेजों के पास बेहतर हथियार थे, और गोला-बारूद की लगातार सप्लाई। तात्याँ और बेनीमाधो की योजना थी कि ऐसे दुश्मन को लम्बी लड़ाई में ही थका कर हराया जा सकता है। अगर उनकी योजनाएँ सफल हो गयी होतीं तो 1857 का नतीजा कुछ और होता।

8 जुलाई, 1859 को अंग्रेजों ने एलान किया कि भारत में शांति स्थापित हो गयी है। यह महा-युद्ध तीन साल तक चला। रामविलास शर्मा के शब्दों में यह एक अस्थायी शांति थी। भारतीय जनता उसे बराबर भंग करती रही। 1946-47 में एक सदी बीतने से पहले ही वह पूरी तरह से भंग हो गयी।
देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. एरिक स्टोक्स (1986), *द पीजेंट आर्म्ड : द इण्डियन रिबोल्ट ऑफ़ 1857*, क्लेयरन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, 1986
2. एस.बी. चौधरी (1957), *सिविल रिबेलियन इन द इण्डिया म्यूटिनीज़, 1857-1859*, वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट, कलकत्ता, 1957
3. रुद्रांगु मुखर्जी (1984), *अवध इन रिबोल्ट, 1857-58 : अ स्टडी ऑफ़ पॉपुलर रजिस्टेंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. हीदर स्ट्रीट (2001), 'द रिबेलिन ऑफ़ 1857 : ऑरिजिंस, कारिसक्वेंसिज़, ऐंड थीम्स', *टीचिंग साउथ एशिया : ऐन इंटरनेट जरनल ऑफ़ पेडागॉजी*, खण्ड 1, अंक 1, शरद.
5. पी.ई. रॉबर्ट्स (1927), *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

सन् 1857 का संग्राम-3

राज्य-सत्ता की रूपरेखा

(War of 1857-3)

सन् 1957 का विद्रोह पराजित हो गया। अगर वह विजयी हो जाता तो क्या होता? क्या पुराने सामंती और कुलीनतंत्र की वापसी हो जाती? 1857 के लगभग सभी ऐतिहासिक विवरणों में ये तथ्य मिलते हैं कि तकनीकी रूप से राजाओं और सामंतों के हाथ में विद्रोह की कमान थी, लेकिन व्यावहारिक रूप से निर्णय लेने के अधिकार उनके पास नहीं थे। तथ्य यह है कि सामंतों की भूमिका मिली-जुली थी। कई सामंत ऐसे थे कि अगर उन पर सिपाहियों का दबाव न होता तो वे विद्रोह में उतरते ही नहीं। कई जगहों पर उन्होंने निहायत बहादुरी और आत्मोत्सर्ग की भावना से लड़ाई लड़ी, और कहीं दुलमुल रहे। मसलन, आरा के राजा कुँअर सिंह और अवध की बेगम हज़रतमहल पहली श्रेणी में आती हैं। बहादुर शाह ज़फ़र दूसरी श्रेणी में आते हैं। एक तीसरी श्रेणी भी थी जिसके तहत आने वाले सामंत शुरू में हिचक रहे थे, पर जब वे एक बार विद्रोह में शामिल हो गये तो उन्होंने बेहिचक संघर्ष किया। इनमें नाना साहब और लक्ष्मीबाई के नाम शामिल हैं।

इन तथ्यों के बावजूद विद्रोहियों पर अक्सर यह लांछन लगाया जाता है कि न केवल उनकी बागडोर पुराने सामंतवर्ग के हाथ में थी, बल्कि कुल मिला कर उनका मक़सद पुरानी सामंती सत्ता की फिर से स्थापना करना था। लेकिन, बागी सिपाहियों और उनके कंधे से कंधा मिला कर लड़ रहे किसानों की राजनीतिक-प्रशासनिक गतिविधियों की जाँच करने पर कोई और ही तस्वीर उभरती है। दिल्ली में विद्रोहियों की कमान बरेली में बगावत के नेता जनरल बख़्त ख़ाँ के पास थी। बख़्त ख़ाँ न केवल तोपों के युद्ध में पारंगत थे, बल्कि जब दिल्ली का प्रशासन उनके हाथ में आया तो उन्होंने फ़ौजी और नागरिक मामलों में प्रभावशाली प्रबंधकीय क्षमता का परिचय दिया। करीब तीन महीने तक दिल्ली बागियों के पास रही। इस बीच में बहादुर शाह बादशाह रहे, लेकिन नाममात्र के। पूरी सत्ता और सभी कार्यकारी अधिकार फ़ौज और नागरिकों के मिले-जुले कोर्ट के हाथ में थी। बख़्त ख़ाँ के नेतृत्व में बागियों ने एक परवाना जारी किया जिसमें प्रस्तावित राज्य के ढाँचे का पूरा विवरण दिया गया था। पंजाब सरकार ने 1911 में ग़दर संबंधी जो कागज़ात जारी किये उनमें इसके प्रमाण मौजूद हैं। दिल्ली में नयी राज्य-सत्ता का प्रस्ताव करने वाली संस्था (कोर्ट) फ़ौजी सिपहसालारों और योग्य नागरिकों की मिली-जुली संरचना थी।



बहादुर शाह ज़फ़र : मुग़ल बादशाहत के आख़िरी दिन

सारी शक्तियाँ एक प्रशासकीय कोर्ट के हवाले करने वाला यह परवाना बताता है कि शांति-व्यवस्था क़ायम करना, लगान जमा करना, मालगुज़ारी वसूल करना, महाजनों से पैसा उधार लेना, हुकूमत का इकबाल क़ायम रखना और युद्ध का संचालन करना इसी कोर्ट का काम था। इस कोर्ट के दस सदस्य होने थे जिसमें छह सेना से और चार नागरिकों के बीच से चुने जाने थे। यहाँ ध्यान देने की बात है कि बागी सिपाही और उनका नेतृत्व बहुमत से चुनी सरकार के पक्ष में था। इस परवाने की निगाह में चुनाव करने वाले वोटर कौन थे? जिन वोटरों के बीच से यह नेतृत्व चुना जाना था उन्हें क़ाबिल, अक्लमंद, तज़रुबेकार, अहलियतमंद, कुव्वती और वफ़ादार होना चाहिए था। दस चुने गये प्रशासकों में से एक को सदर-ए-जलसा (अध्यक्ष) और दूसरे को नाइन सदर-ए-जलसा (उपाध्यक्ष) के रूप में निर्वाचित होना था। अध्यक्ष के पास एक वोट ज़्यादा देने का हक़ था। कोर्ट के हर सदस्य को एक-एक विभाग का प्रभार दिया गया था। उन्हें कोर्ट के चार-चार सदस्यों और नियुक्त किये गये मंत्रियों की मदद से कामकाज चलाना था। पहली नज़र में यह मॉडल एक संविधानगत राजशाही का लगता है जिसका संचालन एक निर्वाचित परिषद् को दिया गया था। जिसमें फ़ौजियों की संख्या ज़्यादा और नागरिकों की संख्या कम थी। यह सामंतवादी मॉडल तो हरगिज़ नहीं है। इसमें आधुनिकता के कुछ निशान देखे जा सकते हैं, और ग्राम स्व-शासन की पारम्परिक पंचायत प्रणाली के प्रभाव की शिनाख़्त भी की जा सकती है।

बादशाह को इस अधिकारसम्पन्न कोर्ट की बैठकों में भाग लेने का अधिकार था। कोर्ट के हर फ़ैसले पर बादशाह के दस्ताख़त होने ज़रूरी थे, लेकिन जैसा कि ज़ाहिर है निर्णय

कोर्ट द्वारा ही लिए जाने थे। बहादुर शाह को अपनी नाममात्र की हैसियत का अच्छी तरह एहसास था। आत्मसमर्पण के बाद जब अंग्रेजों ने उन पर मुकद्दमा चलाया (जो अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के मुताबिक़ पूरी तरह से ग़ैर-क़ानूनी था, क्योंकि ईस्ट इण्डिया नाममात्र के लिए ही सही पर तकनीकी रूप से मुग़ल बादशाह की सम्प्रभुता मानती थी) तो बादशाह की तरफ़ से अपने बचाव में कहा भी गया था कि वे तो सैनिकों के कैदी की तरह काम कर रहे थे। उनके पास फ़ैसले लाये जाते थे और उन्हें उन पर शाही मुहर लगाने के लिए मजबूर किया जाता था।

कोर्ट ने अपनी अमलदारी सख़्ती और लचीले ढंग से क़ायम की। बहादुर शाह के बेटों ने जब इसमें दख़लंदाज़ी की कोशिश की तो उनकी एक नहीं चलने दी गयी। बादशाह का बड़ा बेटा नाराज़ था क्योंकि बख़्त ख़ाँ के आने के बाद उससे विद्रोहियों की कमान ले ली गयी थी। उनकी शह पर कुछ शहजादों ने महाजनों से ग़लत तरीक़े से रुपया वसूल किया, तो उनकी पूरी रोकथाम की गयी। कोर्ट कार्यकारी था, विधायी नहीं। उसने क़ानूनी अदालतें स्थापित कीं, जजों की नियुक्ति की और दीवानी और फ़ौजी मामलों से संबंधित न्यायिक प्रक्रिया का विनियमन किया।

वित्तीय मामलों पर इस कोर्ट का पूरा नियंत्रण था। उसने पहला काम तो यह किया कि किसी भी क्रिस्म की लूटमार पर सख़्ती से पाबंदी लगायी, और लड़ाई व प्रशासन के खर्चे के लिए चंदा जमा करने और क़र्ज लेने की विधियाँ अपनायीं। 11 मई को सिपाही दिल्ली पहुँचे और 16 मई को लूटमार करता हुआ एक घुड़सवार पकड़ा गया। उसे बादशाह के सामने पेश किया गया, लूटा हुआ माल वापस करवा कर आइंदा ऐसा न करने की चेतावनी दी गयी। बाग़ियों ने बादशाह से यह शिकायत भी की कि जो लोग लूट में पकड़े जाते हैं उन्हें शाही पुलिस घूस लेकर छोड़ देती है। कमज़ोर बादशाह के बस की बात नहीं थी कि वह शाही पुलिस को दुरुस्त कर पाते। इसलिए बख़्त ख़ाँ ने अपने आने के बाद घोषणा की कि दूकानदार अपने पास हथियार रखें और जिनके पास हथियार न हों वे फ़ौजी हैडक्वार्टर से ले लें। उन्होंने यह एलान भी किया कि जो फ़ौजी लूटमार करता हुआ पकड़ा जाएगा, उसके हथियार छीन लिए जाएँगे। बाग़ियों का यह व्यवहार अंग्रेज़ फ़ौज के उस व्यवहार के ठीक विपरीत था जिसने लूटमार और क़त्ल-ओ-ग़ारत को अपना मुख्य काम बना रखा था। सिपाहियों को अगर लूटमार ही करनी थी तो भला उन्हें चंदा जमा करने और क़र्ज लेने की जहमत क्यों उठानी चाहिए थी? कुछ लोगों ने सिपाहियों का वेश बना कर लूट करनी शुरू की तो उन्हें पकड़ लिया गया और उनकी जूतों से पिटायी की गयी। चार जून को दिल्ली में महाजनों की एक सभा हुई जिसमें एक लाख रुपये

का चंदा जमा हुआ और एक लाख रुपया और देने का वायदा किया गया। तीस जुलाई को बादशाह के नाम से महाजनों से क़र्ज माँगा गया। यहाँ ध्यान देने के ज़रूरत है कि बाग़ियों की अमलदारी में संसाधनों की बेहद कमी थी। सैनिकों को नियमित रूप से ख़ाना भी नहीं मिलता था। कई-कई दिन सूखे चने चबा कर उन्हें युद्ध करना पड़ा, लेकिन दिल्ली में लूटमार की कोई वारदात नहीं हुई।

कोर्ट लिखित रूप से तरह-तरह के आदेश पारित करता था जिनकी इबारत फ़ारसी में होती थी जिसके बीच में फ़ारसी लिपि में ही राजनीति जैसे हिंदी के शब्द भी होते थे। आदेशों पर बादशाह की मुहर होती थी। कोर्ट थानों को, तहसीलों को और डाक की व्यवस्था के लिए निर्देश देता था। जिन दस्तावेज़ों में कोर्ट की गतिविधियों का ज़िक्र है, उनसे कुछ नतीजे निकाले जा सकते हैं। मसलन, सेना का संचालन करने के साथ-साथ कोर्ट मालगुजारी वग़ैरह के मसलों का भी प्रबंधन करता था यानी उसके हाथ में दीवानी के मामले भी थे। वह एक तरह का सर्वोच्च न्यायालय भी था जिसके सामने बंदोबस्त से असंतुष्ट ज़मींदार अपनी अर्ज़ियाँ ला सकते थे। उसने नज़र लेने की सनातन प्रथा पर रोक लगा दी और घूसखोरी के ख़िलाफ़ कड़े क़दम उठाये। इस कोर्ट ने ग़रीब आदमियों को न सताने पर ज़ोर दिया। अंग्रेज़ अपना टैक्स वसूलने के लिए रियाया पर किसी भी हद तक जा कर जुल्म-ज़्यादती करते थे, पर उनके विपरीत इस कोर्ट ने सरकारी पैसा वसूलने के लिए समझाने-बुझाने पर ज़ोर दिया।

दस्तावेज़ों का अध्ययन करके कुछ इतिहासकारों ने जाहिर किया है कि इस कोर्ट ने दाम बाँधने और जमाखोरी रोकने की कोशिशें कीं, हालाँकि उसने किसी क्रिस्म की राशनिंग लागू करने या ज़रूरत की चीज़ों की सप्लाई सुनिश्चित करने का कार्यक्रम नहीं लिया। अदालत के आदेशों में इस बात की भनक भी मिलती है कि वह एक ऐसे राजस्व-ढाँचे की तरफ़ देख रहा था जिसमें टैक्स उन लोगों पर ही लगाये जाते जिनमें उनका भुगतान करने की क्षमता होती। राजस्व प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन करने की इच्छा प्रदर्शित करने के साथ-साथ इस कोर्ट के आदेश ज़मींदारी ख़त्म करने और जोतने वाले को ज़मीन देने के रुझान की तरफ़ भी इशारा करते हैं।

यह कोर्ट किसी भी क्रिस्म के धार्मिक कट्टरपंथ के ख़िलाफ़ था। 19 मई को कुछ मौलवियों की शह पर जामा मसज़िद में जेहाद का झण्डा उठाया गया। कोर्ट ने बादशाह की तरफ़ से इस जेहाद का विरोध किया। आदेश जारी किया गया कि जो व्यक्ति गोवध करेगा उसे तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया जाएगा। लेकिन जो व्यक्ति बकरी ज़िबह करने

का विरोध करेगा, उसे भी दण्ड मिलेगा। बादशाह के नाम से यह आदेश भी जारी किया गया कि ईद के मौके पर शहर में कोई गाय न मारी जाए और अगर किसी मुसलमान ने ऐसा किया तो उसे तोपदम कर दिया जाएगा। दस्तावेज़ बताते हैं कि हकीम एहसानुल्ला खाँ ने इस आदेश पर नाखुशी जाहिर करके धमकी दी कि वे मुसलमानों को इसकी अवज्ञा करने पर समझाएँगे, लेकिन जनरल बख्त खाँ के कारकुनों ने सख्ती बरती और ऐसा कुछ नहीं होने दिया।

इसी तरह की संरचना बागियों ने लखनऊ में भी क्रायम की थी। उसके शीर्ष पर नवाब वाजिद अली शाह के बेटे बिरजिस क्रदर थे। उन्हें नवाब वज़ीर की पदवी दी गयी थी। लेकिन दिल्ली की तरह वास्तविक ताकत कोर्ट के हाथ में थी जिसमें में फ़ौजी अफ़सरों के साथ-साथ नवाब के प्रमुख कारकुनों को भी शामिल किया गया था।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन वाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. कुणाल चट्टोपाध्याय (2009), 'इण्डिया, ग्रेट रिबेलियन ऑफ़ 1857 (द सिपाय रिवोल्ट)', इमैनुएल नेस (सम्पा.), द इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रेवोल्यूशन एंड प्रोटेस्ट : 1500 टू प्रजेंट, विली-ब्लैकवेल, यूके.
2. दिल्ली में बागी सिपाहियों के प्रशासन के विस्तृत विवरण के लिए देखें, रामविलास शर्मा (1990), सन् सत्तावन की राज्य-क्रांति और मार्क्सवाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990.
3. मुईनुद्दीन खाँ और मुंशी जीवनलाल (1953), ग़दर— दिल्ली की डायरी, कर्मयोगी प्रेस, इलाहाबाद.

— अभय कुमार दुबे

सन् 1857 का संग्राम-4

मूल्यांकन पर बहस

(War of 1857-4)

सन् 1857 के संग्राम के कारणों और मूल्यांकन को लेकर इतिहासकारों, समाज-वैज्ञानिकों और अन्य बुद्धिजीवियों के बीच तीखे मतभेद हैं। अंग्रेज़ों ने इस विद्रोह को उनकी भारतीय फ़ौजों के सिपाहियों की म्यूटिनी या ग़दर करार दिया है। इस दृष्टि के मुताबिक़ यह ग़दर बंगाल आर्मी के ऊँची जाति के सिपाहियों द्वारा अपने जातिगत संस्कारों की रक्षा करने के लिए दिखाई गयी अनुशासनहीनता की अभिव्यक्ति था। मुसलमान सिपाही उनसे इसलिए मिल गये थे कि जिन कारतूसों को दाँत से काटना पड़ता था उनके खोल में गाय के साथ-साथ सुअर की चर्बी का भी प्रयोग किया गया था। अंग्रेज़ों के अनुसार यह या तो मुसलमानों का षड्यंत्र था, या फिर ब्राह्मणवादी प्रतिरोध। इसकी एक और अंग्रेज़-व्याख्या प्रचलित है कि यह बगावत लॉर्ड डलहौजी के आठ साला शासन में अपनायी गयी 'डॉक्ट्रिन ऑफ़ लैप्स' की नीति के कारण हुई थी अर्थात् यह उन राजाओं-नवाबों की कारगुजारी थी जिनकी रियासतें वारिस नामौजूद होने की सूरत में दत्तक पुत्र को उत्तराधिकार देने की इजाज़त न होने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी अमलदारी में मिला ली थीं। ब्रिटिश इतिहासकारों ने बगावत करने वाले देशी सिपाहियों को बर्बर, हिंस्र, बलात्कारी, लुटेरा, अनुशासनहीन, धर्मांध और जातिवादी करार दिया है। यह इतिहास दावा करता है कि विद्रोही सिपाही योग्य नेतृत्व से वंचित अराजक भीड़ की तरह थे। उसने भारतीय पक्ष द्वारा की गयी हर हिंसक कार्रवाई का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है ताकि ब्रिटिश पक्ष को न्यायोचित करार दिया जा सके।

इस ब्रिटिश इतिहास-लेखन की पुष्टि करने में कुछ भारतीय बुद्धिजीवियों ने भी योगदान दिया है। यह काम पराजय के बाद अंग्रेज़ी राज के प्रति वफ़ादारी साबित करने के लिए अपने-अपने पक्ष से विद्रोह का मूल्यांकन करने के ज़रिये किया गया। मुसलमानों ने दिखाया कि विद्रोह की ज़िम्मेदारी उन पर डालना ग़लत है क्योंकि वे तो यह कृतघ्नता कर ही नहीं सकते थे। इसका प्रमुख उदाहरण सैयद अहमद खाँ की रचना आशाब-ए-बगावत-ए-हिंद में मिलता है जिसका अनुवाद द कॉज़िज़ ऑफ़ द इण्डियन रिवोल्ट के नाम से उपलब्ध है। इसके अनुसार विद्रोह न तो राष्ट्रीय था, न ही इसके पीछे कोई योजना थी, न ही विद्रोह करने वाले ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बराबर की हैसियत के थे। यह तो अवज्ञाकारी सिपाहियों की गड़बड़ी थी जो अज्ञानतावश और

धार्मिक ग़लतफ़हमीवश की गयी थी। सैयद अहमद ख़ाँ इसे लोकप्रिय विद्रोह भी मानने के लिए तैयार न थे। इसके बाद उन्होंने द *लॉयल मोहम्मडंस ऑफ़ इण्डिया* का लेखन करके कहा कि किसी भी पढ़े-लिखे और भद्र मुसलमान ने इस बगावत में हिस्सा नहीं लिया। सैयद अहमद ने यह भी कहा कि भारत में ईसाइयों का अगर कोई सच्चा दोस्त है तो वे मुसलमान ही हैं। विद्रोह के वक्रत वे बिजनौर में थे इसलिए उन्होंने अपनी स्मृतियाँ *सरकशी-ए-ज़िला बिजनौर* में यह कह कर दर्ज की हैं कि जिन भारतवासियों ने विद्रोह किया वे सभी अहसानफ़रामोश थे। उन्होंने अंग्रेजों से अपील की कि इस मामले में वे हिंदुओं और मुसलमानों को एक ही खाने में न डालें।

हिंदुओं की तरफ़ से सैयद अहमद ख़ाँ के समकालीन और बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय के अनुयायी रजनी कांत गुप्ता ने *सिपाही युद्ध इतिहास* लिख कर दावा किया कि हिंदू तो बड़े वफ़ादार हैं। उन्होंने बगावत का ठीकरा मुसलमानों की कृतघ्नता पर फ़ोड़ा। यहाँ तक कि नाना साहब को भी अजीमुल्ला ख़ाँ के शरारती मशविरों ने गुमराह कर दिया था। शंभू चंद्र मुखर्जी और किशन चंद्र मित्र ने दावा किया कि बगावत में हिंदू भागीदारी न के बराबर ही थी। सितार-ए-हिंद के खिताब से नवाजे गये राजा शिव प्रसाद सिंह ने अपनी हिंदी पाठ्य पुस्तक *इतिहास तिमिर नाशक* में विद्रोह को अपराधी वर्गों की कारसाजी बताया। राजा साहब ने दावा किया कि हिंदू तो उसूलन फ़रमाबरदार हैं और उन्हें किसी भी तरह का राष्ट्रवाद या देशप्रेम छू तक नहीं गया है। विद्रोह के असली कर्ताधर्ता तो मुसलमान थे।

इस तरह के इतिहास और मूल्यांकन के दूसरे सिरे पर राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं जो इस विद्रोह को भारत का पहला 'राष्ट्रीय' स्वाधीनता संग्राम करार देते हैं। इन इतिहासकारों की मान्यता है कि असंतुष्ट राजे-रजवाड़ों, सिपाहियों और किसान जनता ने मिल कर इसमें भाग लिया था; और इसी विद्रोह के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद पड़ी। राष्ट्रवादियों की तरफ़ से ब्रिटिश इतिहासकारों को पहला जवाब 1909 में विनायक दामोदर सावरकर ने दिया जब उनकी विख्यात रचना *द इण्डियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस ऑफ़ 1857* प्रकाशित हुई। यह पुस्तक छपते ही भारतीय क्रांतिकारियों की बाइबिल बन गयी। इसने राष्ट्रवादियों की कम से कम दो पीढ़ियों को प्रभावित किया। रानी झाँसी का पराक्रमी संघर्ष इसी पुस्तक से पहली बार प्रकाश में आया। इससे पहले लक्ष्मीबाई के नाम की चर्चा भी नहीं होती थी। सावरकर आगे चल कर हिंदुओं और मुसलमानों को अलग-अलग क्रौम मानने लगे, पर इस पुस्तक में उन्होंने साफ़ कहा था कि शिवाजी के समय में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच नफ़रत ज़रूर थी, लेकिन अंग्रेजों के मुकाबले उस घृणा को

जारी रखना एक मूर्खता ही होगी। सावरकर ने चर्बी वाले कारतूसों को विद्रोह का प्रमुख कारण मानने से इनकार कर दिया और कहा कि विद्रोह के पीछे 'स्वराज और स्वधर्म' की कामना और हिंदू-मुसलमान एकता थी।

तीसरी श्रेणी मार्क्सवादी विद्वानों की है जिन्होंने इन दोनों दावेदारियों को टुकराते हुए कहा कि यह विद्रोह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ ऐसे क्रदमों की प्रतिक्रिया थी जिनसे स्थापित सामंती वर्ग की जड़ें हिल गयी थीं। इसलिए यह लड़ाई पुराने भू-स्वामी वर्गों ने छेड़ी थी। इस दृष्टि के अनुसार विद्रोह का नेतृत्व अपनी सत्ता से वंचित मुसलमान हुक्मरानों, ज़मींदारों और कम्पनी से पीड़ित कुछ हिंदू राजाओं के हाथों में था। ये विद्वान पूछते हैं कि क्या इस विद्रोह को राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रकटीकरण कहा जा सकता है? क्या उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत को एक राष्ट्र की तरह देखने की शुरुआत हो चुकी थी? ऐसे मार्क्सवादी लेखन का नमूना मानवेंद्र नाथ राय की रचना *इण्डिया इन ट्रांज़ीशन* और रजनी पाम दत्त की रचना *इण्डिया टुडे* में मिलता है। राय ने विद्रोह को क्षयग्रस्त सामंती प्रणाली और नये व्यापारिक पूँजीवाद के बीच संघर्ष करार दे कर कहा कि इसकी नाकामी सामंती ताकतों की आखिरी दावेदारी विफल होने के समान थी। दत्त ने कम से कम यह ज़रूर माना कि यह एक बहुत बड़ा किसान विद्रोह था, पर इसकी बागडोर पतनशील सामंती ताकतों ने सँभाली हुई थी।

सावरकर की रचना 1857 के पचास साल पूरे होने पर सामने आयी थी। जब इस विद्रोह के सौ साल पूरे हुए तो राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने एक और करवट बदली। 1957 में पी.सी. जोशी के सम्पादन में प्रकाशित एक पुस्तक में छपी जिसमें संकलित रचनाएँ विद्रोह में लोकप्रिय भागीदारी और उसके भीतरी अंतर्विरोधों पर प्रकाश डालने वाली थीं। इसी दौरान रमेश चंद्र मजूमदार, एस.बी. चौधरी, सुरेंद्र नाथ सेन और के.के. दत्त की रचनाएँ प्रकाशित हुईं। सेन का अनुसंधान तो भारत सरकार ने ही प्रायोजित किया था। इस लेखन में एक प्रवृत्ति राय और दत्त की परम्परा को आगे विकसित करते हुए वर्गीय दृष्टिकोण का राष्ट्रवाद के साथ समन्वय करती थी। दूसरी प्रवृत्ति विद्रोह को पहला स्वाधीनता संग्राम कहने से परहेज़ करती दिखाई दी। कुल मिला कर ये रचनाएँ 1857 के आख्यान को 'सिपाही विद्रोह' की श्रेणी से निकाल कर 'नागरिक विद्रोह' की श्रेणी में ले आयीं।

1857 पर इतिहास-लेखन की चौथी और सबसे ताज़ा खेप उन इतिहासकारों की है जिन्होंने विद्रोह के कारणों, उसकी राजनीति और उसके समाजशास्त्र की बारीकियों में जाते हुए ऐसे कई पहलुओं का उद्घाटन किया जिनसे इस विद्रोह पर बिल्कुल नयी रोशनी में पड़ती है। इन इतिहासकारों की मान्यता यह लगती है कि यह विद्रोह एक किसान युद्ध

था जिसके दो निशाने थे : देशी भू-स्वामी वर्ग और विदेशी साम्राज्यवाद। इसकी शुरुआत एरिक स्टोक्स की दो रचनाओं से हुई। उन्होंने यह कहने से शुरुआत की कि विद्रोह की प्रकृति अभिजातवर्गीय थी क्योंकि उस पर ऊँची जातियों का नेतृत्व हावी था जिसने अपने हिसाब से जातिगत गोलबंदी करके विद्रोह आयोजित किया। लेकिन बाद में स्टोक्स अपने इस मूल्यांकन से हट गये। उन्होंने जाति और आर्थिक कारणों से परे जाते हुए पारिस्थितिकी, संस्कृति और मानस जैसे पहलुओं को टटोला। उन्होंने प्रतिरोध के लोकप्रिय रूपों की शिनाख्त की। रुद्रांग्शु मुखर्जी और तपाती राय की रचनाओं ने बहुत बारीकी से शोध करते हुए दिखाया कि विद्रोह की असली ताकत किसानों और देहाती जनता के सहयोग-समर्थन पर टिकी हुई थी। अवध-क्षेत्र का अध्ययन करके मुखर्जी ने साफ़ तौर पर दावा किया कि किसान इस युद्ध के आखिरी दस्ते नहीं थे, न ही उनकी स्थिति अधीनस्थ क्रिस्म की थी। उनकी भूमिका सिपाहियों और अन्य प्रमुख ताकतों के बराबर थी। मुखर्जी ने प्रमाण दिये कि जहाँ ताल्लुकदार विद्रोह के साथ नहीं थे, वहाँ भी किसानों ने विद्रोह का साथ दिया। तपाती राय ने बुंदेलखण्ड को अपने शोध के लिए चुना। उन्होंने दिखाया कि किस तरह वहाँ के किसान छॉट-छॉट कर अंग्रेजों, उनके कारकुनों और महाजनों पर हमले कर रहे थे। सरकारी रिकॉर्ड जलाये जा रहे थे। उनका मकसद ब्रिटिश सत्ता के सभी रूपों को नष्ट करना था। राय ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि विद्रोह के दौरान सत्ता की एक वैकल्पिक व्यवस्था उभरने लगी थी जिसमें रिपब्लिकन और जनवादी क्रिस्म की प्रवृत्तियाँ थीं। रणजीत गुहा ने दलील दी है कि किसान विद्रोह के समय अपनी स्थानीय सीमाओं से बाहर नहीं निकले। तपाती राय ने इससे असहमति जताते हुए दिखाया है कि किसान न केवल शहरी क्षेत्रों की तरफ गये, बल्कि उन्होंने बाहर से आने वाली पल्टनों का स्वागत भी किया। राय द्वारा रेखांकित किये गये इस पहलू का प्रमाण कुमार सुरेश सिंह के अवलोकनों में भी मिलता है जिसमें वे आदिवासियों और ग़ैर-आदिवासियों की एकता के प्रमाण पेश करते हैं।

दिलचस्प बात यह है कि 1957 में प्रकाशित रामविलास शर्मा की रचना *सन सत्तावन की राज्य क्रांति और मार्क्सवाद* इतिहास-लेखन का एक ऐसा नमूना है जिसमें आगे जा कर हुए इस बेहतरीन अनुसंधान के इशारे मिलते हैं। रामविलास शर्मा का परिप्रेक्ष्य राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी नज़रियों के विवेकसम्मत और गहन मिश्रण पर आधारित है। इस पुस्तक में विस्तार से विद्रोह के उपनिवेशवाद विरोधी चरित्र, उसमें होने वाली लोकप्रिय भागीदारी, सिपाहियों और किसानों की स्वायत्तता, राजनीतिक चेतना के रूप, जाति-धर्म और जेंडर की सीमाओं से परे जा कर बने समीकरणों और वैकल्पिक राज्य-

सत्ता की संरचनाओं पर प्रकाश डाला गया था। ज़ाहिर है कि राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की खामियों की आलोचना करने वाली यह पुस्तक 1957 में ही उन निष्कर्षों पर पहुँच गयी थी जिन पर स्टोक्स, मुखर्जी और राय के प्रशंसनीय अध्ययन अस्सी और नब्बे के दशक में पहुँचे।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. चार्ल्स बैल (1858-59), *द हिस्ट्री ऑफ़ द इण्डियन म्यूटिनी*, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कम्पनी, लंदन.
2. पी.सी. जोशी (सम्पा.) (1957), *1857 : अ सिम्पोजियम*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. एस.एन. सेन (1957), *एट्टीन फ़िफ्टीन सेविन*, पब्लिकेशन डिवीजन, नयी दिल्ली.
4. आर.सी. मजूमदार (1957), *द सिपाय म्यूटिनी ऐंड द रिवोल्ट ऑफ़ 1857*, फ़र्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता.
6. तपाती राय (1994), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ पॉपुलर अपराइजिंग : बुंदेलखण्ड इन 1857*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
7. रमेश रावत (2007), 'परसेप्शन ऑफ़ 1857', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 35, अंक 11/12.
8. विश्वमय पति (2007), 'हिस्टोरियंस ऐंड हिस्टोरियोग्राफ़ी : सिचुएटिंग 1857', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 19.

— अभय कुमार दुबे

सभ्यताओं का संघर्ष

(Clash of Civilisations)

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में दुनिया के कई विद्वानों, समीक्षकों और प्रेक्षकों ने इक्कीसवीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सम्भावनाओं के बारे में कई तरह की भविष्यवाणियाँ की थीं। कुछ का नज़रिया आशाजनक था और कुछ का निराशाजनक। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अमेरिकी विद्वान सेमुअल पी. हटिंग्टन ने सभ्यताओं को विश्लेषण की इकाई बना कर अपनी भविष्य-दृष्टि पेश की जिसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' के नाम से जाना जाता है। 1993 में फ़ारेन एफ़ेयर्स पत्रिका में छपे उनके लेख 'द क्लैश ऑफ़ सिविलाइजेशंस?' से अकादमीय क्षेत्रों में ज़बरदस्त बहस छिड़ गयी। तीन साल बाद इसी शीर्षक से उनकी किताब प्रकाशित हुई। इस बार उन्होंने प्रश्नवाचक चिह्न लगाये बिना अपना सूत्रीकरण पेश किया। हटिंग्टन का यह सिद्धांत न केवल वर्तमान और भविष्य के टकरावों के बारे में एक समग्र दृष्टि पेश करता है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली के मुख्य लक्षणों को भी अपने दायरे में समेट लेता है। हटिंग्टन न केवल राष्ट्रों के बीच होने वाले या हो सकने वाले द्वंद्वों की चर्चा करते हैं, बल्कि राष्ट्रों के भीतर द्वंद्व की स्थितियों और सम्भावनाओं के बारे में भी बताते हैं।

अगली सदी के लिए भविष्यवाणी करते हुए कुछ प्रेक्षकों और विश्लेषकों का ख़याल था कि भूमण्डलीकरण के बोलबाले और लोकतंत्र के चौतरफ़ा प्रसार के कारण दुनिया भर के लोग आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से एकजुटता की तरफ़ बढ़ेंगे। दूसरी तरफ़ कुछ विद्वानों का विचार था कि शांति के क्षेत्रों और युद्ध के क्षेत्रों के बीच काफ़ी बड़ा अंतर है जो आगे भी बना रहेगा। इसका नतीजा एक बहुध्रुवीय विश्व के तहत बड़ी उदीयमान ताकतों के बीच संघर्ष में निकलेगा। भविष्य-दृष्टि के लिहाज़ से हटिंग्टन की यह बहुचर्चित थियरी अगली सदी की इसी निराशाजनक तस्वीर में फ़िट होती है। हटिंग्टन के कुछ आलोचकों का आरोप है कि इस तरह का उत्तेजक सूत्रीकरण उन्होंने जानबूझ कर अकादमीय जगत का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए किया ताकि वे सामान्य बुद्धिजीवी से रातों-रात बौद्धिक सेलेब्रिटी में बदल सकें। इस छोटकरी के अलावा उनके सिद्धांत में और भी कई तरह की ख़ामियाँ निकाली गयी हैं। उदाहरण के लिए हटिंग्टन के विमर्श को बड़ी आसानी से एक पश्चिम-केंद्रीय सिद्धांत के रूप में पेश किया जा सकता है। उनके सभी सरोकार पश्चिम के राजनीतिक बोलबाले को मिलने वाली चुनौतियों से जुड़े हुए हैं। जो भी हो, इन

आलोचनाओं के बावजूद यह मानना होगा कि नब्बे के दशक में और नयी सदी के पहले दशक में हटिंग्टन का सिद्धांत सबसे ज़्यादा गरमागरम बहसों का केंद्र रहा है।

हटिंग्टन सारी दुनिया को दस मुख्य सभ्यताओं में बाँट कर देखते हैं : पश्चिमी, लातीनी अमेरिकी, अफ़्रीकी, इस्लामी, चीनी, हिंदू, ईसाई, परम्परानिष्ठ ईसाई, बौद्ध और जापानी। सभ्यता की इकाई को परिभाषित करने के लिए उन्होंने माना है कि अगर भाषा, इतिहास, धर्म, रीति-रिवाज़ और संस्थाओं की समानता के आधार पर बनी समान आत्म-पहचान किसी विशाल दायरे में फैले लोगों को एक सभ्यता की श्रेणी में ले आती है। हटिंग्टन कहते हैं कि इनमें से कुछ सभ्यताओं के मर्म में राज्य की संस्था है जिसके पास आणविक हथियार हैं। चीनी सभ्यता के मर्म में चीनी राज्य और जापान के मर्म में जापानी राज्य है। पश्चिमी सभ्यता के मर्म का निर्माण अमेरिका, फ़्रांस, जर्मनी और यूनाइटेड किंगडम जैसे राज्य करते हैं। परम्परानिष्ठ ईसाई सभ्यता का मर्म रूसी राज्य है। लेकिन, इस्लामी सभ्यता का मर्म इस तरह के किसी राज्य से वंचित है। यही हालत लातीनी अमेरिका और अफ़्रीका की है। हटिंग्टन को लगता है कि आने वाले समय में ये सभ्यताएँ आपस में टकराएँगी। परम्परानिष्ठ ईसाइयत का संघर्ष पश्चिमी ईसाइयत और इस्लाम से होगा। हिंदू सभ्यता मुसलमान सभ्यता से भिड़ जाएगी। चीनी सभ्यता भी हिंदू सभ्यता से संघर्ष में जा सकती है। अफ़्रीकी और लातीनी अमेरिकी सभ्यताएँ किनारे पड़ी रहेंगी। हटिंग्टन विशेष रूप से इस्लाम द्वारा पश्चिमी सभ्यता को मिल सकने वाली चुनौती से चिंतित लगते हैं। उनकी दलील है कि एक तो मुसलमानों की जन्म-दर अन्य सभ्यताओं के मुकाबले ज़्यादा है, दूसरे बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में उसकी लोकप्रियता में ज़बरदस्त उछाल आया है। इस्लाम पश्चिमी मूल्यों को ख़ारिज करते हुए अमेरिकी रुतबे के सामने झुकने के लिए तैयार नहीं है, इसलिए पश्चिमी और इस्लामी सभ्यताओं के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी है। हटिंग्टन के अनुसार चीन इस्लामी राज्यों से जुड़ कर अमेरिका को टक्कर देना चाहेगा जिससे युद्ध का खतरा बहुत बढ़ जाएगा।

इस सम्भावित द्वंद्व को टालने के लिए उनके पास कुछ तजवीज़ें भी हैं। मसलन, उनकी सिफ़ारिश है कि सभ्यताओं के केंद्र में मौजूद राज्यों को दूसरी सभ्यताओं के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से बाज आना चाहिए। बजाय इसके उन्हें सभ्यताओं के बीच में संघर्ष के अंदेशों को निबटाने के लिए मध्यस्थता का रवैया अपनाना चाहिए। दूसरे, सभी सभ्यताओं को साझा मूल्यों के आधार पर एकजुटताओं की खोज करनी चाहिए। अमेरिका को हटिंग्टन की सलाह यह है कि उसे पश्चिम के विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्यों को पुष्ट करने

का प्रयास करते हुए अन्य पश्चिमी देशों से अपने गठजोड़ को और पुख्ता करने का प्रयास करना चाहिए। इस संबंध में हटिंग्टन का दृष्टिकोण बहुसंस्कृतिवाद और विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों के बीच परस्पर आदर की राजनीति का समर्थन करते हुए नहीं दिखता।

हटिंग्टन की थियरी में पहली बड़ी खामी यह निकाली गयी है कि उन्होंने दुनिया में सभ्यताओं की संख्या बहुत घटा दी है। दरअसल, वे दस नहीं बल्कि नौ या आठ सभ्यताओं की चर्चा ही कर रहे हैं। एक अफ्रीकी सभ्यता की उनकी संकल्पना संदिग्ध है। इसी तरह युरोप को भी एक सभ्यता के रूप में नहीं देखा जा सकता। अफ्रीका और युरोप दोनों ही अलग-अलग संस्कृतियों से सम्पन्न बहुसांस्कृतिक क्षेत्र हैं। युरोप उत्तरी अमेरिकी की तरह तो निश्चित रूप से नहीं है। जिसे हटिंग्टन पश्चिमी सभ्यता करार दे रहे हैं, उसमें तो कई तरह की आंतरिक दरारें हैं। दूसरे, सभ्यताएँ अपने-आप में एकात्म क्रिस्म की संरचनाएँ नहीं होतीं। उन्हें परिभाषित करने वाले आयाम भी अलग-अलग होते हैं। मसलन, इसलामी सभ्यता एक धर्म के आस-पास सुपरिभाषित है। लेकिन, कनफ्यूशसवादी सभ्यता के तहत धर्म और राजसत्ता के बीच का संबंध इतना स्पष्ट नहीं है। पश्चिमी सभ्यता में विभिन्न देशों के नागरिक धार्मिक आस्थाओं के तौर पर काफी बँटे हुए हैं। तुर्की और इटली जैसे युरोपीय देशों को एक पलड़े पर कैसे रखा जा सकता है। इटली अगर पाप कबूल करने वाले ईसाई विचार को मानता है, तो तुर्की सेकुलर आधार पर सोच रहा है। सभ्यताएँ न केवल धर्मों के आधार पर बँटी हुई हैं, बल्कि उनके बीच सांस्कृतिक विभाजन भी कई तरह के हैं। लातीनी अमेरिकी सभ्यता की चर्चा करते समय स्पेनी और इण्डियन संस्कृति के बीच के अंतराल को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली से लाभ उठा रहे समूहों और उसके कारण भेदभाव और नुकसान झेल रहे समूहों के बीच भी भारी अंतर है। अफ्रीकी महाद्वीप में एक तरफ़ तो मुट्ठी-भर अभिजन पश्चिमी मूल्यों के हामी बने हुए हैं और दूसरी तरफ़ ज्यादा बड़ी आबादी उन सामाजिक मूल्यों को अपनाए हुए है जिन्हें आधुनिकता के दायरे में शामिल नहीं माना जाता।

हटिंग्टन के सिद्धांत की दूसरी बड़ी आलोचना यह है कि उसमें राज्य और सभ्यता के बीच का संबंध स्पष्ट नहीं हो पाता। अगर सभ्यताएँ वास्तव में स्वतंत्र हैसियत रखती हैं तो शीत-युद्ध के दौरान उन्होंने खुद को विभिन्न राज्यों के बीच बने शक्ति-संबंधों की मातहत क्यों स्वीकार कर ली थी? वैसे भी हटिंग्टन द्वारा दिखाई गयी चीनी और इसलामी एकता की सम्भावना भी शक्तिशाली राज्यों के बीच होने वाले गठजोड़ों द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका की तरफ़ ही इशारा करती है। फ़ौजी ताक़त और देशों के बीच का शक्ति-

संतुलन संस्कृति और क्षेत्र के प्रभाव को पृष्ठभूमि में धकेल देता है।

हटिंग्टन को एक आलोचना का सामना यह भी करना पड़ा है कि सभ्यताओं के विश्लेषण की इकाई बनाने के चक्कर में उन्होंने ग्लोबल पूँजीवाद और भूमण्डलीकरण के तहत विकसित हुई अंतर-निर्भरता की निर्णायक भूमिका पर ध्यान नहीं दिया है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, फ़्रैंकफ़र्ट स्कूल, बाजारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलाँ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा, सौंदर्यशास्त्र।

संदर्भ

1. सेमुअल पी. हटिंग्टन (1996), *द क्लैश ऑफ़ सिविलाइज़ेशंस एंड रिमेकिंग ऑफ़ वर्ल्ड ऑर्डर*, साइमन एंड शुस्टर, न्यूयॉर्क.
2. आर. हरजोग वगैरह (1999), *प्रिवेंटिंग द क्लैश ऑफ़ सिविलाइज़ेशंस : अ पीस स्ट्रैटजी फ़ॉर द न्यू सेंचुरी*, सेंट मार्टिन प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. एस. राशिद (सम्पा.) (1998), *द क्लैश ऑफ़ सिविलाइज़ेशंस, द एशियन रिस्पॉस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. एस. वाल्ट्ज़, (1997) 'बिल्डिंग अप न्यू बोगीमेन', *फ़ॉरेन पॉलिसी*, अंक 109.

— अभय कुमार दुबे

समतावाद

(Egalitarianism)

सामाजिक और राजनीतिक चिंतन में समतावाद एक स्थापित लेकिन विवादित अवधारणा है। समतावाद का सिद्धांत सभी मनुष्यों के समान मूल्य और नैतिक स्थिति की संकल्पना पर बल देता है। समतावाद का दर्शन ऐसी व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें सम्पन्न और समर्थ व्यक्तियों के साथ-साथ निर्बल, निर्धन और वंचित व्यक्तियों को भी आत्मविकास के लिए उपयुक्त अवसर और अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकें। समतावाद समाज के सब सदस्यों को एक ही श्रृंखला की कड़ियाँ मानता है जिसमें मज़बूत कड़ियाँ कमज़ोर कड़ियों की हालात से अप्रभावित नहीं रह सकतीं। उसका दावा है कि जिस समाज में भाग्यहीन और वंचित मनुष्य दुःखमय, अस्वस्थ और अमानवीय जीवन जीने को विवश

हों, उसमें भाग्यशाली और सम्पन्न लोगों को व्यक्तिगत उन्नति और सुख समृद्धि प्राप्त करने की असीम स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। वस्तुतः समतावाद स्वतंत्रता और समानता में सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। इसे एक विवादित संकल्पना इसलिए कहा गया है कि समानता के कई स्वरूप हो सकते हैं और लोगों के साथ समान व्यवहार करने के भी अनेक तरीके हो सकते हैं।

समतावाद के दर्शन पर विचार करते समय कुछ महत्वपूर्ण सवाल उत्पन्न होते हैं, जैसे 'किस बात की समानता होनी चाहिए' तथा 'किनके बीच समानता होनी चाहिए।' यहाँ समानता के वितरणात्मक पहलू से जुड़ा एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी है कि 'किन चीजों की समानता होनी चाहिए?' हालाँकि इन सवालों से जुड़े वाद-विवाद के संबंध में कोई आखिरी फ़ैसला नहीं हुआ है पर आम तौर पर विद्वानों ने समानता को मापने के तीन आधारों के बारे में बताया है : कल्याण की समानता, संसाधनों की समानता और कैपेबिलिटी या सामर्थ्य की समानता।

कल्याण के समतावाद का सिद्धांत मुख्य रूप से उपयोगितावादियों के विचार से जुड़ा है। यहाँ 'कल्याण' को मुख्य रूप से दो तरीकों से समझा जाता है। पहले तरीके को जेरेमी बेंथम जैसे क्लासिकल उपयोगितावादी चिंतकों ने आगे बढ़ाया। इनके अनुसार, किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव किये गये दर्द या कष्ट की तुलना में आनंद की कुल मात्रा ही उसकी खुशी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी व्यक्ति के बारे में यह जानने के लिए कि वह अपनी ज़िंदगी में कितना सुखी है, हमें यह देखना चाहिए कि वह कितना ज़्यादा खुश है। कल्याण से संबंधित दूसरा तरीका उपयोगितावाद से संबंधित हाल के लेखन में दिखाई देता है। इसमें कल्याण को इच्छा या वरीयता-संतुष्टि से जोड़ा जाता है। लोगों की कितनी इच्छाएँ या वरीयताएँ संतुष्ट होती हैं— इसके आधार पर लोगों का कम या अधिक कल्याण होता है। इसी बुनियादी अर्थ में उसकी ज़िंदगी बेहतर या बदतर होती है। हर व्यक्ति को इस बात में समर्थ होना चाहिए कि वह स्वतंत्र रूप से अपनी वरीयताएँ तय कर सके। वस्तुतः जो समाज कल्याण के समान रूप से वितरण में विश्वास करता है, वह इस बात की ज़्यादा चिंता नहीं करता है कि एक व्यक्ति को कितना संसाधन मिलता है। लेकिन इस बात की चिंता जरूर करता है कि ये संसाधन प्रत्येक व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों जितनी संतुष्टि या खुशी देते हैं या नहीं। इस योजना की महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि भले ही संसाधनों के वितरण में असमानता हो, लेकिन हर व्यक्ति का समान रूप से कल्याण होना चाहिए।

कल्याण समतावादियों से भिन्न 'संसाधन समतावाद'

संसाधनों की समानता पर बल देता है। जान रॉल्स, रोनाल्ड ड्वॉर्किन, एरिक रोकोवोस्की आदि को संसाधन समतावादी विचारक माना जाता है। ड्वॉर्किन मानते हैं कि संसाधनों की समानता का अर्थ यह है कि 'जब एक वितरण योजना लोगों को समान मानते हुए संसाधनों का वितरण या हस्तांतरण करती है, तो आगे संसाधनों का कोई भी हस्तांतरण लोगों के हिस्से को ज़्यादा समान बनाये।' लेकिन इसी जगह यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किन परिस्थितियों में संसाधनों की समानता हासिल की जा सकती है। ड्वॉर्किन इस संदर्भ में एक द्वि-स्तरीय प्रक्रिया के बारे में बताते हैं : महत्वाकांक्षा-संवेदी नीलामी और बीमा योजना।

ड्वॉर्किन ने संसाधन-समतावादी संकल्पना में पहले विकल्प की उपलब्धता को आवश्यक बताया है। इसके लिए वे एक सुनसान टापू पर एक समान प्रतिभाशाली व्यक्तियों के बीच वहाँ के संसाधनों के बँटवारे का उदाहरण देते हैं। अगर सभी व्यक्तियों को सौ क्लेमशेल्स (एक तरह की मुद्रा) देकर एक प्रतियोगी बाज़ार की तरह नीलामी प्रक्रिया अपनायी जाए तो सभी व्यक्ति वहाँ उपलब्ध संसाधनों पर अपनी वरीयताओं के मुताबिक बोली लगाएँगे। नीलामी प्रक्रिया खत्म होने के बाद प्रत्येक व्यक्ति के पास इच्छित संसाधन होंगे। परंतु यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि ऐसी स्थिति की कल्पना करते वक़्त सभी व्यक्तियों के पास एक जैसी प्राकृतिक सक्षमताएँ मान ली गयी थीं। लेकिन समाज की वास्तविक स्थिति ऐसी होती नहीं है। मसलन समाज में वृद्ध, शारीरिक रूप से विकलांग आदि भी रहते हैं। ऐसी परिस्थिति के लिए ड्वॉर्किन एक बीमा योजना प्रस्तुत करते हैं जिसमें इस प्रकार की बदक्रिस्मती से निपटने के लिए कुछ मुआवज़ा दे दिया जाता है। मसलन उन्हें 100 के स्थान पर 125 क्लेमशेल्स दिये जा सकते हैं। हालाँकि ड्वॉर्किन के इन विचारों की यह कह कर आलोचना भी की गयी है कि हर तरह के प्राकृतिक नुकसान के लिए मुआवज़ा नहीं दिया जा सकता है। परंतु फिर भी ड्वॉर्किन ने अपनी वितरण योजना को सक्षमता-असंवेदी के साथ महत्वाकांक्षा-संवेदी भी बनाने की कोशिश की है।

जॉन रॉल्स को भी एक महत्वपूर्ण समतावादी विचारक माना जाता है। जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में न्याय के दो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। उनके पहले सिद्धांत को समान स्वतंत्रता का सिद्धांत कहते हैं जिसमें उन्होंने तर्क दिया है कि प्रत्येक को सबसे विस्तृत स्वतंत्रता का ऐसा समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए जो दूसरों की वैसी ही स्वतंत्रता के साथ निभा सके। उनके दूसरे सिद्धांत के अनुसार सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ इस ढंग से व्यवस्थित की जाएँ कि (क) इनसे हीनतम स्थिति वाले लोगों को अधिकतम लाभ हो (भेदमूलक सिद्धांत), और (ख) ये विषमताएँ उन पदों और स्थितियों

के साथ जुड़ी हों जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हो (अवसर की उचित समानता का सिद्धांत)। रॉल्स ने अपने सिद्धांत को एक विशेष पूर्वताक्रम में रखा है। अर्थात् पहले सिद्धांत को दूसरे सिद्धांत की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी है। दूसरे सिद्धांत में (ख) को (क) पर प्राथमिकता दी गयी है। वस्तुतः यहाँ रॉल्स ने दूसरे लोगों की स्वतंत्रता के लिए किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता में कटौती नहीं की है। परंतु इसके साथ ही उन्होंने इस बात को सुनिश्चित किया है कि समानता के सिद्धांत में किसी भी तरह का हस्तक्षेप तभी किया जा सकता है जब इससे हीनतम स्थिति के लोगों के लिए सबसे ज्यादा फ़ायदा हो। वस्तुतः यहाँ रॉल्स का समतावाद स्वतंत्रता और समानता में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है।

समतावाद की एक अन्य अवधारणा सामर्थ्य या कैपेबिलिटी समतावाद की है। इसे अमर्त्य सेन ने प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार लोगों की कैपेबिलिटी को बराबर करने पर ध्यान दिया जाना चाहिए। कैपेबिलिटी एक निश्चित तरह के कार्य को करने की क्षमता है। मसलन साक्षरता एक कैपेबिलिटी है और पढ़ना एक कार्य है। एक संसाधन-समतावादी इस बात पर जोर दे सकता है कि जिस क्षेत्र में साक्षरता की कमी है, वहाँ लोगों को किताबें और शैक्षिक सेवा जैसे संसाधन दिये जाने चाहिए। दूसरी ओर सामर्थ्य-समतावादी इस बात पर जोर देंगे कि लोगों को बाहरी संसाधन उपलब्ध कराने से ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि लोगों की पढ़ने-लिखने की कैपेबिलिटी या सामर्थ्य अर्थात् आंतरिक क्षमता को बढ़ावा दिया जाये।

इन सबसे अलग माइकल वॉल्ज़र ने जटिल समानता का विचार पेश किया है। वॉल्ज़र का मानना है कि समानता को कल्याण, संसाधन या कैपेबिलिटी जैसी किसी एक विशेषता पर ध्यान नहीं देना चाहिए। उनके अनुसार किसी भी वितरण का न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण होना उन वस्तुओं के सामाजिक अर्थ से जुड़ा होता है जिनका वितरण किया जा रहा है। इसके साथ ही सामाजिक जीवन के सभी दायरों में वितरण का एक जैसा मानक नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए बाज़ार और राजनीतिक सत्ता के दायरे अलग-अलग हैं। इसलिए वे यह दलील देते हैं कि एक दायरे के भीतर वस्तुओं का वितरण उसका आंतरिक मसला है और आदर्श रूप में इसे किसी दूसरे दायरे को प्रभावित नहीं करना चाहिए।

समतावाद सामाजिक वैज्ञानिकों के लिए आज भी एक महत्वपूर्ण विचार बना हुआ है। परंतु वैश्वीकरण की राजनीति ने पुनर्वितरण के कार्यक्रमों और राज्य की कल्याणकारी नीतियों को कमजोर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसके अतिरिक्त हाल में एक अन्य

विशिष्ट राजनीतिक परिघटना भी उभरकर सामने आयी है। यह राजनीतिक परिघटना है : पहचान (या अस्मिता) के आधार पर बने समूहों का राजनीतिक संघर्ष। इसके कारण मानकीय राजनीतिक सिद्धांत में नये सरोकार भी उभरकर सामने आये हैं। 'किस बात की समानता?' से संबंधित वाद-विवाद का स्थान 'किनके बीच समानता' ने ले लिया है। लेकिन समतावादी तेज़ी से अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों को छोड़ रहे हैं। वे अब समूहों की असमानताओं पर भी गहराई से विचार कर रहे हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाॉट, माइकिल वॉल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. अशोक आचार्य (2011), 'समानता', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *राजनीति सिद्धांत : एक परिचय* संपा. अनु. कमल नयन चौबे, पियरसन, नयी दिल्ली.
2. जी.ए. कोहेन (1989), 'ऑन द करेंसी ऑफ़ इग्लिटेरियन जस्टिस', *इथिक्स*, खण्ड 99, अंक 4,
3. रोनॉल्ड ड्वॉर्किन (1981), 'व्हाट इज़ इक्वालिटी?' पार्ट 1 और पार्ट 2 : इक्वालिटी ऑफ़ वेल्फ़ेयर, *फ़िलॉसफ़ी ऐंड पब्लिक अफ़ेयर्स*, खण्ड 10, अंक 3 और 4,
4. माइकल वॉल्ज़र (1983), *स्क्रिप्स ऑफ़ जस्टिस : एडिफ़ेंस ऑफ़ प्लूरलिज़म एंड इक्वालिटी*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
5. विल किमलिका (2010), *कंटेम्परेरी पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी : ऐन इंट्रोडक्शन*, भारतीय संस्करण, अनु. कमल नयन चौबे, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—विवेक रत्न

सम्पर्क भाषा : हिंदी / अंग्रेज़ी-1

उपनिवेशवाद विरोधी भाषाई रणनीति

(Link Language : Hindi/English-1)

भारत जैसे एक बहुभाषी देश को सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के लिए ऐसी लिंगुआ फ्रांका या जन-भाषा की आवश्यकता होती है जिसे देशवासी आपसी सम्पर्क के लिए अपनी-अपनी मातृभाषाओं के अलावा कमोबेश इस्तेमाल कर सकें। अर्थात् वह उनकी दूसरी पसंदीदा भाषा हो। आज़ादी से पहले उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के नेताओं ने ऐसी भाषा के रूप में हिंदी की कल्पना की थी। लेकिन दूसरी तरफ़ भारतीय प्रभु वर्ग का एक हिस्सा अंग्रेज़ीभाषी भारत का स्वप्न भी देख रहा था। इसी पृष्ठभूमि के तहत उपनिवेशवाद की परिस्थितियों और व्यावहारिक राजनीति के दबाव में हिंदी को राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा बनने के लिए अंग्रेज़ी से होड़ करनी पड़ी। राष्ट्रवादी नेतृत्व को इसका अंदेशा पहले से था कि भारत की अत्यधिक बहुभाषिता के कारण एक ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि एक विदेशी भाषा को ही सम्पर्क भाषा या दूसरी पसंदीदा भाषा के रूप में लोकप्रिय मान्यता मिलती चली जाए। इस संदर्भ को स्पष्ट करने के लिए उपनिवेशवाद विरोधी भाषाई विरासत पर गौर करना ज़रूरी है।

इस विरासत के मुख्यतः दो आयाम थे : पहला, गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय नेतृत्व का यह विश्वास कि हिंदुस्तानी / हिंदी में राष्ट्र-भाषा बनने की तमाम सम्भावनाएँ हैं। 1928 में गाँधी ने दावा किया था कि 12 करोड़ भारतवासी हिंदुस्तानी बोलते हैं और आठ करोड़ उसे समझ सकते हैं। 1937 में नेहरू ने भी इन्हीं आँकड़ों का इस्तेमाल किया। हालाँकि 1931 की जनगणना बताती है कि यह दावेदारी कुछ बढ़ी-चढ़ी थी, फिर भी औसतन उस समय एक तमिलभाषी पर छह हिंदीभाषी थे और एक बांग्लाभाषी पर दो ज़्यादा हिंदी भाषी थे। और दूसरा, भाषाई आधार पर बनने वाले सूबों में क्षेत्रीय भाषाई संस्कृतियों को खुल कर पनपने देने का आग्रह। यह कोई अंतर्विरोधी विचार नहीं था। गाँधी के लिए राष्ट्र-भाषा का मतलब सबके लिए अनिवार्य कर दी जाने वाली भाषा नहीं थी। उनकी राष्ट्र-भाषा विभिन्न भाषाई संस्कृतियों के बीच सम्पर्क के माध्यम के रूप में उभरती थी। अंग्रेज़ी को सम्पर्क-भाषा के रूप में देखने के लिए वे तैयार नहीं थे। उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा था : 'हम अपने विचार से अपने राष्ट्रीय जीवन में प्रादेशिक भाषाओं (वरनाक्युलर्स) को उनका उचित स्थान दे रहे हैं। भाग्य राजा

राममोहन राय की इस भविष्यवाणी का साथ नहीं दे रहा है कि भारत एक दिन अंग्रेज़ीभाषी देश हो जाएगा। लेकिन उस महान समाज-सुधारक का भूत अब भी कुछ लोगों पर सवार है। कुछ प्रसिद्ध आदमी बहुत जल्दी यह फ़ैसला दे देते हैं कि राष्ट्र की सम्पर्क भाषा अंग्रेज़ी होगी।'

दरअसल, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन और उसके बाद संविधान सभा की भाषाई राजनीति अंतिम विश्लेषण में यूरोप के 'एक भाषा-एक राष्ट्र' पैटर्न से अलग थी। इस राजनीति के लिए राष्ट्र-भाषा का मतलब था ज़्यादा से ज़्यादा सम्पर्क-भाषा, न कि सारे देश के लिए अनिवार्य कर दी जाने वाली कोई एक भाषा। बहुभाषिता के ऊपर एकभाषिता आरोपित करने की परियोजना के बजाय इस राजनीति ने क्षेत्रीय स्तर पर कई राज-भाषाओं का विचार प्रोत्साहित किया और संघीय स्तर पर हिंदी के रूप में एक ऐसी राज-भाषा की पैरोकारी की जिसे क्षेत्रीय राज-भाषाओं के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना था। संविधान सभा के भाषाई प्रावधानों ने भारतीय संघ को इन्हीं राज-भाषाओं के विकास और प्रसार के लिए भाषा-नियोजन करने के निर्देश दिये थे। संविधान राज-भाषा के सवाल पर जितना मुखर है, राष्ट्र-भाषा / सम्पर्क-भाषा के मामले में उतना ही मौन था। न तो उसने किसी भाषा को राष्ट्र-भाषा का दर्जा दिया, और न ही भारतीय राज्य को इस सिलसिले में किसी क्रिस्म का हस्तक्षेप करने की इजाज़त दी। भारतीय संघ ने सम्पर्क-भाषा बनने और विकसित करने की ज़िम्मेदारी ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं पर छोड़ दी। एक अत्यंत बहुभाषी राष्ट्र में सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित होने की संरचनागत सम्भावनाएँ केवल हिंदी के पास थीं।

गाँधी और कांग्रेस को इस विचार तक पहुँचने में लम्बा वक्त लगा था। 1915 में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में आंध्र समर्थकों और 'हिंदी की तरफ़ झुके हुए आलाकमान' के बीच जम कर संघर्ष हुआ। यह जद्दोजहद अगले साल लखनऊ अधिवेशन में और फिर उसके अगले साल कलकत्ता अधिवेशन में भी जारी रही। उस समय तक गाँधी भाषाई आधार पर राज्यों की सीमाएँ निर्धारित करने के प्रस्ताव से पूरी तरह सहमत नहीं हो पा रहे थे, हालाँकि तिलक ने कलकत्ता में उसका समर्थन कर दिया था। 1920 के नागपुर अधिवेशन तक पहुँचते-पहुँचते कांग्रेस की हिचक ख़त्म हो पायी और उसने प्रांतों के भाषाई पुनर्वितरण को अपने राजनीतिक लक्ष्यों में शामिल कर लिया। इसके बाद बीस का पूरा दशक भाषाई आधार पर विकसित हो रही उपराष्ट्रीय चेतना के राजनीतिक गठजोड़ को उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के हित में इस्तेमाल करते हुए उसे नयी मंज़िलों तक ले जाने का रहा जिसकी झलक कांग्रेस के आधिकारिक प्रस्तावों और 1928 की

मोतीलाल नेहरू रपट में साफ़ तौर पर मिल सकती है।

एक तरफ़ तो गाँधी और कांग्रेस का जोर प्रांतीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं की स्थापना का था, दूसरी तरफ़ वे राष्ट्रीय स्तर पर एक सम्पर्क-भाषा के रूप में एक राष्ट्र-भाषा परिकल्पित करने में भी लगे हुए थे। इस काम के लिए उन्होंने हिंदी की शिनाख्त की थी। एक टिप्पणीकार ने 1948 में विचार व्यक्त किया था कि लॉर्ड बरकिनहेड ने उन्होंने सत्ता में अधिक हिस्सेदारी की माँग कर रहे कांग्रेसियों को चुनौती दी थी कि वे अंग्रेज़ों की भाषा के अलावा किसी और भाषा में एक-दूसरे को सम्बोधित करके दिखायें। इसकी प्रतिक्रिया में ही हिंदी को चुना गया और मोतीलाल नेहरू रपट निकली।

लेकिन हम जानते हैं कि यह प्रक्रिया पहले से भी जारी थी। उत्तर भारत से परे अ हिंदीभाषी इलाकों में हिंदी का प्रसार करने के लिए दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना बीस के दशक के पहले ही कर दी गयी थी। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान चक्रवर्ती राजगोपालाचारी हिंदुस्तानी के बहुत बड़े समर्थक थे। 1930 के हिंदी प्रचारक में प्रकाशित उनके वक्तव्य के अनुसार, 'भारत के किसी भी भाग में यात्रा, वाणिज्य या व्यापार करने के लिए हिंदुस्तानी भाषा का ज्ञान जरूरी है। प्रत्येक छात्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने अवकाश के समय का सदुपयोग राष्ट्र-भाषा सीखने के लिए करे। ... हिंदी भाषा बड़ी आसानी से सीखी जा सकती है।' बंगाल के विख्यात भाषाविद् सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 1940 में दिये गये एक भाषण में कहा था कि हिंदुस्तानी एक बोली के तौर पर अपने व्यापक प्रसार के लिहाज़ से दुनिया की सबसे बड़ी भाषाओं में से एक है। उत्तर भारत की तो वह वास्तविक भाषा है ही, दक्षिण भारत के बड़े शहरों में भी लोग उसे समझ लेते हैं। यह भाषा 'भारत की एकता और राष्ट्रीयता का बेहतर प्रतीक' बन सकती है। 1928 में गाँधी ने दावा किया था कि 12 करोड़ भारतवासी हिंदुस्तानी बोलते हैं और आठ करोड़ उसे समझ सकते हैं। 1937 में नेहरू ने भी इन्हीं आँकड़ों का इस्तेमाल किया। हालाँकि 1931 की जनगणना बताती है कि यह दावेदारी कुछ बढ़ी-चढ़ी थी, फिर भी औसतन उस समय एक तमिलभाषी पर छह हिंदीभाषी थे और एक बांग्लाभाषी पर दो ज़्यादा हिंदी भाषी थे।

सम्पर्क-भाषा बनने की हिंदी की क्षमता से संबंधित गाँधी का उपरोक्त वक्तव्य केवल गाँधी या राष्ट्रवादी नेताओं की निजी आस्था पर ही आधारित नहीं था। इसके पीछे कुछ उल्लेखनीय संरचनागत कारण थे जिनसे साबित होता था कि हिंदी ही बहुभाषी भारत की सम्पर्क-भाषा बन सकती है। अपने विशाल प्रदेश की जनपदीय भाषाओं के बीच तो हिंदी पहले से ही सम्पर्क-भाषा की भूमिका निभा रही थी, क्या वह

ग़ैर-हिंदीभाषियों के बीच भी सम्पर्क-भाषा बनने की स्थिति में थी? इस प्रश्न का एक उत्तर रामविलास शर्मा के भाषा-चिंतन में मिलता है : 'कई शताब्दियों से देश की विशेष परिस्थितियों के कारण हिंदी अंतर्जातीय व्यवहार की भाषा बनती जा रही है। उत्तर भारत में केंद्रबद्ध मुगल शासन का होना, यहाँ आगरा जैसे व्यापार के बड़े-बड़े केंद्रों का निर्माण, उन्नीसवीं सदी के पूर्व ही यहाँ के लोगों का विभिन्न प्रदेशों में फैलना ऐसे ही कारण थे। अंग्रेज़ व्यापारी भी उस समय अपनी सुविधा के लिए हिंदी ही सीखते थे। वर्तमान काल में दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सर्वत्र ऐसे व्यापारी और पूँजीपति मिलेंगे जिनकी सांस्कृतिक भाषा हिंदी है। हिंदी के प्रसार का एक बहुत बड़ा कारण कलकत्ता-बम्बई जैसे केंद्रों में लाखों 'हिंदुस्तानी' मज़दूरों का निवास है। इन बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त प्रत्येक जातीय प्रदेश में अल्पसंख्यकों के रूप में हिंदुस्तानी मिलेंगे। विशाल आंध्र में हैदराबाद और उसके आस-पास हिंदुस्तानियों का भारी जमघट है। अहिंदी प्रदेशों में इस प्रकार हिंदी को अंतर्जातीय व्यवहार की भाषा बनाने में सुविधा मिली है। ... इनके सिवा हिंदी भाषा, लिपि और साहित्य की कुछ विशेषताएँ हैं जो इस कार्य में सहायता करती हैं।'

अपने इसी संक्षिप्त विवरण को रामविलास शर्मा ने काफ़ी विस्तार से अपनी महान रचना *भाषा और समाज* में पेश किया है। उन्होंने ऐसे तमाम प्रमाण जुटाये हैं जिनके मुताबिक़ हिंदी और उसके क्षेत्र की जनपदीय भाषाएँ अंग्रेज़ों के पहले से अहिंदीभाषियों की सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई थीं। वे दिल्ली के असिस्टेंट रेज़िडेंट सी.टी. मेटकाफ़ का जे.बी. गिलक्रिस्ट को 29 अगस्त, 1806 का लिखा एक पत्र उद्धृत करते हैं। गिलक्रिस्ट ने मेटकाफ़ को हिंदुस्तानी सिखाई थी, इसलिए वे कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'मैं इसी वजह से कन्याकुमारी से कश्मीर तक और आवा से सिंधु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिंदुस्तानी बोल लेते होंगे। ... हर कोई जानता है कि जिस विशाल इलाके का मैंने जिक्र किया है, उसमें बहुत सी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। इन भाषाओं का न बोला जाना एक ताज्जुब की बात होती, लेकिन हिंदुस्तानी एक ऐसी जुबान है जो आम तौर पर उपयोगी साबित होती है और मेरी समझ में संसार की किसी भी भाषा के मुकाबले उसका व्यवहार बहुत बड़े पैमाने पर होता है।' रामविलास शर्मा ने व्यापारिक पूँजी के अखिल भारतीय प्रसार के आईने में हिंदी के प्रसार का यह चेहरा साठ और सत्तर के दशक में पेश किया था। विनोद शाही ने एक पर्व में कुछ ऐसा ही दावा किया है कि हिंदी का इस्तेमाल करने वाला वर्ग मुख्यतः शहरों के व्यापारियों, व्यवसायियों, दस्तकारों और शिल्पियों का था।

सम्पर्क-भाषा बनने के लिए हिंदी की योग्यता कुछ दूसरे तर्कों के आधार पर भी प्रमाणित होती है। दरअसल, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के नेतृत्व, विशेषकर गाँधी को भाषाओं की साहित्यिक प्रतिष्ठा या प्राचीनता में दिलचस्पी नहीं थी। रवींद्रनाथ ठाकुर को दूसरे दशक में ही नोबेल पुरस्कार मिल गया था और साहित्यिक प्रतिष्ठा के मामले में बांग्ला हिंदी से बहुत आगे थी। प्राचीनता के मामले में तमिल की साहित्य-परम्परा का कोई मुकाबला नहीं था। नेतृत्व तो यह देख रहा था कि हिंदुस्तानी बोलने वालों की संख्या तमिलभाषियों से छह गुनी और बांग्लाभाषियों से दोगुनी से भी ज्यादा तो है ही, इस बहुसंख्यकता से भी ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य कुछ और भी हैं। वे देख रहे थे कि हिंदुस्तानी से किसी भी भाषिक समुदाय को राजनीतिक-सांस्कृतिक दिक्कत नहीं है। हिंदी के विपरीत कलकत्ता प्रेसीडेंसी की बांग्ला और मद्रास प्रेसीडेंसी की तमिल अपने औपनिवेशिक सम्पर्कों के कारण 'सुपरऑर्डिनेटिड' भाषाएँ थीं। तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ जैसी भाषाएँ तमिल के वर्चस्व के तले असहज महसूस करती थीं, और असमिया एवं उत्तर-पूर्व की अन्य भाषाओं को बांग्ला के सामने उत्पीड़न का एहसास था। एक और अहम कारण यह था कि एक बेहद नयी भाषा के रूप में सबसे कम मानकीकृत होने के कारण निर्मित के दौर में थी और उसका किसी भी दिशा में विकास किया जा सकता था। उसके शीर्ष साहित्यकार भी अपनी भाषा को दोनों सिरों पर खुली मानते थे। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने 1923 में ही कहा था : जो हिंदी राष्ट्र-भाषा होगी वह किसी प्रांत की मातृ-भाषा नहीं है। उस हिंदी को लेखक अभी गढ़ रहे हैं। जिस हिंदी के सहारे भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया जाना निश्चित है उसे उन्नत करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्द गढ़ने और अपनाने के लिए, उन्हें व्याकरणसम्मत स्थल देने के लिए, भाषा प्रवाह को वर्द्धित करने के लिए सभी प्रांतवासियों का समानाधिकार है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेज़ी-1 से 4 तक।

संदर्भ

1. आशा सारंगी (सम्पा.) (2009), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. सुरेश कुमार शर्मा (सम्पा.) (2006), *लेंग्वेज इन कंटेम्परेरी इण्डिया*, पहला और दूसरा खण्ड, विस्टा इंटरनैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. एम.के. गाँधी (1956), *थॉट्स ऑन नैशनल लेंग्वेज*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.
4. राम विलास शर्मा (2010), *भाषा और समाज*, राजकमल प्रकाशन,

नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, पुनर्मुद्रण.

5. विनोद शाही (2011), 'भाषा की ज्ञान-कुण्ठा उर्फ आधुनिकता का द्वैध और हिंदी' भारत भवन, भोपाल में 24-25 सितम्बर, 2011 को हुई विचार-गोष्ठी 'भूमण्डलीकरण और हिंदी की अस्मिता' में वितरित किया गया।
6. सुदीप्त कविराज (2009), 'राइटिंग, स्पीकिंग, बीइंग : लेंग्वेज ऐंड द हिस्टोरिकल फ़ॉर्मेशन ऑफ़ आइडेंटिटीज़ इन इण्डिया', आशा सारंगी (सम्पा.), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
7. एस.के. चटर्जी (1960), *इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी*, के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता.

— अभय कुमार दुबे

सम्पर्क भाषा : हिंदी / अंग्रेज़ी-2

आज़ादी के बाद : मल्टीप्लायर इफ़ेक्ट

(Link Language : Hindi/English-2)

साठ के दशक के उत्तरार्ध में बलदेव राज नायर ने यह जाँच की कि क्या हिंदी में एक अखिल भारतीय सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित होने की क्षमता है? क्या बहुभाषी भारतीय समाज इस भाषा को स्वाभाविक रूप से अपनी दूसरी पसंदीदा भाषा के रूप में अपना पायेगा? उन्होंने 1961 की जनगणना के आँकड़ों पर एक विश्लेषणात्मक निगाह डाली और पाया कि देश में कोई 30.4 फ़ीसदी लोग ऐसे हैं जो हिंदी को अपनी मातृ-भाषा बताते हैं। उन्होंने देखा कि इसमें अगर उर्दू और हिंदुस्तानी के आँकड़े भी जोड़ दिये जाएँ तो यह प्रतिशत 35.7 तक पहुँच जाता है। जाहिर है कि हिंदी आधे से ज्यादा भारतवासियों की भाषा नहीं थी, फिर भी उसे बोलने-बरतने वालों की संख्या बहुभाषी नज़ारे में बहुत अधिक थी। हिंदीवालों की इस एकमुश्त अधिकता और उसके कारण बने सेवाओं और उत्पादों के विशाल बाज़ार के आधार पर उन्होंने पहला निष्कर्ष यह निकाला कि व्यापारियों, उद्योगपतियों, श्रमिकों, सिपाहियों, साधु-संतों और मुसाफ़िरों की सक्रियता के दायरे में हिंदीभाषियों के साथ अन्योन्यक्रिया के पहलुओं को एक तरह के 'मल्टीप्लायर इफ़ेक्ट' के रूप में देखा जाना चाहिए। यह इफ़ेक्ट हिंदी को एक सम्पर्क-भाषा के तौर पर विकसित करने के पक्ष में जाता है। नायर ने देखा कि हिंदी की साहित्यिक प्रतिष्ठा को कोई ख़ास न मानने वाले ग़ैर-हिंदी साहित्यकार भी अपनी रचनाओं का हिंदी में प्रकाशन करने के लिए साहित्य अकादेमी पर दबाव डाल रहे हैं। वे

हिंदी-क्षेत्र में बिकना चाहते हैं। अगर मलयालम का कोई उपन्यास पंजाबी में छापना चाहता है, तो वह उसके हिंदी अनुवाद का पंजाबीकरण करके वहाँ के पाठकों तक पहुँच सकता है। कोई बंगाली अगर तमिल कविता के बारे में जानना चाहता है तो वह हिंदी के माध्यम से यह काम आसानी से कर सकता है। इस तरह नायर ने देखा कि हिंदी विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच साहित्यिक विनिमय की एजेंसी बनती जा रही है।

नायर ने यह भी पाया कि हिंदी-विरोध का गढ़ बन चुके तमिलनाडु में कोई तीस से चालीस लाख लोग हिंदी बोल-समझ लेते हैं। वे हिंदी में प्रवीण नहीं हैं, पर उससे अपरिचित भी नहीं हैं। इसके लिए उन्होंने 1965 में प्रकाशित पी. महादेवन की पुस्तक 'ए स्टुडेंट्स गाइड टू एंटी-हिंदी' का लम्बा उद्धरण दिया। नायर ने दावा किया कि देश के लगभग सभी हिस्सों में हिंदी की मौजूदगी किसी सरकारी आदेश का फल न हो कर एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। उद्योगीकरण, शहरीकरण और आब्रजन का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सिलसिला हिंदी का प्रसार कर रहा है। ओडीशा के राउरकेला स्टील प्लांट में काम करने वाले अंग्रेज़ी न जानने वाले मज़दूर आपस में हिंदी में बातचीत करते हैं न कि ओड़िया में। बम्बई की सार्वदेशिकता ने एक भाषा के रूप में हिंदी को अपनाया है। अंडमान में रहने वाले हिंदी, मलयालम, बंगाली, तमिल और तेलुगुभाषी लोगों ने आपसी सम्पर्क के लिए हिंदी को ही अपनी भाषा बनाया है। नायर ने देखा कि हिंदी के इस प्रसार का असर जनगणना के उस आँकड़े पर पड़ा है जो मातृ-भाषा के अलावा दूसरी भाषा जानने का पता देता है। ध्यान रहे कि 1961 की जनगणना में किसी व्यक्ति से यह सवाल नहीं पूछा गया था कि क्या वह हिंदी जानता है। इसके बावजूद देश की आबादी के 2.13 प्रतिशत लोगों ने हिंदी जानने की बात क़बूली थी। इसके मुक़ाबले दूसरी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी जानने वालों का प्रतिशत 2.74 यानी हिंदी से थोड़ा ही ज़्यादा था, बावजूद इसके कि इस आँकड़े में उन हिंदी-हिंदुस्तानी-उर्दूभाषियों की संख्या भी शामिल थी जो अंग्रेज़ी भी जानते थे। दरअसल, 1961 की जनगणना ने द्विभाषिता के पहलुओं पर ठीक से ध्यान ही नहीं दिया था। नायर बताते हैं कि 1952 से 1959 के बीच 4,54,196 लोग मद्रास राज्य में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के इम्तहानों में बैठ चुके थे, पर जनगणना तमिल-हिंदी द्विभाषियों की संख्या केवल 29,818 ही बता रही थी। पुस्तक-पाठकों की प्राथमिकता के बारे में एक सर्वेक्षण की रपट का हवाला देते हुए नायर ने बताया कि ग़ैर-हिंदी पाठकों के बीच अंग्रेज़ी के पुस्तक-पाठक हिंदी से केवल दो गुने हैं।

नायर ने मनोरंजन के क्षेत्र को विशेष रूप से चिह्नित किया कि वह हिंदी को सम्पर्क-भाषा बनाने की तरफ़ तेज़ी

से ले जा रहा है। उन्हें दिखाया कि मद्रासी फ़िल्म-उद्योग हिंदी-फ़िल्मों के बाज़ार में हिस्सा बँटाना चाहता है। हिंदी फ़िल्मों की दक्षिण में लोकप्रियता से उन्होंने नतीजा निकाला कि वहाँ हिंदी समझने वालों की ख़ासी संख्या है और हिंदी फ़िल्मों की वजह से लोगों की हिंदी-जानकारी के स्तर में भी वृद्धि हो रही है। नायर ने फ़िल्मों से भी ज़्यादा रेडियो सिलोन और विविध भारती द्वारा प्रसारित किये जाने वाले और भारतीय संगीत, अमेरिकी जैज़ और लातीनी धुनों से घालमेल से तैयार किये गये हिंदी फ़िल्मी गीत-संगीत को इस भाषा के प्रसार का श्रेय दिया। उनका ख़याल था कि एक बाहरी भाषा का गीत गुणगुनाना एक सक्रिय कोशिश है, जबकि फ़िल्म निष्क्रिय तरीक़े से बैठ कर देखी जा सकती है।

नायर ने हिंदी के प्रसार-प्रचार में किये जाने वाले ग़ैर-सरकारी स्वयंसेवी प्रयासों को भी रेखांकित किया। 1918 में गाँधी द्वारा मद्रास से हिंदी प्रचारणी सभाओं की शुरुआत करने के बाद 1956 तक स्वयंसेवी प्रयासों से करीब सत्तर लाख ग़ैर-हिंदीभाषी हिंदी सीख चुके थे। हिंदी का प्रचार करने वाले संगठनों की ख़ूबी यह थी कि इनके संचालक हिंदी प्रदेशों से भेजे गये लोग नहीं थे, बल्कि वे ग़ैर-हिंदी क्षेत्रों के ही थे। 1959 में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा 1,350 केंद्रों पर हिंदी की परीक्षाएँ आयोजित कर रही थी जिनमें सवा लाख से डेढ़ लाख लोग हर साल बैठते थे। इनमें से बीस फ़ीसदी लोग बेहतर हिंदी सीखने के लिए आगे की परीक्षाएँ भी देते थे। तमिलनाडु में हुई हिंदी विरोधी हिंसा और आगज़नी के दौरान इन सभाओं के दफ़्तरों पर एक भी हमला नहीं हुआ। द्रविड़ मुनेत्र कषगम के नेताओं ने साफ़ कहा कि वे हिंदी के लिए किये जा रहे स्वयंसेवी प्रयासों के खिलाफ़ नहीं हैं। नायर ने पॉल फ्रेड्रिख के एक लेख के हवाले से यह भी कहा कि हिंदी सीखना इतना आसान है कि एक बच्चा अंग्रेज़ी के मुक़ाबले दोगुनी रफ़्तार से उसे सीखता है, क्योंकि भाषाई और सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी अंग्रेज़ी के मुक़ाबले अन्य भारतीय भाषाओं के बहुत नज़दीक है। हिंदी सीखने के प्रति दक्षिण भारतीयों के बीच रुचि के बारे में नायर की एक दलील यह भी थी कि हिंदी राम और कृष्ण के प्रति भक्ति-रस में डूबी हुई महान कविता की वाहक है और इन दोनों अवतारों की पूजा पूरे दक्षिण भारत में भी होती है। दक्षिण के हिंदू भी कबीर, मीरा, सूर और तुलसी को उनके मूलरूप में पढ़ने के इच्छुक हैं।

चार दशक पहले नायर द्वारा बनायी गयी हिंदी के ग़ैर-सरकारी सोशल सेक्टर की यह तस्वीर कितनी विश्वसनीय और विकासमान थी, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि आज के ज़माने में बढ़ती हुई साक्षरता के कारण हिंदी के 'मल्टीप्लायर इफ़ेक्ट' की परिमाणात्मकता और गुणात्मकता पहले से बहुत अधिक बढ़ चुकी है। नायर की

तस्वीर में मीडिया का ज़िक्र नहीं है, क्योंकि उस समय भारत में मीडिया का विस्तार कुछ ख़ास था भी नहीं, आज अगर हम मीडिया को शामिल कर लें तो हिंदी के ग़ैर-सरकारी सोशल सेक्टर का 'नया मानचित्र' पहले से कहीं अधिक विशाल और आकर्षक है। समाज के लगातार बढ़ते हुए राजनीतीकरण की प्रक्रिया ने हिंदी को उन मंचों पर आसीन कर दिया है जहाँ पहले उसकी आवाज़ अंग्रेज़ी की अदाबाज़ी में दब जाती थी। ये मंच हैं विधायिकाओं के, यानी लोकसभा, राज्यसभा और विधानसभाओं के। सत्तर की दहाई से ही यह सिलसिला धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। शूद्र और दलित जातियों के राजनीतिक उभार ने हमारी विधायिकाओं में हिंदी बोलने वाले भर दिये हैं। ग़ैर-हिंदी भाषी सांसदों के बीच हिंदी सीखने की ज़रूरत का एहसास बढ़ता जा रहा है। संसदीय परिदृश्य में आया यह भाषाई परिवर्तन जिस चीज़ की तरफ़ इशारा करता है, वह है भारतीय अभिजनों के दायरे में एचएमटी वालों की संख्या बढ़ते चले जाना। एचएमटी यानी हिंदी मीडियम टाइप। यह एचएमटी बड़ा प्रयोगधर्मी भी है। अंग्रेज़ी की सांस्कृतिक सत्ता का समीकरण उलटने के मक़सद से द्वि-भाषी बनने के लिए तैयार है, और अंग्रेज़ी सीखने पर आंदोलनकारी वेग के साथ नियोजित जोर देना चाहता है। एचएमटी वालों के आगमन का सबसे ताजा उदाहरण भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में बैठने वालों द्वारा इम्तहान की भाषा चुनने के आँकड़ों से मिलता है। हर गुज़रते हुए साल के हिंदी में यह परीक्षा देने वालों की संख्या बढ़ते हुए पच्चीस फ़ीसदी तक पहुँच चुकी है। जिन लोगों को यह समझ में न आ रहा हो कि सिविल सर्विस की परीक्षा में इतने हिंदी वाले कहाँ से आ गये, उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय में एम.फ़िल. और पी.एच.डी. कर रहे छात्रों के भाषाई माध्यम पर निगाह डालनी चाहिए। केवल राजनीतिशास्त्र विभाग में ही पचास फ़ीसदी से ज्यादा छात्र हिंदी माध्यम के हैं, और अब उन्हें अपना शोध प्रबंध भी हिंदी में लिखने में पहले की तरह संकोच नहीं रहा। प्रोफ़ेसरों और रीडरों को हिंदी रीडिंग्स की जुगाड़ करते हुए और जॉन रॉल्स व विल किमलिका की किताबों के हिंदी अनुवादक तलाश करते हुए देखा जा सकता है।

हर साल होने वाला राष्ट्रीय पाठक सर्वेक्षण बताता है कि हिंदी प्रकाशनों ने प्रसार संख्या में अंग्रेज़ी प्रकाशनों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। हिंदी में प्रति अख़बार पाठक संख्या तेज़ी से गिर रही है। पहले एक अख़बार को अगर अनुमानतः पाँच लोग पढ़ते थे, तो अब उनमें से दो लोग अपना अख़बार अलग से ख़रीदने लगे हैं। एक हिंदी प्रकाशक के अनुसार देश में इस समय 36 करोड़ लोग ऐसे हैं जो पढ़ सकते हैं, पर जिनके पास अभी तक अख़बार पहुँचा ही नहीं है या कहिये तो वे अभी ख़बर तक नहीं पहुँचे हैं। इनमें से दो तिहाई हिंदी

के सम्भावित पाठक और विज्ञापकों की निगाह में सम्भावित उपभोक्ता हैं। पहले अंग्रेज़ी प्रेस के मालिक पूरक धंधे के रूप में हिंदी के अख़बार भी निकालते थे जिनकी हैसियत प्रकाशन गृह के भीतर सौत के पूत जैसी होती थी। अब हिंदी के दो बड़े अख़बार वालों ने अंग्रेज़ी का एक दैनिक निकालना शुरू किया है जिसकी कामयाबी ने पिछले दिनों सबका ध्यान खींचा है। 2006 के एक आँकड़े के अनुसार हिंदी के पत्र-पत्रिकाओं में साल में करीब 15,000 करोड़ रुपये के विज्ञापन छप रहे हैं। चूँकि बड़े शहरों का बाज़ार संतृप्त हो गया है, इसलिए विज्ञापक छोटे शहरों, ग्रामीण और अर्ध-ग्रामीण इलाकों पर जोर दे रहे हैं, जहाँ केवल हिंदी प्रेस का ही बोलबाला है। हिंदी प्रकाशकों की समझ में भी आ रहा है कि समाज-विज्ञान की कृतियों का अनुवाद कराने में व्यवस्थित निवेश करके वे एक ऐसे बाज़ार का निर्माण कर सकते हैं, जो अभी कुछ वर्ष पहले तक तक्ररीबन नामौजूद था। समाज-विज्ञान के क्षेत्र में अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवादक अगर मूल अंग्रेज़ी को भी अपना आधार बनाते हैं, तो भी हिंदी के अनुवाद उनके लिए संदर्भ के तौर पर मौजूद रहेंगे, और अनुवाद की रचनात्मक प्रक्रिया में उनका हस्तक्षेप रहेगा। दरअसल, विचार साहित्य का क्षेत्र विकसित करने के लिए हिंदी के पास अच्छी-ख़ासी आधार सामग्री है। पिछले पचास साल में बौद्धिक-राजनीतिक साहित्य हिंदी में ख़ूब प्रकाशित हुआ है। सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, सम्पूर्ण लोहिया साहित्य, अन्य समाजवादी विचार साहित्य, सर्वोदयी साहित्य, अन्य राजनीतिक विचारधारों का साहित्य, धर्म संबंधी साहित्य और बड़े पैमाने पर मार्क्सवादी साहित्य पहले से ही हिंदी के पास मौजूद है।

इस पूरे विवरण का मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि हिंदी का यह बूम केवल राजनीतीकरण, बाज़ार, पाठक सर्वेक्षण और विज्ञापन से होने वाली आमदनी और उपभोक्ताकरण की ही झलकियाँ मार रहा है। मुनाफ़े की बेरहम और नित्य-नैतिक दुनिया में कम से कम दिलचस्पी रखने वाला सैकड़ों हिंदी लघु पत्रिकाओं का संसार भी पहले से ज्यादा समृद्ध हुआ है। मीडिया मार्केट के किनारे-किनारे पनप रही इस विचित्र दुनिया में कुछ पत्रिकाएँ लगातार मरती रहती हैं, लेकिन उनकी भरपाई करने के लिए उसी दर पर नयी पत्रिकाओं का जन्म होता रहता है। राष्ट्रीय पाठक सर्वेक्षण इन पत्रिकाओं के बारे में कुछ नहीं जानता। इनमें ज्यादा से ज्यादा दस हज़ार और कम से कम डेढ़ हज़ार छपने वाली सैकड़ों पत्रिकाएँ शामिल हैं जिनके पन्नों में हिंदी के साहित्यिक-सांस्कृतिक उद्यम के राजनीतिक स्वरो का लगातार उद्घोष होता रहता है।

1968 से 2008 के बीच चालीस साल में हिंदी के लगातार विकसित हुए सोशल सेक्टर के दोनों सिरों की यह

रूपरेखा कम से कम दो बातों का संदेश देती है : पहला, तत्समता और संस्कृतनिष्ठता के जिस रोग ने हिंदी को सरकारी सेक्टर में बेतहाशा नुकसान पहुँचाया, वह सोशल सेक्टर में एकदम असर नहीं डाल पाया। इन दोनों ही तस्वीरों में हिंदी साहित्य की प्रगति का जिक्र नहीं है। दरअसल, साहित्य के क्षेत्र ने हिंदी के गैर-सरकारी विकास को नेतृत्व और एक ठोस बुनियादी आधार प्रदान किया है। साहित्यिक हिंदी ने भी संस्कृतनिष्ठता को दृढ़ता से हाशिये पर रखा है। आधुनिक हिंदी में छायावादी कविता के बाद से जितना भी काव्य रचा गया है, वह बेहद सरल और बोलचाल की भाषा में है। हिंदी के विपुल कथा-साहित्य में केवल प्राचीन काल की पृष्ठभूमि पर लिखे गये ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़ दें, तो चारों तरफ संस्कृतनिष्ठता से सर्वथा अप्रभावित भाषाई प्रयोगधर्मिता की ही धूम दिखती है। हिंदी के साहित्यिक-क्षेत्र के विकास और विस्तार पर भी उसके मल्टीप्लायर इफेक्ट का असर दिखता है। साठ और सत्तर के दशक में अन्य भारतीय भाषाओं से आने वाले वे स्वर अब नहीं सुनायी देते जो हिंदी की साहित्यिक प्रतिष्ठा से आश्वस्त नहीं थे।

दूसरी तरफ इसी मल्टीप्लायर इफेक्ट के कारण आज तरह-तरह की हिंदियों का जमाना है। साहित्य की हिंदी, टीवी समाचारों की हिंदी, फ़िल्मों और टीवी सीरियलों की हिंदी, अंग्रेज़ी मिश्रित हिंगलिश, एफ़एम चैनलों की हिंदी, हिंदी अख़बारों की हिंदी, राजनीतिक भाषणबाजी की हिंदी, समाज-विज्ञान की बनती हुई हिंदी और न जाने कितने तरह की हिंदी।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेज़ी-1 से 4 तक।

संदर्भ

1. बलदेव राज नायर (1968), 'हिंदी एज़ लिंक लेंग्वेज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 3, अंक 6.
2. वी.के.आर.वी. राव (1978), 'मैनी लेंग्वेजिज़, वन नेशन : क्वेस्ट फ़ॉर ऐन आल-इण्डिया लेंग्वेज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 13, अंक 25.
3. अभय कुमार दुबे (2008), 'अंग्रेज़ी में हिंदी : भाषाई इतिहास की एक उलट यात्रा', वाक्, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. एम.एस. गोरे, 'लेंग्वेज इन मेट्रोपॉलिटन लाइफ़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 4, अंक 28/30.

— अभय कुमार दुबे

सम्पर्क भाषा : हिंदी / अंग्रेज़ी-3

जनगणना में द्विभाषिता की होड़

(Link Language : Hindi/English-3)

अंतरभाषाई संचार और द्विभाषिता पर अनुसंधान करने वाले महादेव एल. आपटे का विचार है कि एक बहुभाषी नज़ारे में द्विभाषिता विकसित होने की दो शर्तें होती हैं जिनके समीकरण के आधार पर ही लोग अपनी भाषा के अलावा दूसरी भाषा सीखने का प्रयास करते हैं : भाषाओं के बीच संरचनात्मक समानता किस दर्जे की है, और सामाजिक-आर्थिक उपयोगिता के लिहाज़ से किस भाषा की दावेदारी बेहतर है। सत्तर के दशक में आपटे ने निष्कर्ष निकाला था कि अन्य भारतीय भाषाओं से संरचनात्मक (ध्वनि, व्याकरण, शब्द-भण्डार, वाक्य-रचना और वर्णमाला) समानता के लिहाज़ से हिंदी-द्विभाषिता की सम्भावनाएँ बेहतर होनी चाहिए, और सामाजिक आर्थिक-उपयोगिता के लिहाज़ से अंग्रेज़ी-द्विभाषिता बढ़नी चाहिए। साथ ही आपटे का कहना यह भी था कि साक्षरता में बढ़ोतरी के साथ-साथ प्रमुख भाषाओं और हिंदी के बीच अंतरभाषाई संचार बढ़ सकता है, भले ही अंग्रेज़ी की सामाजिक-आर्थिक उपयोगिता के कारण लोग इस सम्भावना को नज़रअंदाज़ करते रहें। आपटे का यह अवलोकन इस ज़रूरत पर बल देता प्रतीत होता है कि भाषा की सामाजिक-आर्थिक उपयोगिता निर्धारित करने के लिए बनाये गये सूचकांकों में आर्थिक प्रगति उपलब्ध कराने की क्षमता को तो सर्वोच्च स्थान दिया ही जाना चाहिए, साथ ही बाज़ार से संबंधित सांस्कृतिक कारकों को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। आपटे ने केवल साक्षरता का जिक्र किया था, पर हिंदी-द्विभाषिता के बढ़ने की सम्भावना के अन्य कारण लगातार जारी उद्योगीकरण और आबादी के आवागमन में भी चिह्नित किये जा सकते थे। कहना न होगा कि साक्षरता, शिक्षा, उद्योगीकरण और आब्रजन से अंग्रेज़ी द्विभाषिता में लाज़मी तौर पर बढ़ोतरी होनी थी। लेकिन क्या इन वैकासिक पहलुओं ने हिंदी-द्विभाषिता को भी सकारात्मक रूप से प्रभावित किया है ?

साठ के दशक से हिंदी-द्विभाषिता और अंग्रेज़ी-द्विभाषिता के बीच होड़ के ग्राफ़ को देखा जा सकता है। शुरुआती दौर में अंग्रेज़ी का पलड़ा बहुत ज्यादा झुका हुआ नज़र आता है, पर यह अंतराल धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से कम हो रहा है। बढ़ती हुई साक्षरता तो इसे घटा ही रही है, अर्थव्यवस्था में हुए परिवर्तनों और बाज़ार के विस्तार ने हिंदी के 'मल्टीप्लायर इफेक्ट' को और प्रभावी बनाया है जिससे उसकी सामाजिक-आर्थिक उपयोगिता भी पहले के

मुकाबले बढ़ी है। 1991 की जनगणना और 2001 की जनगणना से मिलने वाले द्विभाषिता के आँकड़ों के आधार पर किये गये विश्लेषण से यही संदेश मिलता है। 1991 की जनगणना दिखाती है कि आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं में द्विभाषियों की संख्या कितनी है, और उनमें कितने हिंदी-द्विभाषी हैं और कितने अंग्रेज़ी-द्विभाषी। इन आँकड़ों को पढ़ने के सवाल पर कुछ विवाद है। पॉल ब्रास के अनुसार उत्तरी और पश्चिमी भाषाएँ बरतने वाले द्विभाषी होने के लिए हिंदी को प्राथमिकता देते हैं। दक्षिणी और पूर्वी भाषाएँ बरतने वालों की प्राथमिकता अंग्रेज़ी है। यानी भारत द्विभाषिता के मामले में बँटा हुआ है। ब्रास को यह भी लगता है कि दक्षिण और पूर्वी भाषाओं ने एक 'सांस्कृतिक भाषा' के तौर पर हिंदी को खारिज कर दिया है। सांस्कृतिक से उनका क्या अर्थ है, यह समझ में नहीं आता क्योंकि उनके विश्लेषण की कसौटी उन 'लाइफ़ चांसिस' पर टिकी है जिसका जिक्र द्विभाषिता के मामले में महादेव आपटे ने किया है।

इन आँकड़ों को ब्रास के अलावा एक वैकल्पिक तरीके से भी पढ़ा जा सकता है। सिंधी, पंजाबी, नेपाली, मराठी, गुजराती और उर्दू बरतने वालों के बीच हिंदी द्विभाषिता के मामले में पहले ही अंग्रेज़ी से बहुत आगे चल रही है। यह अंतर दोगुने से भी ज्यादा से लेकर दस-बारह फ़ीसदी तक दिखता है। असमी के संदर्भ में भी हिंदी आगे है लेकिन वहाँ दोनों द्विभाषिताओं के बीच कुछ कम यानी 2.71 प्रतिशत का अंतर है। इसी तरह मणिपुरी और ओड़िया के संदर्भ में अंग्रेज़ी आगे है लेकिन हिंदी केवल 1.96 और 1.26 प्रतिशत के बेहद मामूली अंतर से ही पिछड़ रही है। दक्षिण भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अंग्रेज़ी द्विभाषिता हिंदी से कहीं बेहतर है, लेकिन आँकड़ों की रोशनी में देखने पर हिंदी की स्थिति केवल तमिलनाडु के मामले में बेहद ख़राब निकलती है। यहाँ अंग्रेज़ी के 14 फ़ीसदी द्विभाषियों के मुकाबले हिंदी के द्विभाषी डेढ़ फ़ीसदी के आसपास ही हैं। लेकिन बाक़ी दक्षिणी क्षेत्र में स्थिति इतनी बुरी नहीं है। सौ फ़ीसदी साक्षरता वाले क्षेत्र मलयालम में अंग्रेज़ी द्विभाषिता अगर 24.35 प्रतिशत है तो हिंदी-द्विभाषिता भी 19.07 फ़ीसदी है। इस आँकड़े को देख कर किसी भी हिंदी समर्थक को सुखद आश्चर्य हो सकता है। इसी तरह कन्नड़भाषी क्षेत्र में अंग्रेज़ी-हिंदी द्विभाषिताओं का अंतर महज़ तीन फ़ीसदी से अंग्रेज़ी के पक्ष में झुका हुआ है। इसी तरह तेलुगु क्षेत्र में भी द्विभाषिता का यह अंतर केवल दो फ़ीसदी है। दक्षिण भारत में उम्मीद से बेहतर परिणाम प्राप्त करने के बाद हिंदी जिस क्षेत्र में बहुत अच्छे नतीजे प्राप्त करती हुई दिखती है, वह बंगाल। बंगाल में दोनों द्विभाषिताओं में अंग्रेज़ी हिंदी से केवल 2.40 प्रतिशत ही आगे है।

तीस साल पहले हुए 1961 की जनगणना में द्विभाषिता के आँकड़ों पर नज़र डालते ही पॉल ब्रास द्वारा किया गया

सरलीकरण अपने आप खारिज हो जाता है। हिंदी-विरोध के गढ़ समझे जाने वाले बंगाल में अंग्रेज़ी उस समय भी तीन फ़ीसदी से आगे थी। अर्थात् इस दौरान बंगाल में अंग्रेज़ी-द्विभाषिता में ज़रा भी बढ़ोतरी नहीं हुई, और हिंदी ने अपनी वृद्धि-दर कायम रखी है। 1961 की जनगणना बताती है कि कन्नड़भाषी, तमिलभाषी और तेलुगुभाषी क्षेत्र में हिंदी-द्विभाषिता पूरी तरह से ग़ैर-हाज़िर थी। मलयालमभाषी क्षेत्र में वह आधे फ़ीसदी से भी कम थी। इसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि पिछले तीस सालों में दक्षिण के प्रमुख भाषाई क्षेत्रों में हिंदी-द्विभाषिता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु में वह अंग्रेज़ी के निकट आती जा रही है, और तमिलनाडु में उसने अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी है। जिन क्षेत्रों में हिंदी-द्विभाषिता ज़बरदस्त रूप से बढ़ी है वह है गुजरात। असमियाभाषियों के बीच तो स्थिति उलट ही गयी है। 1961 में वहाँ अंग्रेज़ी-द्विभाषी अधिक थे, पर 1991 में हिंदी-द्विभाषी आगे निकल गये हैं। 1961 और 1991 के बीच दोनों द्विभाषिताओं की वृद्धि-दर से स्पष्ट है कि हिंदी-द्विभाषिता की रूपरेखा में उत्तर, मध्य और उत्तर-पूर्व के साथ दक्षिण भी जुड़ गया है।

अंग्रेज़ी और हिंदी के बीच द्विभाषिता की इस होड़ के लिए 1991 से लेकर 2001 के बीच की अवधि बहुत महत्वपूर्ण है। यह भूमण्डलीकरण का दौर है, और समझा जाता है कि इस दौरान अंग्रेज़ी की आर्थिक-सामाजिक उपयोगिता में पहले के मुकाबले बहुत बढ़ोतरी हुई है। उसने युरोप की स्थापित भाषाओं के दायरों में भी अतिक्रमण शुरू कर दिया है। हमारे पास 2001 की जनगणना के आँकड़े हैं जिनसे पता लगाया जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव के तहत इस होड़ की दिशा अब क्या है। दक्षिण और पूर्वी भाषाओं में हुए द्विभाषिता संबंधी परिवर्तनों का विश्लेषण बताता है इन क्षेत्रों में हिंदी-द्विभाषिता का प्रतिशत कमोबेश दस साल पहले जितना ही बना हुआ है। असम में हिंदी अभी भी आगे है, बंगाल में हिंदी-द्विभाषी अंग्रेज़ी के और नज़दीक आये हैं, तमिल में हिंदी ने अपनी जो उपस्थिति दर्ज करायी थी उसमें अंग्रेज़ी की बढ़ी हुई प्रतिष्ठा कटौती नहीं कर पायी है, कन्नड़ में अंग्रेज़ी-द्विभाषिता हिंदी से केवल मामूली अंतर से ही आगे रह गयी है, मलयालम क्षेत्र में हिंदी-द्विभाषिता का मज़बूत प्रदर्शन जारी है और तेलुगु क्षेत्र में हिंदी-द्विभाषिता की स्थिति पहले की तरह आश्वस्तिकारक बनी हुई है। ओड़िया क्षेत्र में दोनों द्विभाषिताएँ करीब-करीब बराबरी की स्थिति में हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि जिन क्षेत्रों में हिंदी अंग्रेज़ी से बहुत आगे थी, जैसे मराठी, गुजराती, उर्दू, पंजाबी, सिंधी, नेपाली, मैथिली और डोगरी, उनमें अंग्रेज़ी-द्विभाषिता अपनी स्थिति सुधारने में विफल रही है। 1991 से 2001 के बीच दोनों द्विभाषिताओं की वृद्धि-दर का एक अंदाज़ा ग्राफ़-2 से लगाया जा सकता है। यहीं सवाल उठता

है कि 1961, 1991 और 2001 की जनगणनाओं के इस विश्लेषण में हिंदी के अंग्रेज़ी-द्विभाषियों और उर्दू के अंग्रेज़ी-द्विभाषियों को किस श्रेणी में रखा जाना चाहिए? हिंदी और उर्दू का अंग्रेज़ी-द्विभाषी हर तरह से दोनों तरह की द्विभाषिताओं से सम्पन्न है। उसे द्विभाषिता की इस प्रतियोगिता से तटस्थ कर करके विश्लेषण करना चाहिए। 1961 की जनगणना में तो हिंदुस्तानी बोलने वाले भी अलग से दर्ज किये गये थे। हिंदुस्तानी के अंग्रेज़ी-द्विभाषी भी तटस्थ कर देने चाहिए।

इस विश्लेषण से पता चलता है कि अंग्रेज़ी के मुकाबले सम्पर्क-भाषा बनने के मामले में अखिल भारतीय पैमाने पर हिंदी की स्थिति उत्तरोत्तर सुदृढ़ हुई है। लेकिन सिर्फ द्विभाषिता के इन जनगणना प्रदत्त आँकड़ों के आधार पर सम्पर्क-भाषा के सभी पहलुओं पर विचार नहीं हो सकता। हिंदी-क्षेत्र में सम्पर्क-भाषा को युरोपीय क्रिस्म की राष्ट्र-भाषा के आइने में देखने की प्रवृत्ति काफ़ी प्रबल है। यह रवैया दो तरह की माँग करता है : पहली, उत्तर भारत की जनपदीय भाषाओं के पैरोकार अगर उन्हें आठवीं अनुसूची में माँग करने की राजनीति करेंगे, तो हिंदी की बहुसंख्यक दावेदारी कमजोर हो जाएगी; और दूसरी, ग़ैर-हिंदीभाषियों के लिए हिंदी समझना-बोलना ही काफ़ी नहीं है, उन्हें उत्तर-भारतीयों की तरह हिंदी लिखना-पढ़ना भी आना चाहिए। यह आग्रह दृश्य-श्रव्य मीडिया के ज़रिये हुए हिंदी के प्रसार के प्रति असहज है क्योंकि यह प्रक्रिया अहिंदीभाषियों को हिंदी का 'लिटराटी' बनाने की तरफ़ नहीं ले जाती। दरअसल, यह दूसरी माँग हिंदी को उस खाने में फ़िट करना चाहती है जिसमें आजकल अंग्रेज़ी है। अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं का रिश्ता डॉयग्लॉसिकल है जिसके तहत अंग्रेज़ी को सामाजिक-सांस्कृतिक तौर पर बेहतर मान कर सीखा-सिखाया जाता है। इस प्रक्रिया के साथ सीखने वाले की अपनी भाषा को जाने-अनजाने 'अनलर्न' करने का सिलसिला भी जुड़ा रहता है। हिंदी को सारे देश की सम्पर्क-भाषा बनते हुए देखने की इच्छा रखने वालों को यह तय करना पड़ेगा कि क्या वे भी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ अंग्रेज़ी जैसा ही डॉयग्लॉसिक रिश्ता बनाना चाहते हैं?

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेज़ी-1 से 4 तक।

संदर्भ

1. महादेव एल. आप्टे, 'सम सोसियोलिंग्विस्टिक आस्पेक्ट्स ऑफ़ इंटरलिंगुअल कम्युनिकेशन इन इण्डिया', *एंथ्रोपोलॉजी कल लिंगुइस्टिक्स*, खण्ड 12, अंक 3.
2. पॉल ब्रास, 'इलीट इंटेरेस्ट्स, पॉपुलर पैशंस, ऐंड सोशल पॉवर इन

द लेंग्वेज पॉलिटिक्स ऑफ़ इण्डिया', आशा सारंगी (सम्पा.), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सम्पर्क भाषा : हिंदी / अंग्रेज़ी-4

हिंगलिश का डर और अंग्रेज़ी से होड़

(Link Language : Hindi/English-4)

भूमण्डलीकरण के बाद विकसित हुए मीडिया द्वारा प्रचलित हिंदी के अंग्रेज़ी मिलवाँ खिचड़ी-रूप ने इस भाषा के पैरोकारों के बीच कई तरह की चिंताएँ पैदा की हैं। इसे कुछ प्रेक्षकों ने क्रियोलीकरण का नाम दिया है, जो ग़लत है। क्रियोलीकरण का एक निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ है जिसे भारत में देखना एक सांस्कृतिक ज़बरदस्ती होगी। इस प्रक्रिया के लिए फ़िलहाल खिचड़ीकरण पद का प्रयोग किया जा सकता है। दरअसल, इनमें एक हिस्सा उन लोगों का है जो हिंदी के लिखित और परिनिष्ठित रूप को सारे भारत के गले उतारने की इच्छा रखते हैं। लेकिन, एक हिस्सा ऐसे लोगों का भी है जो मीडिया के नये-पुराने रूपों द्वारा किये जा रहे हिंदी के खिचड़ीकरण के तात्पर्य और फलितार्थ जानना चाहते हैं। खिचड़ीकरण कई तरह के होते हैं और अलग-अलग देश-काल में उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न निकलने लाज़मी हैं। अंग्रेज़ी को खिचड़ीकरण की प्रक्रियाओं का जो ऐतिहासिक लाभ हुआ, वह ज़रूरी नहीं कि तीसरी दुनिया के देशों की भाषाओं को भी हो। उन्हें नुकसान भी हो सकता है, और ये तमाम संदेह निर्मूल भी साबित हो सकते हैं। जब भी कोई भाषा दूसरी भाषाओं से अन्योन्यक्रिया करती है, खिचड़ीकरण होना अनिवार्य है। सवाल यह है कि अन्योन्यक्रिया करने वाली भाषाओं के आपसी संबंध कैसे हैं? क्या वे डॉयग्लॉसिक हैं? अगर प्रभावित होने वाली भाषा में लम्बे अरसे से औपचारिक शिक्षा दी जा रही है और एक के बाद एक कई शिक्षित पीढ़ियाँ निकल चुकी हैं, अगर उस भाषा के पास लिखित साहित्य की समृद्ध परम्परा है, अगर उस भाषा का 'पब्लिक स्फ़ियर' विकसित है और अगर वह भाषा आत्मसातीकरण की क्षमता से सम्पन्न है, तो खिचड़ीकरण से उसके विस्तार और गहराई में वृद्धि होती है। अगर उसमें ये खूबियाँ नहीं हैं, तो खिचड़ीकरण उसके संहार का कारण भी बन सकता है। कुल मिला कर अनुसंधान की यह परियोजना मुख्यतः भाषाशास्त्रीय तो है ही, पर उसके सामाजिक-

राजनीतिक पहलुओं से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

अंत में विचार करने लायक एक प्रश्न बचता है कि क्या हिंदी कभी भारतीय संघ की वास्तविक राज-भाषा बन सकेगी? इसके उत्तर के लिए हमें अंग्रेज़ी के अभेद्य गढ़ (संघीय प्रशासनिक सेवाएँ) के संदर्भ में हिंदी की स्थिति जाँचनी होगी। हम ऊपर देख चुके हैं कि इस दुर्ग के रखवालों यानी अधिकारी-तंत्र ने हिंदी को भारतीय संघ के कामकाज में अंग्रेज़ी की जगह नहीं लेने दी थी। यही वह दुर्ग था जिसमें 1968 के सरकारी भाषा प्रस्ताव से पहले भारतीय भाषाओं का प्रवेश भी निषिद्ध था। इस प्रस्ताव ने आईएएस, आईपीएस और केंद्रीय सेवाओं के लिए होने वाली संयुक्त परीक्षा में बैठने लायक योग्यताओं में दो परिवर्तन किये। पहला 'अंग्रेज़ी या हिंदी' का ज्ञान अनिवार्य कर दिया; और दूसरा, आठवीं अनुसूची में दर्ज हिंदी समेत सभी भारतीय भाषाओं में संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षाएँ देने की इजाजत दे दी। 1979 में कोठारी कमीशन की सिफारिशों के अनुसार संघ लोक सेवा आयोग के परीक्षा-पैटर्न में परिवर्तन किया गया जिससे भारतीय भाषाओं के प्रतियोगियों के लिए अंग्रेज़ी के इस दुर्ग पर धावा बोलने का रास्ता खुल गया। समान स्कूल शिक्षा प्रणाली की सिफारिश करने के लिए विख्यात दौलत सिंह कोठारी ने सिविल सेवाओं के लिए जो संस्तुति की, उसके पीछे उनकी दलील देखने क्राबिल है : 'अभी तक की परीक्षाओं में अभ्यर्थियों को अंग्रेज़ी में ही उत्तर देने होते हैं। उन्हें भारतीय भाषाओं में उत्तर देने की कोई सुविधा नहीं है। इससे वे विद्यार्थी जिन्होंने भारतीय भाषाओं के माध्यम से अपनी पढ़ाई की है, हतोत्साहित रहते हैं। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ लगातार बढ़ रही है। उदाहरण के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय, जहाँ से इन सेवाओं के लिए सबसे ज़्यादा चुने जाते हैं, वहाँ ऑनर्स डिग्री में हिंदी माध्यम में पढ़ने वाले लगातार बढ़ रहे हैं। 1974 में इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में क्रमशः 18, 12 और 37 प्रतिशत छात्रों ने ऑनर्स की डिग्री हिंदी माध्यम से ली है। आगे यह संख्या और बढ़ेगी। ... हम पूरे विश्वास से कहना चाहते हैं कि जो अभ्यर्थी अखिल भारतीय सेवाओं की नौकरी में आना चाहते हैं, उन्हें आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है। जिन्हें ये भाषाएँ नहीं आतीं, वे सरकारी सेवाओं के लिए क़तई उपयुक्त नहीं हैं।'

1970 से लेकर 1978 तक भारतीय भाषाओं में परीक्षा देने वालों का प्रतिशत कभी भी 10.1 फ़ीसदी से नहीं बढ़ पाया था। लेकिन 1979 के बाद कोठारी आयोग की इन सिफारिशों का हालात पर क्रांतिकारी असर पड़ा। 1950 में केवल 3,647 परीक्षार्थी सिविल सेवा के इम्तहान में बैठे थे जिनमें पास होने वालों की संख्या 240 थी। यह संख्या अगले

बीस साल में बढ़ कर 11,710 हो गयी जिनमें उत्तीर्ण होने वालों की संख्या 428 थी। लेकिन 1979 के वर्ष में जैसे ही भारतीय भाषाओं में परीक्षा देने का प्रावधान किया गया, वैसे ही परीक्षार्थियों की संख्या 1,74,000 से अधिक हो गयी और पास होने वालों की संख्या 703 तक पहुँच गयी। जाहिर है कि सिर्फ अंग्रेज़ी में प्रवेश परीक्षा होने के कारण अधिसंख्य भारतीय इसमें भाग ही नहीं ले पाते थे। 2009 में प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार 1979 से 1988 के बीच पहले दशक में भारतीय भाषाओं में परीक्षाएँ देने वालों की संख्या में 15.6 फ़ीसदी इजाफ़ा हुआ जो अगले दस साल यानी 1989 से 1998 के बीच बढ़ कर 26.8 फ़ीसदी हो गया। अगले नौ साल में बढ़ोतरी का यह आँकड़ा 41.6 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1979 से 2007 के बीच के 29 वर्षों में भारतीय भाषाओं को माध्यम की तरह अपनाने वाले इन परीक्षार्थियों में हिंदीवालों की संख्या 90.1 फ़ीसदी थी। देखने की बात यह है कि यह प्रतिशत पहले दशक में ही 87.8 तक पहुँच गया था, दूसरे दशक में यह आँकड़ा 89.5 हुआ और तीसरे दशक के नौ वर्षों में 93.1 रहा। इस परीक्षा का पहला पर्चा भी भारतीय भाषाओं में लिखने वाले परीक्षार्थियों का प्रतिशत पहले दशक में 66.7, दूसरे दशक में 74.9 और तीसरे दशक में 76.9 रहा। इन परीक्षार्थियों को इंटरव्यू के लिए बुलाये जाने और उनके द्वारा साक्षात्कार के लिए किसी भारतीय भाषा को चुनने का प्रतिशत कहीं कम ज़रूर है लेकिन उसमें भी लगातार बढ़ोतरी हो रही है। 1987 से 1996 के बीच यह प्रतिशत 13.3 था जो बढ़ कर 1997 से 2006 के बीच 24.3 हो गया। साक्षात्कार के स्तर तक पहुँचने वाले परीक्षार्थियों का एक चौथाई से भी बड़ा हिस्सा (2007 में 32 फ़ीसदी) अब भारतीय भाषाओं में इंटरव्यू देना पसंद करता है। 2007 के 450 ऐसे उम्मीदवारों में से 330 ने हिंदी को अपना माध्यम बनाया।

इस तथ्यगत अध्ययन के तीन नतीजे निकलते हैं : पहला, भारतीय भाषाओं में सिविल सर्विसिज़ का इम्तहान देने वाले परीक्षार्थियों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोतरी हो रही है; दूसरा, इन परीक्षार्थियों में हिंदी अपनाने वालों की संख्या 85 से 90 के बीच में है, तीसरा, इन परीक्षाओं में बैठने वाले चार अंग्रेज़ीभाषियों में से एक का स्थान पिछले तीन दशकों में भारतीय भाषाओं के खाते में चला गया है। अध्ययनकर्ता मारुति पी. तंगीराला ने इन परीक्षार्थियों को मोटे तौर पर हिंदी का द्विभाषी करार दिया है, क्योंकि इन्हें अंग्रेज़ी की भी प्राथमिक जानकारी होती है। ख़ास बात यह है कि भारतीय भाषाओं का अनिवार्य पर्चा हिंदी में लिखने वालों का प्रतिशत 2001 के जनगणना में दर्ज हिंदीभाषियों के प्रतिशत से भी अधिक है। 76.9 फ़ीसदी परीक्षार्थियों यह पर्चा हिंदी में लिखते नज़र आये, जबकि देश की आबादी में ख़ुद को हिंदीभाषी कहने वालों की संख्या केवल 41.03 फ़ीसदी ही है। यहीं सवाल उठता है कि संघ लोक सेवा आयोग की

परीक्षाओं में हिंदी वालों की सफलता दर कितनी है? इस प्रश्न का उत्तर फ़िलहाल उपलब्ध नहीं है। मोटे तौर पर दस हजार छात्र जब आईएएस बनने बैठते हैं तो उनमें से एक को मौका मिलता है। समझा जाता है सफलता का यह प्रतिशत .00025 है। इतने कम प्रतिशत में भाषा-माध्यम की शिनाख्त कुछ मुश्किल हो सकती है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि हिंदी माध्यम से कामयाब होने वाले छात्रों की खबरों और साक्षात्कारों से नेट भरा पड़ा है। हर साल इस तरह की कहानियाँ आती हैं कि ग़रीब मज़दूरों, रिक्शेवालों, रेहड़ीवालों, ग्रामीण और अर्धशहरी इलाकों में जिंदगी गुज़ारने वाले हिंदी के माध्यम से प्रशासनिक सेवाओं में क्रदम रख रहे हैं। उनकी संख्या जैसे-जैसे बढ़ेगी, नौकरशाह अभिजन की संरचना में फ़र्क पड़ने की उम्मीद की जा सकती है।

क्या हिंदी को भारतीय संघ की वास्तविक राज-भाषा बनाने की परियोजना के संदर्भ में यह प्रक्रिया 'गेम-चेंजर' साबित हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर किंतु-परंतु के बिना नहीं दिया जा सकता। कोठारी कमीशन की रपट के आधार पर सिविल सेवाओं की प्रवेश परीक्षा के मूल्यांकन के लिए 1988-89 में बनायी गयी सतीश चंद्र कमेटी ने भी कोठारी की सिफ़ारिशों को उचित ठहराया। इसके बाद 2000 में दूसरी पुनरीक्षण कमेटी योगेंद्र अलग के नेतृत्व में बैठी। इस कमेटी ने भी कोठारी की संस्तुतियों की भावना का साथ दिया। लेकिन 2011 में अचानक बिना किसी समीक्षा के सिविल सेवा की प्रवेश परीक्षा के पहले चरण में ही एक एप्टीट्यूड टेस्ट शामिल कर दिया गया है जिसमें तीस नंबर अंग्रेज़ी ज्ञान के लिए हैं लेकिन भारतीय भाषाओं के ज्ञान को उससे बाहर रखा गया है। अंग्रेज़ी का जो ज्ञान मुख्य परीक्षा के दूसरे चरण में जाँचा जाता था, उसे पहले चरण में डाल दिया गया है। सरकार के इस अकस्मात् फ़ैसले के ऊपर कई जानकार टिप्पणीकारों ने प्रतिक्रिया की है। इस बहस में एक मान्यता यह भी है कि यह एप्टीट्यूड टेस्ट भारतीय भाषाओं के परीक्षार्थियों के लिए एक बड़ी बाधा साबित हो सकता है। क्या यह फ़ैसला आईएएस लॉबी के दबाव में आ कर किया गया है ताकि हिंदीभाषियों और अन्य भाषाई प्रतियोगियों से सिविल सेवा के भरने की जारी प्रक्रिया को उलटा जा सके? यह प्रश्न अभी अनुत्तरित है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनैंद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेज़ी-1 से 4 तक।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (2012), 'हिंदी की हैसियत, राष्ट्र-भाषा / राज-भाषा, सरकारी / सामाजिक', पूर्वग्रह, भोपाल।
2. मारुति पी. तंगीराला, 'लेंग्वेज चॉयसिज़ एंड लाइफ़ चांसेज़ :

एवीडेंस फ़्रॉम द सिविल सर्विसेज़ एग्जामिनेशन', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, अंक 39.

3. मृणालिनी शर्मा (2011), 'अंग्रेज़ी का वर्चस्व', समयांतर, नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

सम्पत्ति

(Property)

ज़मीन के टुकड़े, मक़ान या कार जैसी चीज़ों को सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है। लेकिन ये वस्तुएँ अपने-आप में तब तक सम्पत्ति नहीं बनती जब तक किसी रिवाज़, परम्परा अथवा क़ानून द्वारा उसका स्वामित्व किन्हीं स्थापित विधियों के मुताबिक़ परिभाषित न कर दिया जाए। मसलन, अगर आपके क़ब्जे में कोई चीज़ है, तो केवल इसीलिए वह आपकी सम्पत्ति नहीं हो जाती। उस चीज़ पर अपना मालिकाना हक़ क़ानूनन साबित करना ज़रूरी है। अगर आप किसी चीज़ के बाक़ायदा मालिक हैं तो भले ही किसी वजह से वह आपके क़ब्जे में न हो, उसे आपका ही माना जाएगा। 'खोया-पाया' के काउंटर पर पड़ी चीज़ों को उनके मालिक ढूँढ़ते हुए आते हैं और अपना स्वामित्व साबित करके ले जाते हैं। इस लिहाज़ से सम्पत्ति एक सामाजिक संस्था है जिसका सार स्वामित्व में निहित है। सम्पत्ति और उसके स्वामित्व का विचार मानवीय जीवन के विन्यास के लिए केंद्रीय महत्व का साबित हुआ है। पिछले डेढ़ सौ साल के विमर्श को प्रभावित करने वाली पूँजीवाद, उपनिवेशवाद और समाजवाद जैसी विचारधाराएँ इसी के गर्भ से जन्मी हैं।

स्वामित्व के माध्यम से सम्पत्ति के ऊपर केवल अधिकार ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि उससे संबंधित दायित्वों और कर्तव्यों को भी निभाना पड़ता है। यानी स्वामित्व का प्रयोग करके किसी वस्तु का मनचाहा इस्तेमाल किया जा सकता है, पर उस वस्तु का संरक्षण और रख रखाव करने का ज़िम्मा भी उठाना पड़ सकता है। स्वामित्व व्यक्ति के पास हो सकता है, कोई समुदाय उसका स्वामी हो सकता है या सरकार उसकी मालिक हो सकती है। स्वामित्व के तीन रूपों के हिसाब से सम्पत्ति भी मुख्य तौर से तीन तरह की होती है : निजी सम्पत्ति, साज़ा सम्पत्ति और सरकार की सम्पत्ति।

आदिम समाजों में स्वामित्व आधारित सम्पत्ति की अवधारणा नहीं थी। धरती प्रकृति की समझी जाती थी और

व्यक्ति या समुदाय ज़्यादा से ज़्यादा उसके संरक्षक हो सकते थे। राजनीतिक सिद्धांत प्राचीन यूनानी दर्शन से सम्पत्ति के विमर्श की शुरुआत करता है जिसमें प्लेटो और अरस्तू के बीच निजी और साझा सम्पत्ति के आदर्शों के बीच बहस उल्लेखनीय है। मध्य युग के चिंतकों के आग्रहों पर ईसाई प्रभावों का बोलबाला है और वे उत्तम आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए सम्पत्ति को एक साधन की तरह देखते हैं। सेंट थॉमस एक्विना और मध्ययुगीन चर्च धनोपार्जन पर कई तरह की सीमाएँ आरोपित करते हैं। सम्पत्ति विषयक आधुनिक विचार सत्रहवीं और अठारहवीं सदी से आरम्भ होता है जब पश्चिमी समाजों ने व्यवसाय प्रधान आर्थिक प्रणालियाँ अपनायीं शुरू कीं। सम्पत्ति एक आर्थिक संसाधन के रूप में देखी जाने लगी। उत्पादन के साधन या पण्य के रूप में उसे खरीदना और बेचना रोज़मर्रा की बात हो गयी। प्राकृतिक जगत भी सम्पत्ति में तब्दील कर दिया गया क्योंकि लाभ के लिए उसका भी दोहन किया जाना था। स्वामित्व आधारित सम्पत्ति का दायरा इतना बढ़ा कि दास प्रथा के साथ-साथ पत्नियों को पति की सम्पदा के रूप में परिभाषित किया जाने लगा।

राजनीतिक सिद्धांत सम्पत्ति के प्रश्न पर मुख्यतः एक आदर्श मानवीय जीवन की समेकित दृष्टि की रोशनी में गौर करता है। प्राचीन यूनान में प्लेटो और अरस्तू अपने-अपने नीतिशास्त्र की रोशनी में सम्पत्ति पर चर्चा करते हुए दिखते हैं। यूनान के नगर-राज्यों में व्यतीत किये जाने वाला सामुदायिक और राजनीतिक जीवन ही इन दोनों दार्शनिकों के लिए मनुष्य के उत्तम जीवन का मानक था। इसी लिहाज़ से वे सम्पत्ति संबंधी व्यवस्था की तजवीज़ करना चाहते थे। प्लेटो मानते थे कि निजी सम्पत्ति व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है इसलिए उन्होंने अपने आदर्श रिपब्लिक के शासकों को सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित करने का फ़ैसला किया था। प्लेटो को अपने दार्शनिक राजा से अपेक्षा थी कि वह सम्पत्ति जमा करने में समय खर्च करने के बजाय राज्य के नागरिकों का हित साधन करने में सारा समय लगायेगा। राजा के पास जो कुछ होगा, वह सबकी साझा सम्पत्ति होगी। इस तरह प्लेटो निजी सम्पत्ति को नुक़सानदेह और सामूहिक स्वामित्व को आदर्श मानते हैं।

अरस्तू प्लेटो से सहमत नहीं हैं। उन्हें लगता है कि निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करने के बेहद ख़राब नैतिक परिणाम निकल सकते हैं। साझा स्वामित्व में सम्पत्ति आधारित झगड़े निजी स्वामित्व से भी ज़्यादा बढ़ने के अंदेशे रहेंगे। दूसरे, साझा सम्पत्ति की देखभाल बहुत कम होगी। हर व्यक्ति दूसरे से यह ज़िम्मेदारी निभाने की अपेक्षा करेगा। अरस्तू का यह तर्क साझा सम्पत्ति के विरोधियों द्वारा अक्सर इस्तेमाल किया जाता है। अरस्तू मानते हैं कि निजी सम्पत्ति

के कुछ बुरे प्रभाव भी होंगे, पर उनका निराकरण शिक्षा के जरिये किया जा सकता है, पर निजी सम्पत्ति को ख़ारिज करके मनुष्य उसके अच्छे प्रभावों से वंचित हो जाएगा। निजी सम्पत्ति व्यक्ति में किफ़ायत और उत्तरदायित्व के गुण प्रोत्साहित कर सकती है। निजी सम्पत्ति के तहत हर व्यक्ति अपने अलग निजी हित को साधने में व्यस्त रहेगा, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ शिकायतें नहीं होंगी और मनुष्य अधिक प्रगति करेगा। अरस्तू तो यहाँ तक मानते हैं कि निजी सम्पत्ति के बिना मैत्री और उदारता जैसे गुण विकसित नहीं हो सकते। जिसके पास सम्पत्ति होगी, वही दूसरों के प्रति उदार और मददगार होकर परम संतोष और आनंद की अनुभूति कर पायेगा। अरस्तू के मुताबिक़ निजी सम्पत्ति सुख का स्रोत है और इससे वंचित राजा का राज्य सुखी नहीं रह सकता।

दिलचस्प बात यह है कि निजी सम्पत्ति का समर्थन करने के बावजूद अरस्तू सम्पत्ति के एकतरफ़ा संचय के पक्ष में नहीं हैं। सम्पत्ति उनके लिए साधन है साध्य नहीं। सम्पत्ति का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है अगर उसके कारण नागरिकों की सोहबत में उत्तम और नैतिक गुणों से सम्पन्न जीवन न गुज़ारा जा सके।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत ने प्राचीन और मध्ययुगीन विमर्श में पहला बड़ा परिवर्तन तो यह किया कि नीतिशास्त्र और राजनीति को एक-दूसरे से अलग कर दिया। यह भूमिका सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में मैकियावेली, थॉमस मोर, ज्यॉ बोदाँ, थॉमस हॉब्स और जॉन लॉक ने निभायी। इन चिंतकों का विचार था कि राजनीतिक प्राधिकार का सबसे महत्वपूर्ण काम ऐसी परिस्थितियाँ मुहैया कराना है जिनके तहत व्यक्ति शांतिपूर्ण और आर्थिक रूप से सुरक्षित जीवन व्यतीत कर सके। इस आग्रह के तहत नैतिक आग्रहों की जगह आर्थिक आग्रह केंद्र में आ गये। परिणामस्वरूप सम्पत्ति के सामंती रूपों की जगह व्यावसायिक और पूँजीवादी रूपों को प्राथमिकता मिलने लगी।

अपनी रचना *टू ट्रीटाइज़िज़ ऑफ़ गवर्नमेंट* में जॉन लॉक ने निजी सम्पत्ति का जोरदार नैतिक बचाव पेश किया। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सम्पत्ति उसकी है जो उसे साझा स्वामित्व से सबसे पहले निकाल कर अपने क़ब्ज़े में करता है। बशर्ते इससे तीन शर्तें पूरी होती हों : पहली, साझा सम्पत्ति से निकाल कर वह उसमें अपने श्रम का योगदान करे और उसे अपनी किसी चीज़ से जोड़े; दूसरी, साझा सम्पत्ति के दायरे में इतना छोड़ना होगा कि दूसरे लोगों के लिए भी विनियोग के लिए पर्याप्त बचा रहे; तीसरा, सम्पत्ति का विनियोग इस तरह करने की इजाज़त किसी को न हो कि उसके कारण दूसरों की स्थिति ख़राब हो जाए। आगे चल कर लॉक व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के श्रम को ख़रीदने और उस श्रम

द्वारा तैयार किये जाने वाले उत्पाद को अपनी सम्पत्ति बनाने का सिद्धांत भी पेश करते हैं। कुल मिला कर लॉक प्रदत्त निजी सम्पत्ति का सिद्धांत दो बुनियादी दलीलों पर टिका है : व्यक्ति का श्रम उसकी सम्पत्ति है जिसे वह बेच सकता है, और प्रकृति के साधन उस समय तक मूल्यहीन हैं जब तक उनका निजी तौर पर विनियोग न कर लिया जाए।

लॉक के विमर्श ने निजी सम्पत्ति का जो सिद्धांत दिया उससे तिजारती पूँजीवाद का रास्ता साफ़ हुआ। स्वामित्व के एक वैध रूप की तरह स्थापित हो जाने के बाद राज्य की प्राथमिक ज़िम्मेदारी मान ली गयी कि वह व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित किये जाने के खिलाफ़ सुरक्षा दे। लॉक की दलील के अनुसार सार्वजनिक हितों के ऊपर निजी हितों को प्राथमिकता देने का उसूल क्रायम हुआ। इसी संदर्भ में निजी पूँजी के समर्थकों ने राजनीतिक स्वतंत्रता को भी परिभाषित किया।

पूँजीवाद के तहत खरीद-फरोख्त के मक्रसद से किये जाने वाले उत्पादन को एक मूल्य की तरह स्थापित किया गया। इसी विमर्श से उपनिवेशवाद भी निकला। लॉक की स्थापनाओं में ब्रिटेन द्वारा भेजे गये अधिवासियों द्वारा अमेरिका की धरती पर कब्ज़ा कर लेने की कार्रवाई को न्यायसंगत ठहराने की दलीलें मौजूद थीं। उनकी सेकण्ड थीसिस 'प्रकृत अवस्था' में व्यक्ति द्वारा अपने अधिकारों की दावेदारी के बारे में है। वे ऐसी जगहों पर नागरिक शासन स्थापित करने और व्यक्तिगत प्रयास द्वारा हथियायी गयी सम्पदा को अपने लाभ के लिए विकसित करने को जायज़ करार देते हैं। यही थीसिस आगे चल कर धरती के असमान स्वामित्व को उचित मानने का आधार बनी। लॉक की मान्यता थी कि अमेरिका में अनाप-शनाप ज़मीन बेकार पड़ी हुई है और वहाँ के मूलवासी यानी इण्डियन इस धरती का सदुपयोग करने की योग्यता से वंचित हैं। लॉक ने हिसाब लगाया कि युरोप की एक एकड़ ज़मीन अगर अपने स्वामी को पाँच शिलिंग प्रति वर्ष का मुनाफ़ा देती है, तो उसके मुकाबले अमेरिकी की ज़मीन से उस पर बसे इण्डियन को होने वाला कुल मुनाफ़ा एक पेनी से भी बहुत कम है। चूँकि अमेरिकी इण्डियन बाक़ी मानवता में प्रचलित धन के आधार पर किये जाने वाले विनिमय की प्रणाली अपनाने में नाकाम रहे हैं, इसलिए 'सम्पत्ति के अधिकार' के मुताबिक़ उनकी धरती को अधिगृहीत करके उस पर मानवीय श्रम का निवेश किया जाना चाहिए। लॉक की इसी थीसिस में एशियायी और अमेरिकी महाद्वीप की सभ्यता और संस्कृति पर युरोपीय श्रेष्ठता की ग्रंथि के बीज थे जिसके आधार पर आगे चल कर उपनिवेशवादी संरचनाओं का शीराज़ा खड़ा किया गया।

सम्पत्ति के पूँजीवादी संबंध जैसे-जैसे स्थापित हुए,

उनके विरोध और समर्थन के इर्द-गिर्द विमर्शों की स्पर्धा गोलबंद होती चली गयी। उपयोगितावादियों द्वारा निजी सम्पत्ति के पक्ष में और मार्क्सवादियों द्वारा निजी सम्पत्ति के खिलाफ़ प्रभावशाली दलीलें और कार्यक्रमों की तजवीज़ की गयी। आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक विचारों की दुनिया उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और पूरी बीसवीं सदी में निजी सम्पत्ति के समर्थन और विरोध में ध्रुवीकृत होती चली गयी।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति : साज़ा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. मोहिंदर सिंह (2008), 'प्रॉपर्टी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : एन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन एजुकेशन, नयी दिल्ली.
2. एंड्रू हेवुड (1986), 'प्रॉपर्टी, प्लानिंग ऐंड मार्केट', *पॉलिटिकल थियरी : एन इंट्रोडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
3. ए. रीव (1986), *प्रॉपर्टी*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
4. ए. रायन (1984), *द पॉलिटिकल थियरी ऑफ़ प्रॉपर्टी*, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य

(Property : Feminist Perspective)

सम्पत्ति संबंधी सिद्धांतों की मूलभूत आलोचना करते हुए नारीवादी विद्वानों ने सबसे ज्यादा बुनियादी प्रश्न यह उठाया है कि आखिर वह व्यक्ति या इन्डिविजुअल कौन है जिसके सम्पत्ति रखने के अधिकार पर विचार किया जा रहा है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत मान कर चलता है कि जिस इन्डिविजुअल के इर्द-गिर्द उसने अपनी धारणाएँ सूत्रबद्ध की हैं, वह लैंगिक रूप से तटस्थ है यानी व्यक्ति का मतलब स्त्री भी हो सकता है और पुरुष भी। नारीवादी विद्वत्ता इस धारणा का खण्डन करते हुए दावा करती है कि यह व्यक्ति नामक शै केवल पुरुष है। कैरल पैटमैन के अनुसार जॉन लॉक अपनी रचना *टू ट्रीटाइजिज ऑफ गवर्नमेंट* में स्त्रियों को सम्पत्ति के दायरे से बहिष्कृत कर देते हैं क्योंकि उनकी निगाह में स्त्री और पुरुष के बीच समानता नहीं हो सकती। लॉक के मुताबिक स्त्री की हैसियत स्वाभाविक रूप से पुरुष की अधीनस्थ है, और पत्नी की पति के प्रति अधीनता का आधार प्रकृति में है। इसमें कोई शक नहीं कि लॉक का सिद्धांत तत्कालीन समाज में मौजूद कई सामंती विषमताओं को चुनौती देता है, पर वह परिवार के भीतर मौजूद लैंगिक ऊँच-नीच को प्रश्नांकित करने में दिलचस्पी नहीं दिखाता। इसका कारण यह है कि परिवार सार्वजनिक दायरे से बाहर समझा जाता है।

पैटमैन का दावा है कि लॉक का राजनीतिक सिद्धांत जाहिरा तौर पर रॉबर्ट फ़िलमर द्वारा किये गये पितृसत्ता के बचाव के खिलाफ़ सूत्रबद्ध किया गया था, पर वह अंत में पितृसत्ता के आधुनिक रूप को न्यायसंगत ठहराता हुआ नज़र आता है। लॉक के राजनीतिक सिद्धांत में दर्ज व्यक्ति सार्वजनिक दायरे में सक्रियता के जरिये अधिकारों का धारक और निजी सम्पत्ति का स्वामी बनता है। यही व्यक्ति, जो परिवार का पुरुष मुखिया है, सामाजिक समझौते को कार्यान्वित करता है। उसके विपरीत स्त्री परिवार के दायरे में सीमित रहने के लिए बाध्य है। परिवार निजी और गैर-राजनीतिक दायरे में आता है और उसके भीतर स्त्री की सक्रियता उसे सम्पत्ति, संसाधनों और अधिकारों से वंचित कर देती है। परिणामस्वरूप पुरुष नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर पाता है, और स्त्री पूरी तरह से नागरिक नहीं बन पाती। लॉक के बाद आधुनिक लोकतंत्रों ने लम्बे अरसे तक स्त्रियों को कई नागरिक अधिकारों से महरूम रखा। उन्हें न तो वोटिंग का अधिकार मिला, और न ही पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी मिली। हर जगह पुरुष को उनका

प्रतिनिधि मान लिया गया। पुरुष को मिले अधिकारों में ही स्त्री के अधिकार निहित समझ लिए गये।

लॉक के सिद्धांत की यह आलोचना उन तमाम नारीवादी अंतर्दृष्टियों का हिस्सा है जो बीसवीं सदी में स्त्री के अनुभव को केंद्र में रखने से निकली हैं। इनके मुताबिक किसी भी समाज में व्याप्त लैंगिक संबंधों की रोशनी में ही उस समाज में संसाधनों के बँटवारे की समीक्षा की जानी चाहिए। संसाधनों का यह विषम बँटवारा ही स्त्रियों के खिलाफ़ लैंगिक पूर्वग्रहों को मजबूत करता है। ऐतिहासिक रूप से स्त्रियों की अधीनता का एक बहुत बड़ा कारण उन्हें आमदनी के जरिये (जैसे भूमि का स्वामित्व) से अलग कर देना रहा है। जिसके पास आय का माध्यम होता है, स्त्री को उसी पर निर्भर रहना पड़ता है। पुरुष पर निर्भरता की स्थिति उन विचारधाराओं द्वारा भी पुष्ट होती है जो उसे प्रकृति-प्रदत्त करार देती हैं। राजनीतिक सिद्धांत, चाहे आधुनिक हो या प्राक्-आधुनिक, इस तरह की विचारधाराओं को जन्म देते रहे हैं। समकालीन नारीवादी विद्वानों ने इसी दृष्टि-बिंदु से अरस्तू, रूसो और लॉक जैसे दार्शनिकों की जाँच की है।

पैटमैन का विचार है कि राजनीतिक सिद्धांत सामाजिक और राजनीतिक दायरों की चौहद्दी इस आधार पर तय करता है कि उसमें क्या-क्या शामिल है और क्या-क्या शामिल नहीं है। वह पारिवारिक और नातेदारी के संबंधों को सार्वजनिक जीवन में शामिल नहीं करता। वह सामाजिक स्पेस, जिसमें स्वतंत्र और समान हैसियत वाले व्यक्ति अन्योन्यक्रिया करते हुए अपना काम करते हैं, पारिवारिक दुनिया के लिए अपने दरवाज़े बंद रखता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर नारीवाद द्वारा परिवार के भीतर सम्पत्ति के वितरण का सवाल उठाया गया है, क्योंकि यह वितरण ही तय करता है कि नागरिक के तौर पर स्त्री का सामाजिक अस्तित्व कैसे परिभाषित होगा। नारीवादियों के अलावा राजनीतिक सिद्धांत ने परिवार की संस्था पर समानता और न्याय के लिहाज़ से गौर करने में हमेशा हिचक दिखाई है।

दक्षिण एशिया के संदर्भों में बीना अग्रवाल ने सरकारी नीतियों के सूत्रीकरण और कार्यान्वयन में व्यक्त होने वाले ऐसे रवैये की आलोचना की है। अपनी रचना 'जेंडर ऐंड कमांड ओवर प्रॉपर्टी' में वे बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कई दक्षिण एशियाई देशों में कार्यान्वित पुनर्वितरणकारी नीतियों की अंतर्निहित प्रवृत्तियों को सामने लाती हैं। अग्रवाल का कहना है कि जब भूमि सुधार होते हैं या किसी अन्य संसाधन का बँटवारा होता है तो ज़मीन के पट्टे परिवार के मुखियाओं को दिये जाते हैं जो आम तौर पर पुरुष ही होते हैं। चूँकि परिवार समानता और न्याय के सार्वजनिक दायरे से बाहर की संस्था है इसलिए पचास और साठ के दशक में भारत, श्रीलंका और

पाकिस्तान में लागू की गयी भूमि वितरण की नीतियों के तहत ज़मीन स्वतंत्र रूप से स्त्रियों को नहीं मिल सकी।

अग्रवाल दूसरा महत्वपूर्ण सवाल स्वामित्व और नियंत्रण का उठाती हैं। अगर सम्पत्ति के क्रान्ती स्वामित्व के मामले में लैंगिक समानता का ध्यान रखा भी जाता है, तो भी व्यवहार में स्वामित्व मिलने के बावजूद स्त्रियाँ सम्पत्ति पर व्यावहारिक नियंत्रण से वंचित ही रहती हैं। पारम्परिक पूर्वग्रहों और वास्तविक सत्ता संबंधों के कारण ज्यादातर एशियाई स्त्रियों को ज़मीन पर अपने मालिकाना हक की ठोस दावेदारी में दिक्कत आती है। इस तरह स्त्री और सम्पत्ति के समीकरण में न केवल वैधानिक बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू भी महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमंड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. कैरल पैटमैन (1988), *द सेक्शुअल कांटेक्ट*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. कैरल पैटमैन (1987), 'फ़ेमिनिस्ट क्रिटीक ऑफ़ पब्लिक/प्राइवेट डिक्टॉमी', ए. फ़िलिप (सम्पा.), *फ़ेमिनिज़म ऐंड इक्वलिटी*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
3. बीना अग्रवाल (1994), 'जेंडर ऐंड द कमांड ओवर प्रॉपर्टी : अ क्रिटीकल गैप इन इकॉनॉमिक इन इकॉनॉमिक एनालिसिस ऐंड पॉलिसी इन साउथ एशिया', *वर्ल्ड डिवेलपमेंट*, खण्ड 22, अंक 10.
4. जेन फ्रीडमैन (2002), *फ़ेमिनिज़म*, वीवा बुक्स, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

(Property : Marxist Perspective)

सम्पत्ति के निजी और पूँजीवादी रूपों की सर्वाधिक प्रभावशाली और आलोचना कार्ल मार्क्स ने की है। वे निजी सम्पत्ति के उन्मूलन की माँग करते हैं। निजी सम्पत्ति से उनका मतलब होता है उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व। मार्क्स सम्पत्ति के सभी रूपों के उन्मूलन की पैरोकारी नहीं करते। बुनियादी ज़रूरतों के लिए थोड़ी-बहुत सम्पत्ति रखने को वे आपत्तिजनक नहीं मानते। इस विमर्श का मार्क्सवाद के लिए बुनियादी महत्त्व है। मार्क्स सम्पत्ति को केवल उसके स्वामी के अधिकारों के संदर्भ में ही नहीं देखते, वे उसे वर्गों और सामाजिक तबकों की जटिल प्रणाली में केंद्रीय भूमिका निभाते हुए देखते हैं। उन्होंने इस प्रणाली में उत्पादन के साधनों की मिल्कियत के सवाल पर गहराई से गौर किया है। मार्क्स के अनुसार स्वामित्व का यह रूप ही उत्पादन और वितरण के संबंधों के संगठनकारी उसूल की तरह काम करता है। सम्पत्ति के रूपों में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करते हुए ही मार्क्स और एंगेल्स सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को एक खास तरह के ऐतिहासिक क्रम में पेश करने की तरफ़ गये। उनके इस विचार से मानव समाज के इतिहास को क्रमवार अवधियों (आदिम साम्यवाद, दास प्रथा, एशियाई समाज, सामंती समाज, पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद) में बाँट कर समझने का फ़ार्मूला निकला। मार्क्सवादी हलकों में इसका बाद में काफ़ी सरलीकरण किया गया, पर यह भी एक हकीकत है कि इस विभाजन से सम्पत्ति के ग़ैर-पूँजीवादी रूपों के बारे में चिंतन करने और अनुसंधान करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। मध्ययुगीन युरोप में भूमि अधिकारों के बारे में अनुसंधान हुआ और अंग्रेज़ों से पहले के भारत में सम्पत्ति के रूपों पर शोध हुई। कई आदिवासी समुदायों में निजी सम्पत्ति की ग़ैर-मौजूदगी की हकीकत साफ़ हुई।

मार्क्स से पहले जिन चिंतकों ने सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को प्रश्नांकित किया था, उनमें फ़्रांसीसी क्रांति से पहले रूसो और मार्क्स के ज़माने में प्रूथों का नाम उल्लेखनीय है। अराजकतावादी ट्रेडयूनियनवाद (अनाको-सिंडीकलिज़म) के इस फ़्रांसीसी सिद्धांतकार ने 'सम्पत्ति का मतलब है चोरी' जैसा मशहूर फ़िकरा दिया। लेकिन, प्रूथों का तात्पर्य यह नहीं था कि व्यक्तियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार मिलना ही नहीं चाहिए। उनकी आपत्ति केवल सम्पत्ति के निजी हाथों में संचय पर थी ताकि ग़रीबों को शोषण से बचाया जा सके। मार्क्स ने अपनी धारणाएँ विकसित करने की प्रक्रिया में न केवल जॉन लॉक जैसे उदारतावादी दार्शनिकों की आलोचना की, बल्कि अपनी रचना 'दर्शन की

दरिद्रता' में प्रुधों का भी निर्मम विश्लेषण किया।

सम्पत्ति के प्रश्न के साथ मार्क्स की मुठभेड़ पहली बार उस समय हुई जब वे हीगेल के दर्शन की आलोचना कर रहे थे। हीगेल को यक्रीन था कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण उपलब्धि सम्पत्ति के स्वामित्व के बिना नहीं कर सकता। मार्क्स का कहना था कि अपने पूँजीवादी रूप में सम्पत्ति व्यक्तित्व की उपलब्धि न हो कर उसके निषेध का कारण बन जाती है। उत्पादन के पूँजीवादी तरीकों के कारण व्यक्ति अपने संसार का स्वामी नहीं हो पाता, बल्कि वह बाज़ार की शक्तियों की मातहत में चला जाता है। बाज़ार ही तय करता है कि इस दुनिया में मनुष्य के साथ क्या होगा। पूँजीवादी सम्पत्ति के प्रभाव में व्यक्ति अपनी इयत्ता का सच्चा स्वामी नहीं रह जाता, और न ही वह अपने सम्पूर्ण जीवट को प्राप्त कर पाता है। मार्क्स उत्पादन की पूँजीवादी विधियों का उन्मूलन अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि उसके बिना उनके द्वारा कल्पित आदर्श साम्यवादी समाज नहीं बन सकता।

मार्क्स का कहना था कि पूँजीवाद ने ऐतिहासिक रूप से उत्पादन की उन प्रणालियों को नष्ट कर दिया है जिनके तहत व्यक्तिगत उत्पादक उत्पादन के साधनों के स्वामी बने रह सकते थे। पूँजीवादी उत्पादन संबंधों के उभरने की यह बुनियाद शर्त थी। चूँकि श्रमिक के पास किसी तरह की सम्पत्ति रह ही नहीं गयी है, इसलिए वह जीवित रहने के लिए अपना श्रम बाज़ार में बेचने के लिए मजबूर है।

अपनी व्याख्या के जरिये इस विशेष परिस्थिति को रेखांकित करते ही मार्क्स का विमर्श जॉन लॉक के सम्पत्ति संबंधी विमर्श की तुलना में खड़ा हो जाता है। लॉक के मुताबिक निजी सम्पत्ति वह है जो 'अपने' (हालाँकि 'अपने' की उनकी समझ अनूठी थी, क्योंकि इसके तहत नौकरों का श्रम भी मालिकों का ही होता था) श्रम का प्रयोग करके हासिल की जाती हो। चूँकि लॉक के अनुसार श्रम को वैध रूप से खरीदा-बेचा जा सकता है, इसलिए श्रम का खरीददार उसके उत्पाद का मालिक भी हो जाता है। यानी जहाँ बाज़ार है वहाँ हो सकता है कि श्रम के मालिक का अपने श्रम के परिणाम यानी उत्पादन पर कोई नियंत्रण न हो। लॉक जिस समय यह सूत्रीकरण कर रहे थे, उस समय पूँजीवाद का विकास अपने प्रारम्भिक चरण में था। लेकिन उन्नीसवीं सदी के मध्य में मार्क्स के सामने पूँजीवादी संबंध अपने असरदार रूप में मौजूद थे। एक तरफ़ अथाह सम्पत्ति और उसके स्वामी थे, और दूसरी तरफ़ भीषण गरीबी थी। इस परिस्थिति में अपने श्रम के उत्पाद पर श्रमिक के नियंत्रण का यही अभाव मार्क्स को बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति और मेहनत-मेहनताने के समीकरण की आलोचना की तरफ़ ले गया। मार्क्स ने सम्पत्ति के स्वामियों (बूर्ज्वा

वर्ग) और श्रम बेच कर जीविका कमाने वाले (सर्वहारा वर्ग) के बीच फ़र्क़ किया और मूल्य के श्रम-सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए 'अधिशेष मूल्य' की थियरी पेश की।

मार्क्स ने सम्पत्ति के पूँजीवादी संचय की प्रकृति रेखांकित करते हुए पता लगाया कि मजदूरी और मजदूर वर्ग के लिए उसके क्या फलितार्थ हो सकते हैं। उन्होंने सम्पत्ति और पूँजी के समीकरण की व्याख्या की और पूँजी के दो घटक रेखांकित किये : अतीत में उत्पादित की जा चुकी वस्तुओं में निहित 'मृत' श्रम उसका स्थिर घटक होता है, और वर्तमान में किया जाने वाले से श्रम उसका परिवर्ती घटक बनता है। पूँजी जैसे-जैसे संचित होगी, परिवर्ती घटक में बढ़ोतरी होती चली जाएगी। नतीजतन मुनाफ़े की दर गिरेगी जिसे रोकने या बढ़ाने के लिए पूँजीपति को श्रम का और अधिक सघन दोहन करना पड़ेगा। चूँकि मजदूर अपने श्रम के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले उत्पाद, उत्पादन के साधनों और उत्पादन की प्रक्रिया पर किसी भी क्रिस्म के नियंत्रण से वंचित होंगे, इसलिए उनके भीतर एक परायेपन का एहसास पनपने लगेगा। उसे अपनी ज़िंदगी चलाने के लिए जितना श्रम करना चाहिए, उससे कहीं अधिक श्रम करवाया जाएगा। काम के घंटे बढ़ते चले जाएँगे और अधिक से अधिक अधिशेष मूल्य खींचा जाएगा। दरअसल, मार्क्स यह मानते हैं कि काम के घंटे लगातार बढ़ने से जो अधिशेष मूल्य पैदा होगा वह मजदूरों द्वारा किये जाने वाले प्रतिरोध और अन्य कारणों की वजह से ज्यादा दूर नहीं खींचा जा सकेगा। इसीलिए पूँजी उत्पादन की दर में बढ़ोतरी के लिए हमेशा नयी तकनीक का इस्तेमाल करती है ताकि इससे पैदा हुए सापेक्षिक अधिशेष मूल्य को लम्बे समय तक टिकाया जा सके।

साठ के दशक के बाद विद्वानों और राजनेताओं ने उन देशों में सम्पत्ति के मार्क्सवादी विमर्श को आगे बढ़ाने की कोशिश की जहाँ उत्पादन के साधनों पर निजी अधिकार का उन्मूलन कर दिया गया था। इसी समय उन प्राक्-पूँजीवादी समाजों पर भी बहस तेज़ हुई जहाँ निजी सम्पत्ति थी ही नहीं, जैसे एशियाई उत्पादन-पद्धति वाले एशियाई समाज। इस बहस के केंद्र में एशियाटिक मोड ऑफ़ प्रोडक्शन की थीसिस थी जिसे एक बार प्रतिपादित करने के बाद फिर मार्क्स ने दोबारा कभी स्पर्श ही नहीं किया था। कुल मिला कर मार्क्सवाद की मुख्य समस्या स्तालिन के ज़माने में प्रचलित हुई इस मान्यता से जुड़ी हुई थी कि अर्थव्यवस्था की अहम शाखाओं में उत्पादन के साधनों पर राज्य का क़ब्ज़ा हो जाने, कृषि के सामूहिकीकरण हो जाने, और छोटे उद्योगों और छोटे व्यापार को बढ़ावा देने से सम्पत्ति का प्रश्न हल हो गया है। लेकिन स्तालिनकालीन समाजवादी राज्य के इस नीतिगत आचरण से दो उलझनें पैदा हुईं। पहली उलझन सम्पत्ति पर

राज्य के स्वामित्व और सम्पूर्ण समाज के सम्पत्ति पर स्वामित्व के अंतर्विरोध से निकली। इसके साथ राज्य के प्रबंधन की समस्या तो जुड़ी हुई थी ही, लेकिन इस समस्या का एक स्थानीय पहलू भी था। यह था स्थानीय प्रशासन का स्वामित्व बनाम स्थानीय समुदाय के स्वामित्व का प्रश्न। दूसरी उलझन आर्थिक उद्यमों के तंत्र और उद्यमों के साथ जुड़े हुए समुदाय के स्वामित्व के बीच अंतर्विरोध की थी। यह समस्या सबसे पहले सरकारी और सहकारी क्षेत्रों में सक्रिय बड़ी और मँझोली फ़र्मों में उभरी।

इन उलझनों के साथ-साथ लघु उद्योगों और वाणिज्य में उत्पादकों की अपेक्षाकृत स्वतंत्र एसोसिएशनों के स्वामित्व के विकास की सम्भावनाएँ भी देखी गयीं। अगर ये सम्भावनाएँ विकसित होतीं तो समाजवादी स्वामित्व के नये रूपों की बानगी देखने को मिल सकती थी। लेकिन, पूर्वी और पूर्वी-मध्य युरोप में सत्ता का स्तालिनवादी ढाँचा जैसे ही ढहा सम्पत्ति से समाजवादी रूपों के उभरने की सम्भावनाएँ भी उसी के साथ ढह गयीं। आज इन क्षेत्रों में सम्पत्ति के संबंधों की मुख्य प्रवृत्ति निजीकरण और पुनः निजीकरण है। निजीकरण के जरिये धनी वर्ग के निजी स्वामित्व में इज़ाफ़ा हो रहा है और पुनः निजीकरण के माध्यम से राष्ट्रीयकृत सम्पत्ति के पूर्व मालिकों की वापसी हो रही है। लेकिन इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ छोटे मालिकों द्वारा स्वैच्छिक आधार पर गठित किये गये सहकारी उद्यमों की परिघटना सामने आयी है, खासकर खेतिहर क्षेत्र में। बड़े उद्यमों में मज़दूरों को शेयर पूँजी का एक हिस्सा देने की प्रवृत्ति भी प्रकाश में आयी है। ऐसी एसोसिएशनें भी बनी हैं जिनके जरिये मज़दूर अपने उद्यम चला रहे हैं। ऐसे मज़दूर संगठन भी बने हैं जिन्होंने आर्थिक नौकरशाही के सामने झुके बिना सम्पत्ति के स्वतंत्र और स्वायत्त रूपों के विकास की कोशिश की है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद,

स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. मेघनाद देसाई (1979), *मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, बेसिल ब्लेकवेल, ऑक्सफ़र्ड, 1979
2. जे.वी. स्तालिन (1945), *प्रॉब्लम्स ऑफ़ लेनिनिज़्म*, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को.
3. एफ़. टोकी (1979), *एसेज़ ऑन एशियाटिक मोड ऑफ़ प्रोडक्शन*, एकेडमिके वरलाग, बुडापेस्ट.
4. एम.सी. हॉवर्ड (1992), *अ हिस्ट्री ऑफ़ मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, मैकमिलन एजुकेशन, बेसिंगस्टोक.
5. कार्ल मार्क्स (1867/1076), *कैपिटल : अ क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, अनु. बी. फ़ाउकेस, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ.

— अभय कुमार दुबे

सम्पत्ति : साझा और सरकारी

(Property : Common and State)

निजी के अलावा सम्पत्ति के साझा और सरकारी रूपों के बारे में अंग्रेज़ी भाषा की एक अभिव्यक्ति 'पब्लिक' के एक खास तरह के इस्तेमाल के कारण कुछ ग़लतफ़हमियाँ रहती हैं। राज्य की संस्था जीवन के कई क्षेत्रों में अपनी गतिविधियों को 'पब्लिक' शीर्षक के तहत पेश करती है। चाहे वह पब्लिक सेक्टर हो या फिर सरकारी या जन-प्रतिनिधित्व वाली संस्थाओं द्वारा संचालित जन-सुविधाएँ। सरकारें राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम चलाती हैं और सम्पत्ति को अपने हाथों में ले कर उसे जनता की सम्पत्ति कहने लगती हैं। दरअसल वह सरकारी सम्पत्ति होती है। इसलिए यहाँ स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि साझा या सामूहिक या शामलात की सम्पत्ति का मतलब है सामाजिक स्वामित्व जो 'पब्लिक' यानी सरकारी स्वामित्व से भिन्न अवधारणा है।

साझा सम्पत्ति की पैरोकारी सबसे ज़्यादा समाजवादियों, कम्युनिस्टों और समुदायवादियों, और अराजकतावादियों ने की है। लेकिन इसका इतिहास आधुनिक समाजवादी विचारधारा से भी बहुत पुराना है। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपने फ़िलॉसफ़र-किंग के लिए निजी नहीं बल्कि साझा सम्पत्ति का प्रावधान किया था। इसी तरह

सोलहवीं सदी की शुरुआत की अपनी मशहूर रचना 'यूटोपिया' में थॉमस मोर ने एक ऐसे समाज की परिकल्पना की है जिसमें निजी सम्पत्ति नहीं होगी। सम्पत्ति का निजी रूप अपने स्वामी को अधिकार देता है कि वह दूसरों को उसके इस्तेमाल से वंचित रखे, लेकिन साझा सम्पत्ति के संदर्भ में इस तरह का बहिष्करण सम्भव नहीं है। अर्थात् साझा सम्पत्ति पर एक समुदाय या किसी समूह के सभी सदस्यों का हक होता है। कोई एक व्यक्ति उस पर या उसके किसी हिस्से पर अपना हक जता कर उसे निजी दायरे में नहीं ले जा सकता।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या स्वामित्व का साझापन असीमित होता है? नहीं। साझा सम्पत्ति का दायरा आम तौर पर परिभाषित होता है। मसलन, साझा स्वामित्व किसी सहकारी संस्था के सदस्यों, किसी कम्प्यून के सदस्यों और या किसी स्थानीय समुदाय के सदस्यों तक सीमित हो सकता है। कई तरह की सार्वजनिक सुविधाएँ केवल नागरिकों के लिए ही उपलब्ध हो सकती हैं, गैर-नागरिकों को उनके प्रयोग से रोका जा सकता है। अर्थात् साझा सम्पत्ति स्वामित्व के मामले में अपने सार्वभौम अर्थों के बावजूद बहुत अधिक साझा नहीं होती। ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों और कॉरपोरेशनों को तो साझा सम्पत्ति के दायरे में रखा ही नहीं जा सकता। ये संरचनाएँ संस्थागत निजी सम्पत्ति की श्रेणी में आती हैं। अपने शेयरों को बेच कर कोई भी शेयर धारक उस सम्पत्ति में से अपना हिस्सा निकाल सकता है। अगर वह साझा सम्पत्ति होती तो वह ऐसा नहीं कर सकता था।

साझा सम्पत्ति के सभी आधुनिक सिद्धांतकार मान कर चलते हैं कि मानवीय श्रम अपने-आप में एक स्वतंत्र और व्यक्तिगत गतिविधि नहीं बल्कि हर हाल में सामाजिक और सामूहिक कार्रवाई होती है। उससे पैदा होने वाली सम्पत्ति का स्वामित्व भी साझा होना चाहिए। इसी तरह उसका इस्तेमाल भी साझे हितों की पूर्ति के लिए होना चाहिए। साझा सम्पत्ति के पैरोकार निजी सम्पत्ति हासिल करने के किसी भी प्रयास को लूट की संज्ञा देते हुए दावा करते हैं कि साझा सम्पत्ति सामाजिक एकजुटता और समरसता के लिए लाभप्रद है। उसके जरिये खुदगर्जी, लालच और होड़ जैसी प्रवृत्तियों का निराकरण करके सामूहिक अस्मिता की भावना प्रोत्साहित की जा सकती है। समाजवादियों की निगाह में साझा सम्पत्ति के जरिये ही सभी नागरिकों को समाज का पूर्ण सदस्य बनाने की गारंटी की जा सकती है।

लेकिन, कुछ समाजवादियों ने साझा सम्पत्ति की इस आलोचना को घुमा-फिरा कर स्वीकार भी किया है कि उसके कारण एक तरह के निर्व्यक्तिक और सुरक्षित सामाजिक माहौल की रचना होने का अंदेशा रहता है। इसलिए ऐसे समाजवादी साझा सम्पत्ति को केवल 'उत्पादन के साधनों' के साझे स्वामित्व तक ही सीमित रखना चाहते हैं। उन्हें 'उपभोग

के साधनों' को निजी दायरे में रखने पर आपत्ति नहीं है। साझा सम्पत्ति की अवधारणा के साथ दूसरी दिक्कत यह बतायी जाती है कि वह व्यक्ति को किसी क्रिस्म के भौतिक प्रोत्साहन का आश्वासन नहीं देती जिससे व्यक्तिगत प्रतिभा को पूरी तरह से खिलाने का मौक़ा नहीं मिलता। साझा सम्पत्ति की तीसरी आलोचना 'ट्रैजेडी ऑफ़ कामंस' के रूप में जानी जाती है। ज़मीन की चकबंदी या बाड़ाबंदी के पहले सभी लोगों को ज़मीन के प्रयोग का असीमित अधिकार था। परिणामस्वरूप उन्होंने बेरोकटोक अपने मवेशी चराये और लम्बे अरसे तक यह गतिविधि जारी रखने का नतीजा धरती की उर्वरता घटने में निकला। शामलात की ज़मीन की यह हालत होने पर उसका विपरीत असर सभी लोगों पर पड़ना लाजमी था। इसलिए संसाधनों की कमी की स्थिति में साझा स्वामित्व पर किसी न किसी राजनीतिक प्राधिकार द्वारा किये गये विनियमन को लागू करना पड़ता है।

साझा सम्पत्ति जैसे ही किसी राजनीतिक प्राधिकार की मातहत में जाती है, वैसे ही वह कमोबेश राजकीय सम्पत्ति या सरकारी सम्पत्ति का रूप ले लेती है। दिलचस्प बात यह है कि सरकारी सम्पत्ति में सम्पत्ति के निजी और साझा रूपों के पहलू झलकते हैं। राज्य तक्ररीबन उसी तर्क के आधार पर सम्पत्ति हासिल करता है जो साझा सम्पत्ति का आधारभूत तर्क है। निजी कॉरपोरेट कम्पनियों के विपरीत सरकार अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक हित में इस्तेमाल करने का दावा करती है, और जनता के नाम पर उसका नियंत्रण और संचालन नौकरशाहों के हाथ में दे देती है। दूसरे अर्थों में राज्य की सम्पत्ति के बहुत से रूप लगभग निजी सम्पत्ति की तरह होते हैं। राज्य को अपने विधायी, कार्यपालिका और न्यायपालिका संबंधी कामकाज पूरे करने के लिए एक सीमा तक सम्पत्ति की जरूरत होती है। आम लोग उनके परिसर में घुस भी नहीं सकते। वे निजी सम्पत्ति को तो किराये पर ले सकते हैं, पर सरकारी सम्पत्ति के सार्वजनिक इस्तेमाल की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सरकारी सम्पत्ति का दायरा राज्य के चरित्र के मुताबिक तय होता है। कम्युनिस्ट पार्टी की हुकूमत वाले राज्य उत्पादन के सभी साधनों का अधिग्रहण कर लेते हैं और जनता के नाम पर उसका संचालन करते हैं। सोवियत शैली की राज्य व्यवस्थाओं की सम्पत्ति संबंधी समझ यह थी कि सहकारीकरण और सामूहिकीकरण के जरिये निजी सम्पत्ति के मुकाबले बेहतर सामाजिक दायित्वों वाले स्वामित्व को कारगर किया जा सकता है। गैर-कम्युनिस्ट लेकिन कल्याणकारी राज्य में विश्वास करने वाली व्यवस्थाएँ भी बड़े पैमाने पर उद्योगों को सरकारी मालिकाने में रखती हैं। एक केंद्रीकृत नियोजन-तंत्र के निर्देशन के तहत अधिकारीतंत्र के माध्यम से पब्लिक सेक्टर नामक राजकीय सम्पत्ति के इस विशाल दायरे का वैज्ञानिक प्रबंधन करने की कोशिश की जाती है। इन संरचनाओं को राजकीय पूँजीवाद की संज्ञा भी दी गयी है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकेल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारीयत, सम्पत्ति, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एंड्रू हेवुड (2004), 'प्रॉपर्टी, प्लानिंग ऐंड मार्केट', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
2. एंड्रू रीव (1986), *प्रॉपर्टी*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंग्टोक, 1986
3. ए. रायन (1984), *द पॉलिटिकल थियरी ऑफ प्रॉपर्टी*, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

सम्प्रभुता

(Sovereignty)

युरोप में आधुनिक राज्य के उदय के परिणामस्वरूप सत्रहवीं सदी में सम्प्रभुता की अवधारणा का जन्म हुआ। मध्य युरोप में युरोपीय राजशाहियों और साम्राज्यों में सत्ता राजा, पोप और सामंतों के बीच बँटी रहती थी। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में सामंतवाद के तिरोहित होने और उधर प्रोटेस्टेंट मत के उभार के कारण कैथोलिक चर्च की मान्यता में हास होने से सम्प्रभु राज्यों को पनपने का मौक़ा मिला। सम्प्रभुता का मतलब है सम्पूर्ण और असीमित सत्ता। लेकिन इसके निहितार्थ इतने सहज नहीं हैं। महज़ इस अर्थ से यह पता नहीं

चलता कि आखिर इस सम्पूर्ण सत्ता की संरचना में क्या-क्या शामिल है? क्या इसका मतलब किसी सर्वोच्च वैधानिक प्राधिकार से होता है या फिर इसका संबंध एक ऐसी राजनीतिक सत्ता से है जिसे चुनौती न दी जा सके? सम्प्रभुता के अर्थ संबंधी इसी तरह के विवादों के कारण उन्नीसवीं सदी से ही इसे दो भागों में बाँट कर समझा जाता रहा है : विधिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता। इस अवधारणा को व्यावहारिक रूप से आंतरिक सम्प्रभुता और बाह्य सम्प्रभुता के तौर पर भी ग्रहण किया जाता है। सम्प्रभुता के आंतरिक संस्करण का मतलब है राज्य के भीतर होने वाले सत्ता के बँटवारे में यानी राजनीतिक प्रणाली के भीतर सर्वोच्च सत्ता का मुक़ाम। बाह्य संस्करण का तात्पर्य है अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के तहत राज्य द्वारा एक स्वतंत्र और स्वायत्त वजूद की तरह सक्रिय रह पाने की क्षमता का प्रदर्शन। सम्प्रभुता की अवधारणा आधुनिक राष्ट्र और राष्ट्रवाद के आधार में भी निहित है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता, स्व-शासन और सम्प्रभुता के विचारों के मिले-जुले प्रभाव के बिना अ-उपनिवेशीकरण के उस सिलसिले की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसके तहत द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में बड़े पैमाने पर नये राष्ट्रों की रचना हुई।

विधिक और राजनीतिक सम्प्रभुता के बीच अंतर का एक बौद्धिक इतिहास है जिसे समझने के लिए ज्याँ बोदॉ और थॉमस हॉब्स के तत्संबंधित मतभेदों पर नज़र डालनी होगी। बोदॉ ने अपनी रचना *द सिक्स बुक्स ऑफ कॉमनवील* (1576) में एक ऐसे सम्प्रभु के पक्ष में तर्क दिया है जो खुद क़ानून बनाता है, पर स्वयं को उन क़ानूनों के ऊपर रखता है। इस विचार के मुताबिक़ क़ानून का अर्थ है लोगों को सम्प्रभु के आदेश पर चलाना। इसका मतलब यह नहीं बोदॉ यहाँ किसी निरंकुश शासक की वकालत करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि क़ानून बनाने और उनका अनुपालन कराने वाला सम्प्रभु शासक एक उच्चतर क़ानून (ईश्वर या प्राकृतिक क़ानून) के अधीन रहेगा। यानी लौकिक शासक के प्राधिकार पर दैवी क़ानून की मुहर ज़रूरी होगी। बोदॉ के इस विचार के विपरीत हॉब्स अपनी रचना *लेवायथन* (1651) में सम्प्रभुता के विचार की व्याख्या प्राधिकार के संदर्भ में न करके सत्ता के संदर्भ में करते हैं। हॉब्स से पहले सेंट ऑगस्टीन ने एक ऐसे सम्प्रभु की ज़रूरत पर बल दिया था जो मानवता में अंतर्निहित नैतिक बुराइयों को काबू में रखेगा। इसी तर्क का और विकास करते हुए हॉब्स ने सम्प्रभुता को दमनकारी सत्ता पर एकाधिकार के रूप में परिभाषित करते हुए सिफ़ारिश की कि यह ताक़त अकेले शासक के हाथ में होनी चाहिए। हालाँकि हॉब्स निर्बाध राजशाही को प्राथमिकता देते थे, पर वे यह मानने के लिए भी तैयार थे यह सत्ता शासकों के एक छोटे से गुट या किसी लोकतांत्रिक सभा के हाथ में

भी हो सकती है।

बोर्दाँ और हॉब्स के बीच की यह बहस बताती है कि विधिक सम्प्रभुता राज्य के क़ानून को सर्वोपरि मानने पर टिकी हुई है। इसके विपरीत राजनीतिक सम्प्रभुता सत्ता के वास्तविक वितरण से जुड़ी हुई है। इस फ़र्क़ के बावजूद यह भी मानना पड़ेगा कि सम्प्रभुता की व्यावहारिक धारणा में विधिक पहलू भी होते हैं और राजनीतिक भी। आधुनिक राज्यों की सम्प्रभुता क़ानून की सर्वोपरिता पर भी निर्भर है और उस क़ानून का अनुपालन करवाने वाले सत्तामूलक तंत्र पर भी जिसके पास दमनकारी मशीनरी होती है। कोई भी क़ानून महज़ नैतिक बाध्यताओं के दम पर लागू नहीं होता। दण्ड देने वाली व्यवस्था, पुलिस, जेल और अदालतों के बिना उसे क़ायम नहीं किया जा सकता। विधिक और राजनीतिक सम्प्रभुता का यह समीकरण दोनों तरफ़ से कारगर होता दिखाई देता है। क़ानून को अपने अनुपालन के लिए अगर सत्ता के तंत्र की ज़रूरत है, तो सत्ता को अपनी वैधता के लिए क़ानून की संस्तुति की आवश्यकता पड़ती है। शासन को क़ानूनसम्मत और संविधानसम्मत होना पड़ता है, तभी उसकी वैधता क़ायम रह पाती है। केवल राजनीतिक सम्प्रभुता के दम पर तानाशाह सरकारें ही काम करती हैं। अगर सरकार लोकतांत्रिक है तो उसकी दमनकारी मशीनरी को क़ानून की सीमाओं में रह कर अदालतों के सम्मुख जवाबदेह रहना पड़ता है।

सम्प्रभुता के आंतरिक स्वरूप के प्रश्न पर राजनीतिक सिद्धांत के दायरों में काफ़ी बहस हुई है। आख़िर सर्वोच्च और असीमित सत्ता का मुक़ाम क्या होना चाहिए? क्या उसे किसी एक शासक के हाथ में रखा जाना श्रेयस्कर होगा या उसका केंद्र किसी प्रतिनिधित्वमूलक संस्था में निहित होना बेहतर होगा? सत्रहवीं सदी में फ़्रांस के सम्राट लुई चौदहवें ने दर्प से कहा था कि मैं ही राज्य हूँ। एक व्यक्ति के हाथ में सम्प्रभुता देने के पीछे तर्क यह है कि उस सूरत में सम्प्रभुता के अविभाज्य होने का गारंटी रहेगी। उसकी अभिव्यक्ति एक ही आवाज़ में होगी और उसमें कोई दूसरा प्राधिकार हस्तक्षेप नहीं कर पायेगा। सम्प्रभुता की इस सर्वसत्तावादी धारणा में प्रभावशाली हस्तक्षेप अट्टारहवीं सदी में किया गया जब ज्यॉ-ज़ाक रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की अवधारणा पेश की।

रूसो ने राजशाही की हुकूमत को ख़ारिज करते हुए अपनी रचना *सोशल कांट्रेक्ट* में लिखा : 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है, पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।' दरअसल, *सोशल कांट्रेक्ट* आधुनिक राजनीतिक दर्शन को एकदम नया रूप दे देती है। उनका सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के सामाजिक समझौते से अलग है। रूसो से पहले

के दार्शनिकों का यक़ीन था कि मनुष्य अपनी बुद्धिगत क्षमताओं के कारण दूसरे प्राणियों से भिन्न है, जबकि रूसो मानते हैं कि इनसान नैतिक चुनाव की क्षमता के कारण अलग है। अगर उसे यह चुनाव करने की आज़ादी न दी जाए तो वह दास से अधिक कुछ नहीं रह जाएगा। चूँकि समाज तरह-तरह की अ-स्वतंत्रताओं से भरा हुआ है और मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता के शुरुआती संसार में नहीं लौट सकता, इसलिए रूसो तजवीज़ करते हैं कि उसे अपनी उस आज़ादी का विनिमय नागरिक स्वतंत्रता से करना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को एक-दूसरे से मिल कर संगठन बनाना होगा, सामाजिक अस्तित्व रचना होगा जिसके तहत सभी लोग अपने अधिकार त्याग देंगे और बदले में नागरिक के रूप में अधिकार प्राप्त करेंगे, एक सम्प्रभु के सदस्य के रूप में रहेंगे। अर्थात् एक संविधान बनाना पड़ेगा जिसके तहत हर व्यक्ति अधीन भी होगा और सहभागी नागरिक भी। केवल इसी तरह स्वतंत्रता की गारंटी की जा सकेगी। यह लोकतंत्र की अवधारणा थी, पर रूसो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाये जाने वाले लोकतंत्र या विधि-निर्माण से सहमत नहीं थे। प्राचीन यूनान के प्रत्यक्ष लोकतंत्र की तरह रूसो चाहते थे कि सभी नागरिक एक सार्वजनिक स्थान पर जमा हो कर विधि निर्माण करें। अल्पमत को बहुमत द्वारा लिए गये निर्णय के अधीन होने से बचाने के लिए रूसो ने सर्वसम्मति का पक्ष लिया जिसे कारगर बनाने के लिए उन्होंने अपने सबसे विख्यात सिद्धांत 'जन-इच्छा' (जर्नल विल) का सूत्रीकरण किया। 'जन-इच्छा' के आधार पर रचे गये क़ानून के पालन का मतलब था स्वयं अपनी इच्छा का पालन करना।

रूसो द्वारा प्रवर्तित 'जन-इच्छा' का सिद्धांत आगे चल कर आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत का आधार बना। रूसो ने ऐसे नागरिकों के सहज समुदाय कल्पना की थी जो ऊँच-नीच के संबंधों से परे समानता और एकता के वाहक होंगे, इसलिए उन्हें विश्वास था कि उनके बीच में 'जन-इच्छा' उपलब्ध करना आसान होगा। लेकिन रूसो कभी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये कि नागरिकों की आम सभा में व्यक्त की जाने वाली इच्छाओं में से 'जर्नल-विल' कैसे निकलेगी। इसलिए अंत में वे यह कहते हुए नज़र आये कि अगर 'जन-इच्छा' नहीं उपलब्ध हो पा रही है तो बहुमत की इच्छा को ही उसका पर्याय मान लिया जाना चाहिए।

सम्प्रभुता के सिद्धांत को उदारतावादी-लोकतांत्रिक विचार के पैरोकारों ने आड़े हाथों भी लिया है। उनका कहना है कि बहुलतावादी और लोकतांत्रिक शासन के संदर्भ में सम्प्रभुता की धारणा अनावश्यक है। ये लोग सम्प्रभुता के विचार को उसके सर्वसत्तावादी अतीत से पीड़ित और इसलिए अवांछनीय मानते हैं। उनका कहना है कि लोकतांत्रिक सरकारों दमनकारी मशीनरी द्वारा थोपे जाने वाले कथित रूप से

विधिसम्मत शासन द्वारा नहीं चलतीं। वे तो नियंत्रण और संतुलन के समीकरण और उसके आधार पर बने नेटवर्क के जरिये शासन करती हैं। दरअसल, संघात्मक चरित्र वाले आधुनिक राज्यों में आंतरिक सम्प्रभुता का केंद्र तय करना बहुत मुश्किल है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और भारत जैसे संघात्मक राज्यों में सरकार दो स्तरों में विभाजित है और प्रत्येक स्तर के पास अपने स्वायत्त अधिकार हैं। इस प्रकार के राज्यों में सम्प्रभुता केंद्र और परिधि के बीच साझेदारी के रूप में उभरती है। ऐसी परिस्थिति में अगर कोई अविभाजित सम्प्रभु है तो वह है संविधान जो केंद्र को भी सम्प्रभुता सम्पन्न बनाता है, और राज्यों को भी।

बाह्य सम्प्रभुता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी राज्य की हैसियत की द्योतक है। इस तरह की परिस्थितियाँ भी होती हैं कि किसी राज्य में आंतरिक सम्प्रभुता पर विवाद चलता रहता है, पर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी बाह्य सम्प्रभुता का आदर किया जाता है। वैसे भी लोकतंत्रों के युग में आंतरिक सम्प्रभुता के मसले अब इतने ज्यादा अहम नहीं माने जाते, पर बाह्य सम्प्रभुता का प्रश्न पहले से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो चुका है। ऐसे कई अंतर्राष्ट्रीय विवाद हैं जिनमें एक देश की सम्प्रभुता का दावा दूसरे देश की तरफ से अपनी सम्प्रभुता के लिए चुनौती के रूप में देखा जाता है। फ़िलिस्तीनियों द्वारा अपने सम्प्रभु राष्ट्र के लिए चलाया जाने वाला आंदोलन इजरायल को अपनी सम्प्रभुता के क्षय का कारक लगता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, समाजवाद, सरकारीयत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. कृष्णा मेनन (2008), 'सॉवरनिटी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. ज्याँ हैम्पटन (1988), *हॉब्स ऐंड द सोशल कंट्रैक्ट ट्रेडिशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.
3. डेविड हेल्ड (1989), *पॉलिटिकल थियरी टुडे*, पॉलिटि प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.
4. एफ.एच. हिंसले (1986), *सोवरनिटी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

— अभय कुमार दुबे

समाज-कार्य

(Social Work)

समाज-कार्य का अर्थ है सकारात्मक, सुचिंतित और सक्रिय हस्तक्षेप के माध्यम से लोगों और उनके सामाजिक माहौल बीच अन्योन्यक्रिया प्रोत्साहित करके व्यक्तियों की क्षमताओं को बेहतर करना ताकि वे अपनी जिंदगी की जरूरतें पूरी करते हुए अपनी तकलीफ़ों को कम कर सकें। इस प्रक्रिया में समाज-कार्य लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति करने और उन्हें अपने ही मूल्यों की कसौटी पर खरे उतरने में सहायक होता है। समाज-कार्य एकदम नया अनुशासन है जिसका प्रादुर्भाव हुए अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं। अक्सर लोग समाजशास्त्र एवं समाज-कार्य को एक ही समझ लेते हैं। हालाँकि समाज-कार्य का अधिकांश ज्ञान समाजशास्त्रीय सिद्धांतों से लिया गया है, लेकिन समाजशास्त्र जहाँ मानव-समाज और मानव-संबंधों के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करता है, वहीं समाज-कार्य इन संबंधों में आने वाले अंतरों एवं सामाजिक परिवर्तन के कारणों की खोज क्षेत्रीय स्तर पर करने के साथ-साथ व्यक्ति के मनोसामाजिक पक्ष का भी अध्ययन करता है। समाज-कार्य करने वाले कर्ता का आचरण विद्वान की तरह न होकर समस्याओं में हस्तक्षेप के जरिये व्यक्तियों, परिवारों, छोटे समूहों या समुदायों के साथ संबंध स्थापित करने की तरफ उन्मुख होता है। इसके लिए समाज-कार्य का अनुशासन पूर्ण रूप से प्रशिक्षित और पेशेवर कार्यकर्ताओं पर भरोसा करता है।

इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले चर्च के माध्यम से ही जन-कल्याणकारी कार्य किये जाते थे। धीरे-धीरे स्थिति बदली और जन-सहायता को विधिक रूप प्रदान किया जाने लगा। इंग्लैण्ड में 1536 में एक क़ानून बना जिसमें निर्धनों की सहायता के लिए कार्य-योजना बनायी गयी।

अट्टारहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैण्ड और अमेरिका में सरकारों द्वारा निर्धनों व अशक्तों को समाज की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए कई कानूनों का निर्माण किया गया। व्यक्तियों का मनोसामाजिक पक्ष सुधारने हेतु 1869 में लंदन चैरिटी संगठन तथा अमेरिका में 1877 में चैरिटी ऑर्गनाइजेशन सोसाइटी ने पहल ली। इन संस्थाओं ने समुचित सहायता करने के लिए जरूरतों की पड़ताल तथा संबंधित व्यक्तियों का पंजीकरण करना प्रारम्भ किया। इस प्रक्रिया में मनोसामाजिक स्थिति सुधारने के लिए बातचीत करना एवं भौतिक सहायता को भी शामिल किया। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसके जरिये संस्था के कार्यकर्ता अपने पास आये व्यक्ति अर्थात् सेवार्थी को स्वावलम्बी बनाते थे। धीरे-धीरे इस प्रक्रिया ने सुचिंतित प्रणालीबद्ध रूप ग्रहण कर लिया। 1887 में न्यूयॉर्क में कार्यकर्ताओं को इन कामों के लिए प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया गया। अमेरिका में इस प्रकार के प्रशिक्षण हेतु 1910 में दो वर्ष का पाठ्यक्रम शुरू हुआ।

भारत में भी समाज-कल्याण हेतु राजाओं द्वारा दान देने का चलन था, यज्ञ करवाये जाते थे एवं धर्मशालाओं इत्यादि का निर्माण होता था। अट्टारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप होने वाले सुधार कार्यक्रमों ने भारतीय जनमानस को प्रभावित किया और ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा राजा राममोहन राय वगैरह के प्रयासों द्वारा विधवा विवाह प्रारम्भ हुआ और सती प्रथा पर रोक लगी। इसके अतिरिक्त गोपाल कृष्ण गोखले, एनी बेसेंट आदि ने भारत में आधुनिक समाज सुधारों को नयी दिशा दी। 1905 में गोखले ने सर्वेयर्स ऑफ इण्डिया की स्थापना करके स्नातकों को समाज सेवा के लिए प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। इन प्रशिक्षुओं को वेतन भी दिया जाता था। इस तरह इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा भारत में समाज-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु समाज-कार्य की नींव पड़ी जिसके तहत सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति की पूर्ण सहायता हेतु प्रशिक्षण प्राप्त करता है। 1936 में भारत में समाज-कार्य के शिक्षण एवं प्रशिक्षण हेतु बम्बई में सर दोराब जी टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ सोशल वर्क की स्थापना हुई। आज देश में सौ से भी अधिक संस्थानों में समाज-कार्य की शिक्षा दी जाती है। समाज-कार्यकर्ता केवल उन्हीं को कहा जाता है जिन्होंने समाज-कार्य की पूरी तरह से पेशेवर शिक्षा प्राप्त की हो, न कि उन्हें जो स्वैच्छिक रूप से समाज कल्याण का कार्य करते हैं। स्वैच्छिक समाज-कल्याण के प्रयासों को समाज-सेवा की संज्ञा दी जाती है, और इन गतिविधियों में लगे लोग समाज-सेवी कहलाते हैं।

1926 में एलिस चेनी ने समाज-कार्य की गतिविधि परिभाषित करते हुए कहा कि इसके तहत ऐसी आवश्यकताओं, जो सामाजिक संबंधों से संबंधित हैं तथा जो

वैज्ञानिक ज्ञान एवं ढंगों का उपयोग करती हैं, के संदर्भ में लाभ प्रदान करने के सभी ऐच्छिक प्रयास सम्मिलित हैं। इसके पश्चात् कई विद्वानों ने समाज-कार्य को अपने-अपने शब्दों में परिभाषित करने का प्रयास किया। जुलाई, 2000 में अंतर्राष्ट्रीय फेडरेशन ऑफ सोशल वर्क ने समाज-कार्य की नवीनतम परिभाषा देते हुए कहा कि समाज-कार्य का काम सामाजिक परिवर्तन, मानव-संबंधों में समस्या समाधान, व्यक्तियों के सशक्तीकरण और स्वतंत्रता को बढ़ावा देना है। मानव-व्यवहार एवं सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांतों का उपयोग करते हुए समाज-कार्य उस बिंदु पर हस्तक्षेप करता है जहाँ व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ अंतःक्रिया करते हैं। मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय के सिद्धांत समाज-कार्य के लिए बुनियादी महत्त्व के हैं। अतः कहा जा सकता है कि समाज-कार्य व्यक्ति के सामाजिक पर्यावरण से तारतम्य स्थापित करने के प्रयास का नाम है। वह ध्यान रखता है कि यदि इस पर्यावरण से व्यक्ति का सामंजस्य स्थापित नहीं होता, तो समाज टूटने की स्थिति में पहुँच जाएगा। आजकल समाज-कार्य के कार्यक्षेत्र में बहुत वृद्धि हो चुकी है। अब वह व्यक्ति के प्राकृतिक और भौतिक पर्यावरण में होने वाली समस्याओं के निराकरण में भी हस्तक्षेप करता है।

समाज-कार्य के तहत व्यावसायिक दृष्टि से विकसित छह प्रणालियों के माध्यम से लोगों की मदद की जाती है। ये हैं : सामाजिक वैयक्तिक कार्य, समूह समाज-कार्य, सामुदायिक संगठन, समाज-कल्याण प्रशासन, समाज-कार्य शोध और सामाजिक क्रिया।

सामाजिक वैयक्तिक कार्य के तहत एक समय में केवल एक व्यक्ति ही सेवा-कार्य का केंद्र होता है। इसमें व्यक्ति की आंतरिक एवं बाहरी क्षमताओं का पता लगाकर उसका उसके पर्यावरण से समायोजन स्थापित कराया जाता है। समूह समाज-कार्य में व्यक्ति की सहायता समूह के माध्यम से की जाती है। हालाँकि समूह-कार्य एक प्राचीन विधा होने के बावजूद इसे व्यावसायिकता के प्रतिमानों पर विकसित करके नयी तकनीक से सम्पन्न किया गया है। इसमें समूह में लोकतांत्रिक गुणों का विकास कर नेतृत्व तैयार किया जाता है ताकि समूह के सदस्य अपनी समस्याओं का समाधान लोकतांत्रिक तरीके से कर सकें। समूह-कार्यकर्ता संस्था के माध्यम से समूह का विकास विभिन्न स्तरों पर करता है। वह सदस्यों में मैं के बजाय हम की भावना का विकास करता है। सामुदायिक संगठन एक प्रक्रिया है जिसका तात्पर्य किसी समुदाय या समूह में लोगों द्वारा आपस में मिल कर कल्याण कार्यों की योजना बनाकर उसे क्रियान्वित करना है। समुदाय एक नगर का, क्षेत्र का या पूरा नगर, राज्य, देश या सभी कुछ हो सकता है। समाज-कार्यकर्ता समुदाय को संसाधनों की खोज करने में सहायता करता है एवं समस्या विशेष के

समाधान हेतु उनका मार्गदर्शन करता है। समाज-कल्याण प्रशासन का तात्पर्य ऐसी प्रक्रिया से है जिसके तहत समाज कल्याण क्षेत्र की सार्वजनिक और निजी संस्थाओं का संगठन एवं उनका प्रबंधन किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक विकास हेतु लोकतांत्रिक नियोजन द्वारा कल्याणकारी समाज की स्थापना करना है। समाज-कल्याण प्रशासक न केवल संस्था के कार्यों को सम्पादित करता है बल्कि वह संस्थाओं को निरंतर उन्नति की दिशा में बढ़ाने का प्रयास करता है। समाज-कार्य शोध किसी भी संबंधित समस्या के पीछे छिपे कारणों का पता लगता है और फिर उनका समाधान प्रस्तुत करता है। समाज-कार्य शोध एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाज-कार्य की प्रणालियों का परीक्षण के तौर पर प्रयोग किया जाता है। परीक्षण सफल होने पर वह नज़ीर बनता है और भविष्य में समस्या विशेष हेतु उसी प्रणाली विशेष का उपयोग किया जाता है। जहाँ समाजशास्त्रीय शोध मात्र समस्या के कारणों की खोज करता है वहाँ समाज-कार्य शोध कारणों की खोज के साथ-साथ उनका निरोधात्मक और सुधारात्मक समाधान भी प्रस्तुत करता है। सामाजिक क्रिया के तहत आवश्यकतानुसार सामाजिक संस्थाओं, परिस्थितियों तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयास करने के साथ ही साथ अवांछित परिवर्तन रोकने का प्रयास भी किया जाता है। सामाजिक क्रिया का उद्देश्य सामाजिक उन्नति, सामाजिक परिवर्तनों का सूत्रपात, सामाजिक विधानों तथा समाज कल्याण संबंधी नीतियों के निर्माण में सहयोग देना है। सामाजिक क्रिया के अंतर्गत उठाया गया कोई भी क्रम मानवीय और व्यावसायिक मूल्यों पर आधारित होता है।

समाज-कार्य को इसलिए एक व्यवसाय की संज्ञा दी जाती है क्योंकि वह मुख्यतः यह एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध ज्ञान आधारित है। इसकी अपनी कुछ विशेष प्रणालियाँ, प्रविधियाँ तथा यंत्र हैं। विश्व भर में इसके शिक्षण एवं प्रशिक्षण हेतु संस्थानों की स्थापना हो चुकी है और निरंतर इनमें वृद्धि हो रही है। समाज-कार्य के विकास के साथ-साथ इसके व्यावसायिक संगठन भी बन रहे हैं, जिनसे इसका स्तर ऊँचा उठ रहा है। समाज-कार्य एक व्यवसाय के रूप में सरकार द्वारा अनुमोदित है। इसकी एक निश्चित आचार संहिता है जिसका पालन सभी कार्यकर्ताओं के लिए बहुत आवश्यक है। समाज-कार्य भी समाज-विज्ञान है परन्तु इसकी प्रकृति अन्य विषयों से भिन्न है। इसकी विशेषताएँ ही इसे अन्य समाज-विज्ञानों से अलग करती हैं। समाज-कार्य प्रभावपूर्ण सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक अनुकूलन के मार्ग में आने वाली सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से समाधान प्रस्तुत करता है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या,

उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेट, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. हेलेन हैरिस पर्लमैन (1957), *सोशल केस वर्क : अ प्रॉब्लम साॉल्विंग प्रॉसेस*, द युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. सुरेंद्र सिंह और पी.डी. मिश्र (2001), *समाज-कार्य : इतिहास, दर्शन एवं प्रणालियाँ*, न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ.
3. मेरी रिचमण्ड (1917), *सोशल डायग्नोसिस*, रसेल सेज फ़ाउंडेशन, न्यूयॉर्क.
4. रेक्स स्कडमोर, मिल्टन ठाकरे और विलियम फ़ारली (1997), *इंट्रोडक्शन टू सोशल वर्क*, एलिन एंड बेकन, बोस्टन.

— रोहित मिश्रा

समाजवाद

(Socialism)

आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक प्रत्यय के तौर पर समाजवाद निजी सम्पत्ति पर आधारित अधिकारों का विरोध करता है। उसकी एक बुनियादी प्रतिज्ञा यह भी है कि सम्पदा का उत्पादन और वितरण समाज या राज्य के हाथों में होना चाहिए। राजनीति के आधुनिक अर्थों में समाजवाद को अमूमन पूँजीवाद या मुक्त बाज़ार के सिद्धांत के बरअक्स रखा जाता है। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में समाजवाद युरोप में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में उभरे उद्योगीकरण की अन्योन्यक्रिया में विकसित हुआ है। ब्रिटिश राजनीतिक विज्ञानी हैरॉल्ड लॉस्की ने कभी समाजवाद को एक ऐसी टोपी कहा था जिसे कोई भी अपने अनुसार पहन लेता है। समाजवाद की विभिन्न क्रिस्में लॉस्की के इस चित्रण को काफ़ी हद तक रूपायित करती हैं। समाजवाद की एक क्रिस्म विघटित हो चुके सोवियत संघ के सर्वसत्तावादी नियंत्रण में चरितार्थ होती है जिसमें मानवीय जीवन के हर सम्भव पहलू को राज्य के नियंत्रण में लाने का आग्रह किया गया था। उसकी दूसरी क्रिस्म राज्य को यह ताक़ीद करती है कि वह अर्थव्यवस्था के नियमन द्वारा कल्याणकारी भूमिका निभाये। भारत में समाजवाद की एक अलग क्रिस्म के सूत्रीकरण की कोशिश की गयी है। राममनोहर

लोहिया, जय प्रकाश नारायण और नरेंद्र देव के राजनीतिक चिंतन और व्यवहार से निकलने वाले प्रत्यय को गाँधीवादी समाजवाद की संज्ञा दी जाती है जो गाँधी-विचार और समाजवादी परम्परा के चुनिंदा अंशों का संश्रय है।

समाजवाद का भावनात्मक ढाँचा गढ़ने में इंग्लैण्ड में सत्रहवीं सदी के दौरान ईसाइयत के दायरे में विकसित लेवलर्स तथा डिगर्स व सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में मध्य युरोप में विकसित होने वाले ऐनाबैपटिस्ट जैसे रैडिकल आंदोलनों की महती भूमिका रही है। लेकिन समाजवाद की आधुनिक और औपचारिक परिकल्पना फ्रांसीसी विचारकों सैं-सिमों और चार्ल्स फूरिए तथा ब्रिटिश चिंतक राबर्ट ओवेन की निष्पत्तियों से निकलती है। समाजवाद के ये शुरुआती विचारक व्यक्तिवाद और प्रतिस्पर्द्धा की जगह आपसी सहयोग पर आधारित समाज की कल्पना करते थे। उन्हें यक्रीन था कि मानवीय स्वभाव और समाज का विज्ञान गढ़ कर सामाजिक ताने-बाने को बेहतर रूप दिया जा सकता है। परंतु वांछित सामाजिक रूपों के ठोस ब्योरों, उन्हें हासिल करने की रणनीति तथा मानव प्रकृति की समझ को लेकर उनके बीच कई तरह के मतभेद थे। मसलन, सैं-सिमों तथा फूरिए रूसो के इस मत से सहमत नहीं थे कि मनुष्य की प्रकृति अपनी बनावट में तो अच्छी, उदात्त और विवेकपूर्ण है लेकिन आधुनिक समाज और निजी सम्पत्ति ने उसे भ्रष्ट कर दिया है। इसके विरोध में उनका तर्क यह था कि मानवीय प्रकृति के कुछ स्थिर और निश्चित रूप होते हैं जिनका परस्पर सहयोग के आधार पर आपस में मेल कराया जा सकता है। ओवेन का मत सैं-सिमों और फूरिए से भी अलग था। उनका कहना था कि मनुष्य की प्रकृति बाहरी परिस्थितियों से तय होती है और उसे इच्छित रूप दिया जा सकता है। इसलिए समाज की परिस्थितियों को इस तरह बदला जाना चाहिए कि मनुष्य की प्रकृति पूर्णता की ओर बढ़ सके। उनके अनुसार अगर प्रतिस्पर्द्धा और व्यक्तिवाद की जगह आपसी सहयोग और एकता को बढ़ावा दिया जाएगा तो समूची मनुष्यता का भला किया जा सकता है।

समाजवाद की राजनीतिक विचारधारा उन्नीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों के दौरान इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे युरोपीय देशों में लोकप्रिय होने लगी थी। उद्योगीकरण और शहरीकरण की तेज रफ्तार तथा पारम्परिक समाज के अवसान ने युरोपीय समाज को सुधार और बदलाव की शक्तियों का अखाड़ा बना दिया था जिसमें मजदूर संघों और चार्टरवादी समूहों से लेकर ऐसे गुट सक्रिय थे जो आधुनिक समाज की जगह प्राक्-आधुनिक सामुदायिकतावाद की वकालत कर रहे थे।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद का विचार सामाजिक और राजनीतिक उथलपुथल

की इसी पृष्ठभूमि में विकसित हुआ था। मार्क्स ने सैं-सिमों, फूरिए और ओवेन के विचारों से प्रेरणा तो ली, लेकिन अपने 'वैज्ञानिक' समाजवाद के मुकाबले उनके समाजवाद को 'काल्पनिक' घोषित कर दिया। इन पूर्ववर्ती चिंतकों की तरह मार्क्स समाजवाद को कोई ऐसा आदर्श नहीं मानते कि उसका स्पष्ट खाका खींचा जाए। मार्क्स और एंगेल्स समाजवाद को किसी स्वयं-भू सिद्धांत के बजाय पूँजीवाद की कार्यप्रणाली से उत्पन्न होने वाली स्थिति के रूप में देखते हैं। उनका मानना था कि समाजवाद का कोई भी रूप ऐतिहासिक प्रक्रिया से ही उभरेगा। इस समझ के चलते मार्क्स और एंगेल्स को समाजवाद की विस्तृत व्याख्या करने या उसे परिभाषित करने से भी गुरेज था। उनके लिए समाजवाद मुख्यतः पूँजीवाद के नकार में खड़ा प्रत्यय था जिसे एक लम्बी क्रांतिकारी प्रक्रिया के जरिये अपनी पहचान खूद गढ़नी थी। समाजवाद के विषय में मार्क्स की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना *क्रिटिक ऑफ द गोथा प्रोग्रैम* है जिसमें उन्होंने समाजवाद को साम्यवादी समाज के दो चरणों की मध्यवर्ती अवस्था के तौर पर व्याख्यायित किया है।

मार्क्स के मुताबिक साम्यवादी समाज के पहले चरण का समाज पूँजीवाद के अवसान के बाद अस्तित्व में आयेगा। इस चरण में शासक वर्ग के तौर पर मजदूर वर्ग को अपने शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए अपने राज्य यानी सर्वहारा की तानाशाही की जरूरत होगी। मार्क्स के अनुसार इस समाज का मानसिक ढाँचा बूज्वा विचारों और मूल्यों से प्रभावित होगा। हालाँकि इस दौर में आय का संबंध सम्पत्ति के स्वामित्व से नहीं रहेगा लेकिन उसका निर्धारण जरूरत के बजाय किये गये काम के आधार पर ही किया जाएगा। मार्क्स का कहना था कि इन सीमाओं के बावजूद इस व्यवस्था में उत्पादन शक्तियाँ पूँजीवाद द्वारा खड़ी की गयी जड़ताओं का अतिक्रमण कर देंगी। मार्क्स की परिकल्पना में साम्यवादी समाज के उच्चतर चरण में राज्य की जरूरत नहीं रहेगी; काम के प्रति एक नया नजरिया विकसित होगा जिसमें व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाएगा और उसका प्रतिफल व्यक्ति की जरूरतों के हिसाब से दिया जाएगा।

गौरतलब है कि मार्क्स की इस रचना का प्रकाशन उनकी मृत्यु के आठ साल बाद हुआ था। तब तक मार्क्सवादी सिद्धांतों में इसे ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जाता था। इस विमर्श को मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों में शामिल करने का श्रेय लेनिन को जाता है, जिन्होंने अपनी कृति *स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में मार्क्स के हवाले से समाजवाद को साम्यवादी समाज की रचना में पहला या निम्नतर चरण बताया। लेनिन के बाद समाजवाद मार्क्सवादी शब्दावली में इस तरह विन्यस्त हो गया कि कोई भी व्यक्ति या दल किसी खास वैचारिक दिक्कत के बिना खूद को समाजवादी या साम्यवादी कह सकता था। इस विमर्श की विभाजक रेखा इस बात से तय होती थी कि किसी

दल या व्यक्ति के लिए क्रांतिकारी गतिविधियों का तात्कालिक और दूरगामी लक्ष्य क्या है। यानी अगर कोई खुद को समाजवादी कहता था तो इसका मतलब यह होता था कि वह साम्यवादी समाज की रचना के पहले चरण पर जोर देता है। यही वजह है कि कई समाजवादी देशों में शासन करने वाले दल जब खुद को कम्युनिस्ट घोषित करते थे तो इसे असंगत नहीं माना जाता था।

बीसवीं शताब्दी में समाजवाद का अंतर्राष्ट्रीय प्रसार तथा सोवियत शासन व्यवस्था एक तरह से सहवर्ती परिघटनाएँ मानी जाती हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसने समाजवाद के विचार और उसके भविष्य को गहराई से प्रभावित किया है। मसलन, क्रांति के बाद सोवियत संघ उसके समर्थकों और आलोचकों, दोनों के लिए समाजवाद का पर्याय बन गया। सोवियत समर्थकों की दलील यह थी कि उत्पादन के प्रमुख साधनों के समाजीकरण, बाज़ार को केंद्रीकृत नियोजन के मातहत करने, तथा विदेश व्यापार व घरेलू वित्त पर राज्य के नियंत्रण जैसे उपाय अपनाने से सोवियत संघ बहुत कम अवधि में एक औद्योगिक देश बन गया। जबकि उसके आलोचकों का कहना था कि यह एक प्रचारित छवि थी क्योंकि विराट नौकरशाही, राजनीतिक दमन, ग़ैरबराबरी तथा लोकतंत्र की अनदेखी स्वयं ही समाजवाद के आदर्श को खारिज करने के लिए काफी थी। समाजवाद के प्रसार में सोवियत संघ की दूसरी भूमिका एक संगठनकर्ता की थी। समाजवादी क्रांति के प्रसार के लिए कम्युनिस्ट इंटरनेशनल जैसे संगठन की स्थापना करके उसने खुद को समाजवाद का हरावल साबित किया। इस संगठन ने विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियों का लम्बे समय तक दिशा-निर्देशन किया। सोवियत संघ की भूमिका का तीसरा पहलू यह था कि उसने पूर्वी युरोप में कई हमशक्ल शासन व्यवस्थाएँ क्रायम की। अंततः सोवियत संघ समाजवाद की प्रयोगशाला इसलिए भी माना गया क्योंकि रूसी क्रांति के बाद स्तालिन के नेतृत्व में यह सिद्धांत प्रचारित किया गया कि समाजवादी क्रांति का अन्य देशों में प्रसार करने से पहले उसे एक ही देश में मजबूत किया जाना चाहिए। कई विद्वानों की नज़र में यह एक ऐसा सूत्रीकरण था जिसने राष्ट्रीय समाजवाद की कई क्रिस्मों के उभार को वैधता दिलायी।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद शुरू हुई वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के दौरान समाजवाद और राष्ट्रवाद का यह संश्रय तीसरी दुनिया के देशों में समाजवाद के विकास का एक प्रारूप सा बन गया। चीन, वियतनाम तथा क्यूबा जैसे देशों में समाजवाद के प्रसार की यह एक केंद्रीय प्रवृत्ति थी।

सोवियत समर्थित समाजवाद के अलावा उसका एक अन्य रूप भी है जिसने पूँजीवादी देशों को अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभावित किया है। मसलन, समाजवाद के तर्क और उसके

आकर्षण को प्रति-संतुलित करने के लिए पश्चिम के पूँजीवादी देशों को अपनी अर्थव्यवस्था के साँचे को बदल कर उसे कल्याणकारी रूप देना पड़ा। इस संदर्भ में स्कैंडेनेवियाई देशों, पश्चिमी युरोप तथा आस्ट्रेलेशिया क्षेत्र के देशों में कोर्स के लोकोपकारी विचारों से प्रेरित होकर सोवियत तर्ज के समाजवाद का विकल्प गढ़ने का प्रयास किया गया। माँग के प्रबंधन, आर्थिक राष्ट्रवाद, रोज़गार की गारंटी, तथा सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र को मुनाफ़ाखोरी की प्रवृत्तियों से मुक्त रखने की नीति पर टिके इन कल्याणकारी उपायों ने एकबारगी पूँजीवाद और समाजवाद के अंतर को ही धुंधला कर दिया था। राज्य के इस कल्याणकारी मॉडल को एक समय पूँजीवाद की विसंगतियों— बेकारी, बेरोज़गारी, अभाव, अज्ञान आदि का स्थाई इलाज बताया जा रहा था। इस मॉडल की आर्थिक और राजनीतिक कामयाबी का सुबूत इस बात को माना जा सकता है कि अगर वामपंथी दायरों में इन उपायों की प्रशंसा की गयी तो दक्षिणपंथी राजनीति भी उनका खुला विरोध नहीं कर सकी। दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद तीन दशकों तक बाज़ार केंद्रित समाजवाद का यह मॉडल काफी प्रभावशाली ढंग से काम करता रहा।

लेकिन सातवें दशक में मंदी और मुद्रास्फीति की दोहरी मार तथा कल्याणकारी पूँजीवाद के गढ़ में बढ़ते सामाजिक और औद्योगिक असंतोष के कारण इस मॉडल के औचित्य को लेकर सवाल खड़े होने लगे। मार्क्सवादी शिविर के विद्वान भी लगातार यह कहते आ रहे थे कि कल्याणकारी भंगिमाओं ने असमानता और शोषण को खत्म करने के बजाय पूँजीवाद को ही मजबूत किया है। इस मॉडल का एक आपत्तिजनक पहलू यह भी प्रकट हुआ कि कामगार वर्ग को जीवन की बुनियादी सुविधाएँ प्रदान करने वाली मशीनरी के जरिये राज्य उस पर नियंत्रण करने की स्थिति में आ गया।

समाजवाद से प्रेरित लेकिन बाज़ार से संचालित इस कल्याणकारी मॉडल की समाजवादी नारीवादियों ने अलग ढंग से आलोचना की है। उनके अनुसार मॉडल के तहत लागू की गयी अनेक कल्याणकारी नीतियों में जेंडरगत पूर्वाग्रह पहले की तरह बरकरार रहे। इस तरह परिवार और काम से संबंधित नीतियों में स्त्रियों को कुछ इच्छित उद्देश्य हासिल करने के लिए मुख्यतः प्रजनन की भूमिका तक सीमित रखा गया। नारीवादी आलोचकों का यह भी कहना है कि इस कल्याणकारी राज्य के लाभ तो मध्यवर्गीय स्त्रियों तक ही सीमित रहे लेकिन राज्य की निगरानी और नियंत्रण का खमियाजा मजदूर वर्ग की स्त्रियों को उठाना पड़ा।

बाज़ार को क्रायम रखते हुए समाजवाद के कुछ तत्वों पर अमल करने वाले इस मॉडल का नव-उदारतावादी बुद्धिजीवी शुरू से ही विरोध करते आये थे। सातवें दशक में यह वर्ग जोर शोर से कहने लगा था कि समाजवाद न केवल अर्थव्यवस्था को जड़ बना देता है बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता

भी छीन लेता है। नवें दशक में जब सोवियत संघ के साथ पूर्वी युरोप की समाजवादी व्यवस्थाएँ एक के बाद एक ढहने लगी तो समाजवाद की इस आलोचना को व्यापक वैधता मिलने लगी। और समाजवाद के साथ इतिहास के अंत की भी बातें की जाने लगी। विजय के उन्माद में उदारवादी बुद्धिजीवियों ने यह भी कहा कि मनुष्यता के लिए पूँजीवाद ही एकमात्र विकल्प है लिहाजा अब उसके विकल्प की बात भूलकर केवल यह सोचा जाना चाहिए कि पूँजीवाद की कोई और शक्ति क्या हो सकती है।

वैधता के इस संकट के कारण इस अवधि में समाजवादी शिविर की अधिकांश प्रतिक्रियाओं और कार्यक्रमों का अंदाज़ आत्मरक्षात्मक रहा है। संस्थाओं, सिद्धांत तथा व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से भी समाजवादी गतिविधियों में जन-रुचि का ग्राफ़ काफ़ी नीचे गया है। निस्संदेह यह सब समाजवाद के गहरे संकट की ओर इशारा करता है परंतु चौतरफ़ा पस्ती के इस माहौल में जब भी रोज़गार हीन विकास, असुरक्षा तथा मानवीय गरिमा के ह्रास की बात की जाती है तो इस आलोचना के औज़ार लाजिमी तौर पर समाजवाद से ही लिए जाते हैं। बराबरी और सामूहिक कल्याण के समाजवादी मूल्य न केवल आज भी अपनी जगह पर क्रायम हैं बल्कि नयी शताब्दी के शुरुआती वर्षों में लातीनी अमेरिकी देशों के राजनीतिक रुझान, भूमण्डलीकरण के विश्वव्यापी विरोध तथा दुनिया के अलग अलग हिस्सों में चल रहे पर्यावरण आंदोलनों की शक्ति में एक बार फिर सतह पर लौट रहे हैं।

देखें : ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्च्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, बोल्शेविक क्रांति, क्यूबा की क्रांति, काल्पनिक समाजवाद, जय प्रकाश नारायण, जॉन मेनार्ड कींस, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, नरेंद्र देव, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, बाज़ार समाजवाद, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, राममनोहर लोहिया, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. पैरी ऐंडरसन और रॉबिन ब्लैकबर्न (1965), *टुवर्ड्स सोशलिज़्म*, फ़्रोंटाना लायब्रेरी, लंदन.
2. एच.डब्ल्यू. लैडलर (1948), *हिस्ट्री ऑफ़ सोशलिज़्म*, क्रोवैल, न्यूयॉर्क.
3. सी. लैण्डॉर (1959), *युरोपियन सोशलिज़्म : अ हिस्ट्री ऑफ़ आइडियाज़ ऐंड मूवमेंट्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
4. ज्यॉफ़ ईले (2002), *फ़ोर्जिंग डेमोक्रेसी : द हिस्ट्री ऑफ़ लेफ़्ट इन युरोप, 1850-2000*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— नरेश गोस्वामी

समाजवादी पार्टी

(Samajvadi Party)

समाजवादी पार्टी का राजनीतिक प्रभाव मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश में केंद्रित है। मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व वाली यह पार्टी राममनोहर लोहिया के समाजवादी आदर्शों का पालन करने का दावा करती है। विरासत के तौर पर इस पार्टी के पास लोहिया के साथ-साथ चरण सिंह की विरासत भी है। इस लिहाज़ से यह पिछड़ों के हक, उनके राजनीतीकरण, कुटीर उद्योग और हिंदी भाषा की समर्थक है। अपने गठन के बाद से ही समाजवादी पार्टी उत्तर प्रदेश में या तो सत्ता में रही है या फिर विपक्ष में। चूँकि उत्तर प्रदेश से लोकसभा के सबसे ज्यादा सदस्य चुने जाते हैं, इसलिए गठजोड़ राजनीति के दौर में समाजवादी पार्टी की भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण मानी जाती है। हिंदुत्ववादी राजनीति का लगातार विरोध करने के कारण यह वामपंथी दलों की भी चहेती पार्टी रही है। अपने गठन के बाद से तीसरे मोर्चे के राजनीतिक प्रयोगों में इसकी अहम भूमिका है।

समाजवादी पार्टी के संस्थापक मुलायम सिंह यादव खाँटी समाजवादी राजनेता के रूप में प्रसिद्ध हैं। युवावस्था में उन्होंने लोहिया से प्रभावित होकर राजनीति में आने का फैसला किया। उन्हें लोहिया और उनके प्रमुख अनुयायी राजनारायण के साथ काम करने का अवसर भी मिला। बाद में मुलायम सिंह ने उत्तर प्रदेश में अपने आधार के ज़रिये राष्ट्रीय राजनीतिक दावेदारी की तरफ़ बढ़ रहे चरण सिंह का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। 1977 में बनी जनता पार्टी सरकार में रामनरेश यादव के मुख्यमंत्रित्व में वे सहकारिता मंत्री बने। इसके बाद मुलायम सिंह यादव ने कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखा। 1989 में उत्तर प्रदेश में जनता दल को भाजपा के बाहरी समर्थन से सरकार गठित करने का अवसर मिला। मुलायम सिंह इस सरकार के मुख्यमंत्री बने। दिलचस्प तथ्य यह है कि उन्होंने चरण सिंह के बेटे अजित सिंह को विधायक दल के नेता के चुनाव में हराया था। अपनी सरकार की स्थिरता के लिए भाजपा पर निर्भर होने के बावजूद मुलायम सिंह ने भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति से कोई समझौता नहीं किया। यहाँ तक कि उन्होंने 1990 के अक्टूबर महीने में अयोध्या में बाबरी मसज़िद पर आक्रमण कर रहे उपद्रवी कारसेवकों के ख़िलाफ़ गोली चलाने के आदेश दिये। अपने दृढ़ फैसले के कारण एक ओर तो वे अल्पसंख्यकों और सेकुलर जमात में लोकप्रिय हुए, वहीं उन्हें भाजपा और दूसरे

दक्षिणपंथी ताकतों के आक्रोश का भी सामना करना पड़ा। भाजपा ने अपने अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा के बिहार में रोके जाने के विरोध में केंद्र की तत्कालीन विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार और साथ में राज्य की मुलायम सिंह सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। इस समय जनता दल के भीतर भी काफ़ी खींचतान चल रही थी जिसके परिणामस्वरूप देवीलाल और चंद्रशेखर ने जनता दल से अलग होकर समाजवादी जनता पार्टी बनायी। चंद्रशेखर को केंद्र में कांग्रेस के बाहरी समर्थन से सरकार बनाने का मौक़ा भी मिला। मुलायम सिंह यादव भी समाजवादी जनता पार्टी में शामिल हो गये और कांग्रेस की मदद से उनकी सरकार भी बच गयी। लेकिन 1991 में कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस ले लेने के कारण उनकी सरकार का पतन हो गया। 1991 में हुए राज्य विधानसभा चुनावों में भाजपा को बहुमत मिला। समाजवादी जनता पार्टी का राज्य में दूसरे स्थान पर रही। बहरहाल, राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी जनता पार्टी की स्थिति काफ़ी खराब हो चुकी थी। अतः मुलायम सिंह ने अपने लिए अलग और स्वतंत्र रास्ता चुनने का फैसला किया और 1992 में समाजवादी पार्टी का गठन किया।

समाजवादी पार्टी ने अपने गठन के बाद उत्तर प्रदेश में अपना आधार तेज़ी से फैलाया। असल में मुलायम सिंह पहले से ही पिछड़ों, ख़ासतौर पर यादवों और मुसलमानों में ख़ासे लोकप्रिय थे। इसलिए समाजवादी पार्टी को अपना आधार मजबूत बनाने में किसी ख़ास परेशानी का सामना नहीं करना पड़ा। 1993 में उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव बाबरी मसज़िद गिराये जाने के बाद की स्थिति में हो रहे थे और राज्य में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की स्थिति थी। मुलायम सिंह ने राजनीतिक समझदारी दिखाते हुए बहुजन समाज पार्टी (बसपा) से चुनावी गठजोड़ किया और कांशी राम के साथ संयुक्त रूप से पूरे राज्य में ज़बरदस्त चुनाव प्रचार किया। चुनावों में भाजपा की ऐतिहासिक हार हुई और सपा-बसपा गठबंधन की जीत हुई। इन चुनावों में सपा को 104 और बसपा को 61 सीटों पर जीत मिली। यह एक चमकदार राजनीतिक घटनाक्रम था, जिसके बारे में रजनी कोठारी जैसे राजनीतिशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया कि पिछड़े समूहों की यह राजनीतिक चेतना साम्प्रदायिक राजनीति का कारगर प्रतिकार है। लेकिन सपा-बसपा गठबंधन सरकार बहुत सुचारु रूप से काम नहीं कर पायी। इसका एक बड़ा कारण यह था कि बसपा और ख़ासतौर पर इसकी तत्कालीन महासचिव मायावती ने लगातार इस सरकार पर दबाव बनाया। आख़िरकार जून, 1995 में इस सरकार का पतन हो गया।

मुलायम सिंह की सरकार ने पिछड़ों-अल्पसंख्यकों की भलाई के लिए कई क़दम उठाये, लेकिन इस दौर में राज्य में अपराधों में भी ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई। बहरहाल, मुलायम सिंह सरकार से समर्थन वापस लेने के बाद बसपा ने भाजपा

के समर्थन से सरकार बनायी। लेकिन यह सरकार भी नहीं टिक सकी।

1996 के लोकसभा चुनावों के बाद केंद्र की राजनीति में सपा की भूमिका में काफ़ी महत्वपूर्ण हो गयी। इन चुनावों में किसी भी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भाजपा सरकार का 13 दिनों के भीतर ही पतन हो गया। इसके बाद ग़ैर-कांग्रेस और ग़ैर-भाजपा दलों ने मिलकर तीसरे मोर्चे के सरकार के गठन की क़वायद शुरू की और संयुक्त मोर्चा का गठन किया गया। यह कहा जाता है (ख़ुद मुलायम सिंह ने भी कई साक्षात्कारों में यह कहा है) कि वी. पी. सिंह और ज्योति बसु द्वारा सरकार के नेतृत्व करने से मना कर दिये जाने के बाद संयुक्त मोर्चे की सरकार के नेतृत्व के लिए मुलायम सिंह का नाम भी सामने आया। लेकिन कई नेताओं (विशेषकर लालू यादव) के विरोध के कारण वे प्रधानमंत्री नहीं बन पाये। बहरहाल मुलायम सिंह संयुक्त मोर्चा की दोनों सरकारों में रक्षा मंत्री रहे। लेकिन 1998 के चुनावों के बाद भाजपा के नेतृत्व में गठबंधन सरकार बन गयी और इसलिए केंद्र की राजनीति में सपा विपक्ष में आ गयी।

उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में 1996 में सपा अपने पहले के प्रदर्शन में कोई सुधार नहीं कर पायी और उसे राज्य विधानसभा में कुल 104 सीटों पर जीत मिली। 156 सीटों पर जीत के साथ भाजपा सबसे बड़े दल की रूप में उभरी और बसपा को 64 सीटों पर जीत मिली। कुछ महीनों तक राष्ट्रपति शासन रहने के बाद वहाँ भाजपा और बसपा में छह-छह महीने तक सरकार चलाने का समझौता हुआ। बहरहाल, छह महीने का अपना दौर ख़त्म होने के बाद बसपा ने भाजपा को सत्ता स्थानांतरित करने से मना कर दिया। लेकिन भाजपा ने बसपा में विभाजन करवा कर विधानसभा में अपना बहुमत साबित कर दिखाया। इस दौरान सपा ने राज्य में विपक्षी दल की भूमिका अदा की। 2002 में हुए राज्य विधानसभा चुनावों में सपा को 143 सीटों पर जीत मिली और यह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। बहरहाल, इन चुनावों के बाद एक बार फिर भाजपा के समर्थन से बसपा नेता मायावती की सरकार बनी। लेकिन यह सरकार छह महीने ही चल पायी। इसके बाद मुलायम सिंह के नेतृत्व में सरकार बनी, जिन्होंने कांग्रेस, निर्दलीय और अन्य छोटे दलों की मदद से बहुमत हासिल किया। मुलायम सिंह की इस सरकार का प्रदर्शन उल्लेखनीय नहीं रहा। ख़ास तौर पर, बिजली, पानी, सड़क के मुद्दों पर इनकी सरकार की छवि काफ़ी नकारात्मक बनती चली गयी। विरोधी दलों ने उनके शासन को 'गुंडाराज' की संज्ञा दी। 2007 के विधानसभा चुनावों के नतीजों पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव दिखा। इन चुनावों बसपा को पूर्ण बहुमत मिला।

नब्बे के दशक के आख़िरी वर्षों से ही समाजवादी

पार्टी में उसके महासचिव अमर सिंह के प्रभाव के तहत कॉरपोरेट घरानों और फ़िल्मी सितारों आदि को तरजीह दी जाने लगी थी। चुनावी जीत हासिल करने वाले समीकरण बनाने के चक्कर में मुलायम सिंह ने कट्टर हिंदुत्व का प्रतीक माने जाने वाले कल्याण सिंह को 2009 के संसदीय चुनावों के पहले अपनी पार्टी में शामिल कर लिया था। इससे सपा का आधार माने जाने वाले कुछ मुसलिम मतदाता भी नाराज हुए। इसका खामियाजा उन्हें 2009 के लोकसभा चुनावों में भुगतना पड़ा। इन चुनावों में सपा को सिर्फ़ 23 सीटों पर जीत मिली, जबकि 2004 में सपा को 35 सीटों पर जीत मिली थी। बहरहाल, इसके बाद मुलायम सिंह ने अपनी राजनीतिक भूल में सुधार किया। उन्होंने पहले कल्याण सिंह से नाता तोड़ा और बाद में अमर सिंह को भी बाहर का रास्ता दिखाया।

इसके साथ ही पार्टी में नेतृत्व के स्तर पर पीढ़ीगत बदलाव करने की भी कोशिश की गयी। मुलायम सिंह ने अपने पुत्र अखिलेश यादव को राजनीतिक रूप से ज्यादा सक्रिय किया। अखिलेश ने 2012 के विधानसभा चुनावों के काफ़ी पहले से पूरे प्रदेश का जम कर दौरा किया और कुछ खास तरह के मुद्दों पर पार्टी को नया रास्ता दिखाया। मसलन, उन्होंने पिछड़ी जातियों के युवाओं में नयी तकनीक और नये अवसरों से जुड़ने की प्रेरणा भरने की कोशिश की। हिंदी भाषा के प्रति आग्रह को क्रायम रखने के बावजूद उन्होंने अंग्रेज़ी विरोध को बहुत ज्यादा तरजीह नहीं दी। अपने विरोधियों के खिलाफ़ बेजा व्यक्तिगत या राजनीतिक आलोचना करने के बजाय उन्होंने लोगों के सामने अपना एजेंडा पेश किया। इन सब कारणों से 2012 के लोकसभा चुनावों में सपा को स्पष्ट बहुमत मिला और अखिलेश यादव राज्य के मुख्यमंत्री बने। समाजवादी पार्टी के नेता घोषित तौर पर यह मानते हैं कि अब उनका अगला और सबसे बड़ा लक्ष्य मुलायम सिंह को प्रधानमंत्री बनवाना है।

इस बात कोई संदेह नहीं है कि समाजवादी पार्टी देश के सबसे बड़े राज्य में पिछड़ी जातियों के राजनीतीकरण का प्रतिनिधित्व करती है। इस संदर्भ में अपनी राजनीतिक जीवन की शुरुआत से ही राममनोहर लोहिया के विचारों से गहराई से प्रभावित रहे मुलायम सिंह की भूमिका भी स्पष्ट है। लेकिन समाजवादी पार्टी की राजनीति की कई महत्वपूर्ण सीमाएँ भी रही हैं : पहला, समाजवादी पार्टी में परिवारवाद छाया हुआ है। मुलायम सिंह के परिवार के कई सदस्य राजनीति में उतर आये हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। यह सच है कि देश के कई दूसरे बहुत से दल भी परिवारवाद और वंशवाद से जकड़े हुए हैं, लेकिन समाजवादी पार्टी इस मामले में उनसे अलग साबित नहीं हुई है।

दूसरा, समाजवादी पार्टी पर अपराधी रेकार्ड रखने

वाले नेताओं को प्रश्रय देने का आरोप भी लगता रहा है। सपा ने कभी भी खुद को इस तरह के नेताओं से स्पष्ट रूप से दूर करने की कोशिश भी नहीं की। इसलिए सपा के खिलाफ़ इनके विरोधी (खासतौर पर बसपा) 'गुंडाराज को प्रश्रय देने' का आरोप लगाती रही है। तीसरा, पिछड़ी जातियों की राजनीति को आगे बढ़ाने और पिछड़ों में राजनीतिक जागरूकता लाने के बावजूद सपा ने इनकी आर्थिक स्थिति में बदलाव लाने के लिए कोई बुनियादी आर्थिक कार्यक्रम पेश नहीं किया। राजनीतिक प्रतिनिधित्व के संदर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि अति-पिछड़ी जातियों सपा के भीतर नेतृत्व के स्तर पर बहुत आगे नहीं आ पायीं। चौथा, अल्पसंख्यकों के संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। साम्प्रदायिकता विरोध के नाम पर उत्तर प्रदेश में मुसलमानों ने लगातार मुलायम सिंह को समर्थन किया। लेकिन सपा की सरकारें बनने के बावजूद उनकी आर्थिक या शैक्षणिक स्थिति में कोई जबरदस्त बदलाव नहीं आया है। पाँचवाँ, सपा राष्ट्रीय स्तर ज्यादा बड़ी भूमिका निभाना चाहती है। इसके लिए यह जरूरी है कि वह ग़ैर-कांग्रेसी, ग़ैर-भाजपायी दलों के साथ मुद्दों के आधार पर राजनीतिक समझ बनाने की कोशिश करे। लेकिन अधिकांश मौकों पर सपा का व्यवहार ऐसा नहीं रहा है कि दूसरे दल इससे जुड़ें। मसलन, 2012 के राष्ट्रपति चुनावों के समय सपा और तृणमूल कांग्रेस ने एक साथ कांग्रेस उम्मीदवार का विरोध करने का फैसला किया। लेकिन एक दिन बाद ही सपा अध्यक्ष अपने बयान से मुकर गये। इसी तरह, कई मौकों पर सपा ने संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार की जबरदस्त आलोचना की, मगर संसद में हमेशा उसका समर्थन किया। इससे ग़ैर-कांग्रेस और ग़ैर-भाजपा दलों के बीच सपा की राजनीतिक विश्वसनीयता कम हुई। छठा, सपा की राजनीति की एक सीमा यह भी रही है कि यह उत्तर प्रदेश के बाहर अपना विस्तार कर पाने में नाकाम रही है।

इन सीमाओं के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि पिछले दो दशकों की भारतीय राजनीति में सपा ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारतीय राजनीति में इसकी पहचान ऐसे दल के रूप में रही है जिसने पिछड़ों के राजनीतिक उभार को आगे बढ़ाने के साथ-साथ साम्प्रदायिक राजनीति के खिलाफ़ सख्त रुख अपनाया है। लेकिन सपा के देश की राजनीति में ज्यादा सार्थक भूमिका निभाने के लिए यह आवश्यक है कि वह नीतिगत आधार पर विश्वसनीय तरीके से तीसरे मोर्चे के निर्माण की कोशिश करे और यह प्रयास भी करे कि उत्तर प्रदेश से बाहर उसका विस्तार हो।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता

पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (1997), *मुलायम सिंह यादव : एक राजनीतिक अध्ययन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. जी. के. लिटेन (1994), 'ऑन कास्टिज़म ऐंड कम्युनलिज़म इन उत्तर प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 29, अंक 14.
3. स्मिता गुप्ता (2007). 'द मुस्लिम्स ऑफ़ उत्तर प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 23
4. एस. जी. और आर. आर. (1999), 'उत्तर प्रदेश : समाजवादी पार्टी होल्ड्स ग्रांड', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 34, नंबर 49.
5. राधिका रामाशेषन (2012), 'उत्तर प्रदेश इलेक्शन ऐंड समाजवादी पार्टी 'ज़ विकटरी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 47, नंबर 14.

— कमल नयन चौबे

समाजवादी वसंत-1

हंगरी में विद्रोह

(Socialist Spring-1)

सोवियत ख़ेमे में आने वाले तीन पूर्वी युरोपीय देशों (हंगरी, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया) में पचास और साठ के दशकों में घटी उन घटनाओं को समाजवादी वसंत का नाम दिया जा सकता है जिनके दौरान मार्क्सवादी विचारधारा के तहत एक अपेक्षाकृत खुला समाज बनाने की पहलकदमियाँ ली गयीं थीं। सभी प्रयास सोवियत संघ द्वारा बुरी तरह कुचल दिये गये ताकि इन देशों में एक पार्टी की तानाशाही जारी रखी जा सके। आज पूर्वी युरोप से सोवियत शैली की हुकूमतों का सफ़ाया हो चुका है और कम्युनिस्टों की राजनीतिक वापिसी की कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन पीछे मुड़ कर देखने से लगता है कि अगर इस अवधि के दोनों सोवियत शासकों (ख़ुश्चेव और ब्रेज़नेव) ने इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा बनायी गयी समाज और तंत्र के जनवादीकरण की

योजनाओं के सकारात्मक पहलुओं पर जोर दिया होता, तो इस क्षेत्र का इतिहास कुछ और भी हो सकता था। समाजवादी वसंत की पहली घटना हंगरी में घटी थी जिसके नायक वहाँ के कम्युनिस्ट नेता इमरे नागी थे। दूसरी घटना पोलैण्ड में घटी जिसके शिखर पर व्लादिस्लाव गोमुल्का थे जिन्होंने पोलिश जनता से समाजवाद के नये संस्करण की स्थापना का वायदा किया था। तीसरी घटना चेकोस्लोवाकिया में घटी जिसे प्राग वसंत के नाम से याद किया जाता है। इसका नेतृत्व वहाँ की पार्टी के महासचिव अलेक्सांदर दुबचेक के हाथ में था।

पूर्वी युरोप में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बल्गारिया, अल्बानिया, हंगरी और रोमानिया में जो पार्टियाँ शासन कर रही थीं, उनकी नीतियाँ न केवल सोवियत संघ में अपनायी जाने वाली नीतियों की प्रतिकृति थीं, बल्कि ये देश अपनी सुरक्षा के लिए भी सोवियत संघ पर निर्भर थे। 1955 में शीत-युद्ध के दबाव में हुए वारसा पैक्ट ने इन देशों को पूरी तरह से सोवियत संघ के उपग्रहों में बदल दिया था। 1953 में स्तालिन की मृत्यु और उसके बाद 1956 में सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में ख़ुश्चेव की 'सीक्रेट स्पीच' द्वारा प्रस्तावित अ-स्तालिनीकरण ने समाजवाद की बहुकेंद्रीय धारणा को बल दिया। एक सम्भावना जगी कि सभी देशों में एक ही ढर्रे का समाजवाद होना ज़रूरी नहीं है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद में प्रशिक्षित और सोवियत नेतृत्व के जाने-समझे इन तीनों नेताओं द्वारा अपने-अपने देशों की विशिष्ट परिस्थितियों में समाजवाद का एक भिन्न मॉडल स्थापित करने के प्रयासों की यही पृष्ठभूमि थी।

हंगरी में 1956 की घटनाओं को सर्वसत्तावाद के ख़िलाफ़ पहली क्रांति की संज्ञा दी जाती है। हान्ना एरेंट के मुताबिक़ यह क्रांति जन-परिषदों द्वारा संचालित स्वशासी समाज बनाना चाहती थी। हंगरी की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दमनकारी राज्य-तंत्र के चरित्र और नियोजित अर्थव्यवस्था की विफलताओं पर पहली उल्लेखनीय बहस स्तालिन की मृत्यु के बाद फूटी। 1953 में सुधारवादी रुझान के नेता इमरे नागी प्रधानमंत्री बने, लेकिन पार्टी और राज्य की बागडोर कट्टरपंथी समझे जाने वालों के हाथ में ही रही। नागी ने उद्योगीकरण की गति को धीमा किया और खेतिहर क्षेत्र में ज़बरन चलाये जा रहे सामूहिकीकरण को रोक दिया। उन्होंने जनता के जीवन-स्तर को बढ़ाने की नीतियाँ अपनायीं और राज्य-तंत्र के आंतक को घटाने में प्रमुख भूमिका निभायी। पार्टी की कट्टरपंथी ताकतों ने इसके ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया करते हुए 1955 में नागी को निष्कासित कर दिया। एक बार फिर 1953 से पहले वाली नीतियों को लागू करने का सिलसिला चला जिससे समाज के राजनीतिकृत हिस्सों में ख़ासा असंतोष पैदा हुआ।

सोवियत संघ की बीसवीं पार्टी कांग्रेस में ख़ुश्चेव द्वारा

दिये गये स्तालिन विरोधी भाषण की अनुक्रिया ने हंगरी के बुद्धिजीवियों के बीच एक जबरदस्त सुधार आंदोलन को जन्म दिया जिसमें प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी भी शामिल थे। जुलाई, 1956 में हंगरी के प्रमुख स्तालिनवादी नेता राकोसी को पार्टी के सचिव पद से इस्तीफा देना पड़ा। कई विश्वविद्यालयों में छात्रों ने अपने स्वतंत्र संगठन बना लिए। एक सोलह सूत्री माँग पत्र तैयार हुआ जिसमें लोकतंत्रीकरण और बुनियादी अधिकारों की वापिसी के साथ-साथ हंगरी को सोवियत संघ की मातहत से मुक्त करने की माँग भी शामिल थी। 23 अक्टूबर, 1956 को दोपहर बाद बुडापेस्ट में छात्रों ने एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन किया। ये छात्र पोलिश कम्युनिस्ट नेता गोमुल्का द्वारा किये जा रहे सुधारों के साथ अपनी एकजुटता जताना चाहते थे। शाम तक छात्रों के समर्थन में दो लाख लोग संसद भवन के सामने जमा हो गये। वहाँ लगी हुई स्तालिन की विशाल प्रतिमा को प्रदर्शनकारियों ने तोड़ डाला। प्रदर्शनकारियों ने 1848 में हुई उदारतावादी हंगरी क्रांति के उन्हीं प्रतीकों का इस्तेमाल किया जिनका इस्तेमाल करके 1948 में कम्युनिस्ट पार्टी ने खुद को लोकप्रिय बनाया था। उनका कहना था कि कम्युनिस्ट पार्टी के ढाँचे को लोकतांत्रिक बनाया जाना चाहिए, देश में बहुपार्टी प्रणाली स्थापित करके चुनाव कराये जाने चाहिए और इमरे नागी को फिर से प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

कम्युनिस्ट शासन ने स्टेट प्रोटेक्शन एथॉरिटी (एवीएच) द्वारा प्रदर्शनकारियों का दमन किया, क्योंकि बुडापेस्ट की पुलिस ने छात्रों के खिलाफ कार्रवाई करने से इनकार कर दिया था। 25 अक्टूबर को संसद के सामने चौक पर एवीएच द्वारा चलाई गयी गोली से सत्तर लोग मारे गये। इसके बाद संघर्ष शुरू हो गया, और लोकतंत्र के समर्थकों की तरफ से भी हमले हुए। हालात हाथ से पूरी तरह निकलते देख कर पार्टी के नेता एर्नो गेरो और सोवियत राजदूत यूरी आंद्रोपोव ने विद्रोह के दमन के लिए फ़ौज के इस्तेमाल का फ़ैसला किया, लेकिन हंगरी की फ़ौज ने इसका हिस्सा बनने से इनकार कर दिया। गेरो और आंद्रोपोव प्रतिरोध की तीव्रता देख कर चकित रह गये। सोवियत फ़ौजों के हाथों करीब ढाई सौ विद्रोहियों के मारे जाने के बावजूद प्रतिरोध जारी रहा। परिणामस्वरूप स्तालिनवाद विरोधी लड़ाई एक क्रिस्म के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में बदल गयी। 26 अक्टूबर तक हड़तालें और प्रतिरोध सारे देश में फैल चुके थे। जगह-जगह क्रांतिकारी संगठन उभरने लगे और पहले से मौजूद संगठनों के साथ उनका तालमेल बनने लगा। राष्ट्रीय परिषदों ने

जगह-जगह सत्ता पर क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया। 28 अक्टूबर तक क्रांति की यह प्रक्रिया गाँवों तक पहुँच गयी।

हालात देख कर नागी को फिर से प्रधानमंत्री बनाना पड़ा और जानोस कादार नये पार्टी सचिव बने। इन दोनों से पार्टी को उम्मीद थी कि वे मेल-मिलाप वाला रवैया अख़्तियार करते हुए सशस्त्र विद्रोह की भर्त्सना करेंगे और कुछ माँगों को मानने का रुख दिखाएँगे। सारे देश में सक्रिय हो चुके क्रांतिकारी संगठनों के कारण इस आंदोलन का फ़ौजी दमन नामुमकिन हो चुका था। नागी ने विद्रोहियों से हथियार डाल देने और समझौता वार्ता करने का आग्रह किया, पर उन्होंने शर्त रखी कि पहले सोवियत फ़ौजें वापिस जाएँ और बहुपार्टी प्रणाली स्थापित की जाए। विद्रोहियों की दृढ़ता देख कर नागी को भी अपनी हिचक



इमरे नागी (1896-1958)

छोड़नी पड़ी, और 30 अक्टूबर को उन्होंने सभी कट्टरपंथियों को बर्खास्त करते हुए अपनी सरकार को एक लोकप्रिय मोर्चा सरकार में बदल दिया। सोवियत संघ ने इसके खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया की और एक नवम्बर को खुश्चेव ने पूरी ताकत से दूसरे फ़ौजी हस्तक्षेप का फ़ैसला किया। जवाब में नागी ने हंगरी को तटस्थ राष्ट्र घोषित कर दिया ताकि रूसी हमले को किसी तरह की अंतर्राष्ट्रीय वैधता न मिल सके। इसके बाद प्रतिरक्षा के लिए एकीकृत नेशनल गार्ड का गठन किया गया। चार नवम्बर को सोवियत हमला शुरू हुआ जिसके खिलाफ़ पंद्रह हजार लोगों ने बहादुराना संघर्ष किया। करीब ढाई हजार लोग मारे गये जिनमें ज्यादातर युवा और मजदूर वर्ग के थे। नागी को गिरफ़्तार कर लिया गया। कादार ने सोवियत संघ का साथ देने का फ़ैसला किया। कठपुतली सरकार का नेता बनते ही उन्होंने नागी को मौत की सजा सुनायी। 22,000 लोग जेल में डाल दिये गये, 229 को फ़ाँसी पर लटका दिया गया और लोकतांत्रिक क्रांति के समर्थकों को अगले पाँच साल तक मार्शल लॉ के तहत अमानवीय अत्याचारों का सामना करना पड़ा।

हंगरी की क्रांति विफल हो गयी, लेकिन उसकी स्मृतियाँ इस देश के लोकतांत्रिक संघर्ष को लगातार प्रेरित करती रहीं। 1977 में 34 प्रमुख हंगरी बुद्धिजीवियों ने नागरिक अधिकारों की माँग करते हुए चार्टा-77 नामक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये। 1985 में 45 प्रमुख बुद्धिजीवियों ने अपने देश के बढ़ते हुए आर्थिक और सामाजिक संकट पर एक बैठक आयोजित की जिसमें सभी असंतुष्ट गुटों ने भाग लिया। अगले साल से विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हो गया, नये राजनीतिक संगठन बनाये

जाने लगे। गिरफ्तारियों और दमन से यह सिलसिला नहीं थमा। 22 मार्च, 1989 को राजनीतिक दलों, ट्रेड यूनियनों और सामाजिक संगठनों ने मिल कर नैशनल राउंड टेबल की रचना की। 1956 की क्रांति के नायक इमरे नागी और उनके साथियों के शव को दोबारा बाकायदा दफनाने के लिए दो लाख लोग जुटे। 23 अक्टूबर के दिन क्रांति की शुरुआत हुई थी, और उसी दिन हंगरी को गणराज्य घोषित किया करके राष्ट्रीय अवकाश मनाने का एलान किया गया। राउंड टेबल के परिणामस्वरूप देश की पहली गैर-कम्युनिस्ट सरकार चुनी गयी जिसने अगले साल 23 मई को सत्ता ग्रहण की।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख्तिन, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।



लेक वालेसा (1943-)

संदर्भ

1. हान्ना एरेंट (1962), 'रिफ्लेक्शंस ऑन द हंगेरियन रेवोल्यूशन', द ओरिजिंस ऑफ़ टोटेलियरनिज़्म, एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
2. फ्रेरेंस लाज़ो (2009), 'हंगरी, रेवोल्यूशन ऑफ़ 1956', इमैनुएल नैस (सम्पा.), द इंटरनैशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रेवोल्यूशन ऐंड प्रोटेस्ट, 1500 टू प्रजेक्ट, विली-ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
3. कारिन ई. न्यूमैन (2009), 'हंगरी, एंटी-कम्युनिस्ट प्रोटेस्ट्स, 1945-1989', इमैनुएल नैस (सम्पा.), द इंटरनैशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रेवोल्यूशन ऐंड प्रोटेस्ट, 1500 टू प्रजेक्ट, विली-ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
4. पी. केनी (2002), अ कार्निवाल ऑफ़ रेवोल्यूशन : सेंट्रल युरोप 1889, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अभय कुमार दुबे

समाजवादी वसंत-2

पोलैंड में मज़दूरों का विद्रोह

(Socialist Spring-2)

पचास के दशक में जिस समय हंगरी सोवियत जकड़ से बाहर निकलने की कोशिश करते हुए समाजवाद के भिन्न संस्करण की दावेदारियाँ पेश कर रहा था, उसी समय पोलैंड की कम्युनिस्ट पार्टी के सुधारवादी धड़े की तरफ से भी ऐसी ही राजनीतिक परियोजना चलाई जा रही थी। हंगरी में छात्रों के जिस शांतिपूर्ण प्रदर्शन से क्रांति की शुरुआत हुई थी, वह पोलैंड के कम्युनिस्ट नेता व्लादिस्लाव गोमुल्का द्वारा प्रस्तावित सुधारवादी एजेंडे का समर्थन करने के नाम पर ही आयोजित किया गया था। फ़रवरी, 1956 में हुई बीसवीं सोवियत पार्टी कांग्रेस में निकिता ख़ुश्चेव के उस ख़ुफ़िया भाषण की ख़बर ने रिस-रिस कर पूरे कम्युनिस्ट जगत में हलचल मचा दी थी जिसमें उन्होंने स्तालिन के शासन-काल की ज़्यादातियों का ब्योरा देते हुए समाज और तंत्र के अ-स्तालिनीकरण का आह्वान किया था। पोलिश कम्युनिस्टों के एक हिस्से ने एक क्रम आगे बढ़ कर इस भाषण का पूरा पाठ सार्वजनिक रूप से प्रकाशित कर दिया। परिणामस्वरूप न केवल पोलिश पार्टी सुधार के समर्थकों और विरोधियों में बँट गयी, बल्कि आम तौर पर पार्टी के भीतरी हलकों में चलने वाली बहस खुले आम होने लगी। कम्युनिस्ट शासन की प्रकृति पर आम सभाओं में प्रश्न उठाये जाने लगे। मज़दूर वर्ग की तरफ से अति-केंद्रित अर्थव्यवस्था, बदइंतज़ामी और नागरिक अधिकारों के अभाव की शिकायतें आने लगीं। किसानों की तरफ से अपनी ज़मीनें वापिस देने की माँग की गयी। विवाद के केंद्र में सोवियत प्रभुत्व से आज्ञादी की माँग थी। पार्टी ने इस बहस पर रोक लगाने की कोशिश की, पर तब तक हालात उसके हाथ से निकल चुके थे।

28 जून को पोज़नान की विशालकाय फ़ैक्ट्री में हड़ताल हो गयी। हज़ारों मज़दूरों ने औरतों-बच्चों समेत जुलूस निकाल कर पार्टी के स्थानीय अधिकारियों को एक शिकायत-पत्र थमा दिया। पार्टी द्वारा माँगों की उपेक्षा किये जाने पर यह प्रतिरोध तेज़ी के साथ पूरे देश में एक विद्रोह की तरह फैलता चला गया। विद्रोहियों ने सोवियत चौधराहट से मुक्त पोलैंड बनाने का आह्वान किया। इसे कुचलने के लिए सोवियत प्रशिक्षित रक्षा मंत्री मार्शल रोकोसोव्स्की ने चार सौ टैंकों और बख़्तरबंद गाड़ियों का इस्तेमाल किया। इस संघर्ष में 73 विद्रोही मारे गये, सैकड़ों बुरी तरह घायल हो गये और सात फ़ौजियों की भी जान गयी। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने इस घटना को अमेरिकी साज़िश का नतीजा क्रार दिया। लेकिन इसके फलितार्थ बहुत गहरे

साबित हुए। पार्टी के निचले स्तरों से हज़ारों प्रस्ताव वारसा स्थित मुख्यालय को भेजे जाने लगे जिनमें माँग की गयी थी कि सुधारवादी कम्युनिस्ट नेता गोमुल्का को पोलित ब्यूरो का फिर से सदस्य बनाया जाए। गोमुल्का 1944 से 48 के बीच सत्ता सँभाल चुके थे, और उन्हें दक्षिणपंथी भटकाव का शिकार बता कर हाशिये पर धकेल दिया गया था। अक्टूबर में गोमुल्का ने भी पहलक़दमी लेते हुए पोज़नान में हुए दमन की आलोचना की और कहा कि पार्टी को मज़दूर वर्ग के साथ अपने अलगाव पर फिर से गौर करते हुए अपने भीतर रैडिकल तब्दीलियाँ करनी चाहिए। उन्होंने सरकार का आकार छोटा करने, प्रमुख मंत्रालयों में जमे बैठे सोवियत सलाहकारों को मास्को वापिस भेजने, और कुल मिला कर दोनों देशों के संबंधों को समान धरातल पर लाने की माँग भी की। बदले में रोकोसोव्स्की ने पोलैंड में मौजूद रूसी फ़ौजों का इस्तेमाल करने की धमकी दी।

इसी समय अपने दो पोलित ब्यूरो सदस्यों के साथ ख़ुद ख़ुश्चेव वारसा पहुँचे। वार्ता शुरू हुई जिसमें सोवियत नेता ने अपने हितों की रक्षा के लिए किसी भी हद तक जा कर हस्तक्षेप करने की धमकी दी। गोमुल्का ने संयम दिखाते हुए ख़ुश्चेव को आश्वस्त किया कि वे न केवल एक पार्टी की हुकूमत के पक्ष में हैं, बल्कि सोवियत प्रणाली में बुनियादी तौर पर यक़ीन करते हैं। उन्होंने वारसा पैक्ट के प्रति भी अपनी निष्ठा जतायी। इस वार्ता के परिणामस्वरूप गोमुल्का को दोबारा पार्टी का नेता बनाया गया। उन्होंने वारसा के पैलेस ऑफ़ कल्चर के सामने तीन लाख से ज़्यादा नागरिकों को सम्बोधित करते हुए जानकारी दी कि सोवियत फ़ौजें बैरकों में लौट गयी हैं। अब समाजवाद के नये संस्करण की रचना की जाएगी जिसमें उद्यमशीलता को अधिक प्रोत्साहन दिया जाएगा और कारख़ानों का प्रबंधन मज़दूरों के हाथ में रहेगा। गोमुल्का ने कैथोलिक चर्च से भी अपील की कि वह राष्ट्र-निर्माण की देशभक्तिपूर्ण परियोजना में हाथ बँटाये। गोमुल्का के आग्रह पर सोवियत संघ ने अपने कई सलाहकार वापिस बुला लिए और मार्शल रोकोसोव्स्की को भी पेंशनयाफ़्ता कर दिया गया। पोलिश ज़मीन पर तैनात रूसी फ़ौजों की गतिविधियाँ नियंत्रित करने के लिए नये नियम बनाये गये। खेती के सामूहिकीकरण की कार्रवाई रोक दी गयी। चर्च की राजनीतिक गतिविधियों पर तो पाबंदी रही, पर उसे सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने की इजाज़त मिल गयी।

समाजवाद का यह संस्करण कुछ नया ज़रूर था, लेकिन बुद्धिजीवियों को इससे तसल्ली नहीं हुई। उन्हें अक्टूबर में गोमुल्का से की गयी घोषणाओं से कहीं ज़्यादा उम्मीद थी। उन्हें उस समय और निराशा हुई जब कुछ दिन पहले ही हटाई गयी सेंसरशिप फिर से लागू कर दी गयी।

स्वतंत्र बहस-मुबाहिसे करवाने वाले क्लब प्रतिबंधित कर दिये गये। मजदूरों को भी जल्दी ही लग गया कि दरअसल फ़ैक्ट्रियों के प्रबंधन में उनकी भागीदारी व्यावहारिक रूप से है ही नहीं। अर्थव्यवस्था फिर से जड़ता की तरफ़ जाने लगी।

1968 में वारसा विश्वविद्यालय के छात्रों ने अभिव्यक्ति की आज़ादी के प्रश्न पर पूरे देश में घूम-घूम कर प्रचार किया। गोमुल्का ने उनके ऊपर संशोधनवादियों का एजेंट होने का आरोप लगाया, उनके आंदोलन को 'यहूदी साजिश' करार दिया और उन्हें सज़ा देने के लिए विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की फ़ैकल्टियाँ भंग कर दी गयीं। एक हज़ार से ज़्यादा छात्र निकाल दिये गये। वारसा की टैक्निकल युनिवर्सिटी से भी डेढ़ हज़ार छात्र निकाले गये। यह छात्र आंदोलन गोमुल्का की हुकूमत को पहली गम्भीर चुनौती थी। दो साल बाद मजदूरों के ज़बरदस्त विद्रोह के कारण गोमुल्का को सत्ता छोड़नी पड़ी। सत्तर के दशक में इन्हीं विद्रोही छात्रों ने उस राजनीतिक आंदोलन की नींव डालने में प्रमुख भूमिका निभायी जिसका विकास आगे चल सोलिडरिटी के रूप में हुआ। 1988 से 1993 के बीच की अवधि पोलैण्ड के इतिहास में सोलिडरिटी नामक ट्रेड यूनियन द्वारा चलाये गये प्रतिरोध के सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के लिए जानी जाती है। एक ट्रेड यूनियन के रूप में सोलिडरिटी का गठन 1980-81 में ग़ैर-कम्युनिस्ट राजनीतिक शक्तियों, अर्थशास्त्रियों और मजदूर नेताओं की प्रेरणा और सक्रियता से हुआ था। इसकी भूमिका कमेटी ऑफ़ वर्कर्स नामक संगठन द्वारा लम्बे अरसे तक संघर्ष करके बनाये गये बुद्धिजीवियों और मजदूरों के संश्रय ने तैयार की थी। हुकूमत ने बाद में इसे ग़ैर-क्रान्ती घोषित कर दिया। कम्युनिस्टों का अपना सत्ता समर्थक ट्रेड यूनियन महासंघ (ओपीजेडजेड) था। मई और अगस्त, 1988 में हुई मजदूर हड़तालों के परिणामस्वरूप नवम्बर में टेलीविज़न पर उस समय तक ग़ैरक्रान्ती सोलिडरिटी के नेता लेक वालेसा और ओपीजेडजेड के अध्यक्ष अल्फ़्रेड मियोदोविच के बीच खुली बहस आयोजित की गयी। 1989 में सरकार को मजदूरों के दबाव के सामने झुकना पड़ा। 59 दिनों तक चली ऐतिहासिक गोलमेज़ वार्ता के परिणामस्वरूप कई संरचनागत आर्थिक सुधार घोषित किये गये और सोलिडरिटी को क्रान्ती मान्यता एक बार फिर से मिली।

आर्थिक जड़ता बढ़ती जा रही थी। 1992 में अध्यापक भी हड़ताल पर उतर आये। मजदूरों और जनता के अन्य तबकों ने हड़तालों और प्रदर्शनों से परे जा कर अनशन, धरना, सड़क जाम, सरकारी इमारतों पर अस्थाई क्रब्जा जैसे क्रदम भी उठाने शुरू कर दिये। इन तमाम गतिविधियों का नेतृत्व या तो

सोलिडरिटी के हाथ में रहता था, या फिर ओपीजेडजेड के हाथ में। सोलिडरिटी का रवैया अधिक जुझारू था, और ओपीजेडजेड का अपेक्षाकृत कम। वालेसा के नेतृत्व में सोलिडरिटी की आंतरिक राजनीति तेज़ी से राजनीतिक बहुलता, यूनियनों को अधिक स्वायत्तता और कम्युनिस्ट विरोध की तरफ़ झुकती चली गयी। जून, 1989 में हुए चुनावों में सोलिडरिटी ने एक राजनीतिक पार्टी के तौर पर भागीदारी की, और नवगठित सिनेट की सौ में से 99 सीटें जीत कर इतिहास बनाया। अगले साल राष्ट्रपति के चुनाव में वालेसा को 77.5 प्रतिशत वोट मिले। इस समय तक पूर्वी युरोप सोवियत संघ के हाथ से पूरी तरह से निकल चुका था। 1991 में एक राष्ट्र के रूप में सोवियत संघ का अस्तित्व मिट गया, और पोलैण्ड ने लेक वालेसा के नेतृत्व में एक नये राजनीतिक दौर में प्रवेश किया।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ाई लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लुकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्ज़ा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिब्रेशन थियोर्लॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।



अलेक्सांडेर दुबचेक (1921-1992)

संदर्भ

1. आर. जुज़ोव्स्की (1992), *पॉलिटिकल डिसेंट ऐंड अपोजीशन इन पोलैण्ड*, प्रेज़र, वेस्टपोर्ट, सीटी.
2. टी. गार्टन एश (2002), *द पोलिश रेवोल्यूशन : सोलिडरिटी*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन.
3. ए. कैम्प-वेल्ल (2008), *पोलैण्ड अंडर कम्युनिज़म : एक कोल्ड वार हिस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. के. पेरसाक (2008), 'द पोलिश-सोवियत कन्फ्रंटेशन इन 1956', टी. कॉक्स (सम्पा.), *चैलेंजिंग कम्युनिज़म युरोप : 1956 ऐंड इट्स लीगेसी*, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

समाजवादी वसंत-3

चेकोस्लोवाकिया में मानवीय समाजवाद की तलाश

(Socialist Spring-3)

हंगरी और पोलैण्ड में जो विद्रोह पचास के दशक में हुए थे, उनसे भी कहीं गहरे फलितार्थी वाला विद्रोह साठ के दशक में चेकोस्लोवाकिया में हुआ। पूर्वी युरोप का यह देश चेक और स्लोवाक राष्ट्रीयताओं का राजनीतिक संगम था। यहाँ के घटनाक्रम ने आर्थिक-सामाजिक नियंत्रण के सोवियत मॉडल को जो चुनौती दी, उसके शिखर पर वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके नेता अलेक्सांडर दुबचेक थे। 1963 से शुरू हुई मजदूरों, छात्रों और बुद्धिजीवियों की बार-बार होने वाली गोलबंदी हालाँकि 1968 में प्राग वसंत के रूप में शिखर पर पहुँची, लेकिन उसकी प्रेरणाओं का स्रोत वही अ-स्तालिनीकरण था जिसे खुश्चेव द्वारा सोवियत संघ में 1956 से शुरू करके जल्दी ही ठंडे बस्ते में डाल दिया गया था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विद्वानों ने अगर किसी राजनीतिक प्रकरण का सबसे ज़्यादा अध्ययन किया है तो वह है प्राग वसंत। वारसा पैक्ट की आड़ में सोवियत फ़ौजों ने प्राग वसंत नामक इस अभूतपूर्व विद्रोह का दमन कर दिया, लेकिन इस घटना के कारण भारत समेत दुनिया के कई देशों के वामपंथी बुद्धिजीवियों के मानस में सोवियत मार्का मार्क्सवाद की नकारात्मक छवि अंकित हो गयी।

चेकोस्लोवाकिया पर शासन करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अप्रैल, 1968 में एक्शन प्रोग्राम की शक्ति में जारी घोषणा-पत्र प्राग वसंत के केंद्र में था। राजनीतिक प्रणाली में आमूलचूल सुधार का आग्रह करने वाले इस घोषणा-पत्र को लिखने में तीन महीने लगे थे। इसमें दर्जनों संस्थाओं, जाँच रपटों, आयोगों और बहुत से बुद्धिजीवियों की भूमिका थी। इसके प्रावधान युगोस्लाविया में टीटो के नेतृत्व में किये जा रहे श्रमिकों द्वारा उद्योगों के मजदूरों के स्व-प्रबंधन से प्रभावित थे। शुरू से ही खुद को सोवियत खेमे से बाहर रखने के कारण युगोस्लाविया ऐसा करने की स्थिति में था। इस घोषणा-पत्र पर दूसरी छाप युरोपीय कम्युनिस्ट पार्टियों के भीतर चल रहे विमर्श की थी। घोषणा-पत्र के मुख्य बिंदु थे : अभिव्यक्ति और संगठन पर लगी पाबंदियाँ ढीली करना, खुफिया पुलिस द्वारा क्रदम-क्रदम पर की जाने वाली निगरानी में कटौती करना, नियोजित अर्थव्यवस्था में बाज़ार के पहलुओं का समावेश करना, बहुसंख्यक चेक और अल्पसंख्यक स्लोवाक राष्ट्रीयता की हैसियतों को समान धरातल पर लाना और कम्युनिस्ट पार्टी को कम से कम अर्ध-प्रतियोगात्मक चुनावों के लिए तैयार करना। इस घोषणा-पत्र के पीछे विश्वविद्यालयीय छात्रों, ट्रेड यूनियनों के संस्थाबद्ध

मजदूरों और बुद्धिजीवियों के समर्थन की ताकत थी।

चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट पार्टी ने 1948 में सत्ता सँभाली थी। प्राग वसंत के समय उसके नेता मास्को के पॉलिटिकल कॉलेज में शिक्षा प्राप्त दुबचेक स्वयं स्लोवाक राष्ट्रीयता के थे, और उन्हें सोवियत नेताओं का पूरा विश्वास प्राप्त था। दुबचेक चाहते थे कि वे अपने कम्युनिस्ट तंत्र को पार्टी का वर्चस्व क्रायम रखते हुए क्रमशः सुधारें। स्लोवाक पार्टी के नेता के तौर पर वे अपनी राष्ट्रीयता के बुद्धिजीवियों और लेखकों का समर्थन जीतने में कामयाब साबित हुए थे। कम्युनिस्ट होते हुए भी उन्हें स्लोवाक राष्ट्रवाद के प्रतिनिधि के तौर पर मान्यता प्राप्त थी। उनके नेतृत्व में चेकोस्लोवाकिया के कट्टरपंथी राष्ट्रपति नोवोत्नी के खिलाफ असंतोष गोलबंद हुआ जिसके फलस्वरूप सत्ता परिवर्तन में नोवोत्नी की जगह दुबचेक को मिली। दुबचेक के शासनकाल में ऐसे कई क्रदम उठाये गये जिन्हें समाजवाद के मानवीय चेहरे की संज्ञा दी गयी।

घोषणा-पत्र के कारण जैसे ही सेंसरशिप खत्म हुई, नाटककार वाक्लाव हावेल की अगुआयी में एक विपक्षी पार्टी गठित करने की योजना बनने लगी। परिचर्चा क्लबों की स्थापना होने लगी जो कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण से बाहर थे। सोवियत पार्टी के कान खड़े हो गये और उन्होंने दुबचेक को चेताया। लेकिन इन बुद्धिजीवियों का दमन करने के बजाय दुबचेक ने प्रस्ताव रखा कि चेकोस्लोवाकियायी कम्युनिस्ट पार्टी की एक विशेष कांग्रेस आयोजित की जाए जिसमें कट्टरपंथियों और उदारपंथियों के बीच का रास्ता तलाश करने वाला नेतृत्व चुना जाए जो तंत्र में हो रहे सुधारों को बिना किसी विच्छिन्नता के अगले चरण में पहुँचा सके। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव लियोनिद ब्रेज़नेव को भरोसा नहीं हुआ कि दुबचेक ऐसा नेतृत्व निकाल कर दिखा सकते हैं। इसलिए 17 अगस्त को उन्होंने वारसा पैक्ट के नाम पर चेकोस्लोवाकिया में फ़ौजें भेजने का फ़ैसला किया। इस फ़ौजी ऑपरेशन में ज़्यादातर सोवियत सैनिकों के साथ-साथ पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, हंगरी की सांकेतिक भागीदारी भी थी, पर रोमानिया ने इससे खुद को अलग रखा था। अगला हफ़्ता ख़त्म होते-होते पाँच लाख फ़ौजी और छह हज़ार टैंक चेकोस्लोवाकिया की सीमा पार कर चुके थे। दुबचेक ने अपने फ़ौजों को वारसा पैक्ट की इन फ़ौजों का प्रतिरोध न करने का आदेश दिया। दुबचेक और उनके सुधारवादी साथियों को गिरफ़्तार करके मास्को ले जाया गया, जहाँ उन्हें ब्रेज़नेव को लिखित आश्वासन देना पड़ा कि वे सोवियत हितों और एक पार्टी की हुकूमत को किसी न किसी प्रकार क्रायम रखेंगे।

इससे पहले कि चार दिन बाद दुबचेक की चेकोस्लोवाकिया वापसी होती, क्रब्ज़ा करने वाली आक्रामक फ़ौजों के खिलाफ़ प्रतिरोध शुरू हो गया। नौजवान टैंकों पर

पत्थर और बोटलें फेंकने लगे, बसों को बैरिकेड बना कर टैंकों की बढ़त रोक दी गयी और मानव-शृंखलाएँ बनायी गयीं। इन अपेक्षाकृत अहिंसक उपायों से चिढ़ कर कई जगह फ़ौज ने गोलियाँ चलाई जिससे प्राग रेडियो स्टेशन के बाहर 17 लोग मारे गये। जल्दी ही सोवियत क्रब्जे के खिलाफ़ संघर्ष एक क्लासिकल अहिंसक प्रतिरोध में विकसित होता चला गया। छात्रों, शिक्षाविदों, कवियों, सम्पादकों, कलाकारों और अभिनेताओं ने मोर्चा सँभाला। भित्ति-चित्रों, नारों, याचिकाओं, लतीफ़ों, गीतों, कविताओं और नाटकों का सिलसिला फूट पड़ा। सोवियत कोशिशें रेडियो स्टेशनों की फ़्रीक्वेंसी जाम करने की थीं, लेकिन क्षेत्रीय रेडियो स्टेशनों ने इसे नाकाम करते हुए प्रतिरोध-सामग्री का प्रसारण जारी रखा। फ़ैक्ट्रियों में लगे लाउडस्पीकरों का भी आंदोलनकारी इस्तेमाल किया गया। जनता से अपील की गयी कि वे फ़ौजियों को इस तरह नज़रअंदाज़ करें कि जैसे वे हों ही नहीं। चेक और स्लोवाक जनता ने ज़बरदस्त एकता का प्रदर्शन करते हुए आक्रमणकारी फ़ौज की सप्लाई लाइन जाम कर दी।

चार दिन बाद जब दुबचेक और उनके साथी मास्को से वापिस भेजे गये, तो सोवियत दबाव के कारण उनके सुधारवादी आग्रह ठंडे बस्ते में जा चुके थे। लेकिन चेक और स्लोवाक जनता अपने प्रतिरोध को ख़त्म करने के लिए तैयार नहीं हुए। कुछ दिनों की शांति के बाद 28 अक्टूबर को प्राग और अन्य शहरों में हजारों लोग सड़कों पर निकल आये। पुलिस, फ़ौज और पार्टी-मिलिशिया की मदद से इन प्रदर्शनकारियों के ऊपर हिंसा की गयी, गिरफ़्तारियाँ हुईं और एक व्यक्ति की जान भी गयी। प्रतिरोध का दूसरा दौर छात्रों और मज़दूरों के गठजोड़ की देन था। 16 जनवरी, 1969 को एक छात्र जान पालाक ने प्राग के बीचो-बीच बने एक चौक पर प्रतिरोधस्वरूप आत्मदाह कर लिया। पालाक की शवयात्रा में भीड़ उमड़ पड़ी। इसके बाद कई लोगों ने पालाक के नक्शे-क्रदम पर चलते हुए आत्मदाह की कोशिशें कीं। प्रतिरोध की इन कार्रवाइयों ने पार्टी के भीतर ज़बरदस्त बहस पैदा कर दी। अप्रैल, 1969 में दुबचेक को सत्ता से हटा कर सोवियत संघ ने गुस्ताव हुसाक को उनकी जगह बैठा दिया। सोवियत आक्रमण का एक साल पूरे होने पर एक बार फिर चेक और स्लोवाक जनता ने प्रतिरोध का सिलसिला शुरू किया। इस बार सोवियत फ़ौजें बैरकों में रहीं, और हुसाक के निर्देश में स्थानीय पुलिस और चेकोस्लोवाक सेना ने प्रदर्शनकारियों का दमन किया। दुबचेक को तुर्की में राजदूत बना कर भेज दिया गया। बाद में वे पार्टी से निकाले गये और स्लोवाकिया में निर्वासन भोगते रहे जहाँ उन्हें एक यार्ड में क्लर्क का काम



जोसिप ब्रोज़ टीटो (1892-1980)

करके जीवनयापन करना पड़ा। 19 साल बाद दुबचेक 1989 में प्राग लौटे और वाक्लाव हावेल की अगुआई में हो रही कम्युनिस्ट विरोधी राजनीति का समर्थन किया। दुबचेक की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी थी। उन्हें नवनिर्वाचित संघीय संसद का अध्यक्ष चुना गया। 1992 तक इस पद पर रहने के बाद वे स्लोवाक सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के अध्यक्ष बनाये गये। उनका देहांत इसी वर्ष एक दुर्घटना में मिले ज़ख्मों के कारण हुआ। दुबचेक के देहांत के दो महीने बाद चेकोस्लोवाकिया का चेक गणराज्य और स्लोवाकिया के बीच विभाजन हो गया।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लुकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. के. विलियम्स (1997), *द प्राग स्पिंग* *एंड इट्स आफ्टरमाथ*, *चेकोस्लोवाक पॉलिटिक्स*, 1968-1970, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. अलेक्सांदेर दुबचेक, (1993) *होप डाइज़ लास्ट : द ऑटोबायोग्राफी ऑफ़ अलेक्सांदेर दुबचेक*, अनु. जिरी होचमैन, कोडसाना अमेरिका, न्यूयॉर्क.
3. वी.वी. कुसिन (1971), *द इंटलेक्चुअल ओरिजिंस ऑफ़ द प्राग स्पिंग : द डिवेलपमेंट ऑफ़ रिफ़ॉर्मिस्ट आइडियाज़ इन चेकोस्लोवाकिया*, 1956-1967, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. जो. गोलन (1971), *द चेकोस्लोवाक रिफ़ॉर्म मूवमेंट : कम्युनिज़म इन क्राइसिस*, 1962-1968, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

समाजवादी वसंत-4

टीटो और मज़दूरों का स्व-प्रबंधन

(Socialist Spring-4)

पचास के दशक में सोवियत नमूने से अलग हटते हुए अपना विशिष्ट समाजवाद बनाने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयोग करने का श्रेय युगोस्लावियाई कम्युनिस्ट पार्टी के नेता जोसिप ब्रोज़ टीटो (1892-1980) को जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद 1948 में सोवियत और युगोस्लाव कम्युनिस्टों के बीच पैदा हुए मतभेदों के केंद्र में फैक्ट्रियों के प्रबंधन का प्रश्न था। सोवियत संघ में कारखानों का संचालन किसी भी अन्य पूँजीवादी देश की ही तरह एकल प्रबंधक प्रणाली के आधार पर होता था। इसके विपरीत युगोस्लाविया में कारखानों की कमान मज़दूरों की चुनी हुई परिषदों के हाथों में दी गयी। स्टालिन की आपत्तियों के बावजूद इस युगोस्लाव प्रयोग को रोक नहीं जा सका, क्योंकि टीटो ने शुरू से ही खुद को सोवियत खेमे से अलग रखा था। युगोस्लाविया अपनी सुरक्षा के लिए सोवियत लाल सेना का मोहताज़ नहीं था। उसकी कम्युनिस्ट पार्टी को सोवियत विरोधी होने के आरोप में कोमिनफ़ॉर्म (इंफ़ॉर्मेशन ब्यूरो ऑफ़ कम्युनिस्ट एंड वर्कर्स पार्टीज़) से निष्कासित भी कर दिया गया, लेकिन उसकी परवाह किये बिना युगोस्लाव प्रयोग न केवल जारी रहा, बल्कि उसने काफ़ी हद तक अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र के मोर्चे पर कामयाब निकाल कर दिखाये।

क्रोएशिया के एक गाँव में 7 मई, 1892 को पैदा हुए जोसिप ब्रोज़ का बचपन बेहद ग़रीबी में बीता। पहले उन्हें एक होटल में वेटर का काम करना पड़ा और फिर उन्होंने ताला बनाने का काम सीखा। ताला फ़ैक्ट्री में ही वे समाजवादी आंदोलन के सम्पर्क में आये। ज़गरेब में एक मैकेनिक के तौर पर काम करते हुए उन्होंने धातु श्रमिकों की यूनियन और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। प्रथम विश्व-युद्ध में वे ऑस्ट्रो-हंगेरियन फ़ौज में भर्ती हो गये और उन्हें पूर्वी मोर्चे पर रूसी फ़ौजों से लड़ना पड़ा। 1915 में वे घायलावस्था में रूसियों द्वारा गिरफ़्तार करके उराल पहाड़ियों पर बने श्रम-शिविर में भेज दिये गये। यहाँ से छूट कर टीटो को 1917 में बोल्शेविक क्रांति में भागीदारी करने का ऐतिहासिक मौक़ा मिला। जुलाई में पेत्रोग्राद में हुए प्रदर्शनों में टीटो भी शामिल थे। 1920 में ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य के खात्मे के बाद टीटो इंटरनेशनल रेड गार्ड्स के सदस्य के रूप में स्वदेश लौटे। 1929 में सर्बिया, क्रोएशिया और स्लोवानिया को मिला कर किंगडम ऑफ़ युगोस्लाविया की स्थापना के समय तक टीटो की ख्याति हड़तालें कराने में कुशल कम्युनिस्ट नेता के रूप में जम चुकी थी। इसी दौरान टीटो को पाँच साल

जेल में गुज़ारने पड़े। मार्च, 1934 में उनकी रिहाई हुई और अगले साल कोमिंटेर्न के बाल्कन विभाग में काम करने के लिए वे मास्को लौटे। 1936 में उन्हें विभाजित पड़ी युगोस्लाव कम्युनिस्ट पार्टी को मज़बूत करने के लिए स्वदेश भेजा गया। 1938 तक वे पार्टी के महासचिव बन चुके थे। उनके नेतृत्व में पार्टी अनुशासित हुई, उसका विस्तार हुआ और उसके राजनीतिक प्रभाव में भी बढ़ोतरी हुई। इस दौरान युगोस्लाविया में क्रांति करने के प्रश्न पर कोमिंटेर्न के साथ उनके कई बार मतभेद हुए, लेकिन इसके बावजूद टीटो ने स्टालिन के प्रति अपनी निष्ठा कायम रखी और वे सोवियत संघ को विश्व-क्रांति का केंद्र मानते रहे।

1941 में जर्मन, इतालवी, हंगेरियायी और बल्गारियायी फ़ौजों ने युगोस्लाविया पर हमला कर दिया। टीटो और उनकी पार्टी ने इसका हथियाबंद प्रतिरोध करने का फ़ैसला किया। अगले चार साल तक टीटो के नेतृत्व में पाँच लाख फ़ौजियों वाली कम्युनिस्ट फ़ौज ने एक तरफ़ तो आक्रमणकारियों से लोहा लिया, और दूसरी तरफ़ जर्मनों के साथ सहयोग करने वाली स्थानीय ताक़तों को भी पराजित किया। 'भाईचारे और एकता' के नारे के आधार पर हुए इस फ़ासिस्ट विरोधी युद्ध में जीतने के लिए उन्हें रूसी रेड आर्मी की मदद की ज़रूरत नहीं पड़ी। युगोस्लाविया की राष्ट्रीय मुक्ति के लिए बनी फ़ासिस्ट विरोधी परिषद ने टीटो को मार्शल की उपाधि से विभूषित किया। युगोस्लाविया की सभी घटक राष्ट्रीयताओं ने उन्हें अपना निर्विवाद नेता माना।

युद्ध के बाद टीटो ने युगोस्लाविया और सोवियत संघ के संबंधों को समान धरातल पर लाने की कोशिश की। स्टालिन ने इसे स्वीकार नहीं किया। युद्ध के दौरान युगोस्लावियायी कम्युनिस्टों द्वारा अपनी स्वतंत्र सरकार बनाने के प्रस्ताव को स्टालिन ने पसंद नहीं किया था। उसी समय से लगने लगा था कि सोवियत संघ विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में किसी भी पार्टी को अपनी चौधराहत से अलग सोचते और आचरण करते देखने के लिए तैयार नहीं है। 1948 में टीटो ने मुक्ति संग्राम के अपने साथी कमांडर मिलोवान जिलास को दूत बना कर वार्ता के लिए सोवियत संघ भेजा ताकि स्टालिन से पूरी तरह नाता तोड़ लिया जाए। धीरे-धीरे युगोस्लाविया अपना अलग रास्ता खोजने लगा। पचास के शुरुआत से उसने मज़दूरों के स्व-प्रबंधन के रूप में औद्योगिक लोकतंत्र की स्थापना का फ़ैसला किया।

युगोस्लाव कम्युनिस्टों ने सोवियत संघ में समाजवाद की रचना के प्रयोग को 'विकृत' और नौकरशाही पर बहुत अधिक निर्भर करार देते हुए दावा किया कि मज़दूरों का स्व-प्रबंधन समाजवादी आंदोलन की जड़ों के बहुत नज़दीक है। टीटो ने 1871 के पेरिस कम्यून और बोल्शेविक क्रांति के शुरुआती दौर में सोवियतों की भूमिका की याद दिलायी।

उनका कहना था कि फैक्ट्रियों और समाज के संचालन की ज़िम्मेदारी जितनी ज्यादा श्रमिकों के हाथ में जाएगी, राज्य की संस्था उतनी ही ज्यादा तिरोहित होने की दिशा में बढ़ेगी।

युगोस्लाविया का यह प्रयोग शुरू में काफ़ी कामयाब साबित हुआ। न केवल आर्थिक वृद्धि की दर बढ़ी, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास भी प्रशंसनीय रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान हुए विनाश से देश को निकालना आसान नहीं था। लेकिन युगोस्लावियायी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में अधिरचनात्मक सुविधाओं, संचार व्यवस्था और रिहाइशी इमारतों का तेज़ी से निर्माण किया गया। पचास और साठ के दशकों में युगोस्लाविया दुनिया की सबसे तेज़ रफ़्तार से विकसित होती हुई अर्थव्यवस्था थी। 1964 तक उसका औद्योगिक उत्पादन पाँच गुना हो चुका था। कम्युनिस्ट हुकूमत की स्थापना के समय युगोस्लाविया मुख्य तौर से एक ग्रामीण देश था जिसका तेज़ी से शहरीकरण हो रहा था। सत्तर के दशक तक युगोस्लाविया में जीवन-स्तर यूनान और इटली के जीवन-स्तर को छूने लगा था। स्वास्थ्य सेवाओं का नेटवर्क स्थापित कर दिया गया था, और शिक्षा प्रणाली की सफलता के कारण निरक्षरता तक्ररीबन ख़त्म कर दी गयी थी। स्त्री-रोज़गार की परिघटना का भी उल्लेखनीय विकास देखा जा रहा था। अन्य समाजवादी देशों की भाँति युगोस्लाविया में व्यक्तिगत, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वतंत्रताएँ सीमित नहीं थीं। विदेश यात्रा पर प्रतिबंध नहीं थे। साहित्य, कला, फ़िल्मों का विदेशों से आदान-प्रदान निर्बाध था।

युगोस्लाव प्रयोग की साख़ जैसे-जैसे बढ़ी, उसने अन्य देशों को कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों को भी प्रभावित करना शुरू किया। चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी अर्थशास्त्री ओटा सिक ने भी मज़दूरों के स्व-प्रबंधन का विचार वहीं से लिया। अलेक्सांडेर दुबचेक के नेतृत्व में जिस एक्शन प्रोग्राम की तजवीज़ की गयी थी, उसके पीछे भी युगोस्लाव प्रयोग की प्रेरणाएँ थीं। पश्चिमी युरोप के कई कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों और पार्टियों के बीच भी यह प्रयोग चर्चा का विषय रहा। सोवियत संघ से अलग होने के कारण टीटो को पश्चिमी ताक़तों की हमदर्दी भी मिली। उन्हें तीन बार अमेरिका आने का निमंत्रण मिला। पश्चिम ने उनकी आर्थिक मदद भी की। टीटो के आलोचकों का कहना है कि युगोस्लाविया की आर्थिक सफलता के पीछे अमेरिका का हाथ था क्योंकि शीत-युद्ध की राजनीति में वह सोवियत प्रभुत्व के मुकाबले दक्षिण-पूर्व युरोप में एक स्थिर राजनीतिक ताक़त देखना चाहता था। लेकिन यह भी एक तथ्य है कि टीटो पश्चिमी ख़ेमे में शामिल नहीं हुए। उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों के नवस्वतंत्र देशों के राजनीतिक नेतृत्व के साथ मिल कर गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया।

आज युगोस्लाविया जातीय संघर्ष, गृह युद्ध और साम्राज्यवादी प्रतियोगिता का शिकार हो कर दुनिया के नक्शे से ग़ायब हो चुका है। वहाँ हुए समाजवादी प्रयोग की विद्वानों के बीच शायद ही कभी कोई चर्चा होती हो। इस प्रयोग में कई ख़ामियाँ भी थीं। मज़दूरों के प्रबंधन के बावजूद युगोस्लावियायी अर्थव्यवस्था बीच-बीच में संकटग्रस्त होती रहती थी। 1965 के आस-पास टीटो ने आर्थिक सुधारों का एक कार्यक्रम भी चलाया था। लेकिन उसके बावजूद बेरोज़गारी और सामाजिक असंतुलन की समस्याओं का निदान नहीं हो सका। स्लोवेनिया जैसे समृद्ध गणराज्यों और कोसोवो जैसे ग़रीब गणराज्य में विकास के पैमाने पर अंतराल बढ़ता गया। टीटो अपने लम्बे शासनकाल में ऐसी कमियों को दुरुस्त करने में नाकाम रहे जिसका नतीजा स्थानीय राजनीति और जातीय राजनीति में आये उछाल के रूप में सामने आया।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख़ एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ुरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. डी.आई. रूपीनोव (1977), *द यूगोस्लाव एक्सपेरिमेंट 1948-1974*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
2. एल. सेकेल्ज, (1993) *युगोस्लाविया : द प्रोसेस ऑफ़ डिसइंटीगेशन*, अटलांटिक रिसर्च एंड पब्लिकेशंस, न्यूयॉर्क.
3. मिलोवान जिलास (1980), *टीटो : द स्टोरी फ़ॉम इनसाइड*, हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच, न्यूयॉर्क.
4. एस. क्लिसोल्ड (सम्पा.) (1975), *युगोस्लाविया एंड द सोवियत यूनियन, 1939-1973*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

समाजीकरण

(Socialisation)

समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति-रिवाज, गतिविधियाँ इत्यादि सीखता है। जैविक अस्तित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी समाजीकरण के ज़रिये ही होता है। समाजीकरण के माध्यम से ही वह संस्कृति को आत्मसात् करता है। समाजीकरण की प्रक्रिया मनुष्य का संस्कृति के भौतिक व अ-भौतिक रूपों से परिचय कराती है। सीखने की यह प्रक्रिया समाज के नियमों के अधीन चलती है। समाजशास्त्र की भाषा में कहें तो समाज में अपनी परिस्थिति या दर्जे के बोध और उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम समाजीकरण के ज़रिये ही आत्मसात् करते हैं।

समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक रूप से क्रियाशील बनाता है। इसी के माध्यम से संस्कृति के अनुरूप आचरण करने का विवेक विकसित होता है। इसके लिए व्यक्ति द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों का जो अभ्यंतरीकरण किया जाता है वह समाजीकरण का ही रूप है। पर समाजीकरण के विश्लेषण और अध्ययन में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मानदण्डों व संस्कृति की सबसे ज़्यादा अहमियत होती है। इन्हें अस्वीकार कर जो कुछ सीखा जाता है, जैसे हत्या, चोरी या अन्य आपराधिक वारदातें करना, उन्हें समाजीकरण में नहीं गिना जाता बल्कि इनकी गिनती विपथगामी व्यवहार में होती है। इन्हें सीखने वाला व्यक्ति समाज की मुख्यधारा के विपरीत माना जाता है। वह समाज में सकारात्मक योगदान देने की अवस्था में भी नहीं रहता है। इन नकारात्मक क्रियाओं और आचरणों को प्रायः विफल समाजीकरण के उदाहरण की तरह देखा जाता है। इस प्रकार समाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बना कर समाज की क्रियाओं में भाग लेने में समर्थ बनाता है।

समाजीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवन-पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थिति व सामाजिक भूमिकाएँ बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहाँ बच्चा समाजीकरण के माध्यम से माता-पिता, संबंधियों व बुजुर्गों से व्यवहार करना सीखता है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर-तरीकों को सीखना पड़ता है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी व्यक्ति नयी भूमिकागत अपेक्षाओं के अनुसार संबंधित सामाजिक व्यवहार ग्रहण करता है। इस प्रकार समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक लगातार चलती रहती है।

समाजीकरण में सीखे गये सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य देश-काल सापेक्ष होते हैं। इसलिए समाजीकरण की प्रक्रिया भी देश-काल सापेक्ष होती है। जैसे कि कुछ कबायली जातियों में बच्चों को अस्त्र-शस्त्र का प्रशिक्षण देने पर और शहरी समाजों में बच्चों को औपचारिक शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया जाता है। भारत जैसे जाति-भेद आधारित समाज में जातिगत पेशों तथा कर्मकाण्डीय स्थिति के अनुसार भी समाजीकरण होता रहा है। जैसे कि निम्न जाति के बच्चों को कृषि, दस्तकारी व शारीरिक श्रम के लिए तैयार किये जाने का चलन था, जबकि ब्राह्मण बालकों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। विश्व के अलग-अलग भागों की संस्कृतियों में काफी भिन्नता है, इसलिए समाजीकरण स्थान सापेक्ष है। यह काल-सापेक्ष इस प्रकार है कि गुज़रे ज़माने में भारतीय समाज में स्त्रियों के लिए पर्दा करना, शर्माना और धीमे स्वर में बोलना आदर्श व्यवहार था। जबकि आज स्त्री-पुरुष बराबरी के युग में स्त्रियों से इस तरह के सामाजिक व्यवहार की अधिक अपेक्षा नहीं की जाती। पहले बच्चों को चरण-स्पर्श की शिक्षा दी जाती थी, जबकि आज वे बाँय-बाँय करते हैं। यानी मूल्यों व विकास के पैटर्न में बदलाव ने समाजीकरण की विधि को भी बदल दिया है।

समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण की पूरी प्रक्रिया को दो हिस्सों में विभक्त किया है : प्राथमिक समाजीकरण और द्वितीयक समाजीकरण। यह विभाजन समाज के प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के विभाजन पर आधारित है। प्राथमिक समाजीकरण परिवार, पड़ोस एवं नातेदारी, मित्र-समूह व आरम्भिक स्कूली शिक्षा के माध्यम से होता है जिसमें बच्चा समाज का सहभागी सदस्य बनने के बारे में बहुत कुछ सीखता है। परिवार को सार्वभौम मान कर समाजीकरण में इसे आधारभूत संस्था के रूप में देखा जाता है। इसके तहत सहयोग, सहानुभूति, सहायता तथा आदान-प्रदान के गुणों का विकास होता है। भाई-बहनों का प्रेम, बड़ों के प्यार तथा नियंत्रण की व्यक्ति के समाजीकरण में खास भूमिका होती है। द्वितीयक समाजीकरण किशोरावस्था से आरम्भ होता है जिसमें व्यक्ति अधिक औपचारिक वातावरण की आवश्यकताओं के अनुसार आचरण करना सीखता है। इस अवस्था में कॉलेज-विश्वविद्यालय, राजनीतिक संस्थाएँ, बाज़ार व दुकान जैसी आर्थिक संस्थाएँ, सांस्कृतिक संस्थाएँ, दफ्तर व फ़ैक्ट्री जैसे व्यवसाय-समूह आदि को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने में मदद करते हैं।

समाजीकरण सामाजिक नियंत्रण की समस्या का भी सही समाधान प्रदान करता है। सामाजिक नियंत्रण में मुश्किल तब आती है जब लोग सामाजिक मानदण्डों के अनुसार व्यवहार नहीं करते। समाजीकरण से समाज के सभी सदस्य एक ही सामाजिक स्थिति में एक सा व्यवहार करते हैं और

समाज में संतुलन, शांति तथा सामंजस्य बरकरार रहता है।

समाजीकरण के अंतर्गत वि-समाजीकरण जैसे प्रत्यय का प्रयोग भी किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि नकारात्मक समाजीकरण के प्रभाव में समाज विरोधी आचरण करना सीख चुके लोगों को इस प्रकार का आचरण करने के लिए हतोत्साहित किया जाए। उदाहरण के लिए किसी आपराधिक चरित्र के व्यक्ति को दण्ड देकर या समझा-बुझाकर अपराधों से मुक्त करा दिया जाए तो वह उसके लिए एक प्रकार से वि-समाजीकरण होगा। वि-समाजीकरण इस रूप में भी दिखता है कि व्यक्ति पहले की शिक्षाओं को जैसे बुजुर्गों के चरण स्पर्श करने, हवन-पूजा करने तथा मांसाहार न करने जैसे व्यवहार को बड़े होने पर भूल जाए। इसे सीखे हुए व्यवहार की वि-समाजीकरण कहा जा सकता है।

पुनर्समाजीकरण भी इसी से जुड़ी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति की जीवन-शैली व विचारों में परिवर्तन घटित होता है। फ्रौज की सेवा में व्यक्ति को पूरी तरह से जीवन की नयी शैली का प्रशिक्षण मिलना, किसी अपराधी को सकारात्मक विचारों की ओर आकृष्ट करना, विवाहोपरांत स्त्री का भिन्न जीवन-शैली वाले घर के अनुसार स्वयं को ढालना इसी पुनर्समाजीकरण के उदाहरण हैं।

समाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, एमील दुर्खाइम प्रमुख हैं। मीड ने मुख्य रूप से सामान्यीकृत अन्य की धारणा को आधार बनाया है। इसमें दूसरों के अपने संबंध में विचारों व अपेक्षाओं को कोई बच्चा एवं वयस्क आंतरिकीकृत करता है। बाल्यजीवन में कोई बच्चा दूसरों के कामों की कल्पना करके उसके जरिये स्वयं को देखता है। इस प्रकार वह सामाजिक दृष्टि से अपनी इयत्ता का निर्धारण करता है। चार्ल्स कूले ने अपने सिद्धांत की व्याख्या दर्पण में आत्मदर्शन के आधार पर की है। कूले के मुताबिक बच्चे की इयत्ता का निर्धारण तीन अवस्थाओं से होता है। पहला, वह जानना चाहता है कि दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं। दूसरा, वह दूसरों की राय के संदर्भ में अपने बारे में पैदा सोच को समझने की चेष्टा करता है। तीसरा, वह अपने बारे में सोचते हुए अपने को अच्छा या बुरा, श्रेष्ठ या हीन समझने लगता है। कूले की मुख्य प्रस्थापना यह है कि व्यक्ति एक लम्बी प्रक्रिया में अपने बारे में धारणा बनाता है और यह धारणा दूसरों की सहायता से ही निर्मित होती है। दुर्खाइम ने समाजीकरण को सामाजिक तथ्य और सामूहिक प्रतिनिधान के माध्यम से समझाने की कोशिश की है। उनके मुताबिक समाज की परम्पराएँ, मूल्य, मानदण्ड, सामूहिक विश्वास आदि सामाजिक तथ्य व्यक्ति से ऊपर होते हैं। व्यक्ति को जन्म से इनकी विरासत मिलती है। इनकी रचना व्यक्ति की अकेली

इकाई के हाथों न होकर समूह द्वारा बनाये होती है। ये व्यक्ति से बाहर हैं और उसके ऊपर बाध्यता भी आरोपित करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति समाजीकरण के रूप में इन सामूहिक प्रतिनिधानों को आत्मसात् करते हुए समाज की सक्रिय तथा उपयोगी इकाई बनता है जिससे समाज में एकता भी बनी रहती है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जी.एच.मीड (1934), *माइंड, सेल्फ एंड सोसाइटी*, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.
2. एच.एम. जानसन (1963), *सोसियोलॉजी : अ सिस्टमेटिक इंट्रोडक्शन*, रॉटलेज एंड कीगन पाल, लंदन.
3. के. डेविस (1960), *ह्यूमन सोसाइटी*, मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
4. पार्संस एंड बेल्स (1960), *फैमिली सोशलाइजेशन एंड इंटरैक्शन प्रासेसेज़*, द फ्री प्रेस, ग्लेनको इलीनॉय.
5. सी.एच. कूले (1922), *ह्यूमन नेचर एंड द सोशल आर्डर*, स्क्रिबनर, न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

समानता

(Equality)

समानता की अवधारणा मानकीय राजनीतिक सिद्धांत के मर्म में निहित है। यह एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर करोड़ों-करोड़ों लोग सदियों से निरंकुश शासकों, अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्थाओं और अलोकतांत्रिक हुकूमतों या नीतियों के खिलाफ संघर्ष करते रहे हैं और करते रहेंगे। इस लिहाज से समानता को स्थाई और सार्वभौम अवधारणाओं की श्रेणी में रखा जाता है।

दो या दो से अधिक लोगों या समूहों के बीच संबंध की एक स्थिति ऐसी होती है जिसे समानता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन, एक विचार के रूप में समानता इतनी सहज और सरल नहीं है, क्योंकि उस संबंध को परिभाषित करने, उसके लक्ष्यों को निर्धारित करने और उसके एक पहलू को दूसरे पर प्राथमिकता देने के एक से अधिक तरीके हमेशा उपलब्ध रहते हैं। अलग-अलग तरीके अखिलियार करने पर समानता के विचार की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ उभरती हैं। प्राचीन यूनानी सभ्यता से लेकर बीसवीं सदी तक इस विचार की रूपरेखा में कई बार ज़बरदस्त परिवर्तन हो चुके हैं। बहुत से चिंतकों ने इसके विकास और इसमें हुई तब्दीलियों में योगदान किया है जिनमें अरस्तू, हॉब्स, रूसो, मार्क्स और टॉकवील प्रमुख हैं।

यूनान के नगर-राज्यों, जैसे एथेंस और स्पार्टा में राज-काज के कामों में प्रत्येक नागरिक की आवाज़ का समान मूल्य समझा जाता था। अरस्तू के *एथेनियन कांस्टिट्यूशन* में उन समतामूलक सुधारों के कई हवाले मिलते हैं जिनके आधार पर लोकतांत्रिक आदर्श की आजमाइश की जा सकी। इन सुधारों का मकसद था सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विषमताओं को घटाना ताकि भू-स्वामित्व, सत्ता और सामाजिक गौरव पर कुलीनों और सामंतों की जकड़ ढीली हो सके। क्लानून के आधार पर समानता का व्यवहार ही वह कसौटी था जिसके आधार पर लोकतंत्र कसा जा सकता था। लेकिन, प्राचीन एथेंस में इस समतामूलक दायरे से स्त्रियों, दासों और विदेशियों को अलग भी रखा गया था। अरस्तू की रचना *पॉलिटिक्स* में इस बहिर्वेशन का जिक्र भी किया है, और उसे जायज़ भी ठहराया है। उनके लिए समानता का अर्थ था उस वर्ग के सदस्यों की समानता जिसे नागरिक कहा जाता था। वे न्याय को केवल उन लोगों के लिए उपलब्ध मानते थे जो उनकी समानता के दायरे में आते थे। जो उससे बाहर थे, उनके लिए विषमता की स्थिति ही न्यायपूर्ण थी। अरस्तू की

बुनियादी मान्यता थी कि प्रकृति ने लोगों को शासक और शासित में बाँट कर बनाया है। शासक की श्रेणी में होने के लिए व्यक्ति में बुद्धिसंगत, विचारात्मक और अधिकारपूर्णता की खूबियाँ होना अनिवार्य है। वे यह भी मानते थे कि यही गुण शासक को शासित से अलग करते हैं।

अरस्तू की समानता की धारणा की आलोचना करते हुए हॉब्स ने अपने ग्रंथ *लेवायथन* में प्रकृत अवस्था की संकल्पना करके उसके तहत हर व्यक्ति को समान ठहराया। भले ही कोई व्यक्ति शारीरिक शक्ति में या कोई दिमागी तेज़ी में दूसरे से कुछ बेहतर हो, पर कुल मिला कर मनुष्यों के बीच ऐसा कोई फ़र्क नहीं होता जिसके आधार पर वे किसी विशेष लाभ की माँग कर सकें। हॉब्स का तर्क था कि जो जिस्म के लिहाज से कमज़ोर है, वह ताक़तवर को योजना बना कर मार सकता है, और मस्तिष्क के स्तर पर अनुभव के ज़रिये हर व्यक्ति समान समझ विवेक हासिल करने की क्षमता से सम्पन्न होता है। इसी के साथ मनुष्य में सत्ता हासिल करने की समान आकांक्षा भी होती है जिससे उनके बीच होड़ का जन्म होता है, और प्राकृतिक समानता जोखिमग्रस्त हो जाती है। हॉब्स की मान्यता थी कि अपनी सत्ता के एक हिस्से को राजनीतिक प्राधिकार के लिए छोड़ कर ही व्यक्ति एक सभ्य और समतामूलक जीवन गुज़ार सकता है। अर्थात् एक निश्चित प्राधिकार का प्रभुत्व ही उसे पूरी सुरक्षा का आश्वासन दे सकता है। हॉब्स मानते थे कि धर्म समेत हर प्रकार के ग़ैर-राजनीतिक प्राधिकारों से मुक्ति के ज़रिये ही व्यक्ति को उसकी प्राकृतिक समानता उपलब्ध हो सकती है।

रूसो भी अपने हिसाब से एक प्रकृत-अवस्था कल्पित करते हैं। उन्होंने अपने दूसरे डिस्कॉर्स (*डिस्कॉर्स ऑन ऑरिजिन ऐंड फ़ाउंडेशन ऑफ़ इनइक्वलिटी*) में समानता के बजाय विषमता पर विचार करते हुए उसे प्राकृतिक और अप्राकृतिक में बाँटा है। प्राकृतिक विषमता केवल शारीरिक शक्ति के क्षेत्र में होती है। लेकिन, विधि निर्माण और सम्पत्ति के स्वामित्व ने विषमता के अप्राकृतिक रूपों को जन्म दिया है। दरअसल, यह विषमता का पहला स्तर है जिससे ग़रीब और अमीर के बीच का फ़र्क पैदा हुआ है। दूसरा स्तर दण्ड देने का संस्थागत अधिकार है जिससे शक्तिशाली और दुर्बल की असमानता पैदा हुई। विषमता का आखिरी स्तर वैध सत्ता को स्वैच्छिक सत्ता में बदलने से पैदा हुआ है जिससे गुलाम और मालिक की श्रेणियाँ पैदा हुई हैं। सम्पत्ति के स्वामी सत्ता जमा करके मालिक बन जाते हैं, और ग़रीब दुर्बल होते हुए दासत्व में पड़ जाते हैं। रूसो के मुताबिक इस विषमता की भी एक सीमा है। जब विषमता में वृद्धि सम्भव नहीं रह जाती तो नयी क्रांतियाँ या तो हुकूमतों को नष्ट कर देती हैं या उन्हें सत्ता की वैध संस्थाओं के नज़दीक आना पड़ता है।

मार्क्स ने अपना समानता संबंधी विचार उदारतावादी समानता की आलोचना के रूप में विकसित किया। वे मानते थे कि पूँजीवादी वर्ग समानता के विचार का अपने हित में इस्तेमाल करता है। जिस तरह रूसो कहते थे कि अमीरों के झूठे आश्वासनों के फेर में फँस कर गरीब उनकी सत्ता का वैधीकरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं, उसी तरह मार्क्स कहते हैं कि शासक वर्ग अपनी विचारधारा पैदा करता है ताकि आर्थिक शोषण की व्यवस्था जारी रखी जा सके। पूँजीवादी वर्ग के भीतर एक तरह का कार्य-विभाजन होता है। एक हिस्सा पूँजी का स्वामित्व ग्रहण करता है, और दूसरा विचारधारात्मक औजारों का इस्तेमाल करते हुए समानता और स्वाधीनता के विचारों के जरिये भ्रम का माहौल बनाये रखता है। मार्क्स के अनुसार सामंतशाही में जो स्थान गौरव और निष्ठा जैसे विचारों का था, वही स्थान पूँजीवाद में समानता और स्वाधीनता का है। इन अमूर्त विचारों की प्रभावकारिता इतनी अधिक है कि कुछ समाजवादी भी उनके चंगुल में फँस जाते हैं। लेकिन, ये विचार उस समय तक खोखले और तत्त्वहीन हैं जब तक उनमें साम्यवादी दृष्टि का समावेश न हो। मार्क्स के अनुसार शोषणकारी वर्ग-संबंधों की समाप्ति के बिना स्थापित नहीं की जा सकती। इसके लिए वे पहले समाजवादी चरण की संकल्पना करते हैं जो हर एक को उसके श्रम के मुताबिक देने पर आधारित होगा। दूसरा चरण साम्यवादी होगा जिसमें हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार और हर एक को उसकी क्षमता के अनुसार देने का आधार ग्रहण किया जाएगा।

अमेरिकी लोकतांत्रिक क्रांति की जाँच-पड़ताल करते हुए टॉकवील समानता का अध्ययन आधुनिक इतिहास की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में करते हैं। अमेरिकी उदाहरण के जरिये वे समझना चाहते थे कि पश्चिमी समाज ने सामंतवाद से लोकतंत्र की तरफ किस तरह संक्रमण किया है। वे इस सवाल का जवाब खोजते हैं कि इस प्रक्रिया में समानता की विजय क्यों अपरिहार्य है? सामाजिक समानता उत्तरोत्तर क्यों विकसित होती चली जाएगी? टॉकवील का कहना है कि सामंतशाही किसान से लेकर राजा तक एक लम्बी शृंखला बनाती चली जाती है। पर लोकतंत्र उसे तोड़ कर शृंखला की हर कड़ी को मुक्त कर देता है। दासता और निर्भरता की जकड़ से निकलने की इच्छा समानता के विचार में लोगों की रुचि बढ़ाती है और इस प्रकार लोकतांत्रिक जीवन की सम्भावना पैदा होती है। टॉकवील के अनुसार लोकतंत्रों में व्यक्ति समानता को आजादी के ऊपर भी प्राथमिकता देते हुए उसके झंडे को दृढ़ता से थामे रखता है।

समानता के विचार की इन निष्पत्तियों के बाद इस प्रश्न पर गौर करना जरूरी है कि आखिर समानता और समरूपता में क्या फ़र्क है। परीक्षा में बैठने वाले हर छात्र को समान

अंक नहीं दिये जा सकते। परिवार के आकार का ध्यान न रखते हुए हर एक को समान घर आबंटित नहीं किया जा सकता। प्रतिभा और क्षमता को दरकिनार करते हुए हर व्यक्ति की आमदनी समान नहीं की जा सकती। इसलिए समानता की उपयुक्त कसौटी समरूपता के बजाय कुछ और होनी चाहिए। लेकिन, दूसरी तरफ समरूपता का महत्व न्यायपूर्ण प्रक्रियाओं के लिए उभरता है। समानता लाने की प्रक्रियाएँ तभी न्यायपूर्ण हो सकती हैं जब वे सभी के लिए समरूप हों, जैसे अवसरों की समानता, क़ानून की निगाह में सबको समान समझना, आदि।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. अशोक आचार्य (2008), 'ईक्वलिटी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
2. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीतिक दर्शन : एक परिचय*, अनु. कमल नयन चौबे, पियर्सन लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
3. अमर्त्य सेन (1993), *इनईक्वलिटी रि-एग्जामिण्ड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. सैनफ़र्ड ए. लैकॉफ़ (1964), *इक्वलिटी इन पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी*, बीकन प्रेस, बोस्टन.

— अभय कुमार दुबे

समानता, चार अवधारणाएँ

(Equality, Four Conceptions)

समाज-विज्ञान की दुनिया में इस प्रश्न पर काफ़ी बहस हुई है कि समानता के बारे में चर्चा करते हुए आखिर हम किस समानता की बात रहे होते हैं। इस विवाद को समानता की मुख्यतः चार अवधारणाओं के रूप में सूत्रीकृत किया जा सकता है : कल्याण की समानता, संसाधनों की समानता, क्षमताओं की समानता और वैकल्पिक समानता।

कल्याण की समानता का उद्गम उपयोगितावादी दर्शन में निहित है। उपयोगितावाद की क्लासिकल अवधारणा जेरेमी बेंथम के विचारों में व्यक्त होती है। वे कल्याण को सुख के रूप में देखते हैं जो किसी के जीवन में पीड़ा के ऊपर आनंद के अधिशेष के रूप में परिभाषित होता है। आजकल सुख की परिभाषा नये तरीके से दी जाने लगी है। इसके मुताबिक हर किसी के जीवन पर कल्याण का कम या ज़्यादा प्रभाव होता है, और उसी के मुताबिक उसकी कामनाएँ और प्राथमिकताएँ संतुष्ट हो पाती हैं। उसी हिसाब से वह अपने जीवन को बेहतर और कमतर मानता है। इस लिहाज़ से जो समाज कल्याण के समान वितरण में यक्रीन करेगा, वह इस बात की चिंता नहीं करेगा कि व्यक्तिगत रूप से लोगों को कितने संसाधन मिल रहे हैं और उनके आधार पर लोग अपनी प्राथमिकताओं की कितनी पूर्ति कर पा रहे हैं। लेकिन, अगर कल्याण को प्राथमिकताओं का पर्याय मान लिया जाएगा तो उस लिहाज़ से किया गया वितरण संसाधनों की विषमता को जन्म देगा। ऐसा समाज मानेगा कि महँगी कार चलाने वाले और साइकिल पर चलने वाले का कल्याण समान रूप से हो रहा है। परिणामस्वरूप विवाद पैदा होगा कि महँगी कार का शौक रखने वाले का खर्च समाज को क्यों उठाना चाहिए? इसी तरह समाज के संसाधनों को एक जुआरी के जोखिम की भरपाई करने का आश्वासन क्यों देना चाहिए, और कार मैकेनिक बनने की इच्छा रखने वाले प्रशिक्षण पर होने वाला अपेक्षाकृत कम खर्च उठाने पर जोर क्यों नहीं देना चाहिए? जाहिर है कि इस प्रकार के कल्याण की समानता न्याय, आत्म-सम्मान और भाईचारे की नैतिक कसौटियों पर खरी नहीं उतर सकती। उदारतावादियों ने इस पर आपत्ति की है। वे इस आधार पर सामाजिक नीति बनाने के पक्ष में नहीं हैं।

संसाधनों की समानता के विचार का प्रवर्तन मुख्यतः जॉन रॉल्स, रोनाल्ड ड्वारकिन और एरिक राकोव्स्की द्वारा किया गया है। संसाधनों के समतामूलक बँटवारे में यक्रीन करने वाला यह सिद्धांत भी विवादों में घिरा हुआ है। ऐसा बँटवारा तभी हो सकता है जब संसाधन विपुल हों और उन्हें

बाँटने वाले अपनी विविध प्रतिभाओं और कामनाओं को संतुष्ट करने के आधार पर उनका समान रूप से आपस में वितरण कर रहे हों। इस स्कीम के तहत जिसे खेती करनी होगी वह उपजाऊ जमीन चाहेगा, जिसे डेयरी खोलनी होगी वह मवेशियों को और चराने के लिए जमीन हासिल करना चाहेगा, जिसे समुद्र की निकटता पसंद होगी वह तटीय क्षेत्र का स्वामी बनेगा। इस समतामूलक वितरण की कामयाबी इस शर्त पर भी निर्भर है कि बाँटवारा हो जाने पर जलन वश एक व्यक्ति दूसरे के हिस्से में आये संसाधनों पर नीयत खराब नहीं करेगा। जाहिर है कि यह आदर्श स्थिति है जो समाज में अक्सर उपलब्ध नहीं हो पाती। समाज में सभी लोग समान प्रतिभाओं और क्षमताओं के स्वामी नहीं होते और संसाधनों की मात्रा भी कम या ज्यादा होती है। मसलन, जो विकलांग है वह संसाधनों पर किस प्रकार समान दावा कर पायेगा? वह तो विषम परिस्थितियों के बोझ से पहले ही दबा हुआ है। इस स्थिति का एक समाधान तो यह हो सकता है कि उसकी भरपाई संसाधनों के बाँटवारे की शुरुआत करने से पहले ही कर दी जाए ताकि वह वितरण की प्रक्रिया में समान धरातल से भाग ले सके। अर्थात् संसाधनों के वितरण की योजना न केवल आकांक्षा के प्रति संवेदनशील होनी चाहिए, बल्कि व्यक्ति की उन परिस्थितियों के प्रति भी संवेदनशील होनी चाहिए जो उसे कुदरत द्वारा थमायी गयी हैं। यहीं समस्या पैदा होती है कि कुछ लोग ऐसी प्राकृतिक हानियों का सामना कर रहे होते हैं जिनकी भरपाई या तो हो ही नहीं सकती या केवल आंशिक रूप से ही हो सकती है। ऐसे में जरूरी हो जाता है कि वितरण प्रक्रिया शुरू होने से पहले अभागे लोगों के लिए संसाधनों का एक अंश निकाल कर रख दिया जाए। इसी सिद्धांत का व्यावहारिक रूप अमीरों पर ज्यादा टैक्स लगाने के रूप में देखा जाता है ताकि दरिद्रता के मारे हुए लोगों के कल्याण के लिए संसाधनों की गारंटी की जा सके।

क्षमताओं की समानता का विचार अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसका जोर आमदनी या संसाधनों की समानता के बजाय लोगों की क्षमताओं को बराबर करने पर है। अमर्त्य सेन के मुताबिक अगर सामाजिक नीति इस तरह बनायी जाए कि उसके आधार पर लोग विभिन्न काम करने लायक क्षमताएँ विकसित कर सकें तो समानता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। मसलन, अगर किसी क्षेत्र में निरक्षरता है, तो संसाधनों की समानता में यकीन करने वालों के लिए यह पर्याप्त होगा कि राज्य और समाज उपलब्ध संसाधन किताबों और शिक्षा संबंधी सेवाओं पर खर्च करें। पर, क्षमताओं की समानता के पैरोकार चाहेंगे कि लोगों के भीतर शिक्षा नामक एक आंतरिक योग्यता पैदा करने की गारंटी दी जाए। अमर्त्य सेन चाहते हैं कि विषमता का विश्लेषण करते समय मानवीय विविधता का पूरी बारीकी से

ध्यान रखा जाना चाहिए। यह विविधता आंतरिक (उम्र, जेंडर, प्रतिभाएँ, स्वास्थ्य आदि) भी होती है और बाह्य (सम्पत्ति का स्वामित्व, सामाजिक पृष्ठभूमि, पर्यावरण स्थितियाँ आदि) भी। मसलन, वैसे तो हर स्त्री जेंडर संबंधी भेदभाव की शिकार होती है, पर दलित स्त्री और ऊँची जाति की स्त्री की परिस्थितियाँ एकदम अलग-अलग हो सकती हैं। सामाजिक नीतियाँ अगर इन अंतरों का खयाल करके बनायी जाएँगी तो क्षमताओं की समानता अधिक बेहतर ढंग से प्राप्त की जा सकेगी।

वैकल्पिक समानता का विचार माइकल वाल्ज़र ने विकसित किया है। इसे कॉम्प्लेक्स इक्विलिटी के नाम से भी जाना जाता है। वाल्ज़र समतावादी तो हैं, पर वे कल्याण, संसाधनों और क्षमताओं के वितरण पर जोर देने के रवैये से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार लोग पहले वस्तुओं और ज़िंसों को कल्पित करके उनकी रचना करते हैं और फिर उन्हें आपस में बाँटते हैं। इसलिए हमारा जोर कल्पित करने और रचना करने की प्रक्रिया पर होना चाहिए। रचे जाने के बाद वस्तुएँ एक सामाजिक मूल्य और अर्थ से सम्पन्न की जाती हैं। चूँकि यह मूल्य हर समाज के लिए अलग-अलग होगा, इसलिए वस्तुओं का ऐसा कोई सेट नहीं हो सकता जो हर समाज के लिए समान रूप से वांछनीय हो। सभी तरह के वितरण इसी मूल्य और अर्थ के मुताबिक न्याय या अन्यायपूर्ण होते हैं। इसलिए वितरण के मानक सभी सामाजिक परिस्थितियों और दायरों में एक नहीं हो सकते। वाल्ज़र का सिद्धांत वितरण प्रक्रिया को निरंकुशता और प्रभुत्व द्वारा प्रभावित किये जाने के जोखिमों के प्रति सतर्क दिखता है। वे वैकल्पिक समानता की गारंटी करने के लिए ऐसे संबंधों के पक्ष में हैं जिनके तहत किसी के भी लिए अपने प्रभुत्व के तले वितरण प्रक्रिया को प्रभावित करना नामुमकिन हो जाए।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समतावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता,

स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. अशोक आचार्य (2008), 'इक्वलिटी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. रोनाल्ड ड्वॉरकिन (1981), 'व्हाट इज़ इक्वलिटी पार्ट-1 इक्वलिटी ऑफ़ वेल्फ़ेयर और पार्ट-2 : इक्वलिटी ऑफ़ रिसोर्सिज़', *फ़िलासफ़ी ऐंड पब्लिक एफ़ेयर्स*, खण्ड 10, अंक 3 और 4.
3. अमर्त्य सेन (1993), *इनइक्वलिटी रि-एग्ज़ामिण्ड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. माइकिल वाल्ज़र (1983), *स्फ़ेयर ऑफ़ जस्टिस : अ डिफ़ेंस ऑफ़ प्लूरलिज़्म ऐंड इक्वलिटी*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

समान नागरिक संहिता

(Uniform Civil Code)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 44 में दर्ज है कि राज्य भारत के सभी नागरिकों को एक समान नागरिक संहिता उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। संविधान का यह आश्वासन इस विचार की नुमाइंदगी करता है कि एक राष्ट्र में जन-सामान्य का नागरिक जीवन एक सार्वभौम स्वरूप और तात्पर्य से सम्पन्न होना चाहिए। जब इस देश में सभी नागरिक एक फ़ौजदारी क़ानून से विनियमित होते हैं, एक दण्ड संहिता है और अन्ततः एक सर्वोपरि संविधान है, तो नागरिक जीवन में विवाह, तलाक, गोद लेने, उत्तराधिकार, भरण-भोषण, अभिभावकत्व, विरासत, सम्पत्ति में महिलाओं के अधिकार आदि आयामों को भी विभिन्न धर्मों, समुदायों और जातियों की अलग-अलग निजी विधियों द्वारा संचालित नहीं होना चाहिए। भारतीय नागरिकों का निजी जीवन एक ऐसी समान नागरिक संहिता से विनियमित होना चाहिए जो नागरिक जीवन में स्वतंत्रता, समानता और न्याय का संतुलित समावेश करे। भारतीय राज्य आज तक संविधान प्रदत्त इस आश्वासन को पूरा करने में सफल नहीं हुआ है। आज भी भारत में हिंदू, सिख, जैन और बौद्ध हिंदू निजी क़ानून के तहत आते हैं; मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों के अपने अलग-अलग

निजी क़ानून हैं। समान नागरिक संहिता लागू करने को लेकर भारत के अल्पसंख्यक प्रारम्भ से ही शंकित रहे हैं। संविधान सभा में जब इस संहिता के स्वरूप व भूमिका पर बहस हो रही थी, उसी समय अल्पसंख्यकों (विशेषकर मुसलमानों) के प्रतिनिधियों को डर था कि इस संहिता के माध्यम से उनकी विशिष्ट पहचान को समाप्त किया जा सकता है। कुल मिला कर समान नागरिक संहिता से संबंधित बहस मुख्यतः तीन नज़रियों के इर्द-गिर्द गोलबंद हुई है। पहला दृष्टिकोण इस संहिता को भारतीयता, उसकी एकता-अखण्डता की नींव और पंथनिरपेक्षता की सशक्तता के दृढ़ आधार के रूप में स्वीकारता है। दूसरा दृष्टिकोण समान नागरिक संहिता को धार्मिक व जातीय पहचानों ख़त्म करने वाले प्रमुख कारक के तौर पर देखता है। तीसरा दृष्टिकोण वह है जो समान नागरिक संहिता को स्त्री-पुरुष समानता के सशक्त आधार के रूप में मान्यता देता है।

संविधान सभा में 23 नवम्बर 1948 को समान नागरिक संहिता पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ था। डॉ. आम्बेडकर सहित लगभग एक दर्ज़न वक्ताओं ने इसमें भागीदारी की थी। पाँच वक्ता मुसलमान समुदाय से संबंधित थे। पहले मुसलमान वक्ता मोहम्मद इस्माइल का मानना था कि संविधान सभा प्रत्येक सम्प्रदाय की निजी विधियों को उसके मूलाधिकार के रूप में मान्यता दे देनी चाहिए। उनका कहना था कि जब भारतवर्ष को एक पंथनिरपेक्ष राज्य बनाया जा रहा है, तो विभिन्न धर्मों में भारतीय राज्य के किसी भी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यदि समान नागरिक संहिता के अंतर्गत निजी विधियों को भी प्रशासित किया गया तो यह पंथनिरपेक्ष व्यवस्था की अवधारणा के विपरीत होगा। दूसरे वक्ता नज़ीरुद्दीन अहमद का तर्क था कि किसी भी निजी क़ानून में समान नागरिक संहिता के आग्रह के तहत परिवर्तन करना है, तो उसकी सहमति के आधार पर ही यह तब्दीली होनी चाहिए। नज़ीरुद्दीन अहमद ने संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किये जा चुके उस अनुच्छेद का हवाला दिया जो प्रत्येक नागरिक को आस्था की स्वतंत्रता और किसी भी पंथ को अबाध रूप से मानने और प्रचार करने का समान अधिकार देता है। अंग्रेज़ी राज्य का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि अंग्रेज़ों ने अनेक क़ानूनों में आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप किया, लेकिन धीरे-धीरे। अतः समान नागरिक संहिता जैसे प्रावधानों का क्रियान्वयन भी समय के साथ धीरे-धीरे ही होना चाहिए। तीसरे वक्ता महमूद अली बेग थे। उनका कहना था कि समान नागरिक संहिता के क्रियान्वयन का प्रभाव नागरिकों की निजी विधियों पर नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि कई सम्प्रदायों को अपनी निजी विधियाँ पंथ के समान ही प्रिय होती हैं। बेग द्वारा इस संबंध में दूसरा तर्क यह दिया गया कि अ-साम्प्रदायिक राज्य में नागरिकों को अपने धर्म के

पालन की स्वतंत्रता के साथ-साथ निजी विधियों के अनुरूप आचरण करने की भी स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। अगले वक्ता बी. पोकर का भी यह मानना था कि अनुच्छेद 35 को इस तरह दुरुस्त किया जाना चाहिए कि किसी भी सम्प्रदाय को अपनी निजी विधियाँ छोड़ने के लिए बाध्य न किया जा सके। अगले वक्ता हुसैन इमाम का विचार था कि जब पूरे देश में प्रगति और विश्वास की परिस्थितियाँ एक समान नहीं हैं, तो एक समान संहिता लागू करना कहाँ तक न्यायोचित होगा? जब तक साक्षरता, प्रगति व आर्थिक समृद्धि पर आधारित विषमता पूरे देश से दूर नहीं हो जाती है तब तक एकसे क़ानून पर अमल नहीं होना चाहिए।

इस बहस से स्पष्ट होता है कि संविधान सभा में समान नागरिक संहिता का विरोध करने के लिए सेकुलरवाद और धार्मिक बहुलवाद के तर्क का इस्तेमाल किया गया। लेकिन सभी मुसलमान सदस्य इस संहिता को कभी लागू न करने के पक्ष में नहीं थे। एक तर्क यह भी था कि इसे लागू किया जाए लेकिन धीरे-धीरे और मुसलमानों की सहमति से।

इसके बाद कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने समान नागरिक संहिता की स्थापना के विरोध में दिये जा रहे दो प्रमुख तर्कों का खण्डन किया। मुंशी का कहना था कि पहले ही विधान परिषद् द्वारा स्वीकारा जा चुका है कि अनुच्छेद 19 विधि-निर्माण के ऐसे किसी अधिकार में राज्य के लिए बाधक नहीं बनेगा जो सामाजिक कल्याण तथा सुधार के लिए आवश्यक हो। इसमें लौकिक क्रिया-कलापों के साथ-साथ पंथिक आचरण संबंधी विषय भी शामिल हैं। मुंशी का कहना था कि इससे अल्पसंख्यकों के मूलाधिकार का उल्लंघन नहीं होगा। मुंशी के मुताबिक अतीत में और हाल के वर्षों में भी ऐसे अनेक साक्ष्य हैं जबकि मुसलमान शरियत क़ानून में हस्तक्षेप किया गया है। उन्होंने यह भी कहा कि पंथ का सामाजिक संबंधों और उत्तराधिकार जैसे विषयों से कोई संबंध नहीं है। अतीत में पंथ जीवन के सारे क्षेत्र को अपने में समाहित किये था, लेकिन अब हमें अपनी प्रगतिशील मानसिकता का परिचय देते हुए दृढ़ता से स्वीकारना चाहिए कि पंथ के तहत ये विषय नहीं आते। बल्कि ये तो इहलौकिक क़ानून के अंतर्गत आने वाले विषय हैं और निस्संदेह अल्पसंख्यकों को भी अपने दायरे में ले लेते हैं। मुंशी का कहना था कि अगर ऐसा नहीं किया गया तो महिलाओं को समानता प्रदान करना असम्भव हो जाएगा। संविधान में लिंग के आधार पर भेदभाव न करने की बात कही गयी है। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा स्थापित मान्यता को दूषित करार दिया कि निजी क़ानून पंथ का हिस्सा हैं।

मुंशी के बाद अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने उन्हीं के विचारों का पूर्ण समर्थन किया। अंतिम वक्ता डॉ. भीमराव आम्बेडकर थे। उन्होंने समान संहिता के विरुद्ध प्रस्तुत प्रत्येक

संशोधन से असहमति व्यक्त की। उनका मानना था कि भारतवर्ष में एक ही व्यवहार संहिता है और यह सम्पूर्ण राष्ट्र पर लागू भी है। मात्र विवाह व उत्तराधिकार का क्षेत्र ऐसा है जहाँ व्यवहार विधि का हस्तक्षेप नहीं हो पाया है। डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि मुसलमान निजी क़ानून सार्वभौम व अपरिवर्तनशील नहीं हैं। उनकी दलील थी कि तत्कालीन मुसलमान क़ानून केवल दस वर्ष पहले ही बना है। दूसरे, पूरे भारत में उसका स्वरूप व प्रकृति भी एक सी नहीं है। धार्मिक पहचान सुरक्षित रखने वाले तर्क का विरोध करते हुए आम्बेडकर ने कहा कि सभी धर्मों को समान संरक्षण प्रदान करने वाले सेकुलर राज्य के लिए धर्म की आड़ में किये गये प्रत्येक कार्य का बचाव करना आवश्यक नहीं है। कई धर्म ऐसे हैं जो हर तरह के कार्यकलाप को धर्म का जामा पहना देते हैं। भारत में धर्म की संकल्पना इतनी विस्तृत है कि यह जन्म से मृत्यु तक जीवन के हर पक्ष पर छाई हुई है। अगर राज्य धर्म के इस स्वरूप को मान ले, तो सुधार की सारी प्रक्रिया रुक जाएगी।

1985 में शाह बानो के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने समान नागरिक संहिता के क्रियान्वयन पर टिप्पणी की। इस विवाद का संबंध एक तलाक़शुदा मुसलमान महिला को उसके पति द्वारा जीवन निर्वाह भत्ता दिये जाने संबंधी अदालती निर्णय से था। इस फैसले को मुसलमान उलेमाओं और कुछ धार्मिक-राजनीतिक संगठनों ने निजी क़ानून में हस्तक्षेप मानते हुए विरोध प्रकट किया। उच्चतम न्यायालय का कहना था कि फैसले में क़ानून की जो व्याख्या की गयी है, वह मुसलमान निजी विधि के खिलाफ़ नहीं जाती। तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश वार्ड.वी. चंद्रचूड़ की अध्यक्षता में गठित खण्डपीठ की टिप्पणी थी कि एक समान नागरिक संहिता राष्ट्रीय अखण्डता की स्थापना में सहायक होगी, क्योंकि उसके द्वारा परस्पर विरोधी विचारधाराओं की विधि के प्रति बिखरी हुई निष्ठाओं को समाप्त किया जा सकेगा। सुप्रीम कोर्ट ने याद दिलाया कि राज्य का यह कर्तव्य नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता उपलब्ध कराना है और निस्संदेह राज्य के पास इस कार्य हेतु वैधानिक योग्यता भी है।

इसी तरह 1995 में सरला मुद्गल विवाद में उच्चतम न्यायालय ने पुनः यह स्पष्ट किया कि 41 वर्षों बाद भी वर्तमान शासन व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 44 को सजीव नहीं कर सकी। यह अनुच्छेद 1949 की स्थिति में ही जैसा का तैसा पड़ा है। इसी निर्णय में शीर्ष न्यायालय ने भारत सरकार को यह बताने का निर्देश दिया था कि भारतवर्ष के नागरिकों हेतु एक समान नागरिक संहिता की स्थापना के लिए उसने कौन से उपाय व प्रयास किये? न्यायालय द्वारा रेखांकित किये गये विवाह व उत्तराधिकार जैसे प्रश्न पूरी तरह से

सेकुलर प्रकृति के है। उनका पूजा-पद्धति और आस्था के साथ घालमेल नहीं होना चाहिए। न्यायालय का मानना था कि भारतवर्ष की अस्सी प्रतिशत से अधिक विधियाँ संहिताबद्ध हो चुकी हैं, तो शेष को संहिताबद्ध न करने का कोई आधार नहीं हो सकता है। इसलिए समान नागरिक संहिता भारतवर्ष के सभी नागरिकों पर क्रियान्वित होनी चाहिए। उच्चतम न्यायालय का मत था कि संविधान के अनुच्छेद 44 के अनुसार किसी भी सभ्य समाज में पंथ और निजी विधि के मध्य कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 यदि धार्मिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है, तो अनुच्छेद 44 सामाजिक संबंधों और निजी विधियों को पंथ से पृथक करता है।

भारत का स्त्री-आंदोलन हमेशा से ही लैंगिक न्याय का झण्डा बुलंद करते हुए समान नागरिक संहिता का पक्षधर रहा है। अस्सी और नब्बे के दशकों में जब शाह बानो के मुकदमे पर दिये गये सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के इर्द-गिर्द साम्प्रदायिक राजनीति होने लगी, तो नारीवादी संगठनों और अन्य स्त्री-समूहों ने अपना रुख बदला। उन्होंने लैंगिक न्याय की अपनी माँग का अल्पसंख्यक अधिकारों की सुरक्षा के प्रश्न से तालमेल करने की कोशिश की। उल्लेखनीय है कि मुसलमान स्त्रियों के संगठन आवाज़-ए-निस्वाँ, वुमॅन रिसर्च ऐंड एक्शन ग्रुप्स और मुसलमान स्त्रियों के अधिकारों के लिए काम करने वाले संगठनों के नेटवर्क लगातार लैंगिक न्याय के आधार पर अपने समाज के विवाह क़ानून में तब्दीली करवाने का अभियान चला रहे हैं।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहर लाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय राजनीतिक संस्कृति, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. मधु किश्वर (1998), 'प्रो-वुमॅन ऑर एंटी-मुसलमान ? : द शाह बानो कंट्रोवर्सी', मधु किश्वर, *रिलीजन एट द सर्विस ऑफ़ नैशनलिज्म ऐंड अदर एसेज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. लीला सेठ, 'अ युनिफॉर्म सिविल कोड : टुवर्ड्स जेंडर जस्टिस', *इण्डिया इंटरनैशनल सेंटर क्वार्टरली*, खण्ड 31, अंक 4.

— पुनीत कुमार

समुदायवाद

(Communitarianism)

जैसा कि नाम से ही जाहिर है समुदायवाद राजनीतिक सिद्धांत के मर्म में उदारतावादी चिंतन के गर्भ से निकले अमूर्त व्यक्ति की जगह मानव समुदाय की स्थापना करता है। समुदायवादियों का विचार है कि सामुदायिक जीवन में स्वेच्छा के साथ सचेत रूप से भागीदारी करने पर व्यक्ति अपने जीवन का बेहतर संचालन कर सकेगा। राजनीतिक और सामाजिक मसलों के साथ जुड़ाव के कारण उसे एक निजीकृत संसार में महज़ उपभोक्ता बन कर नहीं रहना होगा। समुदायवाद के पैरोकार जिस सामुदायिकता की सिफ़ारिश करते हैं वह किसी एक समुदाय द्वारा अधिकाधिक व्यक्तियों पर इजारेदारी का पर्याय नहीं है। वे कहते हैं कि व्यक्तियों को एक से अधिक समुदायों के साथ प्रतिबद्ध होना होगा। इनमें से हर समुदाय किसी व्यापक समुदाय का अंग होगा जिससे सामुदायिक मूल्य किसी एक समूह के कब्जे में न रह कर संकीर्णता के पर्याय नहीं बन सकेंगे।

समुदायवाद की अवधारणा अरस्तू के प्राचीन यूनानी दर्शन से लेकर हीगेल और मार्क्स के विचारों तक में मौजूद है। लेकिन एक वैचारिक स्कूल के रूप में जिस समुदायवाद की ज़िक्र यहाँ किया जा रहा है उसका उभार समाज-विज्ञान में अस्सी के दशक के दौरान हुआ। अरस्तू के विमर्श में समुदाय, अर्थात् पौसिल, को उत्तम जीवन का सबसे अहम घटक माना गया है। हीगेल ने भी एक उत्तम जीवन के लिए समुदाय को महत्वपूर्ण माना और राज्य को इस समुदाय के मूर्त रूप में देखा। मार्क्सवादी विमर्श के तहत समुदाय को कम्युनिस्ट आदर्श की एक मुख्य विशेषता के रूप में ग्रहण किया जाता है। मार्क्सवादी समुदाय को ऐसे आदर्श की तरह देखते हैं जिसे समाज में क्रांतिकारी बदलाव के बाद ही हासिल किया जा सकता है, और इसके लिए पूँजीवाद को ख़त्म करके समाजवादी समाज का निर्माण करना ज़रूरी है।

लेकिन अस्सी के दशक में माइकल सैंडल, माइकल वॉल्जर, ऐलिस्टेयर मैकेंटायर और चार्ल्स टेलर के प्रयासों से सामने आया समुदायवाद का विचार पारम्परिक मार्क्सवाद से बहुत अलग है। लेकिन नये समुदायवादी मानते हैं कि सामान्य सामाजिक व्यवहारों, सांस्कृतिक परंपराओं और सहभागी समझदारियों के रूप में समुदाय का पहले से ही अस्तित्व है। नये सिरे से समुदाय का निर्माण करने के बजाय ज़रूरत इस बात की है कि पहले से मौजूद समाज का सम्मान करते हुए उसकी सुरक्षा की जाए। स्वतंत्रता और समानता के साथ ही समुदाय पर ध्यान देना भी ज़रूरी है। समुदायवादियों का यह मानना है कि न्याय के उदारतावादी सिद्धांतों में या

उदारतावादी समाजों की सार्वजनिक संस्कृति में समुदाय के मूल्य को पर्याप्त मान्यता नहीं दी गयी है।

नये समुदायवाद को उदारतावाद की समीक्षा करने का श्रेय भी है। दरअसल आधुनिक उदारतावाद की समुदायवादी समीक्षा और क्लासिकल उदारतावाद की हीगेल द्वारा की गयी समीक्षा में कई समानताएँ हैं। इसीलिए कई विचारक मानते हैं कि यह 'नया' समुदायवाद हीगेल के विचारों से प्रेरित है। लॉक और कांट जैसे क्लासिकल उदारतावादियों ने मानवीय आवश्यकताओं और मानवीय तार्किकता की एक सार्वभौमिक अवधारणा रेखांकित करने की कोशिश की थी। हीगेल इस दृष्टिकोण को 'मॉरलिटेट' कहते हुए अमूर्त क्रार देते हैं। उनकी आपत्ति है कि यह किसी तरह का दिशा-निर्देश नहीं दे सकता, यह बहुत अधिक व्यक्तिवादी है, और यह इस बात की उपेक्षा करता है कि मनुष्य अनिवार्य रूप से किन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक व्यवहारों और संबंधों में रचे-पगे होते हैं। इसके विकल्प के रूप में हीगेल 'स्टिलिखेट' पर जोर देते हैं जिसके तहत नैतिक कर्ता के रूप में व्यक्ति की पूरी पहचान अर्थात् उसके उत्तम आयाम और उनकी पूरी क्षमता उनके समुदाय से जुड़ जाती है। 'मॉरलिटेट' और 'स्टिलिखेट' के बीच इस हीगेलियन विरोध की अनुगूँज समकालीन समुदायवादी लेखन में भी काफ़ी-कुछ पायी जाती है। हीगेल की तरह ही समुदायवादी आधुनिक उदारतावादियों पर अमूर्त और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण लगाने का आरोप लगाते हुए उसकी जगह अधिक संदर्भयुक्त और समुदाय-संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाते हैं।

लेकिन समुदायवादी विचारकों के भीतर भी कई तरह की धारयें मौजूद हैं। पहला, माइकल सैंडल और एलिस्टेयर मैकेंटायर के मुताबिक उदारतावाद की यह संकल्पना सही नहीं है कि व्यक्ति स्वायत्त रूप से उत्तम जीवन की अपनी संकल्पना का चुनाव कर सकता है। उदारतावादियों की व्यक्ति की संकल्पना में व्यक्ति को ऐसे अणु के रूप में माना गया है जो पूरी दुनिया से अलग-थलग हो। उदारतावादी व्यक्ति को इस सीमा तक स्वायत्त मानते हैं मानो व्यक्ति पर उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन सच्चाई यह है कि व्यक्ति की इयत्ता उसके सामाजिक व्यवहारों में समाहित होती है। इस संदर्भ में सैंडल का मानना है कि व्यक्ति की इयत्ता उसके लक्ष्यों से पहले नहीं आती, बल्कि वह इससे निर्मित होती है। अर्थात् हम जिस समाज में जन्म लेते हैं और जहाँ हमारा पालन-पोषण और समाजीकरण होता है, उसी से हमारा लक्ष्य तय होता है। इसलिए हमें अपनी जिंदगी किस तरह गुज़ारनी है, यह सामाजिक भूमिकाओं के चुनाव का मसला नहीं है। इसके लिए तो उन भूमिकाओं को समझना ज़रूरी है जिसमें हम खुद को पहले से ही पाते हैं।

दूसरा, माइकल वॉल्जर जैसे समुदायवादियों ने जोर दिया है कि न्याय के सार्वभौम सिद्धांत की खोज सही नहीं है। न्याय के बारे में सही तरीके से सिद्धांत-रचना का तरीका यह है कि किसी विशिष्ट समुदाय के लिए सामाजिक वस्तुओं के महत्व पर ध्यान दिया जाए। यदि कोई समाज अपने सदस्यों की सहभागी समझ के आधार पर काम करता है तो वह न्यायपूर्ण होता है। सदस्यों की यह सहभागी समझ सामाजिक व्यवहारों और संस्थाओं के मार्फत सामने आती हैं। जाहिर है कि वॉल्जर सार्वभौमिक दार्शनिक तर्क की जगह सांस्कृतिक व्याख्या को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने समकालीन पश्चिमी समाजों के लिए 'जटिल समानता' की तरफ़दारी की है।

तीसरा, बहुत से समुदायवादियों ने व्यक्तिगत स्वायत्तता के प्रति उदारतावादी वचनबद्धता को स्वीकार कर लिया है। लेकिन उन्होंने उदारतावाद की इसलिए आलोचना की कि यह स्वायत्तता के प्रयोग के लिए ज़रूरी सामाजिक परिस्थितियों की उपेक्षा करता है। मसलन, चार्ल्स टेलर यह दावा करते हैं कि बहुत से उदारतावादी सिद्धांत अणुवाद पर आधारित हैं। इसमें यह माना जाता है कि व्यक्ति में आत्म-निर्णय की क्षमता का विकास करने या उसका प्रयोग करने के लिए किसी सामुदायिक क्षमता की ज़रूरत नहीं है। इसकी जगह, टेलर 'सामाजिक थीसिस' पेश करते हैं जिसमें माना जाता है कि स्वायत्तता के विकास के लिए ख़ास तरह के सामाजिक वातावरण की ज़रूरत होती है। किसी रूढ़िवादी समाज में कोई व्यक्ति गलत प्रथाओं को उसी सूरत में चुनौती दे सकता है जब उसे ऐसा सामाजिक माहौल मिले जिसके तहत वह तार्किक रूप से विचार करने की क्षमता विकसित कर पाये।

दरअसल, समुदायवाद को दो तरीके से देखा जा सकता है। पहला, 'पीछे देखने वाला समुदायवाद' और दूसरा 'आगे देखने वाला समुदायवाद।' सैंडल, मैकेंटायर और वॉल्जर के विचारों में जिस समुदायवाद पर जोर दिया जाता है उसमें यह सम्भावना मौजूद है कि कोई रूढ़िवादी समाज कुछ ख़ास तरह के मूल्यों को अल्पसंख्यकों, महिलाओं और हाशिये पर पड़े समूहों पर थोपने में कामयाब हो जाए। मसलन, समाज की सहभागी समझ के आधार पर समाज में जाति-प्रथा (वॉल्जर इसका उदाहरण देते हैं) और महिलाओं के साथ भेदभाव जैसी प्रवृत्तियों को सही ठहराया जा सकता है। यह व्यक्ति द्वारा अपनी सामाजिक परिस्थितियों पर सवाल खड़ा करने की क्षमता और सम्भावना को भी ख़त्म करता है। परम्परावादी और कट्टरपंथी जातीय या धार्मिक समूहों के नेता इसे आकर्षक मान सकते हैं। इसी वजह से अधिकतर समुदायवादियों ने अब चार्ल्स टेलर के विचारों से निकले इस तर्क को अपना लिया है कि व्यक्तिगत आज़ादी के लिए सामाजिक संदर्भ की आवश्यकता है। इसे 'आगे देखने वाले

समुदायवाद' संज्ञा दी जा सकती है। यह धारा मानती है कि हम बहुप्रजातीय, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाजों में रहते हैं। इनके सदस्यों के पास यह फ़ैसला करने का अधिकार होता है कि क्या पारम्परिक जीवन-शैलियाँ मानने लायक हैं। साथ में सदस्यगण सामाजिक जुड़ाव और सामुदायिकता के मूल्य को बहुत अहमियत भी देते हैं। वे सामुदायिक जुड़ाव क्रायम रखने के नये तरीके खोजना चाहते हैं जिनसे हमारे विविध चयनों और जीवन-शैलियों को सुव्यवस्थित और समायोजित हो सकते हों। दरअसल, उदारतावादी-राष्ट्रवाद और नव-गणतंत्रवाद जैसे विचारों को इसी बौद्धिक परियोजना के नतीजे के रूप में देखा जा सकता है।

यद्यपि वॉल्जर, सैंडल, मैकेंटायर जैसे समुदायवादियों के विचारों को उदारतावादी चिंतकों ने बहुत आड़े हाथों लिया है, लेकिन यह भी सच है कि उन्होंने समुदायवादी पहलुओं को उदारतावादी सिद्धांत के भीतर जगह देने की कोशिश भी की है। न्याय के उदारतावादी सिद्धांत के जनक जॉन रॉल्स द्वारा अपनी दूसरी कृति *पॉलिटिकल लिबरलिज़म* में समुदायवादी आलोचना का जवाब देते हुए राजनीतिक-उदारतावाद की संकल्पना पेश करते हैं। इसमें रॉल्स समाज में समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि उदारतावादी समाजों में समुदाय या समूह होते हैं। ऐसे समाजों में उदारतावादी राज्य और समूह के बीच परस्परव्यापी-आम सहमति होती है। अर्थात् दोनों ही गहरे विश्वास के साथ एक-दूसरे के मूल्यों को स्वीकार करते हैं। विल किमलिका जैसे बहुत से विचारकों ने रॉल्स के ओवरलैपिंग कंसेंसस की इस आधार पर आलोचना की है कि यह एक स्थाई व्यवस्था नहीं हो सकती। दूसरे, उदारतावादी-व्यक्तिवादी और समुदायवादी समीक्षा के कारण ही उदारतावादी विमर्श में विभेदीकृत नागरिकता के विचार और बहुसंस्कृतिवाद जैसे विचारों का उभार हुआ है।

इस पूरे वाद-विवाद की सबसे बड़ी कमी है आर्थिक मुद्दों की उपेक्षा। समाज में सांस्कृतिक पहचान के मसले पर जोर देने के कारण इन विद्वानों ने आर्थिक असमानता और इस कारण होने वाले अन्याय को नज़रअंदाज़ कर दिया है। समुदायवाद की उदारतावादी समीक्षा के कारण सामने आये बहुसंस्कृतिवाद जैसी अवधारणाओं की भी इसी आधार पर आलोचना की गयी है। इन सीमाओं के बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अस्सी के दशक में उभर कर सामने आयी उदारतावादी की समुदायवादी समीक्षा ने राजनीतिक सिद्धांत का फ़ी समृद्ध किया है। इसने उदारवाद को समाज में मौजूद समुदाय के बारे में विचार करने और उन्हें मान्यता देने के लिए प्रेरित किया जिससे उदारतावाद ज़्यादा व्यापक और समावेशी रूप में सामने आ पाया।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेटि, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एमी गटमन (1985), 'कम्युनिटेरियन क्रिटिक्स ऑफ़ लिबरलिज़म', *फ़िलॉसफ़ी एंड पब्लिक एफ़ेयर्स*, खण्ड 14, अंक 3.
2. माइकल सैंडल (1982), *लिबरलिज़म एंड द लिमिट्स ऑफ़ जस्टिस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. अलस्टेडर मैकेंटायर (1981), *आप्टर वर्च्यू : अ स्टडी इन मॉरल थियरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नोत्रे दम प्रेस, नोत्रेदम, इण्डियाना.
4. चार्ल्स टेलर (1985), *फ़िलॉसफ़ी एंड द ह्यूमन साइंस : फ़िलॉसफ़ीकल पेपर्स*, खण्ड 2, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
5. विल किमलिका, *समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय* (दूसरा संस्करण), अनु. कमल नयन चौबे, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

सरकारियत

(Governmentality)

सरकारियत या गवर्नमेंटलिटी का मतलब है अनुशासन और नियंत्रण की प्रौद्योगिकी। हालाँकि भारत तथा अन्य एशियाई देशों में प्राक्-आधुनिक अवधियों में भी सरकारें थीं, लेकिन यहाँ जिस सरकार का जिक्र किया जा रहा है उसका ताल्लुक उस आधुनिक राज्य से है जिसका विकास युरोप में हुआ है और जिसे आज सारी दुनिया में अपना लिया गया है। कहा जाता है कि सरकार चलाना या गवर्नेंस करना एक कला है। चूँकि यह कला या आर्ट है इसलिए इसकी बनावट में आर्टिफ़िशियलिटी या कृत्रिमता है। इसी बुनियादी अवधारणा के आधार पर सत्तर के दशक में फ़्रांसीसी दार्शनिक मिशेल फूको ने सत्ता का नया विश्लेषण करते हुए सरकारियत या शासकीयता या गवर्नमेंटलिटी की अवधारणा का सूत्रीकरण किया जिसका मतलब था कि सरकार मनुष्यों द्वारा गढ़ी गयी एक ऐसी संस्था है जो कुछ युक्तियों और ज्ञान के कुछ रूपों

का इस्तेमाल करते हुए ख़ुद को प्रभावोत्पादक बनाती है। इस सिद्धांत के लिहाज़ से हर सरकार कालातीत न हो कर ऐतिहासिक रूप से ही वैध है। हर समाज की स्थानीय संस्कृति और परिप्रेक्ष्य के लिहाज़ से सरकारियत की युक्तियाँ बदलती रहती हैं। शासकीयता और उसके ज़रिये किये जाने वाले सामाजिक नियंत्रण और अनुशासन की आधारभूत तार्किकता, क्रिया-विधियाँ, सत्ता का तंत्र और कार्रवाई की विधियाँ इसी के हिसाब से तय होती हैं।

फ़ूको के प्रतिपादन ने राज्य और सरकार के संबंधों को देखने की दृष्टि में रैडिकल परिवर्तन किया। इससे पहले सरकार और सरकारियत की व्याख्या उदारतावाद अराजकतावाद के आईने में की जाती थी। उदारतावाद ने सत्रहवीं और अट्ठारहवीं सदी की उन सरकारों की आलोचना विकसित की थी जिनका एकमात्र सरोकार सामाजिक व्यवस्था और उसका विनियमन था। अराजकतावाद सरकार के विचार को ही मानव समाज के लिए अनुपयोगी मान कर ख़ारिज करता था। फ़ूको के विमर्श ने एक नयी ज़मीन तोड़ी जिसके बाद से सरकार संबंधी विमर्श बदल गया और जाँच-पड़ताल के एक नये व्यापक क्षेत्र सरकारियत या गवर्नमेंटलिटी का विकास हुआ। भारतीय विद्वानों ने भी गवर्नमेंटलिटी की थियरी के इर्द-गिर्द कुछ अहम सूत्रीकरण किये हैं जिनमें पार्थ चटर्जी द्वारा विकसित राजनीतिक समाज की अवधारणा प्रमुख है। चटर्जी ने अस्सी के दशक में सेकुलरवाद पर होने वाले महा-विवाद में भाग लेते हुए सहिष्णुता के प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए भी सरकारियत के विचार का इस्तेमाल किया था।

सरकारियत के विचार ने चार नये परिप्रेक्ष्यों के लिए सम्भावना खोली है जिसके आधार पर सरकार की संस्था को सत्ता और प्रभुत्व की संरचनाओं के बीच स्थापित करके देखा जा सकता है। सबसे पहले तो यह विचार आग्रह करता है कि राजनीतिक कार्यनीतियों, रणनीतिक संरचनाओं और राजनीतिक कार्यक्रमों की जाँच की जानी चाहिए कि किस तरह इनके ज़रिये कल्पनाएँ, आवश्यकताएँ और उद्यम गढ़े जाते हैं। इसके तहत नागरिकों और बाशिंदों के आचरण और जीवन-शैलियों को एक ख़ास मोड़ दिया जाता है। फ़ूको कहते हैं कि इन प्रक्रियाओं से सरकार एक ऐसे कर्ता को तैयार करती है जो मानता तो यह है कि उसकी कार्रवाइयाँ उसकी स्वतंत्र चेतना का परिणाम हैं, पर दरअसल वह सरकारियत की इन प्रौद्योगिकियों से नियंत्रित और निर्देशित हो रहा होता है। फ़ूको यह भी दिखाते हैं कि गवर्नमेंटलिटी का यह पहलू किस तरह प्रति-सत्ता की सम्भावना भी खोलता है। यह सम्भावना कर्ता की उस सक्रियता में ही निहित रहती है जो गढ़ी गयी कल्पनाओं, आवश्यकताओं और उद्यमों के तहत पैदा हुई सक्रियता का ही एक उत्पाद है।

दूसरा परिप्रेक्ष्य सरकार को एक आचरण और व्यवहार के रूप में देखता है। प्रशासन और नियंत्रण की गतिविधियों को प्रौद्योगिकीय विकास ने एक नया आयाम दिया है। ऐसी नयी तकनीकों और क्रियाविधियों का विकास कर लिया गया है जिनके तहत डेटा या आँकड़ों-तथ्यों को जमा किया जा सकता है, उनकी प्रति्याँ बनायी जा सकती हैं और आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें कहीं भी किसी भी जगह फिर-फिर प्राप्त किया जा सकता है। इस विकास ने प्रशासन करने को पिछले किसी भी काल के मुकाबले अधिक सक्षम बना दिया है। आबादियों को भिन्न-भिन्न ग्रुपों में बाँटना, विभिन्न श्रेणियों में छाँटना और भिन्न मानकों के लिहाज़ से उनके बीच सामाजिक लाभों का आबंटन करना अब पहले के मुकाबले कहीं अधिक सम्भव हो गया है। हर बार जब एक कम्प्यूटर प्रोग्राम किसी व्यक्ति को तकनीकी रूप से डेटा के रूप में दर्ज करता है अर्थात् जब भी उसे उसकी व्यक्तिगत आदतों और आचरणों के अनुसार सूचीबद्ध किया जाता है, 'इंडिविडुअल' दरअसल 'डिविडुअल' में बदल जाता है।

गवर्नमेंटलिटी का विचार ज्ञान के ऐतिहासिक रूपों को सरकारियत के व्यवहार के साथ जोड़ कर देखने का आग्रह करता है। वह मानता है कि राजनीतिक तर्क के आधार पर लोगों और समाजों के विचार बनते हैं। राजनीतिक कार्यक्रम न केवल जनता के सामने समस्या को नये सिरे से रखता है, बल्कि उसके समाधान को सुझाने की प्रक्रिया में यथार्थ को नये सिरे से गढ़ डालता है। वह समाज और समुदाय द्वारा उस यथार्थ की स्वीकृति की परिस्थितियाँ रचता है और नियम बनाता है। यह प्रक्रिया परिवर्तन की दिशा निर्धारित ही नहीं करती, बल्कि उसके मूल्यांकन के लिए एक बौद्धिक ढाँचा भी प्रदान करती है। चूँकि इस प्रक्रिया में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए का फ़ैसला होता है, इसलिए इसी प्रक्रिया में व्यक्ति ख़ुद को एक मूल्यगत ढाँचे में बँधा हुआ पाते हैं, ऐसे मूल्यों के ढाँचे में जो उन्हें थमाये गये होते हैं।

चौथा परिप्रेक्ष्य राज्य और सरकार को अपने हितों की पूर्ति में जुटे एकल अभिनेता के तौर पर न देख कर शासन करने की विविध प्रौद्योगिकियों के समुच्चय के रूप में देखने का आग्रह करता है। इस विचार से पहले होता यह था कि सरकारी प्रक्रियाओं में एक प्रकार्यात्मक तर्क खोजते हुए उसकी ऐतिहासिक निरंतरता के निष्कर्ष पर पहुँचा जाता था। सरकार की यह मानकीय व्याख्या आसानी से मान लेती थी कि उसके पास कोई सम्प्रभुता है जिसका या तो क्षय हो रहा है या वह पुष्ट हो रही है। इसी आधार पर बाहर से पड़ने वाले आर्थिक दबावों और बहुराष्ट्रीय प्रभावों की व्याख्याएँ की जाती थीं। लेकिन जैसे ही फ़ूको ने शासन करने की प्रौद्योगिकियों की जाँच करने का आग्रह किया, वैसे ही यह

दिखने लगा कि किस तरह सरकारें परिस्थितियों के मुताबिक़ खुद को बदलती रहती हैं, समायोजन की प्रक्रिया चलती रहती है। यहाँ तक कि 'पब्लिक' और 'प्राइवेट' के मायने परिस्थितिजन्य ढंग से बदलते रहते हैं। इसी जगह फ़ूको 'राज्य के सरकारीकरण' की थीसिस देते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारीयत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. ए. बैरी, टी. ओसबोर्न और एन. रोज़ (सम्पा.) (1996), *फ़ूको ऐंड पॉलिटिकल रीज़न : लिबरलिज़्म, नियो लिबरलिज़्म, ऐंड रेशनलिटीज़ ऑफ़ गवर्नमेंट*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो।
2. जी. बरशैल, सी. गोर्डन और पी. मिलर (सम्पा.) (1991), *द फ़ूको इफ़ेक्ट : स्टडीज़ इन गवर्नमेंटलिटीज़*, हारवेस्टर व्हीटशैफ़, हेमल हेम्पस्टीड.

— अभय कुमार दुबे

सर्वसत्तावाद

(Totalitarianism)

राजनीतिक व्यवस्था के एक प्रकार के रूप में सर्वसत्तावाद एक ऐसा पद है जो निरंकुशता, अधिनायकवाद, और तानाशाही जैसे पदों का समानार्थक लगता है। यद्यपि इस समानार्थकता को ख़ारिज नहीं किया जा सकता, लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद प्रचलित ज्ञान के समाजशास्त्र की निगाह से देखने पर सर्वसत्तावाद भिन्न तात्पर्यों से सम्पन्न अभिव्यक्ति की तरह सामने आता है। शुरुआत में इतालवी फ़ासिस्ट सर्वसत्तावाद को अपनी व्यवस्था के सकारात्मक मूल्य की तरह पेश करते थे। पर बाद में इसका अधिकतर इस्तेमाल शीतयुद्धीन राजनीति के दौरान पश्चिमी ख़ेमे के विद्वानों द्वारा किया गया ताकि उदारतावादी लोकतंत्र के ख़ाँचे में फ़िट न होने वाली व्यवस्थाओं को कठघरे में खड़ा किया जा सके। इन विद्वानों ने सर्वसत्तावाद के ज़रिये राजनीतिक व्यवस्थाओं के इतिहास का फिर से वर्गीकरण करने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप नाज़ी जर्मनी, फ़्रासीवादी इटली, स्तालिनकालीन सोवियत संघ और सेंडिनिस्टा की हुकूमत वाले निकारागुआ को ही सर्वसत्तावादी श्रेणी में नहीं रखा गया, बल्कि प्लेटो द्वारा वर्णित रिपब्लिक, चिन राजवंश, भारत के मौर्य साम्राज्य, डायक्लेटियन के रोमन साम्राज्य, कैल्विनकालीन जिनेवा, जापान के मीज़ी साम्राज्य और प्राचीन स्पार्टा को भी उसी पलड़े में तौल दिया गया।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक से पहले समाज-विज्ञान में इस पद का इस्तेमाल किया ही नहीं जाता था। 1923 में इतालवी फ़्रासीवाद का एक प्रणाली के रूप वर्णन करने के लिए गियोवानी अमेंडोला ने इसका प्रयोग किया। इसके बाद फ़्रासीवाद के प्रमुख सिद्धांतकार गियोवानी जेंटील ने बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में स्थापित व्यवस्था को 'टोटलिरिटो' की संज्ञा दी। यह नये क्रिस्म का राज्य जीवन के हर क्षेत्र को अपने दायरे में लेने के लिए तत्पर था। वह राष्ट्र और उसके लक्ष्यों का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करने का दावा करता था। मुसोलिनी ने टोटलिरियनिज़्म को एक सकारात्मक मूल्य की तरह व्याख्यायित किया कि यह व्यवस्था हर चीज़ का राजनीतीकरण करने वाली है, चाहे वह आध्यात्मिक हो या पार्थिव। मुसोलिनी का कथन था : 'हर चीज़ राज्य के दायरे में, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं।'

फ़्रासीवादियों द्वारा अपनाये जाने के बावजूद 1933 में प्रकाशित *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेज़* के पहले संस्करण से यह पद नदारद है। हान्ना एरेंट द्वारा किये गये विख्यात विश्लेषण में सर्वसत्तावाद को राजनीतिक उत्पीड़न

के पारम्परिक रूपों से भिन्न बताया गया है। एरेंट के अनुसार बीसवीं सदी में विकसित हुई इस राज्य-व्यवस्था का इतिहास नाजीवाद से स्तालिनवाद के बीच फैला हुआ है। यह परिघटना विचारधारा और आतंक के माध्यम से न केवल एक राज्य के भीतर बल्कि सारी दुनिया पर सम्पूर्ण प्रभुत्व क्रायम करने के सपने से जुड़ी है। विचारधारा से एरेंट का मतलब इतिहास के नियमों का पता लगा लेने की दावेदारियों से था। आतंक के सर्वाधिक भीषण उदाहरण के रूप में उन्होंने नाजी यातना शिविरों का हवाला दिया। उन्होंने समकालीन युरोपीय अनुभव की व्याख्या करते हुए उन आयामों की शिनाख्त की जिनके कारण सर्वसत्तावाद मुमकिन हो सका। उन्होंने दिखाया कि यहूदियों की विशिष्ट राजनीतिक और सामाजिक हैसियत के कारण सामीवाद विरोधी मुहिम को नयी ताकत मिली; साम्राज्यवाद के कारण नस्लवादी आंदोलन पैदा हुए; और युरोपीय समाज के उखड़े हुए समुदायों में बँट जाने के कारण अकेलेपन और दिशाहीनता के शिकार लोगों को विचारधाराओं के जरिये गोलबंद करने में आसानी हो गयी। एरेंट के बाद दार्शनिक कार्ल पॉपर ने प्लेटो, हीगेल और मार्क्स की रैडिकल आलोचना करते हुए 'यूटोपियन सोशल इंजीनियरिंग' के प्रयासों को (चाहे वह जर्मनी में की गयी हो या रूस में) सर्वसत्तावाद का स्रोत बताया। पॉपर के चिंतन ने जिस समझ की नींव डाली उसके आधार पर आंद्रे ग्लुक्समैन, बर्नार्ड हेनरी लेवी और अन्य युरोपियन दार्शनिकों ने बीसवीं सदी में सोवियत संघ में हुए मार्क्सवाद के प्रयोग से मिली निराशाओं के तहत इस पद का प्रयोग जारी रखा। धीरे-धीरे सर्वसत्तावाद पश्चिम के वैचारिक हथियार के रूप में रूढ़ हो गया।

शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों कार्ल फ्रेड्रिख और ज़िगनियू ब्रेज़िंस्की ने सर्वसत्तावाद की परिभाषा जीवन के हर क्षेत्र को अपने दायरे में समेट लेने वाली विचारधारा, एक पार्टी की हुकूमत वाले राज्य, ख़ुफ़िया पुलिस के दबदबे और आर्थिक-सांस्कृतिक-प्रचारात्मक ढाँचे पर सरकारी जकड़ के संयोग के रूप में की। यह परिभाषा अपने आगोश में फ़्रासीवादी और मार्क्सवादी व्यवस्थाओं को समेट लेती थी। पर सत्तर के दशक में सर्वसत्तावाद के जरिये पश्चिमी विद्वानों ने नयी कारीगरी करने की कोशिश की और मार्क्सवादी हुकूमतों को फ़्रासीवादी हुकूमतों से अलग करके दिखाया जाने लगा। इस दिलचस्प कवायद का परिणाम 'सर्वसत्तावाद' और 'अधिनायकवाद' की तुलनात्मक श्रेणियों में निकला। इसके तहत दक्षिणपंथी गैर-लोकतांत्रिक राज्यों (जिनसे पश्चिम गठजोड़ बनाये हुए था) को 'टोटलिटेरियन' वामपंथी राज्यों के मुकाबले बेहतर ठहराने के लिए 'एथॉरिटेरियन' नामक नयी संज्ञा को जन्म दिया गया। इस बौद्धिक उपक्रम के कारण सर्वसत्तावाद का प्रयोग पूरी तरह

से बदल गया। जो पद शुरुआत में फ़्रासीवादी को परिभाषित करने के लिए इस्तेमाल किया गया था और जिसे अपनी बौद्धिक वैधता आधुनिक तानाशाहियों के वामपंथी और दक्षिणपंथी रूपों को एक ही श्रेणी में रखने से मिली थी, उसे रोनाल्ड रेगन के राष्ट्रपतित्व के दौरान केवल कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं के वर्णन में सीमित कर दिया गया।

ज्ञान के समाजशास्त्र के इस शीतयुद्धीन संस्करण में राजनीतिशास्त्रियों ने जम कर योगदान किया। उनके प्रयासों से ही सर्वसत्तावाद की नयी व्याख्याएँ पचास और साठ के दशक में उभरे आधुनिकीकरण और विकास के सिद्धांतों के नतीजे के रूप में सामने आयीं। इसके पहले चरण में सभी समाजों को परम्परागत से आधुनिकता की तरफ़ सिलसिलेवार रैखिक गति से बढ़ते हुए दिखाया गया। इसके बाद कहा गया कि आधुनिक हो जाने के बाद कुछ समाज सकारात्मक (लोकतांत्रिक) व्यवस्थाओं की तरफ़ चले गये क्योंकि वे आगे बढ़े हुए थे, और कुछ नकारात्मक (सर्वसत्तावादी) प्रणालियों को अपना बैटे क्योंकि वे पिछड़े हुए समाज थे। इस बौद्धिकता ने लोकतांत्रिक और सर्वसत्तावादी शासन व्यवस्थाओं को आदर्शकृत रूप में पेश किया।

1968 में अमेरिकी बुद्धिजीवी सेमुअल पी. हंटिंग्टन की रचना *पॉलिटिकल ऑर्डर इन चेंजिंग सोसाइटी* का प्रकाशन हुआ। हॉब्स की युगप्रवर्तक रचना *लेवायथन* से प्रभावित इस कृति में हंटिंग्टन ने तर्क दिया कि अविकसित समाजों में कई बार फ़ौज के अलावा ऐसी कोई आधुनिक, पेशेवर और संगठित राष्ट्रीय संस्था नहीं होती जो लोकतंत्र की तरफ़ संक्रमण करने की मुश्किल अवधि में उनका नेतृत्व कर सके। ऐसे समाजों में केवल फ़ौजी शासन ही शांति-व्यवस्था क्रायम रखते हुए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से निकले अशांतकारी प्रभावों को काबू में रख सकता है। हंटिंग्टन के इस विश्लेषण ने आधुनिकीकरण के साथ जुड़े हुए कार्य-कारण संबंधों को नयी दृष्टि से देखने का रास्ता खोला। पहली बार यह सूत्रीकरण सामने आया कि आधुनिकीकरण के दबावों से राज्य प्रणाली के संस्थागत ढाँचे का क्षय हो जाता है। फ़ौजी तानाशाही इस ढाँचे की पुनर्रचना कर सकती है जिसका बाद में लोकतंत्रीकरण किया जा सकता है। सैनिक तानाशाही को लोकतंत्र के वाहक की संज्ञा देने वाले इस विकट सूत्रीकरण के पीछे ग़रीब देशों पर क्राबिज़ अलोकतांत्रिक हुकूमतों का अनुभव था।

लोकतंत्र और सर्वसत्तावाद के बीच इस द्विभाजन को पहली चुनौती 1970 में मिली। समाज-वैज्ञानिकों ने 1964 से 1974 के बीच के दौर में देखा कि लातीनी अमेरिका के अपेक्षाकृत विकसित देशों में ही नहीं, बल्कि स्पेन और पुर्तगाल जैसे धनी देशों में अधिनायकवादी शासन चल रहा

है। मैक्सिको में भी लोकतंत्र के आवरण के नीचे दरअसल तानाशाही है। ये व्यवस्थाएँ अफ्रीकी देशों की व्यक्तिगत क्रिस्म की तानाशाहियों से भिन्न बेहद संगठित और जटिल क्रिस्म की प्रणालियाँ थीं। इनका दावा था कि वे अपने-अपने समाजों में विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नेतृत्व कर रही हैं। उधर एशिया में भी दक्षिण कोरिया और ताइवान में निरंकुश सरकारें आर्थिक विकास करने में कामयाब दिखने लगी थीं। इस घटनाक्रम का अध्ययन करते हुए युआन लिंज ने अपनी क्लासिक रचना 'एन एथॉरिटेरियन रिज़ीम : अ केस ऑफ स्पेन' में एक ऐसी व्यवस्था की शिनाख्त की जिसमें लोकतंत्र और सर्वसत्तावाद के मिले-जुले लक्षण थे। इसके बाद गुलेरमो ओडोनेल ने 1973 में दक्षिण अमेरिकी राजनीति का अध्ययन करके दावा किया कि पूँजीवादी विकास और आधुनिकीकरण के गर्भ से लातीनी अमेरिका के अपेक्षाकृत निर्भर लेकिन विकसित देशों में एक नौकरशाह-तानाशाही ने जन्म लिया है।

अमेरिकी राजनीतिशास्त्री जीन किर्कपैट्रिक ने 1979 में हंटिंग्टन, लिंज और ओडोनेल की व्याख्याओं के आधार पर स्पष्ट सूत्रीकरण किया कि सर्वसत्तावादी केवल मार्क्सवादी-लेनिनवादी हकूमतें हैं। अधिनायकवादी शासन दमनकारी तो होता है पर उसमें पूँजीवादी लोकतंत्र के रूप में सुधरने की गुंजाइश होती है। किर्कपैट्रिक के इस बहुचर्चित लेख 'डिक्टेटरशिप ऐंड डबल स्टैंडर्ड' से हंगामा मच गया। इसकी आलोचना में कहा गया कि सर्वसत्तावादी राज्य अगर गिरफ्तारी, यातना और हत्या पर निर्भर रहता है तो अधिनायकवादी राज्य इसी तरह के काम निजी क्षेत्र के जरिये करवाता है। बहरहाल, किर्कपैट्रिक रेगन प्रशासन की कारकुन बनीं और उन्होंने शीतयुद्धीन राजनीति के लिए अपने राजनीतिशास्त्रीय ज्ञान का जम कर दोहन किया।

शीत युद्ध खत्म हो जाने के बाद राजनीतिशास्त्र के दायरों में इस समय स्थिति यह है कि विद्वानों ने सर्वसत्तावाद की श्रेणी को पूरी तरह से खारिज करके अधिनायकवादी व्यवस्थाओं की एक नयी व्यापक श्रेणी बनायी है। इसमें दमनकारी, असहिष्णु, निजी अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण और ग़ैर-राजकीय हित समूहों को सीमित स्वायत्तता देने वाली प्रणालियों को रखा गया है। इस वर्णन से जाहिर है कि इन प्रवृत्तियों की शिनाख्त खुद को पूरी तरह से लोकतांत्रिक कहने वाले राज्यों में भी की जा सकती है। इस लिहाज से स्थापित उदारतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के मुकाबले अधिनायकवाद अधिकांशतः अब एक रुझान का नाम रह गया है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक,

जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति: साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. हान्ना एरेंट (1958), *द ओरिजिंस ऑफ टोटलिटेरियनिज़म*, मेरिडियन, न्यूयॉर्क, दूसरा संस्करण.
2. कार्ल पॉपर (1945), *ओपन सोसाइटी ऐंड इट्स एनिमीज़*, रॉटलेज, लंदन.
3. सेमुअल पी. हंटिंग्टन (1967), *पॉलिटिकल ऑर्डर इन चेंजिंग सोसाइटी*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन.
3. सी.जे. फ्रेड्रिख और जैड. ब्रेज़िंस्की (1967), *टोटलिटेरियन डिक्टेटरशिप ऐंड ऑटोक्रेसी*, प्रेजर, न्यूयॉर्क.
4. जीन किर्कपैट्रिक (1979), 'डिक्टेटरशिप ऐंड डबल स्टैंडर्ड', *कमेंटरी*, खण्ड 68, अंक 5.
5. जे.जे. लिंज (1970), 'एन एथॉरिटेरियन रिज़ीम : अ केस ऑफ स्पेन', ई. अलार्ड और एस रोकन (सम्पा.), *मास पॉलिटिक्स : स्टडीज़ इन पॉलिटिकल सोसियोलॉजी*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

सविनय अवज्ञा

(Civil Disobedience)

अमूमन सविनय अवज्ञा का अर्थ होता है कि धार्मिक, नैतिक या राजनीतिक सिद्धांत के कारण किसी भी क़ानून का जानबूझकर पालन न करना। इसका एक अधिक सीधा अर्थ यह भी है कि ऐसे क़ानून का उल्लंघन किया जाए जो अपने-आप में अन्यायपूर्ण है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग ऐसे विरोध के बारे में बताने के लिए भी किया जाता है जिसमें किसी ख़ास नीति का विरोध करने के लिए या किसी राजनीतिक सुधार की माँग करने के लिए क़ानून का उल्लंघन किया जाता है। अर्थात् सविनय अवज्ञा के तहत क़ानून का उल्लंघन करना हमेशा अपने-आप में प्राथमिक लक्ष्य नहीं होता है। यह सिद्धांत दो हस्तियों के साथ जुड़ा है। थोरो के साथ और फिर गाँधी के साथ। सबसे पहले अमेरिकी चिंतक हेनरी डेविड थोरो ने सिविल डिसेओबिडिएंस या सविनय अवज्ञा शब्द प्रयोग किया। यह 1948 में उनके द्वारा लिखे गये एक निबंध का शीर्षक था। इस निबंध में थोरो ने व्याख्या की थी कि आखिर उन्होंने मैसाचुसेट्स राज्य को बहुत दिनों तक टैक्स क्यों नहीं दिया। इसके कारण उन्हें जेल में एक रात गुज़ारनी पड़ी। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका की दो नीतियों का विरोध करने के लिए यह काम किया था। पहला, उन्होंने मैक्सिको के खिलाफ़ युद्ध का विरोध किया तथा दूसरा उन्होंने दक्षिण में क्रायम दास प्रथा की निंदा की। थोरो ने इस बात पर जोर दिया कि सिर्फ़ वोट देना ही काफ़ी नहीं है। जब आपकी अपनी चुनी हुई सरकार अन्याय को बढ़ावा देने लगे तो इस अन्याय का विरोध करने के लिए लोगों को सक्रिय रूप से काम करना चाहिए। राजनीति दार्शनिकों ने अक्सर इस बात की व्याख्या करने की कोशिश की है कि लोगों को अपनी चुनी हुई सरकार के प्रति सिविल ओबिडिएंस (या सविनय आज्ञापालन) की भावना रखनी चाहिए। इस अर्थ में सिविल डिसेओबिडिएंस (या सविनय अवज्ञा) का थोरो द्वारा प्रतिपादित कर्तव्य इसके विपरीत है।

थोरो के पहले सिविल डिसेओबिडिएंस और पैसिव रेज़िस्टेंस जैसे प्रतिरोध के स्वरूप उभरने शुरू हो चुके थे। पैसिव रेज़िस्टेंस का मक़सद संवैधानिक अधिकारों के लिए शांतिपूर्ण आंदोलन करना था, यानी क़ानून के ढाँचे के भीतर रह कर एक नैतिक दबाव तैयार करना। सविनय अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध के सैद्धांतिक स्वरूप पर चर्चा की शुरुआत सोलहवीं सदी के प्रारम्भ हो चुकी थी। फ़्रांस के राजनीतिज्ञ और विचारक ला बोइती अपनी रचना डिस्कोर्स ऑन वालंटरी सरवीट्यूड में कह चुके थे कि अत्याचारी के अत्याचार के

प्रतिकार का एक तरीक़ा यह भी है कि उससे सहयोग न किया जाए अंग्रेज़ चिंतक इमर्सन ने ला बोइती की प्रशंसा में एक कविता भी लिखी थी, और इमर्सन थोरो के मित्र भी थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः थोरो पर ला बोइती का भी प्रभाव रहा होगा।

थोरो ने प्रतिरोध की इसी परम्परा को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। इस सिलसिले में *ऑन द ड्यूटी ऑफ़ सिविल डिसेओबिडिएंस* उनकी प्रतिनिधि रचना है। इस लेख में उन्होंने महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। थोरो व्यक्ति और राज्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि हम पहले मनुष्य हैं, किसी राज्य की प्रजा बाद में। लेकिन राज्य के दृष्टिकोण से देखने पर हम पहले प्रजा हैं, उसकी आज्ञा का पालन करना ही नैतिकता है। इस द्वंद्व में थोरो स्पष्ट करते हैं कि राज्य-नागरिक संबंधों का निर्वाह करते हुए हमें मनुष्य होने का अधिकार नहीं छोड़ना चाहिए। सत्य बड़ी चीज़ होता है, न कि विधान। अतः क़ानून का उल्लंघन अनिवार्यतः बुरी चीज़ नहीं है।

गाँधी ने थोरो के तकरीबन साठ-सत्तर साल बाद सविनय अवज्ञा के सिद्धांत और व्यवहार को और ज़्यादा परिष्कृत किया। उन्होंने अहिंसा और अहिंसक संघर्ष के अपने दर्शन के विकास के संदर्भ में सविनय अवज्ञा के सिद्धांत का प्रयोग किया। 1932 में अंग्रेज़ों द्वारा लागू किये गये नमक क़ानून को तोड़ने के लिए उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाया। गाँधी ने यह तर्क दिया कि सविनय अवज्ञा सामान्य तौर पर क़ानून के प्रति गहरे सम्मान पर आधारित होता है। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जो लोग सविनय अवज्ञा करते हैं उन्हें अहिंसक तरीक़े से और सार्वजनिक रूप से ऐसा करना चाहिए। वे भी मानते थे कि केवल उसी वक़्त सविनय अवज्ञा का सहारा लेना चाहिए जब दबाव डालने या याचिका दायर करने के दूसरे सारे तरीक़े नाकाम हो चुके हों। गाँधी के विचार थोरो से इस अर्थ में अलग थे कि उन्होंने कठोरता से अहिंसा पालन करने, सविनय अवज्ञा के सामान्य कर्तव्य और सविनय अवज्ञा शुरू करने से पहले हर तरह की संवैधानिक राजनीतिक कार्रवाई को पहले आजमा लेने पर बल दिया। थोरो का नज़रिया ज़्यादा व्यक्तिवादी था और उनके विचारों में सरकार विरोधी भावना ज़्यादा थी।

सविनय अवज्ञा की हालिया विवेचनाओं में अमूमन गाँधी की संकल्पना को स्वीकार किया जाता है। मसलन, जॉन रॉल्स ने अपनी किताब *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में सविनय अवज्ञा को परिभाषित करते हुए यह लिखा है कि 'यह सार्वजनिक, अहिंसक और अंतःकरण पर आधारित कार्रवाई होती है, जो क़ानून के विपरीत होती है; अमूमन इसका लक्ष्य यह होता है कि क़ानून या सरकार की नीतियों में बदलाव

किया जाए।' लेकिन यह भी अपने-आप में एक रोचक तथ्य है कि अपनी पूरी विवेचना में रॉल्स थोरो, मार्टिन लूथर आदि का जिक्र करते हैं, लेकिन वे गाँधी का कोई जिक्र नहीं करते।

सविनय अवज्ञा का औचित्य साबित करने के लिए किसी खास सरकार के क़ानूनों की तुलना में एक उच्चतर नैतिक सत्ता के क़ानून का आह्वान किया जाता है और इसमें मानवाधिकारों के स्पष्ट उल्लंघन का प्रतिरोध करने पर जोर है। ये दोनों ही तर्क थोरो के विचारों में मौजूद हैं। इसके अलावा, कई बार इसमें एक उच्चतर राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय क़ानून का भी आह्वान किया जाता है। मसलन, 1955-1963 के बीच अमेरिका के ठेठ दक्षिणी इलाक़े में नागरिक अधिकारों की वकालत करने वाले विरोधियों ने नस्ली अलगाव क़ायम करने वाले स्थानीय क़ानूनों को तोड़ा। उन्होंने अपने काम का औचित्य बताने के लिए अमेरिकी संविधान के सिद्धांतों का सहारा लिया। वियतनाम युद्ध के समय परमाणु हथियारों के प्रयोग का विरोध करने वाले लोगों ने यह दावा किया कि वे अंतर्राष्ट्रीय क़ानून क़ायम रखने की बात कर रहे हैं। सविनय अवज्ञा का औचित्य साबित करने के लिए अक्सर इस तर्क का प्रयोग किया जाता है कि कई बार मानव जीवन को इस तरह का ख़तरा होता है कि उससे सामान्य लोकतांत्रिक और चुनावी प्रक्रियाओं के द्वारा नहीं निबटा जा सकता है। बर्टेंड रसेल ने परमाणु हथियारों के ख़िलाफ़ सविनय अवज्ञा करने के लिए यही तर्क दिया।

सविनय अवज्ञा के केंद्र में एक मुख्य सवाल यह है कि इसका प्राथमिक मकसद दबाव डालना है या बल प्रयोग करना। आम तौर पर सविनय अवज्ञा का सहारा लेने वाले आंदोलनों द्वारा इस सवाल का सीधे जवाब नहीं दिया जाता। मान लीजिए कि सविनय अवज्ञा का सहारा लेने वालों का लक्ष्य किसी नीति के ख़िलाफ़ अपने विरोध को जोरदार तरीक़े से पेश करना है और इसके द्वारा वे दिखाना चाहते हैं कि वे अपने विश्वासों के लिए दुःख सहने को तैयार हैं। सविनय अवज्ञा का प्रयोग करके वे अपने कुछ विरोधियों या सह-नागरिकों का मन बदल सकते हैं। यह सविनय अवज्ञा का दबावकारी उपयोग है। यह किसी टकराव को बातचीत से सुलझाने या नीतिगत सुधार की प्रक्रिया को तेज़ कर सकता है। लेकिन मान लीजिए कि सविनय अवज्ञा का सहारा एक दूरगामी लक्ष्य को हासिल करने के लिए या किसी नीति के क्रियान्वयन को नामुमकिन बनाने के लिए किया जाता है। ऐसे में प्रदर्शनकारी सरकार के संसाधनों पर सीधा दबाव डालते हैं या तात्कालिक जीत हासिल करना चाहते हैं। व्यवहार में इन दोनों के बीच में कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है और इसमें शामिल लोगों की संख्या के आधार पर इनमें अंतर किया जा सकता है। सविनय अवज्ञा की गतिविधियाँ दबाव या सीधे प्रभाव पर जोर दे सकती हैं।

दरअसल, सविनय अवज्ञा का स्थान राजनीतिक कार्रवाई के संवैधानिक रूपों और बगावत या क्रांति के बीच में आता है। इसे संवैधानिक और लोकतांत्रिक राज्यों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाली राजनीतिक प्रक्रियाओं के व्यापक दायरे के भीतर एक अतिवादी क्रम के रूप में देखा जा सकता है, लेकिन कुछ परिस्थितियों में इसे स्वीकार भी किया जा सकता है। सविनय अवज्ञा की ऐसी कार्रवाइयों का समर्थन करना आसान है जिनका मकसद दबाव डालना होता है और जिन्हें सार्वजनिक तौर पर तथा पूर्ण अहिंसा के साथ किया जाता है। लेकिन यह मुमकिन है कि सविनय अवज्ञा वर्तमान शासन के ख़िलाफ़ एक व्यापक प्रतिरोध को जन्म दे और आगे चल कर हिंसक भी बन जाए। अक्सर यह माना जाता है कि तानाशाही, विदेशी शासन या बुनियादी रूप से अन्यायपूर्ण शासन के ख़िलाफ़ पूरी तरह से प्रतिरोध करना न्यायसंगत है। लेकिन मान लीजिए कि यह एक ऐसे शासन के ख़िलाफ़ होता है जो नागरिकों के अधिकारों की इज़्जत करता है और जिसमें नीचे से आम लोगों के दबाव द्वारा ही सरकार की नीतियों को प्रभावित किया जा सकता है या उन्हें बदला जा सकता है; ऐसी स्थिति में सरकार के पूर्ण प्रतिरोध की निंदा की जाती है। बहरहाल, किसी भी खास मामले में सविनय अवज्ञा का पक्ष लेने वाले या इसका विरोध करने वाले लोगों में इस बात पर भी असहमति हो सकती है कि सरकार किस सीमा तक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की इज़्जत करती है; या उनके बीच लोकतंत्र की सीमा के बारे में भी असहमति होती है।

1950 के दशक के बाद से पश्चिमी देशों में विरोध के एक तरीक़े के रूप में सविनय अवज्ञा को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। लेकिन अभी भी ऐसे लोग हैं जो यह मानते हैं कि यदि विरोध करने या दबाव डालने के अन्य क़ानूनी साधन मौजूद हैं तो सविनय अवज्ञा का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोगों का यह मानना है कि इससे क़ानूनों को तोड़ने की प्रवृत्ति का फैलाव होगा और इससे एक ऐसा राजनीतिक वातावरण बन सकता है, जिसमें लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का कोई महत्व ही न बचे। यह एक ऐसा वाद-विवाद है जिसे पूरी तरह से सुलझाया नहीं जा सकता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकिल ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय

अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकार और सरकारियत-1 और 2, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. डब्ल्यू. हार्डिंग और एम. मेयर (1980), *द न्यू थोरो हैंडबुक*, सनी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एच.ए. बेड्यु (सम्पा.) (1980), *सिविल डिसओबिडिएंस : थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, बॉक्स-मेरिल, इंडियानापोलिस.
3. एम.के. गाँधी (1961), *नॉन वायलेंट रेजिस्टेंस*, स्कोकीन, न्यूयॉर्क.
4. जॉन रॉल्स (1971), *अ थियरी ऑफ जस्टिस*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— कमल नयन चौबे

सर्वोदय

(Sarvodaya)

एक आंदोलन और विचारधारा के रूप में सर्वोदय (सर्व+उदय अर्थात् सभी के उत्थान और सत्ता के समतामूलक वितरण के आधार पर समाज की पुनर्रचना) की शुरुआत 1948 में गाँधी के निधन के डेढ़ महीने बाद की गयी थी। इसके आधार में गाँधी द्वारा प्रतिपादित 'सर्वोदय समाज' का आदर्श था। गाँधी जॉन रस्किन के उद्योगवाद विरोधी विचारों से काफ़ी प्रभावित थे। उन्होंने उनकी रचना *अन टू दिस लास्ट* का अनुवाद भी *सर्वोदय* शीर्षक से किया था। इस विचार के पीछे रस्किन के अलावा वेदांत, बौद्ध धर्म, ईसाइयत, तॉल्स्टॉय और थोरो की प्रेरणाएँ भी थीं। 11 से 14 मार्च के बीच सेवाग्राम में गाँधी के कुछ प्रमुख अनुयायियों ने विचार-विमर्श करके निर्णय किया कि वे गाँधी के इस खयाल को धरती पर उतारेंगे। कुछ संगठनों के ढीले-ढाले संघ के तौर पर जन्मे इस आंदोलन की केंद्रीय विभूति विनोबा भावे थे जिन्हें अपने सत्याग्रह आंदोलन के दौरान गाँधी ने पहले सत्याग्रही की उपाधि दी थी। स्थापना के एक वर्ष बाद इंदौर में हुए एक सम्मेलन में सर्व सेवा संघ का गठन करके सर्वोदय आंदोलन का संस्थानीकरण किया गया।

गाँधी प्रवर्तित सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक पुनर्रचना का कार्यक्रम धरती पर उतारने के लिए विनोबा ने 1951-52 में ज़मीन के बँटवारे के सवाल को रचनात्मक कार्यक्रम के मर्म में रखते हुए भूदान की मुहिम चलाई। भूदान के साथ 1956 में ग्रामदान का कार्यक्रम जोड़ कर विनोबा ने राज-नीति के मुक्राबले लोक-नीति और राज-शक्ति के

मुक्राबले लोक-शक्ति की अवधारणाएँ विकसित कीं। सर्वोदय ने विकास की जगह उत्थान को प्राथमिकता दी। विकास अगर प्रगति को आर्थिक और भौतिक अर्थों में नापने का नाम था, तो उत्थान का मतलब था नैतिक मूल्यों में तब्दीली करके हृदय-परिवर्तन करना। सर्वोदय को शुरू में सरकार का सहयोग और प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ। लेकिन, समाजवादी नेता और चिंतक जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय से जुड़ जाने के बाद इस आंदोलन को एक नया उछाल मिला। सत्तर के दशक की राजनीति में जेपी की भागीदारी से पहले अन्य कारणों से और फिर उसके कारण सर्वोदय आंदोलन वैचारिक संकटों और अंतर्विरोधों का शिकार हो गया। धीरे-धीरे इसकी महत्वाकांक्षाएँ सिमट कर स्वयंसेवी भाव से किये गये समाज-कार्य तक सिमट कर रह गयीं।

गाँधी के लिए सर्वोदय का व्यावहारिक मतलब था उनका बनाया हुआ 18 सूत्रीय रचनात्मक कार्यक्रम। विनोबा ने इसे बढ़ा कर 22 सूत्रीय कर दिया। लेकिन विनोबा की खास बात भूदान-ग्रामदान कार्यक्रम के जरिये गाँधी-विचार को एक नया रूप देने की थी। यही वह समय था जब एक तरफ़ तेलंगाना और दूसरी जगहों पर कम्युनिस्टों के नेतृत्व में रैडिकल भूमि-सुधारों के लिए जुझारू ज़मींदार विरोधी संघर्ष चल रहे थे, और दूसरी तरफ़ आज़ाद भारत की सरकार भूमि-हदबंदी क्रानून लागू करने की कोशिश कर रही थी। सरकार ने सर्वोदय आंदोलन की मदद करने के लिए भूदान-ग्रामदान क्रानून भी बनाया।

1951 में शिवनामपल्ली में हुए सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने के बाद विनोबा ने तेलंगाना किसान संघर्ष के इलाकों में पैदल शांति-यात्रा करनी शुरू की। 18 अप्रैल को पोचमपल्ली गाँव (जहाँ सबसे ज़्यादा रक्तपात हुआ था) के हरिजनों (दलित) ने उनसे कहा कि जीवनयापन के लिए उन्हें अस्सी एकड़ खेती योग्य ज़मीन की ज़रूरत है। विनोबा ने गाँव के डरे हुए भू-स्वामियों से पूछा कि वे हरिजनों की यह आवश्यकता क्यों नहीं पूरी सकते? रामचंद्र रेड्डी नामक भू-स्वामी ने वहीं अपनी सौ एकड़ ज़मीन दान करने की घोषणा की। इस अनायास घटना से भूदान की मुहिम शुरू हुई। तेलंगाना में विनोबा को प्रति दिन दो सौ एकड़ ज़मीन दान में मिली। पवनार से दिल्ली तक की यात्रा में विनोबा ने औसतन तीन सौ एकड़ भूमि का दान पाया। वे पाँच करोड़ एकड़ ज़मीन पाने के लक्ष्य के साथ चले। 1952 में उत्तर प्रदेश में यात्रा करते समय विनोबा को एक पूरा गाँव ही दान में मिल गया। इस घटना से ग्रामदान की मुहिम का जन्म हुआ। 1964 तक 6,807 गाँव ग्रामदान के दायरे में आ चुके थे। विनोबा 13 साल तक मुतवातिर चलते रहे। 12 सितम्बर, 1951 को उन्होंने पवनार आश्रम छोड़ा, और 10 अप्रैल, 1964 को वापिसी की। जुलाई, 1965 में उन्होंने बिहार की

तूफानी यात्रा शुरू की जो चार साल तक चलती रही। इस दौरान उन्होंने हजारों सभाएँ कीं और जाति-धर्म के आरपार असंख्य लोगों को सर्वोदय विचार के इर्द-गिर्द गोलबंद किया। मई, 1960 में विनोबा के चरणों में चम्बल के कुछ डकैतों ने हथियार भी डाले। 1975 के आँकड़ों के अनुसार सारे देश में 25,000 मील के पैदल भ्रमण के दौरान 7,00,000 भू-स्वामियों से उन्हें 41,49,270 एकड़ ज़मीन मिली जिसमें से 18,57,300 एकड़ ज़मीन खेती योग्य नहीं थी। 12,85,738 एकड़ ज़मीन भूमिहीनों में बाँटी गयी।

भूदान-ग्रामदान कार्यक्रम की सफलता-विफलता के बारे में विवाद है। रैडिकल राजनीति करने वाले वामपंथियों का आरोप है कि जब-जब इस देश के भूमिहीनों ने ज़मींदारों से अपना हक़ छीनना चाहा, तब-तब सर्वोदयी लोग कभी भूदान तो कभी ग्रामदान का कार्यक्रम लेकर उनके आंदोलन की क्रांतिकारी धार कुंद करने और इस तरह देहाती इलाक़ों पर क्राबिज़ ज़मींदारों को बचाने के लिए पहुँच गये। सर्वोदय के प्रशंसक भी यह बात मानते हैं कि जिस समय बड़े भू-स्वामी किसान सभाओं के प्रहार से डरे हुए थे, उस समय विनोबा के अभियान से उन्हें काफ़ी राहत मिली। बहरहाल, इस आरोप को अगर विचारधारा-प्रेरित मान लिया जाए, तो भी आँकड़ों के लिहाज़ से भूदान ज़मीन के बँटवारे की समस्या में कोई ख़ास योगदान नहीं कर पाया। एक अध्ययन के अनुसार केवल बिहार में भूदान-यज्ञ के दौरान ज़मींदारों ने कुल 21 लाख एकड़ ज़मीन दान में दी जिसमें केवल छह लाख एकड़ ज़मीन ही खेती के क्राबिल थी। इसे 4,80,000 दलितों-आदिवासियों में बाँटा गया। लेकिन, भूदान यज्ञ कमेटी की सरकार को दी गयी रपट बताती है कि इसके नब्बे फ़ीसदी हिस्से पर जल्दी ही ज़मींदारों ने फिर से क़ब्ज़ा कर लिया।

जो भी हो, 1969 के बाद विनोबा के भूदान-ग्रामदान आंदोलन की रफ़्तार धीमी हो गयी। बिहार में भूदान करवाने के बाद वे अपने पवनार आश्रम में लौट गये। इसके बाद उन्होंने दोबारा कभी इस मक़सद के लिए देश का दौरा नहीं किया और आध्यात्मिक चिंतन में डूब गये। सर्वोदय की बागडोर फिर जयप्रकाश नारायण ने सँभाली। जो काम विनोबा ने पोचमपल्ली को चुन कर किया था, उसी को जयप्रकाश नारायण ने सत्तर के दशक में मुशहरी (बिहार) को ग्रामदान के लिए चुन कर दोहराया जो नक्सलवादी आंदोलन के गढ़ के रूप में उभर रहा था। जयप्रकाश ने डेढ़ साल मुशहरी में गुज़ारे। उन्होंने इस अनुभव को अपनी रचना *फ़ेस टू फ़ेस* में दर्ज किया है। इस अनुभव की रोशनी में ही जेपी ने एक बार फिर राजनीति में कूदने की ज़रूरत महसूस की। उन्हें लगा कि ग्रामदान से गरीबों और ग्रामों की समस्या हल होने वाली नहीं है। उन्होंने यह भी देखा कि राजनीति

में ज़बरदस्त भ्रष्टाचार है और इसका स्रोत दिल्ली की सरकार से जुड़ा है।

जेपी के इंदिरा सरकार विरोधी संघर्ष ने सर्वोदय आंदोलन के लिए समस्या पैदा कर दी। विनोबा सर्वोदय को ग़ैर-राजनीतिक रखना चाहते थे। उन्होंने जेपी से कहा कि वे सर्वोदय के मंच का प्रतिपक्षी राजनीति के लिए इस्तेमाल न करें। जेपी द्वारा सरकार विरोधी सत्याग्रह का आह्वान करने पर विनोबा ने उसे नकारात्मक क्रार दे कर कहा कि इस तरह के आंदोलन का स्वतंत्र भारत में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। इस प्रश्न पर आंदोलन बँट गया। सर्व सेवा संघ के बहुमत ने जेपी का साथ देने का निश्चय किया। विनोबा के समर्थकों का कहना था कि जेपी ने राजनीति में भाग लेकर संघ और सर्वोदय के मानकों का उल्लंघन किया है। दिलचस्प बात यह है कि इस दौरान जेपी ने जिस भाषा और शब्दावली का इस्तेमाल किया, वह विनोबा की ही थी। लोक-शक्ति और सम्पूर्ण क्रांति जैसी अभिव्यक्तियाँ विनोबा द्वारा ही गढ़ी गयी थीं। मुशहरी के अनुभव की रोशनी में जयप्रकाश इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भूदान-ग्रामदान के बजाय 'नीचे से पुनर्निर्माण' के बजाय 'सभी दिशाओं से पुनर्निर्माण' की राजनीति की जानी चाहिए।

जेपी के कारण जैसे ही सर्वोदय का राजनीतीकरण हुआ, अभी तक मददगार रही सरकार नाराज़ हो गयी। इंदिरा गाँधी ने जब आपातकाल लगाया तो उसका कोप कई सर्वोदयी नेताओं को भी अपनी गिरफ़्तारी के रूप में झेलना पड़ा। विनोबा ने आपातकाल की आलोचना करने के बजाय उसे अनुशासन पर्व की संज्ञा दी, और इंदिरा गाँधी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका की प्रशंसा करते हुए कहा कि वे देश को एक रखने का प्रयास कर रही हैं। उन्होंने सरकारी कर्मचारियों को लोक-सेवक भी बताया। बदले में जयप्रकाश के समर्थकों ने उन्हें सरकारी संत क्रार दिया। 1977 में इंदिरा गाँधी की पराजय और जनता पार्टी की सरकार के आगमन के बाद सर्व सेवा संघ पूरी तरह से जेपी के साथ हो गया। विडम्बना यह रही कि जनता पार्टी ने जेपी द्वारा देश के लिए बनायी गयी सर्वोदयी योजनाओं को कोई तरजीह नहीं दी।

1979 में जेपी का देहांत हो गया। जनता पार्टी के आंतरिक बिखराव ने इंदिरा गाँधी की प्रधानमंत्री पद पर वापिसी करायी। इसका परिणाम बदले की भावना से गठित किये गये कुदाल आयोग में निकला जिसने सर्वोदय आंदोलन से जुड़ी संस्थाओं (सर्व सेवा संघ और एसोसिएशन ऑफ़ वालंटरी एजेंसीज़ फ़ॉर रूरल डिवेलपमेंट) की गतिविधियों का जाँच शुरू कर दी। इंदिरा गाँधी के इस क़दम से न केवल वे विदेशी दानदाता एजेंसियाँ हतोत्साहित हुईं जो सर्वोदय के रचनात्मक कार्यक्रम की मदद कर रही थीं, बल्कि पूरे आंदोलन को ही एक तरह अपमानजनक दौर से गुज़रना

पड़ा। इन विवादों के कारण सर्वोदय आंदोलन की गतिशीलता मंद होती चली गयी। 1984 में राजीव गाँधी द्वारा प्रौद्योगिकीय विकास को सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का वाहक बनाने से इस आंदोलन को एक और झटका लगा। 1984 के आम चुनाव में बिहार और गुजरात से सर्व सेवा संघ द्वारा दो लोक-उम्मीदवार भी खड़े किये गये थे जो उल्लेखनीय समर्थन प्राप्त करने में नाकाम रहे थे। 1985 में सर्व सेवा संघ ने ग्राम स्वराज्य को अपना बुनियादी लक्ष्य घोषित करते हुए अपनी ऊर्जा तीन कार्यक्रमों में लगाने का फैसला किया : मतदाता परिषदें बनाना, ग्राम सभाएँ खड़ी करना और शांति ब्रिगेडें तैयार करना। यह तीन सूत्रीय कार्यक्रम विनोबा और जेपी की विरासत की मिली-जुली अभिव्यक्ति थी। मसलन, मतदाता परिषदें अगर जेपी द्वारा किये गये राजनीतीकरण की निशानी थी, तो शांति ब्रिगेडें विनोबा प्रवर्तित भारतीय शांति सेना के विचार की अभिव्यक्ति थी।

इस समय यह आंदोलन विकास के तकनीकशाही प्रतिमानों, भूमण्डलीकरण के तहत आये बाजारवादी रुझानों और गठजोड़ राजनीति की पेचीदगियों के सामने खुद को पूरी तरह से असहाय महसूस कर रहा है।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नजरूल इसलाम, कुमारन् आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, जय प्रकाश नारायण, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरुंडेल, विनोबा भावे, वल्लतोल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. अर्चना सिन्हा (1978), *द सोशल ऐंड पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ सर्वोदय*, जानकी प्रकाशन, पटना.
2. विश्वनाथ टंडन (1965), *सर्वोदय आफ्टर गाँधी*, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी.
3. जयप्रकाश नारायण (1970), *फ़ेस टू फ़ेस*, नवचित्र प्रकाशन, वाराणसी.
4. ईश्वर सी. हैरिस (1986), 'द भूदान मूवमेंट : ऐन इनवेस्टीगेशन इनटु विनोबा भावेज़ लीगोसी इन कंटेम्पेरी इंडिया', *एशियन थॉट ऐंड सोसाइटी*, जुलाई-नवम्बर.
5. ईश्वर सी. हैरिस (1987), 'सर्वोदय इन क्राइसिस : द गाँधियन मूवमेंट इन इण्डिया टुडे', *एशियन सर्वे*, खण्ड 27, अंक 9.

— अभय कुमार दुबे

वितरणमूलकता और संबंधवाचकता (Empowerment-1)

समाज-विज्ञान में सशक्तीकरण की दो एक-दूसरे से विपरीत व्याख्याएँ प्रचलित हैं। एक व्याख्या इस अवधारणा की ऐसी समझ की ओर ले जाती है जहाँ यह समाज और व्यक्ति के लिए लाभकारी दिखती है। इसके तहत दावा किया जाता है कि सशक्तीकरण के जरिये सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक भेदभाव के शिकार और पारम्परिक रूप से उपेक्षित रहे वंचित समूहों को राजनीतिक और सामाजिक सत्ता में हिस्सेदारी मिलती है या मिलने की सम्भावनाएँ खुलती हैं। दूसरी व्याख्या इस अवधारणा को ग्लोबल नव-उदारतावादी निज़ाम की पैदाइश मानती है जिसके तहत सशक्तीकरण एक मिथक और विभ्रम के रूप में सामने आता है। यानी सशक्तीकरण केवल सत्ता में हिस्सेदारी की गलतफ़हमी पैदा करता है और वास्तव में वंचित समूहों का उनके सामने कुछ टुकड़े फेंक कर इस प्रविधि के माध्यम से ग्लोबल पूँजीवाद की सेवा के लिए विनियोग कर लिया जाता है।

सशक्तीकरण को कल्याणकारी मानने वाली पहली व्याख्या के दो आयाम हैं : वितरणमूलक और संबंधवाचक। वितरणमूलक आयाम के अर्थ है सत्ता को संसाधनों, क्षमताओं और पदों के रूप में बाँटना। इस वितरणमूलकता के जरिये वंचित समूह सशक्त किये जा सकते हैं। सशक्तीकरण की इस प्रक्रिया को मात्रात्मक और गुणात्मक रूप से नापा जा सकता है। संबंधवाचकता का मतलब है सत्ता का इस्तेमाल करके मौजूदा सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संबंधों में आमूल परिवर्तन करने की परियोजना चलाना। समझा जाता है कि इन संबंधवाचक परिवर्तनों के साथ-साथ इस विधि से रूढ़ छवियों पर प्रहार किये जा सकते हैं, स्थाई रूप से पराजित मानस बदला जा सकता है, उत्पीड़ित समुदायों के भीतर एक मनोवैज्ञानिक उछाल लाया जा सकता, और कुल मिलाकर प्रभुत्व और उत्पीड़न की संरचनाओं की बुनियादी ज़मीन पर ही चोट की जा सकती है। सशक्तीकरण का यह पहलू मुख्यतः आत्मनिष्ठ है, और इसे आसानी से देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसके ठोस रूप केवल लम्बी प्रक्रिया के जरिये ही सामने आ सकते हैं।

सशक्तीकरण के इन दोनों मिले-जुले पहलुओं का असर परखने के लिए दुनिया के कई देशों में अध्ययन हुए हैं। माइकल बांड्स ने अमेरिका में अश्वेतों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले नागरिक अधिकार आंदोलन के सत्ता की संरचनाओं और वोटिंग व्यवहार पर हुए प्रभाव का अध्ययन किया है। बांड्स का कहना है कि काले अमेरिकनों द्वारा बड़ी संख्या में मतदान करने से ऐसे काले उम्मीदवारों के

उभरने की अपेक्षा थी जो इस समुदाय की जरूरतों के प्रति अधिक संवेदनशील होंगे। बांड्स के मुताबिक यह तय कर पाना मुश्किल है कि सत्ता में हिस्सेदारी बढ़ने से अफ्रीकी-अमेरिकी समुदाय को सीधा फ़ायदा हुआ है। लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है कि राजनीतिक सशक्तीकरण और तरफ़दारी वाली सरकारी नीतियों ने इस समुदाय के लिए पहले के मुकाबले अधिक गुंजाइश पैदा की है। बांड्स का यह अध्ययन मुख्यतः वितरणमूलकता के इर्द-गिर्द हुआ है।

सशक्तीकरण की अवधारणा का नारीवादी आंदोलन ने भी इस्तेमाल किया है जो मुख्यतः संबंधवाचकता का उदाहरण है। ऊपर वर्णित प्रक्रिया से अलग तरह का रवैया अपनाते हुए नारीवादियों का कहना है कि सशक्तीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक व्यक्ति की निजी चेतना में तब्दीली न हो और साथ में वह सामूहिक रूप से मुक्ति प्राप्त करने के उद्यम में भागीदारी करने के लिए तैयार न हो। इस दोहरी प्रक्रिया में जिस शक्ति का उदय होता है, वही परिवर्तनकारी होती है। नारीवादी चिंतन कहता है कि केवल सत्ता की मौजूदा संरचनाओं में महज़ हिस्सेदारी से कुछ नहीं होगा। ज़रूरत तो खुद अपने आपको बदलने और साथ में सत्ता की संरचनाओं को भी बदलने की है। नारीवादी परिप्रेक्ष्य ने सशक्तीकरण के प्रत्यय के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय ताकतों और संस्थाओं की भूमिका को भी प्रश्नांकित किया है। उनका कहना है कि नेक इरादों से लैस बाहरी ताकतें मान कर चलती हैं कि वे अपनी खास तरह की सशक्तीकरण-रणनीतियों से वंचितों को सक्षम बना सकती हैं, लेकिन असल में राष्ट्रीय सरकार की मदद से विकसित की गयी स्थानीय सहभागिता और पहलकदमी ही सशक्तीकरण के लक्ष्यों को वेध पाती है।

भारत में सशक्तीकरण के कल्याणकारी पक्ष की इस दोहरी समझ को दलित समुदाय की कसौटी पर भी कस कर देखा गया है। इतिहासकार बंदी नारायण ने अपनी रचना 'लोकतंत्र का भिक्षु-गीत : अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की एक प्रस्तावना' में उत्तर प्रदेश के दलित समुदायों पर सशक्तीकरण के असर में निहित अंतर्विरोधों की जाँच की है और इस प्रत्यय की सीमाओं को उजागर किया है। बंदी नारायण एक साथ वितरणमूलकता और संबंधवाचकता के परिप्रेक्ष्यों का उपयोग करते हुए सवाल उठाते हैं कि क्या उत्तर प्रदेश के दलितों में सशक्तीकरण की प्रक्रिया को वितरणमूलकता और संबंधवाचकता के दोनों आइनों में देखा जा सकता है? दलितों की ऊपरी परत का लाभान्वित होना किस श्रेणी में आयेगा? क्या वह दोनों तरफ़ से लाभान्वित हुई है, या वह केवल वितरणमूलक दायरे में ही आगे बढ़ पायी है? चूँकि सशक्तीकरण के इन दोनों पहलुओं के बीच में आपसी संवाद है, इसलिए अगर दलितों के ज़्यादा बड़े हिस्से को वितरणमूलक लाभ मिले हैं तो संबंधवाचक लाभों की ज़मीन कहीं न कहीं थोड़ी-बहुत ज़रूर बनी होगी। निचली

परत को अगर वितरणमूलक लाभ नहीं मिल पाये तो क्या वह उस संबंधवाचक लाभ से भी वंचित रह गयी है?

इस अध्ययन का निष्कर्ष है कि आरक्षण की नीतियों पर अमल के जरिये राज्य के नेतृत्व में जनतंत्र-प्रसार का जो अभियान चल रहा है उसमें सशक्तीकरण तो हो ही रहा है, लेकिन साथ में कुछ समुदायों के अ-सशक्तीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। दलित तबकों के भीतर मौजूद ताकतवर सामाजिक समूह नहीं चाहते कि उन्हें मिले संसाधनों का एक हिस्सा उनके ही उपेक्षित भाइयों में वितरित हो। सशक्तीकरण की यह प्रक्रिया अपने आप में एक आधिपत्यशाली समूह सृजित करती है जिसके कारण बहुत से छोटे-छोटे समूह उपेक्षित पड़े रह जाते हैं। इन उपेक्षित समूहों के लिए जनतंत्र और सशक्तीकरण की चाह दूर से आ रही एक रुलाई की तरह गूँज कर रह जाती है।

बंदी नारायण का तर्क है कि वास्तव में किसी समुदाय की आवाज़ वह होती है जिसे प्रजातंत्र में सुना या पहचाना जा सके। सशक्तीकरण का अभ्यर्था होने की क्षमता प्राप्त करने के लिए भी समुदायों को अधिकतम स्तर प्राप्त करना होता है ताकि वे दृश्यमूलकता प्राप्त करके दावेदारी पेश करने लायक बन सकें। किसी लोकतंत्र में लोगों को वह मिलता है जो वे माँगते हैं। जिसे वे नहीं माँग पाते, वह उन्हें नहीं मिलता। राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेने वाली आवाज़ें भी अनसुनी और अनजानी रह जाती हैं। ये आवाज़ें सत्ता में रहने वाले लोगों, राज्य द्वारा या स्वयं सीमांत समुदायों के अपने नेतृत्व द्वारा जानबूझ कर उपेक्षित की जा सकती हैं। यह प्रातिनिधिक राजनीति की एक महत्वपूर्ण सीमा है। इसके अतिरिक्त बेआवाज़ समूहों को दृश्यमूलकता प्राप्त करने में उस जगह समस्या आती है जहाँ डिजिटल मीडिया से संचालित संचार माध्यम अति-यथार्थ दिखा रहे हों और जहाँ उनकी आवाज़ों को सुने जाने के स्पेस के बिखर जाने का खतरा हो। दरअसल, हमें केवल आवाज़ ही नहीं चाहिए बल्कि इन आवाज़ों का मूल्य भी चाहिए। किसी आवाज़ का मूल्य तभी हो सकता है जब इसे सम्मान और पहचान मिले। आवाज़ों को सम्मान और पहचान तभी मिल सकती है जब बेआवाज़ समुदाय अपनी खुद की कहानी सबको सुनाने का आत्मविश्वास और शक्ति प्राप्त कर ले। प्रतीकात्मक रूप से शक्ति प्राप्त करने के संघर्ष में इन समुदायों के अपने इतिहास, नायक और राजनीतिक वृत्तों उनका मूल्यवर्द्धन करते हैं।

इस अध्ययन के अनुसार भारतीय लोकतंत्र में केवल कुछ दलित जातियों ने अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता और विश्वास हासिल किया है। साफ़ तौर से दिखाई पड़ता है कि केवल कुछ जातियाँ ही अपने तरीके से अन्य सब जातियों की ओर से व्याख्या करती और बोलती हैं। इस दशा में कुछ जातियों के समक्ष अपने को सही ढंग से प्रस्तुत न किये जाने और जड़ों से उखड़ी हुई प्रतीकात्मक पहचान हावी होने का

खतरा अवश्यम्भावी हो जाता है। राज्य और सत्ता भी इस प्रकार की गलत प्रस्तुति को बढ़ावा देती हैं और अपनी सहमति से उन दशाओं का निर्माण करती हैं जिनके कारण राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों द्वारा निर्मित दावे सही ढंग से प्रस्तुत नहीं हो पाते। इस प्रकार की गलत प्रस्तुति और उसके बाद पहचान न दिये जाने के कारण एक ऐसी तस्वीर बनती है जिसमें प्रजातंत्र के सूची-पत्र में कुछ लोग दृश्यमान होते हैं और अन्य लोग धुंधले और अदृश्य रह जाते हैं। शासन और राज्य द्वारा प्रकीर्णित प्रजातंत्र की प्रक्रिया में राज्य स्वयं अपनी ही भाषा विकसित कर लेता है। इससे एक ज्ञानमीमांसीय स्पेस रचा जाता है। ऐसे लोग या समुदाय इस यह भाषा को समझने और प्रत्युत्तर देने में समर्थ हैं, वे राज्य के अखाड़े में आसानी से समाहित हो जाते हैं। जो लोग या समुदाय इस भाषा में अपनी माँग रखने में सक्षम नहीं हैं वे खुद को बहिष्कृत महसूस करते हैं और उनकी आवाजें अनसुनी रह जाती हैं। राज्य और प्रजातंत्र के अखाड़े में जो लोग बेआवाज बनाये गये हैं, वे अपनी आकांक्षाओं और स्वप्नों के बारे में अपनी संस्कृति और सांस्कृतिक भाषा में बात करने के लिए मजबूर हैं। जाहिर है कि राजनीतिक सशक्तीकरण प्रवसन, गतिशीलता, शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक सुधार की आकांक्षा द्वारा ही हो सकता है। यदि इनमें से कोई भी कड़ी छूटेगी तो लोकतांत्रिक दृश्यता कम होगी जिसके कारण सशक्तीकरण में बाधा आयेगी।

देखें : आरक्षण, अनुसूचित जातियाँ, एफ़र्मेटिव एक्शन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नवउदारतावाद, नस्लवाद।

संदर्भ

1. माइकिल बांड्स (2007), 'ब्लैक पॉलिटिकल पॉवर रिअसेसड : रेस, पॉलिटिक्स ऐंड फैडरल फ़ण्ड्स', *जर्नल ऑफ़ अफ्रीकन अमेरिकन स्टडीज़*, दूसरा अंक, पृष्ठ 189-203.
2. एलन ऐमी (2008), 'पॉवर ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ डिफ़रेंस : ऑप्रेशन, एम्पावरमेंट ऐंड ट्रांसनेशनल जस्टिस', *हायपैतिया*, खण्ड 23, अंक 3. पृष्ठ 156-72.
3. कैवल भारती (1997), *लोकतंत्र में भागीदारी के सवाल*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर.
4. अर्जुन अप्पादुरै (2004), 'द कैपेसिटी टू ऐस्पायर : कल्चर ऐंड द टर्म्स ऑफ़ रिकॉग्निशन इन कल्चर ऐंड पब्लिक एक्शन', विजयेंद्र राव और माइकल वॉल्टन (सम्पा.), *कल्चर ऐंड पब्लिक एक्शन*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.
5. बंदी नारायण (2013), 'लोकतंत्र का भिक्षु-गीत : अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की प्रस्तावना', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, खण्ड 1, प्रवेशांक.

— अभय कुमार दुबे

सशक्तीकरण-2

नव-दक्षिणपंथी संस्करण

(Empowerment-2)

सशक्तीकरण की अवधारणा के कल्याणकारी पहलुओं की समीक्षा करने के बाद अब इससे जुड़ी उस समझ पर भी नज़र डालना आवश्यक है जिसके कारण यह प्रत्यय बौद्धिक हलकों में संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से लेकर निजी उद्यम, मीडिया, सार्वजनिक उद्यम तथा अकादमियों में इस शब्द की चर्चा है। लेकिन सशक्तीकरण सुनने में ही एक प्रगतिशील अवधारणा लगती हो, लेकिन विद्वानों का एक हिस्सा इसकी वंशावली नवउदारतावादी निज़ाम में देखता है। यह शब्द एक मिथक, एक विभ्रम खड़ा करने के लिए गढ़ा गया है। हर व्यवस्था को अपने पक्ष में सकारात्मक माहौल बनाना होता है ताकि उसकी स्वीकार्यता बढ़ सके। नवउदारतावादी वित्तीय पूँजीवाद ने जीवन तथा रोज़गार पर प्रतिकूल असर डाला है लेकिन इस नुकसान को भी नफ़ा दिखाने के लिए सशक्तीकरण जैसे प्रगतिशील लगने वाले शब्द की ईजाद की गयी है।

सशक्तीकरण की इस व्याख्या के अनुसार इस शब्द का धड़ाधड़ इस्तेमाल अस्सी की दहाई के दौरान होना शुरू हुआ। यही वह दौर था जब भूमण्डलीकरण की शुरुआत हुई और पूरी दुनिया के स्तर पर नवउदारतावादी वित्तीय आर्थिक-निर्माण की नींव डाली गयी। इस व्यवस्था में उत्पादक गतिविधियों के अतिरिक्त सेवाएँ प्रदान करवाने पर मुख्य जोर हो जाता है। यह व्यवस्था चाहती है कि आर्थिक गतिविधियों की बागडोर राज्य की बजाय पूँजीधारी खिलाड़ियों के हाथ में आ जाए। कल्याणकारी राज्य से भी इसकी असहमति है। रोज़गार की गारंटी तथा श्रम क़ानूनों के साथ भी इस व्यवस्था की संगति नहीं बैठती। सिर्फ़ निजी क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सरकार तथा नौकरशाही के स्तर पर भी खासकर पहली दुनिया के देशों में कार्य-शैली में कई तरह के परिवर्तन किये गये हैं। इस नयी कार्य-शैली को नया-मैनेजरवाद, नवीन सार्वजनिक प्रबंधन अथवा उद्यमी सरकार कहा जाता है। इनका सीधा मक़सद रहा है लागत घटा कर अधिक काम करवाना। मालिकों का अपना मुनाफ़ा बढ़ाने तथा अपनी जिम्मेदारियाँ कम करने पर जोर रहता है। इसीलिए उपभोक्ता तथा श्रमिकों पर अतिरिक्त लागत तथा जिम्मेदारियाँ लाद दी जाती हैं। लेकिन यह सुनिश्चित करना भी ज़रूरी है कि उपभोक्ता तथा श्रमिक इस व्यवस्था के नियम-क्रायदों को स्वीकार करें, इसके समर्थक बनें। इसलिए श्रमिक तथा उपभोक्ता को हुई हानि की पर्दापोशी करने के लिए, उसे लाभ के रूप में दर्शाने के लिए एक मधुर-भाषित, प्रगतिशील

अवधारणा की दरकार पड़ती है। इसी अवधारणा के जरिये पिछले जीवन-मूल्यों की आलोचना की जाती है और नयी व्यवस्था के प्रति सकारात्मक और उत्साहजनक माहौल बनाया जाता है। सशक्तीकरण एक ऐसी ही अवधारणा है।

सशक्तीकरण की घोर आलोचना करने वाली इस व्याख्या के अनुसार इस शब्द का इतिहास भी बहुत पुराना नहीं है। साठ और सत्तर की दहाइयों के दौरान विकसित हुए एक तरह के रैडिकल सोच में सशक्तीकरण की अवधारणा की शुरुआत देखी जा सकती है। इन चिंतन में निहित रणनीतियों तथा विचारों में आवश्यक परिवर्तन कर के ही धुर-दक्षिणपंथ ने सशक्तीकरण की अवधारणा तैयार की। ये रैडिकल विचारक पेशा-आधारित आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों और जीवन के हर क्षेत्र में एक्सपर्टों के उभार को सामाजिक नियंत्रण के तौर-तरीकों के रूप में देख कर उनकी आलोचना करते थे। व्यक्तिगत आत्माभिव्यक्ति का विचार इन आंदोलनों का मुख्य विचार था। इनका कहना था कि उद्योगीकरण तथा आधुनिकता के दौर में हर पेशा सामाजिक नियंत्रण का माध्यम बन गया है। मसलन, आधुनिक चिकित्सा लोगों को बीमार बना कर डॉक्टरों पर आश्रित बना देती है। इन विचारकों का मानना था कि उत्तर-उद्योगीकरण तथा उत्तर-आधुनिकता के इस दौर में पेशों की इस तानाशाही से छुटकारा पाया जा सकता है। इसके लिए इन्होंने आत्म-निर्भरता तथा आत्माभिव्यक्ति को रास्ता माना। इन विचारकों का जोर सामूहिकता की बजाय व्यक्तिगत आजादी और आत्मनिर्भरता पर रहा। इनकी सोच तथा रणनीतियों को देखते हुए इन्हें अराजक पूँजीवादी कहा गया था। अपनी जिंदगी का जिम्मेदार खुद बनने वाले इस तर्क का विस्तार अन्य क्षेत्रों तक भी किया गया।

दक्षिणपंथ ने इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं पर लागू कर दिया। उसने कहा कि श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं को अब संस्थाओं (राज्य, कल्याणकारी व्यवस्था तथा श्रम-क्रान्त) पर निर्भर न रहकर उद्यमी बन कर अपनी कुशलतम योग्यताओं का प्रदर्शन करना चाहिए। अपने काम में कुशलता हासिल करना, अधिकाधिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करना ही व्यक्ति के सशक्तीकरण की निशानी बना दिया गया। इस तरह अराजक पूँजीवादी रैडिकलवाद तथा धुर-दक्षिणपंथी के बीच के मेल से सशक्तीकरण की अवधारणा निकाली गयी।

सशक्तीकरण के इस पहलू पर रोशनी डालने वाले विद्वानों का कहना है कि आत्म-सुधार तथा आत्माभिव्यक्ति सशक्तीकरण की मुख्य चिंताएँ हैं। मनोविश्लेषकों ने इस अवधारणा के इर्द-गिर्द बहुत अधिक काम किया है। बक्रौल रैपोपोर्ट सशक्तीकरण का मतलब है अपने जीवन को खुद निर्धारित करने की भावना। सशक्तीकरण सामूहिकता के हास तथा व्यक्तिवाद की बढ़ोतरी का द्योतक है। सशक्तीकरण

व्यक्ति को यह अहसास करवाता है कि वह नियंत्रक की भूमिका में है और उसके पास ताकत है। इसका यह मतलब नहीं कि व्यक्ति के हाथ में सच में ताकत आ जाती है। दरअसल ताकत का अहसास भर करवाया जाता है, विभ्रम रचा जाता है। कई तरह की मनोवैज्ञानिक गतिविधियाँ हैं जो यह मापती हैं कि व्यक्ति का अपने ऊपर किस हद तक नियंत्रण है, वह कितना सामर्थ्यवान महसूस करता है। ये गतिविधियाँ यह तो मापती हैं कि व्यक्ति खुद को कितना ताकतवर महसूस करता है, पर यह नहीं देखता कि उसके पास सच में कितनी ताकत है।

कुल मिला कर सशक्तीकरण एक निष्क्रिय अवधारणा है क्योंकि यह बताती है कि व्यक्ति को एक बड़ी सत्ता द्वारा ताकत अता की गयी है तथा उसके इस्तेमाल की इजाजत दी गयी है। उसने खुद अपने बूते पर ताकत नहीं पायी है। यानी ताकत तो आभासी होती है, पर असल में अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ तथा बंदिशें व्यक्ति पर लाद दी जाती हैं। इस तरह, आभासी ताकत पाने के चक्कर में व्यक्ति बंदिशें तथा जिम्मेदारियाँ उठाने को राजी हो जाता है। इस तरह का सशक्तीकरण व्यक्ति पर बोझ बन जाता है। यह व्यक्ति को बँधुआ बनाने की कोशिश है।

सशक्तीकरण का नव-उदारवाद तथा सार्वजनिक क्षेत्र की कार्य-पद्धति में किये जा रहे हालिया बदलावों— नये मैनेजरवाद के साथ सीधा संबंध है। विश्व बैंक तथा नवउदारतावादी वित्तीय संस्थानों ने नये मैनेजरवादी कार्यक्रम को इमदाद की प्रमुख पूर्वशर्त बनाकर इसे बहुत से देशों पर लाद दिया है। अमेरिका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में नये मैनेजरवादी कार्यक्रमों को अधिक तीव्रता के साथ निजी तथा सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों में लागू किया गया है। नये मैनेजरवाद के पक्ष में वैश्विक सहमति बनाने की कोशिश की जा रही है। इसे वाशिंगटन सहमति कहा जाता है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इन नीतियों का उद्गम कहाँ है। वैश्विक सहमति तो अभी तक नहीं बनी है लेकिन यह प्रवृत्ति उरूज़ पर है।

नया मैनेजरवाद नौकरशाही की आलोचना करता है। इसका कहना है कि आर्थिक गतिविधियों को परस्पर होड़ करने वाले बाज़ार के खिलाड़ियों के हाथ में दे देना चाहिए तथा सरकार को भी बाज़ार के मॉडल पर काम करना चाहिए। नौकरशाही की बजाय समुदायों को ताकत मिलनी चाहिए। इस विचार के तहत हर समस्या को व्यक्तिगत समस्या के तौर पर देखा जाता है। इस तरह सशक्तीकरण व्यक्तिवाद को बढ़ावा देता है तथा व्यक्ति का वि-राजनीतीकरण करता है। सशक्तीकरण को वर्तमान अर्थव्यवस्था की हर खामी का इलाज बताया जाता है तथा बाज़ार को सरकार के विकल्प के तौर पर खड़ा किया जाता है। इस तरह से इस अवधारणा ने

सरकार के विपक्ष की भूमिका अख्तियार कर ली है। इसने विपक्ष की भाषा और उसके कार्यक्रमों पर आधिपत्य सा जमा लिया है।

सशक्तीकरण किसी क्षेत्र में कैसे काम करता है इसका एक उदाहरण चिकित्सा का क्षेत्र है। अस्सी की दहाई से ही चिकित्सा के क्षेत्र में भी मरीजों के सशक्तीकरण का शोर बढ़ा। इसका सीधा मतलब यह था कि अब उन्हें मरीज नहीं बल्कि सेवार्थी अथवा उपभोक्ता माना जाये। मरीज शब्द पीड़ा का अहसास करवाता है। पीड़ा के इस अहसास की पर्दापोशी के लिए सेवार्थी और उपभोक्ता जैसे मधुर शब्द तलाश लिए गये। यह तो हुआ भाषाई परिवर्तन। संरचनागत परिवर्तन यह हुआ है कि 1981 के बाद से ब्रिटेन में अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या में 34 फ़ीसदी की कटौती की गयी। पूरे युरोप में ब्रिटेन सार्वजनिक चिकित्सा पर सबसे कम खर्च करने वाला राष्ट्र बन गया। अमेरिका में बाक्रायदा क्रानून बना दिया गया है जिसके तहत असाध्य बीमारी से ग्रसित मरीज इलाज कराने से इनकार कर सकता है। पर ऐसे ऐसा कोई क्रानून नहीं बनाया जो जीवन-रक्षक इलाज की गारंटी देता हो। सशक्त मरीज से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपना खयाल खुद रख सकता है। परिणामतः तीमारदारी तथा विशेषज्ञों द्वारा देख-रेख को सीमित किया जा रहा है तथा सलाहकारी की भूमिका को बढ़ाया जा रहा है। चिकित्सा के बारे में जानकारी देने के लिए कई वेबसाइटें तथा टेलीफ़ोन हेल्पलाइन खुल चुकी हैं। नर्सों को अपने वार्ड का मैनेजर बना दिया गया है। अब उन्हें इलाज की गुणवत्ता के साथ-साथ बजट का भी ध्यान रखना होता है। इससे उनपर कार्यभार बढ़ा है। जब भी वे किसी मरीज की तीमारदारी कर रही होती हैं तो खर्च का हिसाब-किताब भी उनके दिमाग में चलता रहता है। सशक्तीकरण से उन्हें इतना ही फ़ायदा हुआ है कि उनकी नौकरियाँ घट गयीं हैं, कार्यभार बढ़ा है तथा गलतियों की जिम्मेदारी उन्हें खुद उठानी होती है।

काम करने-करवाने का ढंग भी बदला है। इन परिवर्तनों को स्वीकार करने तथा नये हालात के अनुसार खुद को ढालने के उद्देश्य से कर्मचारियों को अपना सशक्तीकरण करने की नसीहत दी जाती है। कर्मचारियों के सशक्तीकरण का मतलब है कि वे काम के प्रति अधिक प्रतिबद्धता दिखाएँ, अपने काम में निपुणता हासिल करें, किसी एक क्षेत्र में जीवन-पर्यंत रोज़गार की गारंटी को भूल जाएँ, खुद को एक से अधिक क्षेत्रों में प्रवीण बनायें, अपने मालिकों द्वारा तय किये गये लक्ष्यों को हासिल करने का प्रयास करें। इस दौर में बेरोज़गारी बढ़ी है, रोज़गार की गारंटी जाती रही है, यूनियनों तथा श्रम-क्रानून प्रभावहीन बनाये जा रहे हैं।

देखें : आरक्षण, अनुसूचित जातियाँ, एफ़र्मेटिव एक्शन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी

लहर, नियोक्तासिकल अर्थशास्त्र, नवउदारतावाद, नस्लवाद।

संदर्भ

1. डी. कोलिंस (1997), 'द डिसएम्पॉवरिंग लॉजिक ऑफ़ एम्पॉवरमेंट', *एम्पॉवरमेंट इन ऑर्गनाइज़ेशन*, प्लूटो प्रेस, लंदन.
2. सी. गिब्सन (1991), 'ए कंसेप्ट एनालिसिस ऑफ़ एम्पॉवरमेंट', *जर्नल ऑफ़ एडवांस्ड नर्सिंग*, खण्ड 16.
3. जी. रिट्ज़र (1996), *मैकडोनल्ड्स ऑफ़ सोसाइटी*, पाइन फ़ोर्ज प्रेस, थाउज़ेंड ओक्स, कैलिफ़.
4. ई. हीरी और जे. सालमन (2000), *द इनसिक्योर वर्कफ़ोर्स*, रॉटलेज, लंदन.

— सुनील कुमार

सहजानंद सरस्वती

(Sahajanand Saraswati)

भारत में किसान आंदोलन के प्रमुख जनकों में से एक स्वामी सहजानंद सरस्वती (1880-1950) समाज-सुधारक, स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं विद्वान लेखक थे। सामाजिक न्याय के उद्घोषक सहजानंद को मार्क्सवाद का ठेठ देसी संस्करण कहा जाता था। किसानों के बीच वे अत्यंत लोकप्रिय थे और उन्हें सुनने के लिए ज़बरदस्त भीड़ जुटा करती थी। स्वामी सहजानंद अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापक अध्यक्ष थे और एक दशक से ज़्यादा समय तक किसान सभा के अध्यक्ष या महासचिव रहे। उनका मानना था कि किसानों को सामंती उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के लिए एक वर्गीय संगठन के रूप में संगठित करना आवश्यक है। उन्होंने कृषि क्रांति को साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई का हिस्सा माना और किसानों को आज़ादी के आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया। सहजानंद द्वारा बनायी गयी किसान आंदोलन की लकीर पर चल कर ही सत्तर और अस्सी के दशक में मध्य बिहार के खेत-खलिहानों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी-लिबेरेशन) रैंडिकल भूमि सुधारों के नारे के इर्द-गिर्द एक जुझारू किसान आंदोलन खड़ा कर सकी। सुभाषचंद्र बोस स्वामी सहजानंद को उग्र वामपंथ का अग्रणी चिंतक एवं क्रांतिकारी धारा का पथप्रदर्शक मानते थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान स्वामीजी के गिरफ़्तार होने पर बोस ने 28 अप्रैल को ऑल इण्डिया स्वामी सहजानंद डे घोषित करके देश भर में हड़ताल करायी। सहजानंद के विविधतापूर्ण व्यक्तित्व के बारे में संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे एकांतप्रिय, सरलचित्त,

सत्यनिष्ठ विचारक, जिज्ञासु, साधनारत, धुनी, निःसंग, अनासक्त, कर्मशील, योद्धा-क्रांतिकारी, सक्रिय वेदांत के मर्मज्ञ, मीमांसा के ज्ञाता, बहुपठित शास्त्री, वर्ग-संघर्ष के पैरोकार, व्यवहारिक मार्क्सवाद के जानकार और राष्ट्रवादी वेदांती मार्क्सवादी थे।

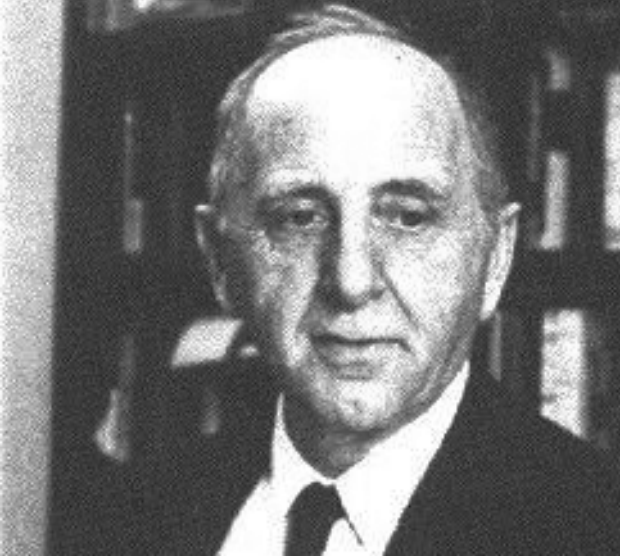
1880 में महाशिवरात्रि के दिन गाजीपुर ज़िले के देवा नामक ग्राम में एक निम्न-मध्यवर्गीय किसान परिवार में नौरंग राय का जन्म हुआ था। यही नौरंग राय आगे चलकर आदि शंकराचार्य सम्प्रदाय के दसनामी संन्यासी अखाड़े के दण्डी संन्यासी बने और स्वामी सहजानंद सरस्वती कहलाए। वंश परम्परा से वे जुझौतिया ब्राह्मण थे। अध्यात्म एवं वैराग्य की ओर उनका झुकाव देखकर परिवारवालों ने जल्दी ही उन्हें विवाह-बंधन में बाँध दिया, लेकिन एक साल बाद ही पत्नी का निधन हो गया। घरवालों द्वारा पुनः विवाह किये जाने की बात जान कर वे घर छोड़ कर चले गये और काशी पहुँचकर दसनामी संन्यासी स्वामी अच्युतानंद से प्रथम दीक्षा प्राप्त कर संन्यासी बने। लगभग एक वर्ष तक गुरु की खोज में उन्होंने भारत के अनेक तीर्थों एवं स्थानों का भ्रमण किया।

1909 में वे पुनः काशी पहुँचे और दण्डी स्वामी अद्वैतानंद सरस्वती से दीक्षा ग्रहण कर दण्ड प्राप्त किया और दण्डी स्वामी सहजानंद सरस्वती बने। संन्यास ग्रहण करने के बाद कई वर्षों तक काशी और दरभंगा में संस्कृत साहित्य, व्याकरण, न्याय और मीमांसा का गहन अध्ययन किया। इसी समय काशी के कुछ पण्डितों ने स्वामी सहजानंद के संन्यास ग्रहण करने का यह कह कर विरोध किया कि ब्राह्मणेतर जातियों को दण्ड धारण करने का अधिकार नहीं है। स्वामी सहजानंद ने इस आपत्ति को चुनौती के रूप में स्वीकार किया और विभिन्न मंचों पर शास्त्रार्थ करके सिद्ध किया कि भूमिहार भी ब्राह्मण हैं और प्रत्येक योग्य व्यक्ति संन्यास ग्रहण करने की पात्रता रखता है।

इस तरह जीवन के प्रारम्भिक चरण में ही स्वामीजी को धार्मिक कट्टरता और बाहरी आडम्बरों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। अपनी जाति के गौरव की प्रतिष्ठा के लिए उन्हें ब्राह्मण जाति की एक उपजाति के एकाधिकार के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। भारत के विभिन्न हिस्सों में घूम-घूमकर उन्होंने भूमिहार ब्राह्मणों एवं अन्य ब्राह्मणों का विवरण एकत्रित किया और 1916 में *भूमिहार ब्राह्मण परिचय* के रूप में प्रकाशित किया। दिसम्बर 1913 में स्वामी पूर्णानंद सरस्वती के प्रयास से बलिया में हथुआ नरेश की अध्यक्षता में अखिल भारतीय भूमिहार ब्राह्मण महासभा आयोजित की गयी। पहली बार इस सभा में उपस्थित होकर स्वामी सहजानंद ने ब्राह्मण समाज की स्थिति पर भाषण दिया। 1914 में काशी से *भूमिहार ब्राह्मण* पत्र निकाला और 1916 तक उसके संचालन एवं प्रकाशन का दायित्व वहन किया।

इस समय स्वामी सहजानंद तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों को अच्छी तरह समझ चुके थे। दिसम्बर, 1920 में पटना में कांग्रेस नेता मौलाना मजहरुल हक के निवास पर स्वामी सहजानंद ने गाँधी से भेंट की और उनकी प्रेरणा से कांग्रेस में शामिल हो गये। 1921 में वे गाजीपुर ज़िला कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये और कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में शामिल हुए। 1922 में उन्हें एक साल की सजा हुई। जेल से छूटने के बाद उन्होंने सिमरी में निवास किया और सिमरी एवं आसपास के इलाकों में बड़े पैमाने पर खादी वस्त्रोत्पादन कराया। इस दौरान वे सामाजिक सभाओं में ब्राह्मणों की एकता तथा संस्कृत शिक्षा के प्रचार हेतु भाषण देते रहे। 1925 में भूमिहार ब्राह्मण परिचय का परिवर्धन कर *ब्रह्मर्षि वंश विस्तार* नाम से प्रकाशन कराया। सिमरी में रहते हुए ही उन्होंने *कर्मकलाप* नामक बारह सौ पृष्ठों के विशाल ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों का वर्णन किया गया है। 1927 में उन्होंने पटना ज़िले के बिहटा में श्री सीता रामदास द्वारा दी गयी भूमि में श्री सीतारामाश्रम बनाकर स्थाई निवास किया और पश्चिमी पटना किसान सभा की स्थापना की।

महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन को बिहार में गति देने में स्वामी सहजानंद की सक्रिय भूमिका रही। उन्होंने घूम-घूमकर लोगों को अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध खड़ा किया। इसी समय उनका इस सच्चाई से सामना हुआ कि बिहार के गाँवों के निर्धन किसान अंग्रेज़ी शासन की अपेक्षा ज़मींदारों के शोषण से त्रस्त हैं। 1929 में वे सोनपुर छपरा में बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। किसान सभा में काम करते हुए स्वामी सहजानंद ने यह अनुभव किया कि कांग्रेसी नेतागण ज़मींदारों के पक्ष में हैं। उन्होंने किसानों को ज़मींदारों के शोषण से मुक्ति दिलाने का अभियान शुरू किया। 1930 में पटना के अमहरा में नमक क़ानून तोड़ने के कारण छह महीने का कारावास मिला। हजारीबाग जेल में उन्होंने गीता पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य *गीता रहस्य* की रचना की। जेल में कांग्रेसी नेताओं की सुविधाभोगी प्रवृत्ति देखकर कांग्रेस से उनका मोहभंग होना शुरू हुआ। 1934 में बिहार में भूकम्प से भारी तबाही मची। स्वामी सहजानंद ने समिति गठित कर सेवा कार्य का संचालन किया। उन्होंने देखा कि उस संकटकालीन समय में भी ज़मींदार किसानों को कर देने के लिए प्रताड़ित कर रहे थे। वे पटना में कैंप कर रहे गाँधी के पास पहुँचे और वस्तुस्थिति सामने रखी। गाँधी ने स्वामी जी से दरभंगा महाराज से मिलकर समस्याओं के समाधान की बात कही। दरभंगा महाराज को किसानों का सबसे बड़ा शोषक मानने वाले स्वामीजी गाँधी जी की इस बात से नाराज़ हो गये और गाँधी से अपना संबंध ख़त्म करते हुए किसानों के अधिकार के लिए संघर्ष करने में जुट गये।



साइमन कुन्नेत्स (1901-1985)

अप्रैल, 1936 में कांग्रेस के लखनऊ सम्मेलन में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई और स्वामी सहजानंद को उसका पहला अध्यक्ष चुना गया। किसान सभा का लक्ष्य था किसानों को आर्थिक शोषण में पूर्ण मुक्ति दिलाना तथा किसानों, मजदूरों और अन्य शिक्षित तबकों के लिए पूर्ण आर्थिक, राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना। अखिल भारतीय किसान सभा ने किसान घोषणा पत्र जारी कर जमींदारी प्रथा के समग्र उन्मूलन और किसानों के सभी तरह के ऋण माफ़ करने की माँग उठायी। अब स्वामीजी किसान सभा के माध्यम से किसानों को लामबंद करने में जुट गये। उन्होंने कांग्रेस में रहते हुए भी अपने जीवन का लक्ष्य किसानों को उनका हक़ दिलाना बना लिया। उनके प्रयासों से किसान आंदोलन जल्दी ही बिहार में फैल गया। एन.जी. रंगा, ई.एम.एस. नंबूद्रीपाद, पण्डित कार्यानंद शर्मा, पण्डित यमुना कार्यजी, आचार्य नरेंद्र देव, राहुल सांकृत्यायन, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, पण्डित यदुनंदन शर्मा, पी. सुन्दरैया, बंकिम मुखर्जी आदि समाजवादी और वामपंथी नेता किसान सभा से जुड़े। उन्होंने फ़ॉरवर्ड ब्लाक के प्रमुख के तौर पर सुभाष चंद्र बोस के साथ अनेक सभाएँ कीं।

कांग्रेस का मानना था कि किसानों की समस्याओं का समाधान आज़ादी के बाद करना ठीक होगा। 1936 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी समिति ने अपने प्रस्ताव द्वारा सभी किसान एवं मजदूरों के वर्ग-संघर्ष पर रोक लगा दी। उस समय स्वामी सहजानंद, सुभाष चंद्र बोस एवं कुछ अन्य लोगों ने कांग्रेस के इस किसान-मजदूर विरोधी फैसले के विरुद्ध प्रतिवाद दिवस मनाया। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने इन नेताओं के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की और तीन वर्ष तक कांग्रेस संस्था में कोई भी पदाधिकारी बनने पर रोक लगा दी, लेकिन स्वामी जी और

नेताजी ने वर्ग-संघर्ष का रास्ता नहीं छोड़ा।

अक्टूबर, 1937 में अखिल भारतीय किसान सभा ने लाल झण्डा को संगठन का निशान घोषित किया। इस सभा ने टेकारी, मंझियावाँ, भोरी, रेवड़ा, बड़हिया हाल, अमवारी, पंडौल, टेकुसी इत्यादि में संघर्ष किया। स्वामीजी और इंदुलाल याग्निक ने गुजरात में ग़रीब किसान जातियों को संगठित कर संघर्ष के लिए खड़ा किया। 1940 में बिहार के रामगढ़ में सुभाष चंद्र बोस की अध्यक्षता में आयोजित अखिल भारतीय समझौता विरोधी सम्मेलन में स्वागत भाषण के लिए उन्हें तीन वर्ष का कारावास मिला। जेल में रहते हुए उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की।

कांग्रेस, समाजवादी, फ़ॉरवर्ड ब्लाक, कम्युनिस्ट धीरे-धीरे किसान सभा से अलग होते गये लेकिन स्वामीजी के संघर्ष की आँच मंद नहीं हुई। समाजवादियों एवं कम्युनिस्ट पार्टी ने किसान सभा को अपना जन-संगठन बनाने की कोशिश की। लेकिन स्वामीजी ने ग़रीब किसान और खेत मजदूर को अलग-अलग मानने से इनकार कर दिया जबकि कम्युनिस्ट खेत मजदूर को किसान मानने से इनकार करते रहे। सुभाष चंद्र बोस साम्राज्यवाद से मुक्ति को प्राथमिकता दे रहे थे जबकि सहजानंद साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद दोनों से एक साथ मुक्ति चाहते थे। कुछ अन्य मुद्दों पर असहमति के कारण फ़ॉरवर्ड ब्लाक और किसान सभा में अलगाव हो गया। दिसम्बर, 1948 में स्वामी सहजानंद ने कांग्रेस की प्राथमिक एवं अखिल भारतीय सदस्यता त्याग दी। उन्होंने आज़ाद देश में समाजवादी गणतंत्र की स्थापना के लिए प्रयास शुरू किये और पटना में भारत की सभी वामपंथी पार्टियों एवं वर्गीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया। इस वामपंथी मोर्चा सम्मेलन में एक घोषणा पत्र तैयार हुआ जिस पर अट्ठारह वामपंथी पार्टियों एवं किसान-मजदूर संस्थाओं के नेताओं ने हस्ताक्षर किये।

कृषक क्रांति के अग्रदूत होने के साथ स्वामी सहजानंद एक प्रबुद्ध लेखक भी थे। अत्यधिक व्यस्त रहने के बाद भी उन्होंने लगभग दो दर्जन पुस्तकों का प्रणयन किया। स्वतंत्रता संग्राम तथा किसानों के लिए संघर्षों के अनुभवों को उन्होंने *किसान सभा के संस्मरण, महारुद्र का महातांडव, जंग और राष्ट्रीय आज़ादी, अब क्या हो, गया ज़िले में सवा मास* आदि में दर्ज किया है। उनकी आत्मकथा *मेरा जीवन संघर्ष* नाम से प्रकाशित हुई। 26 जून, 1950 को स्वामी सहजानंद मुजफ़्फ़रपुर में चिरनिद्रा में लीन हो गये।

देखें : अबुल क़लाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, दादाभाई नौरोजी, वल्लभभाई पटेल, बाल गंगाधर तिलक, भारत में किसान संघर्ष-1 से 4 तक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक,

राममनोहर लोहिया, विनायक दामोदर सावरकर।

संदर्भ

1. वाल्टर हाउज़र (2011), 'स्वामी सहजानंद सरस्वती और समाज-सुधार की राजनीति', *अभिनव .क्रदम (किसान विशेषांक-1)*, अंक 26, मऊ.
2. स्वामी सहजानंद सरस्वती (सम्पा. जयप्रकाश धूमकेतु) (2011), *अभिनव .क्रदम*, किसान विशेषांक-1 और 2, मऊ.

— बीरपाल सिंह यादव

साइमन कुज़नेत्स

(Simon Kuznets)

बीसवीं सदी के अंत में जब अधिकतर अर्थशास्त्री आँकड़ागत और तथ्यपरक अर्थशास्त्र को नीची निगाहों से देखते थे, साइमन कुज़नेत्स (1901-1985) ने अमूर्त और सैद्धांतिक चिंतन का लोभ संवरण करते हुए आर्थिक विज्ञान को आनुभविक (इम्पेरिकल) विवेचन का आयाम प्रदान किया। इस लिहाज़ से वे विलियम पेटी द्वारा स्थापित 'राजनीतिक अंकगणित' वाली परम्परा की सर्वाधिक प्रतिभाशाली कड़ियों में से एक थे। कुज़नेत्स के अनुसंधानों के परिणामस्वरूप इस अनुशासन के पास आज आर्थिक वृद्धि और विकास से संबंधित जानकारियों का खज़ाना मौजूद है। दुनिया की तक्ररीबन हर अर्थव्यवस्था अपने बारे में आँकड़ा बैंकों से सम्पन्न है जिसकी कसौटियों पर तमाम आर्थिक सिद्धांतों को कसा जा सकता है। यह कुज़नेत्स की ही उपलब्धि है जिसकी बदौलत सरकारें नियमित रूप से अपने समष्टिगत आँकड़ों को जमा करके प्रकाशित कर सकती हैं। राष्ट्रीय आमदनी का लेखा-जोखा लगाने में आज सारी दुनिया में कुज़नेत्स द्वारा बतायी गयी विधियों का इस्तेमाल किया जाता है। अगर अर्थशास्त्र आर्थिक जीवन की ज़मीन पर हो रही घटनाओं के अध्ययन का शास्त्र है तो कुज़नेत्स को उसके कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों में से एक समझा जाना चाहिए।

साइमन कुज़नेत्स पिंक्स (बेलारूस) के एक खुशहाल परिवार में पैदा हुए थे। प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत पर उनका परिवार खारकोव चला गया जो अपने बौद्धिक जीवन के लिए जाना जाता था। उन्होंने खारकोव विश्वविद्यालय में ही अर्थशास्त्र का अध्ययन किया और वहीं उनका परिचय

जोसेफ़ शुमपीटर द्वारा प्रवर्तित नवपरिवर्तन और व्यापार चक्रों के सिद्धांत से हुआ। रूस में कम्युनिस्ट क्रांति होने पर खारकोव विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया। कुज़नेत्स का परिवार भाग कर तुर्की होता हुआ अमेरिका चला गया जहाँ कुज़नेत्स ने अंग्रेज़ी सीखी और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दाखिला ले लिया। वेज़्ली क्लेयर मिशेल के शिष्यत्व में ने कुज़नेत्स आनुभविक अर्थशास्त्र की पद्धतियों पर महारत हासिल की। यहीं से पीएचडी करके कुज़नेत्स ने नैशनल ब्यूरो ऑफ़ इकॉनॉमिक रिसर्च में तीन साल तक काम किया और फिर पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय चले गये। रिटायरमेंट से पहले के अंतिम दस वर्ष उन्होंने जॉन हॉपकिंस विश्वविद्यालय में गुज़ारे। नोबेल पुरस्कार मिलने से पहले कुज़नेत्स को अमेरिकी आर्थिक जगत की कई संस्थाओं की बागडोर सँभालने का मौक़ा मिला।

कुज़नेत्स की विशेषता यह थी कि उन्होंने न केवल बीसवीं सदी के अमेरिका में आमदनी के वितरण में हुए परिवर्तनों की पहचान की, बल्कि आयगत विषमता के कारणों का भी पता लगाया। उन्होंने अर्थव्यवस्थाओं में आने वाले वृद्धि-चक्रों का अध्ययन करके यह जानने की कोशिश की कि आर्थिक वृद्धि का आय-वितरण पर क्या असर पड़ता है। 1971 में उन्हें आर्थिक विज्ञान का नोबेल पुरस्कार देते हुए राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के क्षेत्र में उनके काम की अहमियत स्वीकार की।

सत्रहवीं सदी में विलियम पेटी ने इंग्लैण्ड की आर्थिक गतिविधियों की गणना करने की शुरुआती कोशिशें की थीं। उनके प्रयासों की वजह से आर्थिक विज्ञान के इस क्षेत्र में इंग्लैण्ड धीरे-धीरे काफ़ी आगे निकल गया। अर्थव्यवस्था के समष्टिगत या सकल आर्थिक (मैक्रोइकॉनॉमिक) पहलुओं की जानकारी में अमेरिका का पिछड़ापन 1920 के दशक तक क़ायम रहा। लेकिन, कुज़नेत्स के प्रयासों ने इस स्थिति को बदल दिया। उन्होंने 1929 से 1932 के बीच के सालों में अमेरिका की राष्ट्रीय आमदनी का पहला लेखाजोखा पेश किया। इस सफलता के बाद उन्होंने अपनी परियोजना का दायरा बढ़ाया और 1919 से 1938 के बीच की आय का तख़मीना तैयार किया। वे यहीं नहीं रुके और अतीत में जाते हुए 1869 से आमदनी का लेखा बनाने में कामयाबी हासिल की। उन्होंने अपनी रचनाओं में आर्थिक गतिविधियों की जानकारी हासिल करके उनका जोड़-बाक़ी लगाने की पद्धति की सुसंगत जानकारी प्रदान की और उन समस्याओं का भी वर्णन किया जिनका सामना उन्हें करना पड़ा। उन्होंने जिन मानकों का सूत्रीकरण किया, उनका इस्तेमाल आज तक किया जाता है।

कुज़नेत्स को इस बात का एहसास था कि राष्ट्रीय आमदनी का जोड़ लगाते वक्रत बाजार व्यवस्था के दायरे से

बाहर वस्तुओं और सेवाओं को उसमें शामिल नहीं किया जाता है। जब परिवारों के भीतर खाना पकाया जाता है, घरों की सफाई होती है, लॉन की घास छाँटी जाती है, जिनका भुगतान बाज़ार व्यवस्था द्वारा किया है, तो उसका आर्थिक मतलब भी वस्तुओं और सेवाओं के रूप में लगाया जाना चाहिए। कुज़नेत्स को पता था कि सरकारें ऐसा नहीं करती हैं। दूसरी तरफ़ वे चाहते थे कि देह व्यापार और नशे की त्जारात जैसी ग़ैरक्रानूनी आर्थिक गतिविधियों का तख़मीना भी लगाया जाए, हालाँकि ऐसा करना एक बेहद मुश्किल काम था। ठीक वैसे ही जिस तरह आज विशाल और सतत वृद्धिमान काली आय और सम्पत्ति के अनुमान डेढ़ी खीर बन चुके हैं। कुज़नेत्स ने मध्यवर्ती वस्तुओं और अंतिम रूप से बने हुए माल के बीच फ़र्क़ का भी ध्यान रखा ताकि गणना करने में दोहराव न हो। मसलन, उपभोक्ता को बेची गयी एक कार की क्रीमत जोड़ते समय उसमें से टायरों, शीशों, इंजिनों और ब्रेकों की क्रीमत घटा दी जानी चाहिए क्योंकि इन मध्यवर्ती वस्तुओं की क्रीमत पहले जोड़ी चुकी होती है।

कुज़नेत्स को यह एहसास भी था कि राष्ट्रीय आमदनी का लेखाजोखा किसी देश की खुशहाली का एक सीमित सूचक ही हो सकता है। राष्ट्रीय आमदनी बढ़ने का मतलब वे यह नहीं मानते थे कि उस देश को अनिवार्य रूप से पहले से बेहतर ही मान लेना चाहिए। इसलिए उनकी निगाह में आमदनी के वितरण का अध्ययन बहुत ज़रूरी था। विषमतामूलक वितरण की सूरत में ऊँची आमदनी होते हुए भी किसी अर्थव्यवस्था के तहत ज़्यादातर परिवार ग़रीबी के शिकार हो सकते थे। कुज़नेत्स ने नोट किया कि आर्थिक वृद्धि के कई अवांछित नतीजे भी निकलते हैं। मसलन, अनावश्यक शहरीकरण शुरू हो जाता है, सड़कों पर ट्रैफ़िक जाम लगने शुरू हो जाते हैं और प्रदूषण की समस्या जटिल हो जाती है। इसी तरह राष्ट्रीय आमदनी का लेखाजोखा यह भी नहीं बताता कि कितनी आय सरकार के खाते में जा रही है और कितनी आय अनिवार्य क्रारोपण के कारण हुई है।

कुज़नेत्स के अनुसंधानों का स्वाभाविक नतीजा यह निकला कि अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों का अध्ययन शुरू कर दिया। आर्थिक गतिविधि के फैलने और सिकुड़ने के क्षेत्र में रूसी अर्थशास्त्री निकोलाई कोंद्रातीफ़ कुज़नेत्स के पहले काम कर चुके थे। उन्होंने 45 से 60 साल तक चलने वाले आर्थिक-चक्रों की पहचान की थी। इन्हीं चक्रों को आगे चल कर शुमपीटर ने अपने अध्ययन में 'कोंद्रातीफ़ लहरों' की संज्ञा दी। आर्थिक उतार-चढ़ाव के अपने अध्ययन में कुज़नेत्स ने बीस-बीस साल तक चलने वाले मध्यवर्ती चक्रों की खोज की जो अर्थशास्त्र की शब्दावली में 'कुज़नेत्स चक्र' के नाम से जाने जाते हैं। कुज़नेत्स ने निष्कर्ष निकाला कि ये चक्र आबादी में हुए परिवर्तनों पर निर्भर हैं। बेहतर आर्थिक परिस्थिति या तो आब्रजन की दर बढ़ा देती है या उसके कारण जन्म-दर ऊपर

की तरफ़ जाती है। उपभोक्ता माल और घरों की माँग बढ़ती है। अतिरिक्त निवेश की परिस्थितियाँ बनती हैं। नतीजतन बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उत्पादन का लाभ मिलता है और उत्पादकता में उछाल आता है। जीवन-स्तर बढ़ता है, लेकिन श्रम-शक्ति का आकार बढ़ने पर वेतन-दर पर दबाव पड़ने के कारण वह घटने लगती है। इससे खर्च और निवेश में गिरावट आती है। आर्थिक चक्र नीचे की तरफ़ जाने लगता है। कुज़नेत्स ने इन चक्रों का बचत, उपभोग, उत्पादकता, आय के वितरण, पूँजी और माल के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह पर पड़ने वाले असर का भी अध्ययन किया।

कुज़नेत्स ने उत्पादकता बढ़ने के पीछे प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों और आविष्कारों के महत्त्व पर जोर दिया। उन्होंने दिखाया कि पचास साल की अवधि में अमेरिकी उत्पादकता की तीन बटा पाँच वृद्धि इसी कारण से हुई है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, क्रारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क्रानूत, भारत में शैश्व संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमेन, मूल्य, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र : भारतीय आयाम, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण।

संदर्भ

1. मोजेज़ अब्रामोवित्ज़ (1961), 'द नेचर ऐंड सिगनीफ़िकेंस ऑफ़ द कुज़नेत्स साइकिल', *इकॉनॉमिक डिवेलपमेंट ऐंड कल्चरल चेंज*, 9.
2. हैरियट हिंक (1989), 'साइमन कुज़नेत्स 1971', बर्नार्ड एस. कात्ज़ (सम्पा.), *नोबेल लॉरैट्स इन इकॉनॉमिक साइंसेज़ : अ बायोग्राफीकल डिक्शनरी*, गारलैण्ड, न्यूयॉर्क.
3. एरिक लुडबर्ग (1971), 'साइमन कुज़नेत्स' कंट्रिब्यूशन इन इकॉनॉमिक्स', *स्वीडिश जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, 73.

— अभय कुमार दुबे

साझा संसाधनों की त्रासदी

(Tragedy of Commons)

आर्थिक विकास और पर्यावरण सुरक्षा के अंतर्विरोधों, ग्लोबल वार्मिंग की परिघटना और टिकाऊ विकास जैसी अवधारणा को अगर किसी एक सूत्रीकरण ने सबसे ज्यादा गहराई से प्रभावित किया है तो वह है ट्रेजेडी ऑफ कॉमंस अर्थात् साझा संसाधनों की त्रासदी। यह सूत्रीकरण सबसे पहले 1968 में 'साइंस' नामक पत्रिका में प्रकाशित गैरेट हार्डिन के लेख में किया गया था। इस लेख में एक ऐसी परिस्थिति का वर्णन था जिसमें कुछ लोग अपने-अपने स्तर पर साझा स्वामित्व के तहत आने वाले एक सीमित संसाधन का स्व-हित के लिहाज से उस समय तक दोहन करते हैं जब तक उसका क्षय नहीं हो जाता। अंत में इस तरह का बेरोकटोक दोहन दूरगामी दृष्टि से उन सभी लोगों के हितों के लिए नुकसानदेह साबित हुआ। पर्यावरण की निरंतर क्षति से चिंतित लोगों ने हार्डिन के निबंध में व्यापक तात्पर्य के दर्शन किये और नतीजा निकाला कि अगर मनुष्य के अस्तित्व को बचाये रखने के लिए आवश्यक पृथ्वी की क्षमता बरकरार रखनी है तो पुनरुत्पादन की स्वतंत्रता पर रोक लगानी होगी। व्यक्ति अपने बुद्धिसंगत स्व-हित की मातहत में सार्वजनिक हित को नज़रअंदाज़ भी कर सकता है जिससे अंत में उसी के स्व-हित को ठेस लग सकती है। पानी, ज़मीन, मछली, तेल और कोयला जैसे संसाधनों के धुआँधार दोहन का परिणाम यह होगा कि समूची मानवता ट्रेजेडी ऑफ कॉमंस की शिकार हो जाएगी।

हार्डिन ने अपने लेख में एक सरलीकृत परिस्थिति कल्पित करके एक रूपक बनाया है। वे पशुचारी समाज की मिसाल लेते हैं जिसमें ज़मीन के एक टुकड़े पर कुछ लोगों को अपनी-अपनी गायें चराने का हक़ मिल जाता है। प्रत्येक पशुपालक अपनी ज़्यादा से ज़्यादा गायें उस भूमि पर चराना चाहता है। उन्हें चरागाह की क्षमता की कोई परवाह नहीं है कि अंधाधुंध चरायी के कारण वह ज़मीन आखिरकार उनमें से किसी के काम की भी नहीं रह जाएगी। हर नयी गाय पशुपालक के लिए मुनाफ़े का स्रोत बन कर आती है, पर चरागाह को हुआ नुक़सान सभी के हिस्से में जाता है। इस उदाहरण के ज़रिये हार्डिन अपील करते हैं कि साझा सम्पत्ति के बेहतर प्रबंधन के लिए सरकार हस्तक्षेप करे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ नियंत्रणकारी संस्थाओं का गठन किया जाए। ट्रेजेडी ऑफ कॉमंस के रूपक से सैद्धांतिक प्रेरणा ले कर अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, गेम थियरी और समाजशास्त्र के साथ-साथ कई और अनुशासनों में उल्लेखनीय विश्लेषण

हुए हैं। सबसे ज़्यादा अहम तो यह बहस है कि कुदरत से मिले हुए साझा संसाधनों की तबाही की ज़िम्मेदारी किस पर डाली जानी चाहिए? हार्डिन पहले व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने साझा संसाधनों के इस्तेमाल से जुड़ी हुई इस दुविधा पर गौर किया हो। अट्टारहवीं सदी से ही खेतिहर मसलों पर गौर करने वाले विद्वान और कार्यकर्ता इन दुविधाओं पर सोचते रहे हैं। हार्डिन के रूपक में इस्तेमाल किया गया उदाहरण 1833 में प्रकाशित विलियम फ़ोस्टर लॉयड के एक पैम्फ़लेट से लिया गया था।

दिलचस्प बात यह है कि एक तरफ़ तो साझा संसाधनों की त्रासदी के सिद्धांत का इस्तेमाल आर्थिक विकास की आधुनिक धारणा की आलोचना के लिए होता है, और दूसरी ओर इसी का प्रयोग करके साझा संसाधनों के निजीकरण की दलील भी दी जाती है। युरोप में चली बाड़ाबंदी (एनक्लोज़र) मुहिम को न्यायोचित ठहराने के लिए भी इस थीसिस का हवाला दिया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि हार्डिन की यह थियरी काफ़ी प्रभावशाली साबित हुई, पर अपनी कुछ ख़ामियों की वजह से उसे आलोचना का निशाना भी बनना पड़ा। इसकी अनुक्रिया में हार्डिन को कहना पड़ा कि उन्हें अपने लेख का शीर्षक 'ट्रेजेडी ऑफ़ अनरेगुलेटिड कॉमंस' रखना चाहिए था। दरअसल, आलोचकों ने उनके रूपक में ऐतिहासिक ख़ामी तलाशते हुए बताया कि जिन साझा संसाधनों का ज़िक्र उन्होंने किया है उनके अतिरिक्त दोहन को रोकने के लिए बाकायदा सामाजिक इंतज़ाम किये गये थे जिनकी बागडोर स्थानीय स्तर पर सक्रिय सामुदायिक संगठनों के हाथों में रहती थी। साझा संसाधनों के अनियंत्रित दोहन की समस्या पारम्परिक प्रबंधन या सांस्कृतिक विनियमन की कमी के कारण पैदा नहीं हुई है। बल्कि इसके पीछे बाह्य कारण हैं जिनके कारण यह संयम भंग हुआ है। स्वामित्व-अधिकारों में परिवर्तन, लोगों की आवाजाही के कारण इलाक़े में आये जनसंख्यामूलक परिवर्तन या ग्लोबल आबादी में हुई बढ़ोतरी के कारण साझा सम्पत्ति के लिए क्षयकारी हालात पैदा हो सकते हैं। आलोचकों का कहना है कि समुद्र भी एक साझा सम्पत्ति है और उसके पानियों से अंधाधुंध मछली पकड़ने की समस्या पारम्परिक संयमकारी नियमों की नामौजूदगी के कारण पैदा हुई है, न कि पारंपरिक प्रबंधन की ख़ामियों के कारण है।

समाज-विज्ञान में 'त्रासदी' के इस पहलू पर भी विवाद हुआ कि क्या व्यक्ति हमेशा उसी तरह से व्यवहार करेंगे जिस तरह से हार्डिन ने दिखाया है। मानवशास्त्री जी.एन. एपिल के अनुसार हार्डिन के निबंध को उन विद्वानों और विशेषज्ञों ने एक धार्मिक रचना की तरह ग्रहण कर लिया है जो दूसरी समाज व्यवस्थाओं पर (बिना उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त किये हुए) अपनी आर्थिक और पर्यावरणीय

समझ के आधार पर गढ़े गये भविष्य को थोपना चाहते हैं।

बहरहाल, इन आलोचनाओं के बावजूद साझा संसाधनों की त्रासदी ने कुछ उपयोगी धारणाओं को जन्म दिया है जो अभी विकास के दौर में हैं। इनमें से एक है कुछ साझा संसाधनों का बाकायदा मूल्यांकन न करने की प्रवृत्ति। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हवा है जिसका एक बेहद आवश्यक संसाधन के रूप में लगातार इस्तेमाल होता है पर उसकी आर्थिक क्रीमत कभी नहीं लगायी जाती। पनचक्की का मालिक हवा को घुमा कर ऊर्जा पैदा करता है और फ्रैक्ट्री का मालिक अपने कचरे के लिए हवा का कूड़ेदान की तरह इस्तेमाल करता रहता है। चूँकि हवा का कोई आर्थिक मूल्य नहीं होता इसलिए उसका वाजिब या ग़ैर-वाजिब दोहन करने से पहले कोई कुछ नहीं सोचता। अगर हवा का उचित प्रतीत होने वाला मूल्य निर्धारित कर दिया जाए तो उसे दूषित करने वाले पर उसकी आर्थिक भरपाई की जिम्मेदारी डाली जा सकती है।

आर्थिक तर्क कहता है कि जैसे-जैसे शुद्ध हवा की कमी होगी, उसका आर्थिक मूल्य बढ़ता जाएगा, उसके प्रबंधन में और होशियारी बरतनी पड़ेगी। पर्यावरण के अर्थशास्त्र पर ग़ौर करने वाले विद्वान प्राकृतिक सम्पदाओं और उनसे निकलने वाली सेवाओं का मूल्य तय करने के आधारभूत सिद्धांतों और पद्धतियों के बारे में सोच-विचार कर रहे हैं। वे यह पता लगाना चाहते हैं कि पर्यावरण के किसी आयाम के बदलने लोगों से कितना भुगतान वसूला जा सकता है, और पर्यावरण के क्षय की भरपाई के तौर पर कितना जुर्माना वसूलना उचित होगा। इन विद्वानों का तर्क है कि सरकारें, बड़े औद्योगिक घराने और कॉरपोरेट हाउस धन की भाषा ही समझते हैं इसलिए क्यों न उसी भाषा के माध्यम से पर्यावरण के मुद्दों पर चर्चा की जाए।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भविष्यशास्त्र, भारत में पेटेंट क़ानून, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी।

संदर्भ

1. गैरेट हार्डिन (1968), 'ट्रैजेडी ऑफ़ कामंस', साइंस, अंक 162.
2. गैरेट हार्डिन (1994), 'द ट्रैजेडी ऑफ़ अनमैनेज्ड कॉमंस', ट्रेंड्स इन इकॉलॉजी ऐंड इवोल्यूशन, खण्ड 9. अंत 199.
3. ई. ओस्ट्रोम (1990), गवर्निंग द कॉमंस : द इवोल्यूशन ऑफ़ इंस्टीट्यूशंस फ़ॉर क्लेक्टिव एक्शन, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

सामंतवाद : एक बहस-1

(Feudalism : A Debate-1)

सामंतवाद एक युरोपीय विचार-श्रेणी है। यह अंग्रेजी भाषा के शब्द फ़्यूडलिज़्म शब्द का हिंदी तर्जुमा है। फ़्यूडल शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फ़ियोडेलिस से हुई है। मध्ययुगीन युरोप में फ़्यूडल शब्द का क्रानूनगत इस्तेमाल हुआ और यह एक प्रकार के सम्पत्तिगत अधिकार का द्योतक बन गया। फ़्यूडलिज़्म (सामंतवाद) शब्द के प्रचार का श्रेय मुख्य रूप से अठ्ठारहवीं सदी के फ़्रांसीसी दार्शनिक बूलैवीये और मोंतेस्क्यू की रचनाओं को जाता है। वे इस शब्द का इस्तेमाल मध्ययुग के छोटे-छोटे राजकुमारों और अधिपतियों की सम्प्रभुता में साझेदारी व्यक्त करने के लिए कर रहे थे। बाद में इसमें अलग-अलग पहलू जुड़ते गये और एक सामान्य सहमति बनी कि सामंतवाद का आशय उस राजनीतिक ढाँचे और सामाजिक स्वरूप से है जो दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के दौरान पश्चिमी और मध्य युरोप में प्रणालीगत व्यवस्था का रूप धारण कर चुका था। इस व्यवस्था में सत्ता सामंती भू-स्वामियों के हाथों में थी और उसका स्वरूप अत्यंत विकेंद्रीकृत था। प्रारम्भिक दौर में सामंतवाद को परम्परागत क्रानूनों पर टिके भूमिस्वामी-दास संबंधों के रूप में देखा गया। बाद में उसे एक पिछड़ी और धीमी गति से बदलने वाली व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाने लगा।

भारतीय संदर्भों में सामंतवाद की प्रथम अभिव्यक्ति कर्नल जेम्स टॉड की रचना *अनाल्स ऐंड एंटीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान इन 1829-1832* में मिलती है। टॉड ने यह पुस्तक उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दौर में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मुलाज़िम के तौर पर काम करते हुए लिखी थी। इसमें कर्नल टॉड ने सामंतवाद को अपने समकालीन हेनरी हेल्म कृत *हिस्ट्री ऑफ़ द मिडिल एजेंज़* की तर्ज़ पर परिभाषित किया और पाया कि युरोपीय सामंतवाद की संस्थाएँ और उनका पैटर्न तत्कालीन राजस्थान में भी विद्यमान था। गौरतलब है कि मध्यकालीन युरोप में भू-स्वामी ही अपने दासों की सुरक्षा और भरण-पोषण का ध्यान रखता था और बदले में उनसे सैन्य एवं अन्य सेवाएँ प्राप्त करता था। दासों और भू-स्वामियों के बीच एक प्रकार की निष्ठा उन्हें अटूट बंधन में बाँधती थी। टॉड ने दिखाया कि भारत के राजपूत नस्ली तौर पर कैसे उसी मध्य-एशियाई सिंथियन श्रेणी से सम्बद्ध थे जिन्होंने प्रारम्भिक युरोप में कबीलाई संस्कृति का निर्माण किया था। सम्प्रभु और मातहत वर्ग के बीच इस

दायित्वबोध ने एक प्रकार के सामंती समझौते को जन्म दिया। टॉड के सामंतवाद संबंधी विचार को बाद के ज़्यादातर साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने अपनाया और कुछ ने उन्हें अन्य सिद्धांतों द्वारा प्रतिस्थापित किया। पर अंततः सामंतवाद प्राचीन और मध्यकालीन राजनीति की केंद्रीभूत, विभाजक प्राच्यवादी निरंकुशता को व्याख्यायित करने की बहुप्रयुक्त अभिव्यक्ति बन गया। दूसरी तरफ़ राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने स्वर्ण युग के पतन के लिए इसी सामंती राजनीतिक अराजकता को उत्तरदायी बताया।

1950-60 के दशक में भारतीय इतिहास-लेखन पर मार्क्सवादी विचारधारा के बढ़ते प्रभाव ने इस संबंध में नया दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय सामंतवाद के प्रमुख लक्षणों में से एक पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय इतिहास को मार्क्स द्वारा उत्पादन की एशियाई पद्धति की श्रेणी में रखने पर मार्क्सवादी इतिहासकारों में एक राय नहीं थी। मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति को वर्ग-संघर्ष के इतिहास की सामान्य गति में एक अपवाद माना था। 1850 के दशक में लिखे अपने बहुतेरे पत्रों में मार्क्स ने दिखाया था कि एशिया में वर्ग नहीं थे क्योंकि सारी सम्पत्ति या तो राजा की होती थी अथवा समुदाय की। इसलिए वहाँ कोई वर्ग-संघर्ष नहीं था और न ही समय के साथ इसमें कोई परिवर्तन आया। यह सोच मोंतेस्क्यू, जेम्स मिल और हीगेल के अपरिवर्तनशील प्राच्य की अवधारणा से साम्यता रखती थी। ये विद्वान मानते थे कि पूर्वी देशों में औपनिवेशिक शासन प्रणालियों की स्थापना से ही वास्तविक गतिशीलता आयी। लेकिन 1950-60 के दशकों के भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकार यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि भारत या वास्तव में सम्पूर्ण एशिया की मानवजाति इतने बड़े कालखण्ड में अपरिवर्तनशील ही रही।

दामोदर धर्मानंद कोसम्बी ने *ऐन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री* (1956) में सामंतवाद की गम्भीर पड़ताल की। इतिहास लेखन में कोसम्बी ने मार्क्स का अंधानुकरण नहीं किया। उन्होंने प्रमुख मार्क्सवादी धारणाओं एशियाई उत्पादन पद्धति और दास प्रथा को खारिज करते हुए कहा कि भारतीय समाज में न तो युरोप की तर्ज़ पर उत्पादन पद्धति का विकास हुआ न ही उत्पादन में दास-पद्धति पायी जाती थी। उनका मानना था कि भारत में एक अलग तरह का सामंतवाद मौजूद था। कोसम्बी ने बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्पादन को मौजूदा सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने *भगवद्गीता* में शासकीय समाज के दर्शन के माध्यम से दिखाया कि सामंत, मालिक, नौकर, प्रजा और राजा किस तरह एक व्यक्तिगत निष्ठा के बंधन से बंधे होते हैं। कोसम्बी ने इसी तरह का सामंती दर्शन सातवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन के कवि भर्तृहरि के चिंतन

में भी चिह्नित किया। कोसम्बी यह मत भी प्रतिपादित करते हैं कि मध्यकालीन भारतीय समाज में युरोपीय सामंतवाद के प्रमुख तत्त्व जैसे जागीरदारी प्रणाली, (मैनेरियल सिस्टम), भू-सम्पत्ति और कृषि-दास प्रथा आदि) मौजूद नहीं थे। उन्होंने भारत में दो तरह के सामंतवाद की चर्चा की। एक था ऊपर से आरोपित सामंतवाद और दूसरा था नीचे से आया सामंतवाद। ऊपर से आये सामंतवाद का तात्पर्य राज्य से है जिसमें एक सम्राट या शक्तिशाली राजा अपने उन सामंतों से नज़राना प्राप्त करता है जो अपने क्षेत्र में अपनी मर्जी से शासन करते हैं और जहाँ उनका पूर्ण अधिकार होता है। जब तक वे सम्राट को नज़राना देते रहते हैं, सम्राट उनसे छेड़-छाड़ नहीं करता। नीचे से आये सामंतवाद का तात्पर्य उस अगले चरण से है जिसमें गाँव में राज्य और किसानों के बीच भूमिपतियों के एक ऐसे वर्ग का उदय होता है जो धीरे-धीरे स्थानीय जनता पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लेता है। यह वर्ग प्रभुत्वशाली होता है, सत्ता से सीधे संबंध का दावा करता है और इसके कार्यक्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप नहीं होता। कोसम्बी का मानना था कि ऊपर से आने वाला सामंतवाद उन राजनीतिक निर्णयों का परिणाम था जिसके तहत राज कर्मचारियों को भूमि और न्याय संबंधी अधिकार दिये गये थे। जबकि नीचे से आया सामंतवाद अनेक व्यक्तियों और लघु-समूह द्वारा सत्ता के ग्राम-स्तरो से राजाओं के अधीन ज़मींदार और सामंत बनने का परिणाम था। कोसम्बी ने अपनी विशेषता-सूचक पद्धति में सामंतवाद की धारणा को किसी अनुभवजन्य विश्लेषण की बजाय एक सूत्र की शक्ति में निरूपित किया।

सामंतवाद को लेकर भारत में विश्लेषण की जिस देशज परम्परा की शुरुआत कोसम्बी ने की थी उसे किंचित् भिन्नताओं के साथ राम शरण शर्मा ने अपनी रचना *इण्डियन फ्यूडलिज़्म* (1965) में आगे बढ़ाया। शर्मा ने 1920-30 के दशकों के दौरान बेल्जियम के इतिहासकार हेनरी पिरेन द्वारा निरूपित सामंतवाद के उत्थान और पतन संबंधी प्रतिमान का अनुसरण किया। पिरेन ने युरोपीय सामंतवाद के स्थाई रूप और भूस्वामी-दास संबंधों का विश्लेषण करते हुए बताया कि कैसे मुख्य व्यापार (भूमध्यसागर पार युरोप में लम्बी दूरी के व्यापार) ने युरोपीय अर्थव्यवस्था, समाज और सभ्यता को तब तक फलने-फूलने दिया, जब तक सातवीं शताब्दी में अरबों के हमलों से उनका विघटन नहीं हो गया। व्यापार-विघटन ने अर्थव्यवस्था का ग्रामीणीकरण करके उसे अंतर्मुखी बना दिया। इसे पिरेन ने एकाकी भू-सम्पदा वाली अर्थव्यवस्था में परिणत होना माना, जहाँ ये भू-सम्पदाएँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर इकाइयाँ थी। पिरेन के अनुसार ग्यारहवीं सदी में धर्मयुद्धों द्वारा अरबों को वापस

निकट-पूर्व की ओर खदेड़ दिये जाने से व्यापार का विकास और शहरों का पुनरुत्थान हुआ जिससे सामंतवाद की जमीन खिसकने लगी।

राम शरण शर्मा ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में पिरेनवादी सिद्धांतों का अनुकरण करते हुए बताया कि गुप्तकाल के पतन के परिणामस्वरूप कैसे विश्व के विभिन्न भागों के साथ भारत के लम्बी दूरी के व्यापार का पतन हुआ। इसके कारण शहरीकरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा जिसने आर्थिक संरचना और प्रवृत्ति का ग्रामीणीकरण करते हुए इसे अंतर्मुखी अर्थव्यवस्था के रूप में परिणत कर दिया। राम शरण शर्मा साथ में इस बात को भी जोड़ते हैं कि तब आर्थिक संसाधन दुर्लभ नहीं थे, बल्कि मुद्रा की दुर्लभता थी। उन्होंने बताया कि उत्तर गुप्त काल में व्यापार में आयी गिरावट के कारण राज्याधिकारियों को वेतन के बदले भूमि और धार्मिक कर्मकाण्डों के एवज में ब्राह्मणों को अग्रहार दिये जाने लगे। इस परिघटना का सामाजिक संबंधों पर व्यापक असर पड़ा। परिणामस्वरूप कृषक वर्ग उनका मातहत बनता गया और ऐसे भू-पतियों पर आश्रित होता गया जिनके पास न्यायिक अधिकार भी हुआ करते थे। ऐसे बिचौलियों, जिन्हें राज्य से अनुदान प्राप्त था, से मध्यस्थ वर्ग का उदय भारतीय सामंतवाद संबंधी राम शरण शर्मा की व्याख्या में निर्णायक तत्त्व रूप में सामने आता है। शर्मा ने दिखाया कि कैसे इस दौरान किसान एक जगह भूमि से बँध कर रह गये, उनसे ज़बरन मज़दूरी करायी जाने लगी और बिचौलियों के रहमोकरम पर जीने के लिए मजबूर हुए। साथ ही शर्मा ने तत्कालीन परिस्थितियों में राज्य द्वारा प्रदत्त अनुदानों को दर्ज़ करने की अनिवार्य प्रक्रिया के कारण मुंशियों की संख्या में बढ़ोतरी को कायस्थों के जाति रूप में संगठित होने की तरह व्याख्यायित किया। शर्मा बताते हैं कि युरोप की तर्ज़ पर भारत में भी लम्बी दूरी के व्यापार के पुनरुत्थान, शहरों के उदय, किसानों के पलायन और मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के विकास से भारत में सामंतवाद का पतन हुआ। राम शरण शर्मा की इस अवधारणा के अनुसार भारत में सामंतवाद का उदय चौथी शताब्दी के आसपास हुआ और बारहवीं शताब्दी में इसका पतन हुआ। शर्मा ने इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए उत्तर भारत के विभिन्न अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रयोग किया।

इस तरह राम शरण शर्मा ने सामंतवाद के बहाने भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक बौद्धिक बहस छेड़ दी। इसका भारतीय इतिहास-लेखन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कई इतिहासकारों ने शर्मा के इस पक्ष को कुछ और तथ्यों के साथ समर्थन प्रदान किया, यद्यपि व्यवहारतः सामंतवाद के किसी अन्य नवीन पहलू का अन्वेषण नहीं किया गया।

बी.एन.एस. यादव और डी.एन. झा भारत में सामंतवाद के नये पैरोकार बन कर उभरे जिसे दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन में एम.जी.एस. नारायणन और नोबोरू काराशिमा ने समर्थन प्रदान किया।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रमेश चंद्र मजूमदार, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर।

संदर्भ

1. दामोदर धर्मानंद कोसम्बी (1956), *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई.
2. राम शरण शर्मा (1980), *इण्डियन प्र्यूडलिज़म : सिरका 300-1300*, मैकमिलन, नयी दिल्ली.
3. बी.एन.एस. यादव (1973), *सोसाइटी ऐंड कल्चर इन द नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी*, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद.
4. डी.एन. झा (सम्पा.)(2000), *द प्र्यूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी एन आइडियोलॉजी इन अली मिडिबल इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

सामंतवाद : एक बहस-2

(Feudalism : A Debate-2)

1979 में भारतीय इतिहास कांग्रेस के अध्यक्षीय सम्बोधन में हरबंस मुखिया ने 'वाज़ देयर प्र्यूडलिज़म इन इण्डियन हिस्ट्री' शीर्षक से एक पर्चा पढ़ा और इसके माध्यम से सामंतवाद की अवधारणा पर शर्मा के तर्कों से असहमत होते हुए कई सैद्धांतिक और तथ्यगत सवाल उठाये। उनका कहना था कि लम्बी दूरी के व्यापार के उत्थान और पतन से सामंतवाद का रिश्ता बहुत स्पष्ट नहीं है। यह कहना मुश्किल है कि आरम्भिक मध्यकालीन भारत में व्यापार और शहरों का कोई खास पतन हुआ या नहीं। इसी तरह यह स्वीकार करना भी दिक्कत-तलब लगता है कि सामंतवाद जैसा जटिल सामाजिक ढाँचा केवल प्रशासनिक और क्रान्ती कारवाइयों से खड़ा किया जा सकता है। सामंतवाद के एक प्रमुख तथ्य— भूपतियों पर किसानों की निर्भरता— के बारे में मुखिया ने यह माना कि भारत में

इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुखिया ने सामंतवाद को परिभाषित करते हुए लिखा कि, भूपतियों पर किसान का पूरी तरह आश्रित होना सामंतवाद की सर्वस्वीकृत परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि सामंतवाद पूरी दुनिया की व्यवस्था नहीं थी। सामंतवाद अपने पूरे इतिहास में एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संगठन रहा जो पूरी दुनिया में एक जैसा नहीं था। वह एक खास समय और क्षेत्र तक सीमित था जहाँ उत्पादन के लिए विशिष्ट प्रविधि अपनायी गयी और संगठन का निर्माण किया गया। मुखिया ने सामंतवाद को एक संक्रमणकालीन व्यवस्था माना।

सामंतवाद को एक सार्वभौम व्यवस्था मानने से इनकार करते हुए मुखिया ने बताया कि युरोप की पूर्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफ़ा कमाने के बजाय उपभोग की प्रवृत्ति ज्यादा अहम थी। लिहाज़ा उनके विस्तार की क्षमता स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर से ज्यादा व्यापक नहीं हो सकती थी। अतः मुखिया के अनुसार सामंतवाद केवल एक क्षेत्रीय परिघटना ही हो सकती थी न कि एक वैश्विक व्यवस्था। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि सामंतवाद की युरोपीय, चीनी, जापानी और भारतीय क्रिस्मों को तथ्य के तौर पर पेश करने से भी यह समस्या हल नहीं होती क्योंकि सामंतवाद को सरलीकृत परिभाषा में बाँधने की प्रक्रिया के दौरान भिन्नताएँ इतनी व्यापक हो जाती हैं कि वे उसे अनुपयोगी बना देती हैं।

हरबंस मुखिया ने सामंतवाद के संबंध में मध्यकालीन पश्चिमी युरोपीय और मध्यकालीन भारत के इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा कुछ तथ्यगत आधार प्रस्तुत किये। ये थे पारिस्थितिक दशाएँ, तत्कालीन मौजूदा प्रौद्योगिकी तथा कृषि-क्षेत्र में श्रमिकों का सामाजिक संगठन। मुखिया ने बताया कि पश्चिमी युरोप की पारिस्थितिकी में खेत जोतने से लेकर बीज बोने, फसल की रखवाली करने, फसल की कटाई-मड़ाई और भण्डारण आदि क्रिया-कलापों के लिए एक वर्ष में धूप के केवल चार महीने मिलते थे। इसके अलावा कृषि कार्य हेतु जिस प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल होता था वह अत्यधिक श्रमसाध्य और भूमि तथा श्रम दोनों की ही उत्पादकता निराशाजनक थी। बीज-उपज अनुपात 1:2.5 था। फलस्वरूप इन चार महीनों में श्रमिकों की माँग बहुत अधिक रहती थी जिसका समाधान तत्कालीन युरोपीय समाज ने श्रमिकों को भूमि के साथ बाँध कर अर्थात् कृषि-दास प्रथा के रूप में खोजा। भूस्वामी-कृषि दास संबंधों की इस व्यवस्था में धीरे-धीरे तनाव पैदा होने लगा। इस तनाव ने प्रौद्योगिकी सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। फलस्वरूप बारहवीं शताब्दी तक उत्पादन में 1:4 की आनुपातिक वृद्धि हुई। जनसंख्या में

वास्तविक वृद्धि हुई। जिससे श्रमिक भूमि बंधन से मुक्त होने लगे। कृषि का विस्तार हुआ और व्यापार एवं शहरीकरण में तेजी आयी। 1348-51 में आयी ब्लैक डेथ की घटना ने, जिसने जनसंख्या का लगभग एक-चौथायी हिस्सा निगल लिया था। इस प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न किया। फलस्वरूप पुनः श्रमिक-संकट उत्पन्न हो गया। भू-स्वामियों ने कृषि-दास प्रथा के पुराने तरीकों को पुनः आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। लेकिन चूँकि कृषकों ने ग्यारहवीं-बारहवीं सहित पिछली दो सदियों में अच्छी स्थिति में जीवनयापन किया था, इसलिए विशेष रूप से 14वीं शताब्दी के दौरान उन्होंने पूरे युरोप में विद्रोह कर दिया और पलायन कर गये। ये विद्रोह गरीब कृषकों के बजाय सम्पन्न किसानों द्वारा किये गये। चौदहवीं सदी का अंत सामंतवादी महल को खंडहर में तब्दील कर चुका था।

भारतीय पारिस्थितिकी की युरोप से तुलना करते हुए मुखिया इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीय पारिस्थितिकी में धूप दस महीने उपलब्ध रहती थी जिससे कृषि-प्रक्रिया को लम्बी अवधि तक विस्तृत करना आसान था। एक ओर जहाँ भीषण गर्मी के बाद की बारिश से जमीन की जुताई के लिए बहुत मेहनत की जरूरत नहीं पड़ती थी, क्योंकि यहाँ मिट्टी की ऊपरी परत अत्यधिक उर्वर होती थी वहीं दूसरी तरफ सपाट पीठ वाले युरोपीय बैलों की तुलना में भारतीय बैल अपने कूबड़ के कारण किसान के लिए कहीं ज्यादा लाभदायक थे। साथ ही उन्होंने बताया कि मध्यकालीन भारत में भूमि की उत्पादक क्षमता अधिक होने के कारण साल में दो बार फसल उगायी जाती थी। उन्नीसवीं सदी तक युरोप के लिए यह कल्पना की बात थी। युरोपीय कृषि व्यवस्था की तुलना में यह एक बुनियादी अंतर था जिसने भारतीय कृषि के क्षेत्र में श्रम-प्रयोग के एक अलग ढाँचे को जन्म दिया। मुखिया इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि यहाँ बेगार यानी बँधुआ मजदूरी, वैतनिक अथवा अवैतनिक, शायद ही कभी उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा रहा था। भारतीय संदर्भों में बेगारों का इस्तेमाल ज्यादातर अनुत्पादक कार्यों के लिए होता था, जैसे जमींदार का सामान ढोना अथवा विशेष अवसरों पर नजराना प्रदान करना। वे कहते हैं कि इसी कारण मध्यकालीन भारत में उत्पादन प्रक्रियाओं की प्रौद्योगिकी में कोई आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। हरबंस मुखिया निष्कर्ष रूप में इस बात की महत्ता स्थापित करते दिखायी देते हैं कि भारत में तो प्रौद्योगिकी और कृषि-उत्पादन की प्रक्रिया ही स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं रही।

मुखिया ने मध्यकालीन भारतीय व्यवस्था को कृषक अर्थव्यवस्था रूप में दर्शाते हुए बताया कि जहाँ एक ओर

मध्यकालीन युरोप के कृषि-दास का श्रम जमींदार के नियंत्रण में था, वहीं दूसरी ओर भारतीय परिप्रेक्ष्य में कृषकों का श्रम उसके खुद के नियंत्रण में होता था। भू-राजस्व के एक हिस्से पर ही राज्य का नियंत्रण होता था। मुखिया बताते हैं कि श्रम-नियंत्रण संबंधी तनाव के कारण बारहवीं सदी के युरोप की कृषि उत्पादन प्रणाली का सामंती से पूँजीवादी रूप में परिवर्तन होने लगा था। जबकि भारतीय संदर्भों में इस प्रकार का रूपांतरण बीसवीं सदी में ही अंकुरित होता दिखायी दिया।

राम शरण शर्मा ने इसके जवाब में 'भारतीय सामंतवाद किस प्रकार सामंती था?' (1985) नामक लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि सामंतवाद एक सार्वभौम परिघटना नहीं थी पर साथ ही इस बात को उठाया कि सभी पूर्व-पूँजीवादी समाजों पर यह बात लागू नहीं होती। हरबंस मुखिया के तर्कों को काटते हुए उन्होंने बताया कि देश के कई हिस्सों में जबरन मजदूरी के प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि आरम्भिक मध्यकाल में सामंतवाद मौजूद था जिसमें भूपतियों का एक वर्ग और मातहत किसानों का एक वर्ग शामिल था। दोनों ही कृषक अर्थव्यवस्था पर आश्रित थे। इससे पता चलता है कि व्यापार और शहरीकरण का हास हुआ और धातु से बनी मुद्राओं में तेजी से कमी आयी। सामंतवाद को एक आर्थिक प्रक्रिया मानते हुए शर्मा ने बताया कि सामंतवाद, समाज में आर्थिक एवं सामाजिक संकटों के क्रम में विकसित हुआ, और कलियुग की अवधारणा अस्तित्व में आयी।

बी.एन.एस. यादव ने *सोसाइटी ऐंड कल्चर इन द नॉर्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी* (1973) में इस कलियुग संबंधी अवधारणा के लक्षणों पर दृष्टिपात करते हुए बताया कि समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण से कलियुग भी अछूता नहीं रह गया था। डी.एन. झा ने *द प्र्यूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी एन आइडियालॉजी इन अर्ली मिडिवल इण्डिया* (2000) में उत्तर-भारत की जगह प्रायद्वीपीय भारत में मिले प्रमाणों पर ध्यान दिया। उन्होंने कलियुग को व्याख्यायित करने वाले साक्ष्यों के आधार पर बताया कि ऐसे संकट की उपस्थिति ब्राह्मणवादी उत्तर भारत में अपेक्षित थी। भैरवी प्रसाद साहू ने *लैण्ड सिस्टम ऐंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली इण्डिया* (1997) में संकट के सूचक-स्वरूप कलियुग की अवधारणा के साक्ष्य की वैधता पर ही सवाल खड़ा कर दिया।

आगे चल कर राम शरण शर्मा ने कृषक विद्रोहों के कई अन्य उदाहरणों की खोज की और अर्ली-मिडिवल

इण्डियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडलाइजेशन (2001) में अपने आलोचकों का सिलसिलेवार खण्डन किया। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सैद्धांतिक नज़रिये का प्रयोग करते हुए सामाजिक भेद और आर्थिक विकास के चरण तथा विचारधारा के क्षेत्र में आये बदलावों को भी चिह्नित किया।

सामंतवाद की धारणा का पक्षधर खेमा भक्ति की परिघटना को किसी देवता के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, अधीनता एवं निष्ठा संबंधी विचारधारा को ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के आधार-स्तम्भ के रूप में देखता है। जिसके पीछे संभवतः यह मान्यता है कि समर्पण और निष्ठा को बड़ी आसानी से सामंतों या स्वामी को स्थानान्तरित किया जा सकता था।

पिरेन के विचारों का खण्डन करते हुए मोरिस डॉब ने *स्टडीज़ इन द डिवेलपमेंट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* (1946) में व्यापार और सामंतवाद के बीच विरोधाभास पर सवाल खड़ा करते हुए तर्क दिया कि पश्चिमी युरोप में व्यापार के उभार की वजह से सामंतवाद का पतन नहीं हुआ, बल्कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि गाँवों में भूस्वामियों के बढ़ते शोषण के कारण कृषक शहरों की ओर पलायन करने लगे थे। भारतीय संदर्भों में व्यापार के पतन और मुद्रा की कमी संबंधी धारणा के साथ-साथ भारतीय सामंतवाद में काल संबंधी समस्याओं पर प्रकाश पड़ा। डी.एन. झा ने राम शरण शर्मा के इस मत का खण्डन किया भारत में सामंतवाद के उदय और उत्पादन के सामंती स्वरूप में परिवर्तन होने का कारण लम्बी दूरी के बाहरी व्यापार का पतन था जिसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी।

इतिहासकारों ने दावा किया है कि युरोप के ही समानांतर एक हजार ईस्वी के आसपास भारत में व्यापार का पुनरुत्थान हुआ। लेकिन भारतीय संदर्भों में यह बात प्रामाणिक रूप से सामने आयी है कि भारत के अनेक क्षेत्रों में इससे बहुत पहले ही व्यापार फल-फूल रहा था। बी.डी. चट्टोपाध्याय ने *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली मिडिवल इण्डिया* (1994) में दर्शाया है कि यह परिघटना कम से कम एक शताब्दी पहले घटित हो चुकी थी। रणबीर चक्रवर्ती ने पर्याप्त प्रमाण के साथ अपनी कृतियों *ट्रेड इन अर्ली इण्डिया* (2001) और *ट्रेड ऐंड ट्रेडर्स इन अर्ली इण्डियन सोसाइटी* (2002) में फलते-फूलते व्यापार के साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। एक ओर मुद्रा की कमी संबंधी अवधारणा का बी.डी. चट्टोपाध्याय ने ज़बरदस्त प्रतिवाद किया वहीं जॉन एस. डेल ने भी *लिविंग विदाउट सिल्वर : द मोनिटरी हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली मिडिवल नॉर्थ इण्डिया* (1990) में मुद्रा के अभाव संबंधी धारणा को चुनौती देते हुए बताया कि केवल सोना, चाँदी या तांबा जैसी धातुएँ ही मध्यकालीन समाज में मुद्रा

का एकमात्र रूप नहीं थी। बकौल मार्क ब्लॉक लगभग हर चीज़ विनिमय का माध्यम बनकर मुद्रा का कार्य कर सकती थी। भारत में विनिमय-माध्यम के रूप में कौड़ियों के इस्तेमाल की महत्ता ने हाल के इतिहासकारों में रुचि पैदा की है। यह तथ्य इस लिहाज़ से और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि कौड़ियों की प्राप्ति में वस्तुतः लम्बी दूरी का व्यापार शामिल था, क्योंकि कौड़ियाँ सुदूर मालदीव से आती थीं।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रमेश चंद्र मजूमदार, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर।

संदर्भ

1. हरबंस मुखिया (सम्पा.) (1999), *द फ्यूडलिज़्म डिबेट*, मनोहर, नयी दिल्ली.
2. भैरवी प्रसाद साहू (सम्पा.) (1997), *लैण्ड सिस्टम ऐंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.
3. बी.डी. चट्टोपाध्याय (1994), *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली मिडिवल इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. जॉन एस. डेल (1990), *लिविंग विदाउट सिल्वर : द मोनेटरी हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली मिडिवल नॉर्थ इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. बर्टन स्टीन (सम्पा.) (1975), *एसेज़ ऑन साउथ इण्डिया एशियन स्टडीज़*, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ हवाई, होनोलुलू.
6. बर्टन स्टीन (1985), 'स्टेट फ़ार्मेशन ऐंड इकॉनमी रिकंसीडर्ड', भाग 1, *मॉडर्न एशियन स्टडीज़* 19.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

साम्प्रदायिकता

(Communalism)

पश्चिमी संदर्भ में कम्युनलिज्म का अर्थ है समुदाय आधारित कार्रवाई। लेकिन जैसे ही भारतीय और दक्षिण एशियाई संदर्भ में इसका अनुवाद साम्प्रदायिकता या फ़िरकापरस्ती के रूप में किया जाता है, सामुदायिकता में निहित सकारात्मकता काफ़ूर हो कर पूरी तरह से नकारात्मक हो जाती है। साम्प्रदायिकता का मतलब हो जाता है समुदायों के बीच, आमतौर पर धार्मिक समुदायों के बीच, होड़ और टकराव जो अक्सर हिंसा का रूप लेती रहती है। लेकिन साम्प्रदायिकता की यह परिघटना उस समय बेहद पेचीदा हो जाती है जब इसके इर्द-गिर्द होने वाली समाज-वैज्ञानिक बहस में मध्ययुगीन इतिहास, उपनिवेशवाद, भारत-विभाजन, आधुनिकतावाद, राष्ट्रवाद और सेकुलरवाद की भूमिका उभरती है। आधुनिक राज्य के आचरण, चुनाव के लिए की जाने वाली गोलबंदी, सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए अपनायी जाने वाली बहुसंख्यकवादी और अल्पसंख्यकवादी रणनीतियाँ साम्प्रदायिकता के प्रश्न को और उलझा देती हैं। यह एक विडम्बना ही है कि विद्वानों ने भारतीय समाज और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गहराई से प्रभावित करने वाली इस परिघटना का सैद्धांतिक सूत्रीकरण करने की कोई सिक्काबंद कोशिश नहीं की है। सीधे-सीधे साम्प्रदायिकता पर चर्चा मिलने के बजाय समाज-वैज्ञानिक साहित्य में इसका ज़िक्र सेकुलरवाद, राष्ट्रवाद और आधुनिकता पर होने वाली बहस में ज़्यादा मिलता है।

साम्प्रदायिकता के बारे में एक प्रचलित समझ यह है कि इसका जन्म अंग्रेज़ों द्वारा अपनायी गयी 'फूट डालो और राज्य करो' की कुटिल नीति के कारण हुआ था। 1857 के विद्रोह से पहले देश में कम से कम नौ-दस जगहों पर हिंदुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। लेकिन विद्रोह के दौरान तीन वर्षों में हिंदुओं और मुसलमानों ने ज़बरदस्त एकता का प्रदर्शन करके उपनिवेशवाद को हिला दिया। साम्प्रदायिकता की यह थियरी कहती है कि इसीलिए अंग्रेज़ों ने मुसलमान, हिंदू, सिक्ख और ईसाई हितों को अलग-अलग एक दूसरे की होड़ में प्रोत्साहित करना शुरू किया। बीस के दशक में इस नीति का आगाज़ मुसलमानों को दिये साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की शक्ति में हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया में हिंदू महासभा ने संयुक्त मतदाता मण्डलों की माँग की। दिलचस्प बात यह है कि ये दोनों माँगें साम्प्रदायिक होते हुए भी प्रातिनिधिक शासन के आधुनिक और सेकुलर उसूलों के सहारे की गयी थीं। साम्प्रदायिकता की इसी थियरी का एक परिष्कृत संस्करण कहता है कि साम्प्रदायिक

नुमाइंदगी देने की नीति के पीछे प्रतिनिधित्व के उसूल की ब्रिटिश समझ थी। अंग्रेज़ एक समरूप समाज से आये थे जहाँ प्रतिनिधित्व का मतलब समूहों को नुमाइंदगी देने से था। चूँकि उनके समाज में राष्ट्रीय एकीकरण पहले हो गया था, और प्रतिनिधित्वमूलक संस्थाओं का विकास बाद में हुआ था इसलिए उन्हें इस तरह के प्रतिनिधित्व से कोई दिक्कत नहीं हुई। भारत में स्थिति दूसरी थी। लेकिन इसके बावजूद उन्होंने यहाँ साम्प्रदायिक और विशेष प्रतिनिधित्व की प्रणाली लागू की। बीसवीं सदी के पहले दशक से ही यह सिलसिला शुरू हो गया और उसके साथ ही हिंदुओं और मुसलमानों की राजनीतिक खाई बढ़ती गयी। साम्प्रदायिकता में उल्लेखनीय जटिलता का प्रवेश हुआ। साम्प्रदायिक माँगें सेकुलर मंचों से और सेकुलर भाषा में की जाने लगीं। राजनीतिक होड़ ने फ़िरकापरस्तों को मौक़ा दिया कि वे खुद की साम्प्रदायिकता को अपने विपक्षी की साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया करार दे कर बच निकलें। साम्प्रदायिकता की परिघटना में ब्रिटिश योगदान से इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन उसे केवल अंग्रेज़ों के मत्थे मढ़ने से यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी यह समस्या भारतीय लोकतंत्र को आज तक क्यों सता रही है? भारतीय राज्य तो अंग्रेज़ों की तरह फूट डालते हुए हुकूमत करने की नीति पर नहीं चलता। दूसरे, साम्प्रदायिकता को केवल उपनिवेशवाद की देन मान लेने के कारण इसे शासन की एक रणनीति में सीमित करने की प्रवृत्ति को बल मिलता है। यह रुझान भी साम्प्रदायिकता के सिद्धांतीकरण की कमी का एक बड़ा कारण है।

मार्क्सवादी विद्वानों ने साम्प्रदायिकता की एक ठोस परिभाषा पेश करने की कई कोशिशें की हैं। दिलचस्प बात यह है कि उनके बीच इस अहम मसले पर मतभेद भी हैं। मसलन, इतिहासकार बिपिन चंद्र के अनुसार साम्प्रदायिकता एक ऐसा आग्रह है जिसके तहत एक धर्म के अनुयायी अपने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हितों को समान मान लेते हैं। लेकिन दिलीप सीमियन को यह परिभाषा काफ़ी अपर्याप्त लगती है क्योंकि इसे ज्यों का त्यों राष्ट्रवाद की परिघटना पर भी लागू किया जा सकता है। कुछ अन्य अध्येताओं ने इस परिभाषा का कुछ विस्तार करने की कोशिश की है। इसमें यह जोड़ा गया है कि न केवल एक धर्म के अनुयायी अपने विभिन्न हितों को समान समझते हैं बल्कि उन्हें दूसरे धार्मिक समुदाय के हितों के विपरीत भी मानते हैं। यानी हिंदू, मुसलमान, ईसाई अथवा सिक्ख समुदायों के हित परस्पर विरोधी हैं। दूसरे, यह बहुलवाद के तहत अपनाये जाने वाले शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांत के विपरीत है। साम्प्रदायिकता को एक शत्रु की ज़रूरत होती है और यह शत्रु एक दूसरा धर्मावलम्बी ही हो सकता है। इसके तहत एक समुदाय के सदस्यों को विश्वास दिलाया जाता है कि उनके

लौकिक और पारलौकिक हित दूसरे समुदाय के हितों को चोट पहुँचा कर ही सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

दिलीप सीमियन द्वारा की गयी परिभाषा के अनुसार साम्प्रदायिकता का सार ऐतिहासिक स्मृति में निहित है जिसकी अभिव्यक्ति मिथकों, प्रतीकों और सांस्कृतिक पूर्वजों से जुड़े हुए जड़बात में होती है। इस सूत्रीकरण के अनुसार मिथकीय स्मृति के प्राचीन तत्त्वों और जन-इच्छा (रूसो की तर्ज पर) के आधुनिक आयामों के संयोग से साम्प्रदायिकता की विकृति का जन्म होता है। यह थियरी भारत में साम्प्रदायिकता को अंततः फ्रासीवादी लोकलुभावनवाद और प्रजातीय राष्ट्रवाद का मिश्रण बता कर दिखाती है कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ किस तरह अतीत के तथ्यों और भविष्य की कल्पना का घालमेल वर्तमान पर प्रक्षेपित करके अपना एजेंडा तैयार करती हैं। मुसलमान साम्प्रदायिक 'मुसलमान सम्प्रभुता' की चर्चा कुछ इस अंदाज़ में करते हैं जैसे मध्ययुगीन सल्तनतों में हर मुसलमान को भागीदारी मिलती हो। सिक्ख साम्प्रदायिक रंजीत सिंह के शासन काल को खालसा की हुकूमत करार देने का भ्रम फैलाते हैं। हिंदू राष्ट्रवाद के सिद्धांत से लैस हिंदुत्ववादी अपने समुदाय की बहुसंख्यकता को अपने अल्पसंख्यक विरोधी दावों के प्रमाण के रूप में पेश करने से नहीं हिचकते।

रणधीर सिंह के अनुसार समकालीन भारत में अपनी विचारधारा और व्यवहार के रूप में साम्प्रदायिकता शासक वर्गों द्वारा की जाने वाली राजनीति का एक प्रकार है। रणधीर सिंह मानते हैं कि साम्प्रदायिकता का राजनीतिक खेल एक ऐसे समाज में खेला जाता है जो अपनी सामंती-औपनिवेशिक विरासत की जकड़ में बुरी तरह से फँसा हुआ है, जो गहरे धार्मिक विभाजनों का शिकार है और जो पूँजीवादी विकास के अपने एक विशिष्ट रूप से गुज़र रहा है।

गैर-मार्क्सवादी विद्वानों में एक अन्य परिभाषा प्रचलित है जिसके मुख्य प्रणेता आधुनिकता के आलोचक आसिष नंदी हैं। नंदी के अनुसार साम्प्रदायिकता की सतत और व्यापक उपस्थिति राष्ट्रवादी, सेकुलरवादी और आधुनिकतावादी परियोजना की देन है। यह परियोजना रोज़मर्रा की धार्मिकता और सहजीवन की परम्पराओं का क्षय कर देती है। नंदी की दलील है कि साम्प्रदायिकता फैलाने में उन नेताओं का ही सबसे बड़ा हाथ रहा है जो अपने निजी जीवन में घोर सेकुलर, अनीश्वरवादी और आधुनिक थे। हिंदुओं की तरफ़ से यह भूमिका विनायक दामोदर सावरकर निभा रहे थे, और मुसलमानों की तरफ़ से मुहम्मद अली जिन्ना।

देश के प्रमुख राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी ने भी साम्प्रदायिकता पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने उसके आठ बुनियादी कारणों को गिनाया है : बहुदेववादी हिंदू धर्म के सामीकरण की कोशिश, चुनाव आधारित लोकतंत्र में

पनपने वाली बहुसंख्यकवादी गुंजाइशें, इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी के दूसरे शासन काल में हुआ व्यापक अराजनीतीकरण और तकनीक का वर्चस्व, राजनीति का दक्षिणपंथी रुझान और कॉरपोरेट मॉडल, कठोर राज्य का विचार, राज्य द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ावा देना, इंदिरा गाँधी द्वारा हिंदू वोट बैंक बनाने की कोशिश और उसका लाभ हिंदुत्ववादियों के खाते में जाना, बहुलतावाद और लोकतंत्र के ऊपर धर्मतंत्र और प्रभुत्ववाद का हावी हो जाना।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. दिलीप सीमियन (1986), 'कम्युनलिज़म इन मॉडर्न इण्डिया : अ थियरीटिकल एग्जामिनेशन', *मेनस्ट्रीम, नयी दिल्ली*, 13 दिसम्बर.
2. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (1993), *साम्प्रदायिकता के स्रोत*, विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. बिपन चंद्र (1990), 'कम्युनलिज़म ऐंड द स्टेट : सम इशूज़ इन इण्डिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 18, अंक 8/9.
4. रजनी कोठारी (1998), *कम्युनलिज़म इन इण्डियन पॉलिटिक्स*, रेनबो पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
5. ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1985), *कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़म इन कोलोनियल नॉर्थ इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
6. रणधीर सिंह (1988), 'थियराइज़िंग कम्युनलिज़म : अ फ्रेगमेंटरी नोट इन द मार्क्सिस्ट मोड', *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 23, अंक 30.

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक आंदोलन

(Social Movements)

राजनीतिक भागीदारी के संस्थागत दायरों के बाहर परिवर्तनकारी राजनीति करने वाले आंदोलनों को सामाजिक आंदोलनों की संज्ञा दी जाती है। लम्बे समय तक सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई करने वाली ये आंदोलनकारी संरचनाएँ नागर समाज और राजनीतिक तंत्र के बीच अनौपचारिक सूत्र का काम भी करती हैं। हालाँकि ज्यादातर सामाजिक आंदोलन सरकारी नीति या आचरण के खिलाफ़ कार्यरत रहते हैं, लेकिन स्वतःस्फूर्त या असंगठित प्रतिरोध या कार्रवाई को

सामाजिक आंदोलन नहीं माना जाता। इसके लिए किसी स्पष्ट नेतृत्व और एक निर्णयकारी ढाँचे का होना जरूरी है। आंदोलन में भाग लेने वालों के लिए किसी साझा मकसद और विचारधारा का होना भी आवश्यक है। क्या ये खूबियाँ राजनीति के औपचारिक दायरों में काम करने वाले किसी राजनीतिक दल या दबाव समूह में नहीं होतीं? दरअसल, सामाजिक आंदोलन अपने बुनियादी चरित्र में अनौपचारिक नेटवर्कों की अन्योन्यक्रिया से बनते हैं। वे ऐसे मुद्दे चुनते हैं जिन्हें औपचारिक राजनीति अपनाने से इनकार कर देती है। साथ ही वे प्रतिरोध और गोलबंदी के ग़ैर-परम्परागत रूपों का इस्तेमाल करते हैं। सामाजिक आंदोलनों ने अल्पसंख्यकों, हाशियाग्रस्त समूहों और अधिकार-वंचित तबकों की राजनीति को बढ़ावा दिया है। इसी कारण से यह भी माना जाता है कि समकालीन लोकतंत्र अपने विस्तार और गहराई के लिए सामाजिक आंदोलनों का ऋणी है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ग्लोबल और राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियों में इस परिघटना का उदय हुआ। इनके पीछे ऐसी शिखरयतें, नेटवर्क, समूह और संगठन थे जिनका उद्देश्य औपचारिक राजनीति के दायरों के बाहर समाज, राज्य, सार्वजनिक नीतियों को जन-हित के लिहाज़ से प्रभावित करना था। पिछले साठ वर्षों में सामाजिक आंदोलनों ने राजनीतिक प्रणालियों और लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया पर उल्लेखनीय असर डाला है। सारी दुनिया में पर्यावरण का आंदोलन, युद्ध विरोधी आंदोलन, असंगठित मजदूरों के आंदोलन, स्त्री-अधिकारों के आंदोलन, वैकल्पिक यौनिकताओं के आंदोलन इस परिघटना की सफलता के प्रमाण हैं। वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण से उपजी जन-विरोधी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ चल रहे आंदोलन भी इसी श्रेणी में आते हैं। सामाजिक आंदोलनों की एक खूबी यह भी है कि भले ही उनकी राजनीतिक कार्रवाई में स्थानीयता या ज़मीन से जुड़े होने या ग्रासरूट्स के संबंध को अहमियत दी जाए, लेकिन वे समस्याओं और मुद्दों को उत्तरोत्तर ग्लोबल संदर्भों में देखते और परिभाषित करते हैं। इसी कारण से वे स्थानीय स्तर पर चलाई जा रही प्रतिरोध की कार्रवाइयों को ग्लोबल नेटवर्किंग के जरिये टिकाने में समर्थ हो पाते हैं। उनका नारा होता है 'थिंक ग्लोबली, एक्ट लोकली'। इंटरनेट की परिघटना के उभार के बाद सामाजिक आंदोलनों के लिए प्रसार, समन्वय और नेटवर्किंग की सुविधा में और बढ़ोतरी हो गयी है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी देशों में उभरे मध्य वर्ग ने स्वयं को पुराने वर्ग आधारित आंदोलनों के मुकाबले राजनीतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप से विशिष्ट महसूस करते हुए सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई के

ऐसे रूपों को अपनाना पसंद किया जिनके दायरे में कहीं व्यापक क्रिस्म के नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मुद्दे आते थे। इस ज़माने में चले कई सामाजिक आंदोलन नागरिक अधिकारों, स्त्री-अधिकारों, युद्ध का विरोध करने और पर्यावरण की हिफ़ाज़त करने के आग्रहों के इर्द-गिर्द गोलबंद हुए। साठ का दशक आते-आते इन आंदोलनों की गतिविधियाँ यूरोप और उत्तरी अमेरिका में काफ़ी बढ़ गयीं। इन्हें राजनीतिक कामयाबी भी मिलने लगी। यह देख कर समाज-वैज्ञानिकों ने इस परिघटना का अध्ययन शुरू किया।

सामाजिक आंदोलनों को समझने के लिए सबसे पहले मनोविज्ञान का प्रयोग किया गया। इससे आंदोलनरत लोगों, समूहों और नेटवर्कों के सामूहिक व्यवहार पर रोशनी पड़ी। दूसरी तरिका संरचनागत-प्रकार्यवादी क्रिस्म का था। उसने यह देखने की कोशिश की कि इन आंदोलनों का सामाजिक स्थिरता पर क्या असर पड़ रहा है। मास सोसाइटी का अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिकों को लगा कि सामाजिक आंदोलन निजी तनाव से जूझ रहे व्यक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। दूसरी तरफ़ संरचनागत-प्रकार्यवादी विद्वानों का खयाल था कि ये आंदोलन सामाजिक प्रणाली में आये तनावों का फलितार्थ हैं।

सत्तर के दशक में इस अनुसंधान ने नयी करवट बदली। इस परिवर्तन के पीछे नये छात्र आंदोलनों और उनसे निकली प्रतिरोध की कार्रवाइयों का प्रभाव था। एक नये सिद्धांत ने जन्म लिया जिसे 'रिसोर्स मोबिलाइजेशन' थियरी (संसाधनों की लामबंदी का सिद्धांत) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत ने सामाजिक आंदोलनों को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा जिसके तहत राजनीतिक उद्यमी किसी इच्छित सामाजिक परिवर्तन की खातिर पहले तो संसाधनों का तर्कसंगत संचय करते हैं और फिर लक्ष्यों को वेधने के लिए संसाधनों का प्रयोग करते हैं। इस सिद्धांत के पैरोकार मानते हैं कि सामाजिक आंदोलन पूरी तरह से अपनी संसाधन उपलब्ध कर पाने की क्षमता पर ही निर्भर करते हैं। ये संसाधन आर्थिक और मानवीय सहयोग जुटाने पर भी आधारित हो सकते हैं, और इनका उद्गम नैतिक सरोकारों और प्राधिकार वगैरह में भी हो सकता है।

सामाजिक आंदोलनों की समझ बनाने की प्रक्रिया में एक थियरी सांगठनिक व्यवहार के अध्ययन के रूप में भी विकसित हुई। उसने सामाजिक आंदोलन को किसी भी अन्य संगठित समूह की तरह समझने की चेष्टा की। आगे चल कर कई विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों और संस्थागत राजनीति के बीच अन्योन्यक्रिया पर विशेष ध्यान दिया जिससे राजनीति को प्रक्रियाओं के रूप में समझने के परिप्रेक्ष्य का विकास हुआ।

अस्सी के दशक में हुए कुछ अनुसंधानों ने वामपंथी

रुझान वाले कई आंदोलनों पर ध्यान दिया। ये वामपंथी जत्थेबंदियाँ पदानुक्रम पर आधारित संगठन के बजाय क्षैतिज बनावट वाले संगठन और बारी-बारी से नेतृत्व करने या अनौपचारिक क्रिस्म के नेतृत्व में यत्नीन करने वाली थीं। युरोप की ज़मीन और वहीं के परिप्रेक्ष्य के आधार पर हुए इस शोध ने संस्कृति और अस्मिता संबंधी आंदोलनों को अपनी विषय-वस्तु बनाया। उन्होंने देखा कि पर्यावरण संबंधी आंदोलन और स्त्री-अधिकारों के लिए होने वाले आंदोलन किस प्रकार प्रतिरोध के नये-अनूठे तौर-तरीके इस्तेमाल कर रहे हैं। इस विमर्श से नव-सामाजिक आंदोलनों की थीसिस निकली। दरअसल, अस्सी और नब्बे के दौरान प्रकाश में आयी यह थीसिस वामपंथ की स्थापित समझ को चुनौती देने वाली साबित हुई। इससे पहले वामपंथी राजनीतिक कार्रवाई का मतलब वर्ग-आधारित गतिविधि के अलावा कुछ और नहीं समझा जाता था। लेकिन, जब अमेरिका में अफ्रो-अमेरिकनों ने अपने अधिकारों के समर्थन में ब्लैक पावर और ब्लैक पेंथर जैसे रैडिकल और जुझारू आंदोलन चलाये; जब वियतनाम युद्ध के खिलाफ साम्राज्यवाद विरोधी मुहिमें संगठित की गयीं; जब आणुविक निःशस्त्रीकरण के पक्ष में शांति आंदोलन चला; जब रैडिकल फ़ेमिनिज़म ने अपनी दावेदारियाँ पेश कीं; और जब हवा और पानी के प्रदूषण के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद की गयी, तो वर्ग संघर्ष को ही केंद्रीय सामाजिक अंतर्विरोध मानने वाली दृष्टि को प्रश्नांकित होना पड़ा।

इन आंदोलनों में एक विचारधारात्मक विविधता थी। इनकी ज़मीन भी एक-दूसरे से भिन्न दिख रही थी। पारम्परिक मार्क्सवादी समझ को ठुकराते हुए आंद्रे ग़ोज़, रुडोल्फ़ बाहरो, एलाँ तूरेन और युरगन हैबरमास ने अपने-अपने तरीके से दावा किया कि सामाजिक-राजनीतिक अस्मिता और राजनीतिक कार्रवाई की खातिर की जाने वाली गोलबंदी के लिए वर्ग अब एक कारगर प्रत्यय नहीं रह गया है। इन विद्वानों ने नव-सामाजिक आंदोलनों को उत्तर-औद्योगिक सामाजिक संरचनाओं की पैदाइश करार दिया। उनका कहना था कि लोकोपकारी राज्य ने शोषण के पुराने रूपों को काफ़ी-कुछ निष्प्रभावी कर दिया है। नयी परिस्थितियों में आधुनिक समाज परायेपन के नये रूपों को जन्म दे रहा है। इससे पैदा होने वाले विश्वोभ को नव-सामाजिक आंदोलन अपना केंद्र बना रहे हैं।

फ़्रांसीसी समाजशास्त्री एलाँ तूरेन ने *द रिटर्न ऑफ़ द एक्टर* की रचना की। तूरेन ने रैडिकल रवैया अख़्तियार करते हुए अपील की कि समाजशास्त्रियों को सामाजिक आंदोलनों की केवल व्याख्या तक ही सीमित न रह कर उनमें भागीदारी करते हुए उनकी गहरी पड़ताल करनी चाहिए। भूमण्डलीकरण के उभार ने सामाजिक आंदोलन संबंधी

युरोपीय और अमेरिकी परिप्रेक्ष्यों के बीच मेल-मिलाप की परिस्थितियाँ बनायी हैं। अब विद्वानगण सामाजिक आंदोलन में नेटवर्कों की भूमिका पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इस परिघटना और भूमण्डलीकरण-विरोधी आंदोलन के सहयोजन पर भी ख़ास ज़ोर दिया जा रहा है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. अल्बर्टो मेलुची (1996), *नोमेड्स ऑफ़ द प्रजेंट्स : सोशल मूवमेंट्स ऐंड द इंडिविडुअल नीड्स इन कंटेम्पेरी सोसाइटीज़*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एडर क्लॉस (1985), 'द न्यू सोशल मूवमेंट्स' : मॉरल क्रुसेड्स, पॉलिटिकल प्रेशर ग्रुप्स, ऑर सोशल मूवमेंट्स', *सोशल रिसर्च*, 52, अंक 4.
3. दोंतेला डेल पोर्ता और मारियो दानी (1999), *सोशल मूवमेंट्स : ऐन इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. सिडनी टैरो (1998), *पावर इन मूवमेंट्स : सोशल मूवमेंट्स ऐंड कंटेन्शियस पॉलिटिक्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. चार्ल्स टिली (1978), *फ़्रॉम मोबिलाइज़ेशन टू रेवोल्यूशन*, एडिसन-वेज़ली, रीडिंग, एमए.

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक एकजुटता

(Social Cohesion)

समाज की रचना तरह-तरह के व्यक्तियों और समूहों से मिल कर होती है। आधुनिकता ने इस विभेदीकरण को बढ़ाया ही नहीं बल्कि चरम पर पहुँचा दिया है। सामाजिक एकजुटता की अवधारणा उन सामाजिक प्रक्रियाओं और आग्रहों को रेखांकित करती है जो इन विभेदों के बीच समूहों और व्यक्तियों को मिल-जुल कर परस्पर एकजुटता के साथ रहने की तरफ़ ले जाते हैं। दरअसल सभी समाज अपनी अंतर्निहित अनेकता के बावजूद एकजुटता के कुछ रूपों को पैदा करते

ही हैं। इन रूपों की संरचना उन समाजों के उदय और विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। जरूरी नहीं कि एकजुटता की संरचनाएँ और प्रक्रियाएँ लम्बे समय तक एक सी ही रहें। आधुनिकता के दबाव में सामाजिक संरचनाएँ लगातार परिवर्तनशील रहती हैं और उसी के मुताबिक एकजुटता के बंदोबस्त भी बदलते रहते हैं। एकजुटता साझे विश्वासों, आस्थाओं और मूल्यों से उपज सकती है; समाज में प्राधिकार के पारम्परिक रूपों से उसका जन्म हो सकता है; बहिर्वेशन और समावेशन के समीकरणों से एकता निकल सकती है। इस विचार का सूत्रीकरण सबसे पहले एमील दुर्खाइम ने उन्नीसवीं सदी के आखिर में प्रकाशित अपनी रचना *द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी* में किया था। हाल ही में युरोपीय संघ के गठन के बाद इस विचार पर समाज-वैज्ञानिकों ने काफ़ी जोर देना शुरू कर दिया है। सामाजिक एकजुटता की अवधारणा का इस्तेमाल करते हुए नीति-निर्माण के लिहाज़ से इस बारे में राजनीतिशास्त्रीय चिंतन भी होने लगा है। मार्क्सवादी और समुदायवादी विमर्श ने भी सामाजिक एकजुटता से संबंधित परिप्रेक्ष्य पेश किये हैं।

चालू बौद्धिक फ़ैशन के लिहाज़ से इस अवधारणा को *सोशल कोहिज़न* कहा जाता है। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं था। दुर्खाइम के विमर्श में यह विचार *सोशल सोलिडरिटी* के रूप में उभरता है। इस फ़्रांसीसी समाजशास्त्री की मुख्य चिंता यह थी कि आधुनिकता के दबाव में समाज की एकता कैसे क़ायम रहेगी। यह जानने के लिए उन्होंने सरल और जटिल संरचना वाले समाजों में एकजुटता के आधारों की अलग-अलग जाँच की। दुर्खाइम ने दो श्रेणियाँ बनायीं : यांत्रिक एकता और सावयविक एकता। यांत्रिक एकता का मतलब था इकाइयों द्वारा किसी एक समष्टि में पूरी तरह से विलीन हो जाना। दुर्खाइम ने इस श्रेणी में आदिकालीन समाजों को रखा जो अपेक्षाकृत छोटे और अशिक्षित होते थे। इनमें श्रम का विभाजन इतना सहज हुआ करता था और विशेषीकृत सामाजिक भूमिकाएँ इतनी कम होती थीं कि इनसान की शिखिसयत समाज के सामूहिक व्यक्तित्व में पूरी तरह घुल-मिल जाती थी। लोग रीति-रिवाज़ों, परम्पराओं और धर्म के कठोर नियंत्रण में पूरी जीवन गुज़ार देते थे। इस तरह की एकजुटता की मुख्य अभिव्यक्ति समाज की सभी इकाइयों की समानता में होती थी। दुर्खाइम ने एकजुट होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने को सावयविक श्रेणी में रखा। उनका ख़याल था कि यह आधुनिक औद्योगिक समाजों का लक्षण है जिसमें श्रम-विभाजन पेचीदा और विशेषीकृत होता है। सावयविक एकजुटता का मतलब होता है अलग-अलग काम करते हुए भी कामों की परस्पर निर्भर प्रकृति के कारण एक-दूसरे से जुड़ा रहना। इस एकजुटता की अभिव्यक्ति समानता में एकता के बजाय विभिन्नता में एकता के रूप में होती है।

दुर्खाइम के ये विचार शुरुआती क्रिस्म के थे। अपने अधिक परिपक्व विमर्श में उन्होंने यांत्रिक और सावयविक एकजुटता की श्रेणियों का इस्तेमाल नहीं किया, लेकिन समाज-व्यवस्था के स्वरूप में हुए अनिवार्य परिवर्तन की विषय-वस्तु उनके चिंतन में प्रतिध्वनित होती रही। दुर्खाइम के अनुयायियों ने इसी के इर्द-गिर्द अपना समाजशास्त्र विकसित किया। वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सामाजिक एकजुटता एक आर्थिक परिघटना से ज़्यादा एक सांस्कृतिक परिघटना है जिसकी रचना धार्मिक या उसके समकक्ष सेकुलर घटकों से मिल कर होती है। लोगों की एकजुटता के कारणों की शिनाख्त दुर्खाइम के शिष्यों ने साज़ा मूल्यों में की और दिखाया कि इनकी बुनियाद और पुष्टि धर्मविधियों और अन्य कर्मकाण्डों के कारण पड़ती है।

सामाजिक एकजुटता के आधारों की जाँच कुछ अन्य धरातलों पर भी की गयी है। कार्ल मार्क्स इसका आधार वर्गीय एकता में मानते हैं। एक वर्ग के सदस्य अपने साज़ा हितों को पहचान कर दूसरे वर्ग के साज़ा विरोधियों के खिलाफ़ एकजुट होते हैं। मार्क्स का यह सूत्रीकरण सामाजिक एकजुटता को सांस्कृतिक के बजाय एक बुद्धिसंगत परिघटना के रूप में पेश करता है। मार्क्स का विचार था कि मज़दूरों को दीर्घकालीन वर्गीय हितों की सिद्धि के लिए अपने निजी हितों का साधन स्थगित कर देना चाहिए। वे यह तक मानते थे कि मज़दूरों के भीतर ऐसा करने की चेतना होती है। अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी वर्गीय सत्ता की प्राप्ति के लिए वे लम्बे अरसे तक गुरबत का जीवन गुज़ारने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। इसलिए मार्क्स ने दुनिया के मज़दूरों एक होने का नारा भी दिया। मैक्स वेबर ने मार्क्स की इस अपील को आदर्शवादी क्रार दे कर आलोचना पेश की कि मज़दूर स्थानीयता, उद्योग, जेंडर, आयु, धर्म, जातीयता और राष्ट्रीयता के आधार पर बँटे हुए हैं। उनका कहना था कि तबकाई हित व्यापक वर्गीय एकता पर हावी हो जाते हैं और सीमित संसाधनों पर क़ब्ज़े के लिए सामाजिक समूहों में होड़ शुरू हो जाती है।

सामाजिक एकजुटता के आधारों के बारे में परिप्रेक्ष्यों की कमी नहीं है। गियोर्ग ज़िमेल का विचार है कि एकजुटता सबसे ज़्यादा सीक्रेट सोसाइटियों में ही सम्भव है। उन्होंने माफ़िया के उदाहरण की चर्चा करते हुए दिखाया कि उसके सदस्यों के भीतर अंतरनिर्भरता और साथ-साथ डूबने-उतराने के एहसास की शिद्धत सबसे ज़्यादा होती है। उद्योगवाद और नगरवाद जैसी धारणाओं के विश्लेषक फ़र्डिनांड टॉनीज़ जैसे विचारकों का ख़याल है कि आधुनिकता ने पारम्परिक सामुदायिक एकजुटताओं का क्षय कर दिया है और उनकी जगह कमजोर और भंगुर क्रिस्म के सामाजिक संबंधों ने ले ली है।

उलरिख बेक और एंथनी गिडेंस जैसे विचारकों ने दलील दी है कि निरंतर बढ़ते हुए सामाजिक और भौगोलिक आवागमन और आव्रजन ने वर्ग और समुदाय से निकलने वाली पारम्परिक एकजुटताओं को कमजोर कर दिया है। इस प्रक्रिया में कल्याणकारी राज्य द्वारा नागरिकों को आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा न दे पाने के साथ-साथ व्यक्तिवाद और भूमण्डलीकरण के चौतरफा बढ़ते हुए प्रभाव ने भी योगदान किया है। साथ ही साथ एकजुटता में हुई इस गिरावट की एक समझ भी बनी है जिसके कारण लोग नयी एकजुटताओं की खोज करने लगे हैं। नये सामाजिक आंदोलनों के जरिये पैदा हुई एकजुटता इसकी मिसाल है। आजकल समाजशास्त्रियों के बीच एक बहस यह भी चल रही है कि सामाजिक एकजुटता की चालक-शक्ति क्या है? लोग स्व-हित का ध्यान रख कर एकजुटता की तरफ जाते हैं या परोपकार की भावना से त्याग करते हुए दूसरे सामाजिक अभिनेताओं के साथ एकता और संवाद करना चाहते हैं। ज़िगमंट बाउमैन का विचार स्व-हित को चालक-शक्ति मानने का है, और मैरी डगलस का विचार है कि एकजुटता तब तक हासिल नहीं की जा सकती जब तक लोग त्याग की भावना से प्रेरित न हों। जाहिर है कि इन दोनों विद्वानों के विचार एक-दूसरे के विपरीत हैं।

सामाजिक एकजुटता का समुदायवादी परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण है। समुदायवादी विचारक मानते हैं कि सामाजिक एकजुटता बाजार या राज्य द्वारा प्रोत्साहित नहीं की जा सकती। उसके लिए सहकार और समर्थन सामुदायिक संगठनों की तरफ से ही आ सकता है। सामुदायिक सम्पर्क-सूत्र एक नैतिक संयम की तरह व्यक्तिवादी रवैये के खिलाफ काम ही नहीं करते, बल्कि उनके प्रभाव के तहत लोगों का रुझान स्वयंसेवी भाव से काम करने की तरफ होने लगता है। समुदायवाद के आलोचकों का कहना है कि सामुदायिक एकजुटता की अवधारणा समाज में जेंडर आधारित भूमिकाओं और वर्ग आधारित संबंधों को सम्बोधित करने में असमर्थ है। अक्सर सामुदायिकता स्त्रियों और कमजोरों को ऐसे दायित्वों के बंधन में बाँध देती है जिनके कारण उनका अपने वर्तमान और भविष्य पर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता।

नीति-निर्माण के लिहाज से सामाजिक एकजुटता पर होने वाली समाज-वैज्ञानिक चर्चा को युरोपीय संघ द्वारा नब्बे के दशक में की गयी परिभाषा से उछाल मिला है। इस परिभाषा के अनुसार एकजुट समाज का मतलब है स्वतंत्र व्यक्तियों द्वारा साझे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लोकतांत्रिक तौर-तरीकों द्वारा किया गया परस्पर सहकार और समर्थन। यह परिभाषा राज्य को साझा हित-साधन करने वाली संस्था के रूप में देखने वाले पारम्परिक नजरिये से अलग है। युरोपीय संघ के विमर्श में इस अवधारणा की केंद्रीयता

उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उसने रोजगार, आमदनी और जन-सेवाएँ मुहैया कराने संबंधी सूचकांकों की रचना भी की है, ताकि उनके आईने में देखा जा सके कि कौन सा समाज एकजुटता की बेहतर कोशिश कर रहा है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सामाजिक स्तरीकरण, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. ग्राहम क्रो (2002), *सोशल सोलिडरिटीज : थियरीज, आइडेंटिटीज एंड सोशल चेंज*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगहम.
2. एमील दुर्खाइम (1984), *द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी*, मैकमिलन, लंदन.
3. नोह ई. फ्रीडकिन (2004), 'सोशल कोहिजन', *एनुअल रिव्यू ऑफ सोसियोलॉजी*, खण्ड 30.
4. पी. डोरियन और टी. फैररो (सम्पा.) (1998), *द प्रॉब्लम ऑफ सोलिडरिटी : थियरीज एंड मॉडल्स*, गोर्डन एंड ब्रीच, एम्स्टर्डम.

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक चयन का सिद्धांत

(Social Choice Theory)

एक-दूसरे से भिन्न निजी, सामूहिक और संस्थागत प्राथमिकताओं, गतिविधियों और सरोकारों के बीच समग्र कल्याण, समग्र जन-हित और समग्र गरीबी के संदर्भ में पूरे समाज को प्रभावित करने वाले निर्णय को सामाजिक चयन करार दिया जाता है। सामाजिक चयन का सिद्धांत कल्याणकारी अर्थशास्त्र के लिए तो उपयोगी है ही, उसे राजनीतिशास्त्र के लिए भी उपयोगी माना जाता है। मसलन, इस सिद्धांत को लागू करके न केवल किसी समाज में आर्थिक वृद्धि और विकास के रिश्ते को रेखांकित किया जा सकता है, बल्कि किसी के पक्ष में या किसी के खिलाफ वोट डालने के सामूहिक निर्णय के फलितार्थों की व्याख्या भी की जा सकती

है। पूरे समाज की खुशहाली का आग्रह करने वाले इस सिद्धांत के दायरे में नागरिक-अधिकार और स्वतंत्रताओं पर भी विचार किया जाता है। इस थियरी का जोर समतामूलक वितरण पर रहता है, और इससे उपयोगितावाद की आलोचना निकलती है। हालाँकि पूरे समाज के हितों को ध्यान में रखते हुए फ़ैसले लेने का आग्रह प्राचीन काल से ही दार्शनिकों और सिद्धांतवेत्ताओं का सरोकार रहा है, पर बीसवीं सदी में सामाजिक चयन की थियरी प्रतिष्ठित करने का श्रेय कैनेथ जे. एरो की रचना *सोशल चॉयस ऐंड इंडिविडुअल वैल्यूज़* को जाता है। हाल ही में अमर्त्य कुमार सेन ने उपयोगितावाद की आलोचना करने के साथ-साथ इस सिद्धांत को विकसित करने के लिए कुछ तजवीज़ों की हैं।

अरस्तू और कौटिल्य जैसे प्राचीनकालीन विचारकों ने भी अपने विमर्श में विपरीत हितों और चिंताओं के बीच समाज के व्यापक हितों की सिद्धि कर सकने वाले फ़ैसले लेने की ज़रूरत पर जोर दिया है। अट्टारहवीं सदी में फ्रांसीसी क्रांति के इर्द-गिर्द इस विमर्श को एक सुसंगत सिद्धांत का रूप देने का प्रयास किया गया। अमर्त्य सेन ने तो अपने एक लेख में यह तक बताया है कि फ्रांसीसी क्रांति के बौद्धिक नेताओं में सामाजिक चयन के सिद्धांतकार भी शामिल थे। दरअसल, इसके पीछे युरोपीय ज्ञानोदय से निकली वे प्रेरणाएँ थीं जिनके तहत समाज-व्यवस्था को तर्कसंगत आधार पर गढ़ने की परियोजना चलाई जानी थी। अट्टारहवीं सदी में माना यह जाता था कि लोकतंत्र में पूरे समाज की चिंता की ही नहीं जा सकती, क्योंकि उसमें नीतिगत फ़ैसले हितों की टकराहट में फँस जाते हैं। इस मान्यता के समर्थक अंततः इस तर्क के आधार पर निरंकुश शासन की वकालत करते नज़र आते थे कि केवल एक तानाशाही ही इस तरह के टकराव के परे जा कर फ़ैसला कर सकती है। ऐसे माहौल में दो फ्रांसीसी गणितज्ञों जे.सी. बोरदा और मार्क्विस द कोंदोर्स ने मतदाताओं के व्यवहार का सूत्रीकरण प्रमेयों के रूप में किया ताकि लोकतांत्रिक सिद्धांत को एक तर्कसंगत रूप मिल सके।

बीसवीं सदी के मध्य में जैसे ही कैनेथ एरो ने सामाजिक चयन की बुनियादी प्रमेय का सूत्रीकरण किया, कल्याणकारी अर्थशास्त्र में निर्णायक मोड़ आ गया। इससे पहले अर्थशास्त्र के कल्याणकारी संस्करण पर उपयोगितावादी रुझान बहुत हावी थे। उपयोगितावाद मत-आधारित सामाजिक चयन के सिद्धांत के बजाय कल्याण की समानता पर विचार करता है। उपयोगितावाद के मुताबिक हर किसी के जीवन पर कल्याण का कम या ज़्यादा प्रभाव होता है, और उसी के मुताबिक उसकी कामनाएँ और प्राथमिकताएँ संतुष्ट हो पाती हैं। उसी हिसाब से वह अपने जीवन को बेहतर

और कमतर मानता है। इस लिहाज़ से जो समाज कल्याण के समान वितरण में यत्नी करेगा, वह इस बात की चिंता नहीं करेगा कि व्यक्तिगत रूप से लोगों को कितने संसाधन मिल रहे हैं और उनके आधार पर लोग अपनी प्राथमिकताओं की कितनी पूर्ति कर पा रहे हैं। ज़ाहिर है कि उपयोगितावाद ने कल्याण की बात करते हुए समतामूलक वितरण के प्रश्न की चिंता नहीं की, और इसीलिए आगे चल कर कल्याणकारी अर्थशास्त्र को एक नये सिद्धांत की ज़रूरत पड़ी।

चालीस के दशक और उसके बाद विलफ्रेडो परेटो द्वारा प्रतिपादित अनुकूलतम परिस्थिति के सिद्धांत से इस भरपाई की उम्मीद लगायी गयी। इस सिद्धांत के अनुसार बिना किसी का नुकसान किये अगर हर व्यक्ति की बहबूदी हो सके तो आर्थिक कल्याण में सुधार हो सकता है। लेकिन एरो ने अपने विश्लेषण में दिखाया कि उपयोगितावादी रवैया, अनुकूलतम परिस्थिति का सिद्धांत, निरंकुशता की अनुपस्थिति या लोकतंत्र के होने की शर्त और सम्पूर्ण रूप से व्यवस्थित सामाजिक चयन एक साथ सम्भव नहीं है। इसीलिए एरो की प्रमेय को असम्भाव्यता की प्रमेय के रूप में भी जाना जाता है। एरो ने निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक चयन का प्रश्न विशुद्ध गणितीय या औपचारिक रवैये से हल नहीं हो सकता। उसके लिए समाज की असली समस्याओं से जुझना होगा और उस प्रक्रिया में किसी भी तरह की व्यक्तिगत प्राथमिकताओं से बचने के रुझान को भी त्यागना होगा। ज़ाहिर है कि इसमें असंगतियाँ आएँगी इसलिए उनका सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।

एरो ने कहा कि अगर एक व्यक्ति अपने हिस्से को बढ़ाने के आग्रह के तहत दूसरों के हिस्से की चिंता छोड़ देता है तो इस प्रकार की शासन लोकतंत्र या बहुमत का शासन सामाजिक चयन के मुताबिक नहीं लगेगा। यह भी हो सकता है कि लोकतंत्र में आम चुनाव या जनमत संग्रह या समितियों द्वारा लिए गये फ़ैसले नेताओं, राजनीतिक दलों या मीडिया द्वारा अपनायी जाने वाली चालाकियों के कारण सही सामाजिक चयन की नुमाइंदगी न करते दिखाई दें। परिस्थिति के मुताबिक सामाजिक चयन का फ़ार्मूला इन्हीं असंगतियों के बीच खोजना होगा।

आगे चल कर सामाजिक चयन के सिद्धांत की रोशनी में किये गये अनुसंधानों से विभिन्न संस्थागत और निर्णायकारी नियमों के फलितार्थों का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाने लगा कि क्या उनसे व्यक्तियों की प्राथमिकताएँ पूरी हो रही हैं और क्या उनसे सामाजिक हितों की गारंटी करने वाले विकल्प निकल रहे हैं या नहीं। कैनेथ एरो द्वारा प्रतिपादित असम्भाव्यता की प्रमेय बताती है कि समुचित और स्थाई क्रिस्म के सामाजिक हितों की गारंटी कोई एक नियम नहीं

कर सकता। लेकिन यह प्रमेय यह भी बता सकती है कि कुछ नियम दूसरे नियमों के मुकाबले अधिक असंगत चयनों को जन्म देते हैं। जाहिर है कि संस्थागत मूल्यांकन और डिजाइन में सुसंगति प्राप्त के लिए ऐसे नियमों से बचना बहुत उपयोगी हो सकता है।

सामाजिक चयन के सिद्धांत के तकनीकी और गणितीय पहलुओं पर महारत हासिल करने वाले विद्वानों ने लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के विभिन्न रूपों का विश्लेषण किया है। इनके मुताबिक चाहे एक पार्टी के वर्चस्व की संसदीय हुकूमत हो, या राष्ट्रपति-प्रणाली का लोकतंत्र हो, एक चुनाव के माध्यम से ही विविध नीतिगत मुद्दे सरकारी एजेंडे का हिस्सा बन जाते हैं। विद्वानों की राय है कि कई तरह के मुद्दों को एक ही दायरे में हल करने की कोशिश करने वाला संस्थागत विन्यास अपेक्षाकृत अस्थिर और परिवर्तनशील नीतियों को जन्म देता है। इसके उलट बहुपार्टी चुनाव प्रणाली गठजोड़ सरकारों को जन्म देती है जिसके तहत विभिन्न मुद्दों को अलग-अलग दायरों में अधिक सक्षमता से हल किया जा सकता है। इसी तरह अगर व्यवस्था में सत्ता एक जगह केंद्रित न हो कर बँटी हुई है, उसके अलग-अलग केंद्रों के लिए अलग-अलग चुनाव हो रहे हैं, तो हर केंद्र के हिस्से में एक या कुछ मुद्दे ही आएँगे। नतीजतन सामाजिक हितों की संगति और स्थिरता की सम्भावना अधिक रहेगी।

अमर्त्य सेन ने 1977 में एरो के विमर्श का नये सिरे से मूल्यांकन किया और मुख्यतः उसकी मुश्किलों को रेखांकित किया। उनका कहना था कि हितों की नुमाइंदगी के संदर्भ में सूचना संबंधी खामियाँ समस्या पैदा करती हैं, और सामाजिक प्राथमिकताएँ तय करने की बुनियाद के रूप में द्विभाजनों की भूमिका भी इस विश्लेषण को समस्याग्रस्त करती है। इसके अलावा स्वतंत्रतावादियों ने भी सामाजिक चयन के सिद्धांत में निजी अधिकारों के समावेश की अपील की है। उनका कहना है कि संबंधित व्यक्ति को ही उस अधिकार के उपभोग का मौक़ा मिलना चाहिए।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेट, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक एकजुटता, सामाजिक चयन का सिद्धांत, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. कैनेथ जे. एरो (1963), *सोशल चॉयस ऐंड इंडिविडुअल वेल्यूज* (दूसरा संस्करण), येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, सीटी.
2. जे.एम. कोलोमर (1983), *पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशंस : डेमोक्रेसी ऐंड सोशल चॉयस*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़ोर्ड, यूके.
3. एन.आर. मिलर (1983), 'प्लूरलिज्म ऐंड सोशल चॉयस', *अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू*, 21.
4. अमर्त्य कुमार सेन (1970), *क्लेक्टिव चॉयस ऐंड सोशल वेलफ़ेयर*, होल्डेन डे, सैन फ्रांसिस्को.
5. अमर्त्य कुमार सेन (1999), 'द पॉसिबिलिटी ऑफ़ सोशल चॉयस', *ट्रिनिटी कॉलेज, केम्ब्रिज में दिया गया व्याख्यान, अमेरिकन इकॉनॉमिक रिव्यू 89, अंक 3.*

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक न्याय

(Social Justice)

एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय की बुनियाद सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके मुताबिक किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए कि वे 'उत्तम जीवन' की अपनी संकल्पना को धरती पर उतार पाएँ। विकसित हों या विकासशील, दोनों ही तरह के देशों में राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में सामाजिक न्याय की इस अवधारणा और उससे जुड़ी अभिव्यक्तियों का प्रमुखता से प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसका अर्थ हमेशा सुस्पष्ट ही होता है। सिद्धांतकारों ने इस प्रत्यय का अपने-अपने तरीके से इस्तेमाल किया है। व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में भी, भारत जैसे देश में सामाजिक न्याय का नारा वंचित समूहों की राजनीतिक गोलबंदी का एक प्रमुख आधार रहा है। उदारतावादी मानकीय राजनीतिक सिद्धांत में उदारतावादी-समतावाद से आगे बढ़ते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धांतीकरण में कई आयाम जुड़ते गये हैं। मसलन, अल्पसंख्यक अधिकार, बहुसंस्कृतिवाद, मूल निवासियों के अधिकार आदि। इसी तरह, नारीवाद के दायरे में स्त्रियों के अधिकारों को ले कर भी विभिन्न स्तरों पर सिद्धांतीकरण हुआ है और स्त्री-सशक्तीकरण के मुद्दों को उनके सामाजिक न्याय से जोड़ कर देखा जाने लगा है।

यद्यपि एक विचार के रूप में विभिन्न धर्मों की बुनियादी शिक्षाओं में सामाजिक न्याय के विचार को देखा जा सकता है, लेकिन अधिकांश धर्म या सम्प्रदाय जिस व्यावहारिक रूप में सामने आये या बाद में जिस तरह उनका विकास हुआ, उनमें कई तरह के ऊँच-नीच और भेदभाव जुड़ते गये। समाज-विज्ञान में सामाजिक न्याय का विचार उत्तर-ज्ञानोदय काल में सामने आया और समय के साथ अधिकाधिक परिष्कृत होता गया। क्लासिकल उदारतावाद ने मनुष्यों पर से हर तरह की पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं की जकड़न को खत्म किया और उसे अपने मर्जी के हिसाब से जीवन जीने के लिए आज़ाद किया। इसके तहत हर मनुष्य को स्वतंत्रता देने और उसके साथ समानता का व्यवहार करने पर ज़ोर ज़रूर था, लेकिन ये सारी बातें औपचारिक स्वतंत्रता या समानता तक ही सिमटी हुई थीं। बाद में उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में कई उदारतावादियों ने राज्य के हस्तक्षेप द्वारा व्यक्तियों की आर्थिक भलाई करने और उन्हें अपनी स्वतंत्रता को उपभोग करने में समर्थ बनाने की वकालत की। कई यूटोपियाई समाजवादियों ने भी एक ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक आधार पर लोगों के साथ भेदभाव न होता हो। स्पष्टतः इन सभी विचारों में सामाजिक न्याय के प्रति गहरा सरोकार था। इसके बावजूद मार्क्स ने इन सभी विचारों की आलोचना की और ज़ोर दिया कि न्याय जैसी अवधारणा की आवश्यकता पूँजीवाद के भीतर ही होती है क्योंकि इस तरह की व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर क़ब्ज़ा जमाये कुछ लोग बहुसंख्यक सर्वहारा का शोषण करते हैं। उन्होंने क्रांति के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था कायम करने का लक्ष्य रखा जहाँ हर कोई अपनी क्षमता के अनुसार काम करने और अपनी आवश्यकता के अनुसार चीज़ें हासिल करने की परिस्थितियाँ प्राप्त हों।

लेकिन बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में मार्क्सवाद और उदारतावाद का जो व्यावहारिक रूप सामने आया, वह उनके आश्वासनों जैसा न हो कर विकृत था। मार्क्सवाद से प्रेरित रूसी क्रांति के कुछ वर्षों बाद ही स्तालिनवाद की सर्वसत्तावादी संरचनाएँ उभरने लगीं। वहीं उदारतावाद और पूँजीवाद ने आंतरिक जटिलताओं के कारण दुनिया को दो विश्व-युद्धों, महामंदी, फ़्रासीवाद और नाज़ीवाद जैसी भीषणताओं में धकेल दिया। पूँजीवाद को संकट से उबारने के लिए पूँजीवादी देशों में क्लासिकल उदारतावादी सूत्र से लेकर कीसवादी नीतियों तक हर सम्भव उपाय अपनाने की कोशिश की गयी। इस पूरे संदर्भ में सामाजिक न्याय की बातें नेपथ्य में चली गयीं या सिर्फ़ इनका दिखावे के तौर पर प्रयोग किया गया। इसी दौर में उपनिवेशवाद के खिलाफ़ चलने वाले संघर्षों में मानव-मुक्ति और समाज के कमज़ोर तबकों के हकों आदि की बातें ज़ोरदार तरीक़े से उठायी गयीं। ख़ास तौर

पर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में सभी तबकों के लिए सामाजिक न्याय के मुद्दे पर गम्भीर बहस चली। इस बहस से ही समाज के वंचित तबकों के लिए संसद एवं नौकरियों में आरक्षण, अल्पसंख्यकों को अपनी आस्था के अनुसार अधिकार देने और अपनी भाषा का संरक्षण करने जैसे प्रावधानों पर सहमति बनी। बाद में ये सहमतियाँ भारतीय संविधान का भाग बनीं।

इसी के साथ-साथ मानकीय उदारतावादी सिद्धांत में राज्य द्वारा समाज के कुछ तबकों की भलाई या कल्याण के लिए ज़्यादा आय वाले लोगों पर टैक्स लगाने का मसला विवादास्पद बना रहा। कीस ने पूँजीवाद को मंदी से उबारने के लिए राज्य के हस्तक्षेप के ज़रिये रोज़गार पैदा करने के प्रावधानों का सुझाव दिया, लेकिन फ्रेड्रिख वान हायक, मिल्टन फ्रीडमैन और बाद में रॉबर्ट नॉज़िक जैसे विद्वानों ने आर्थिक गतिविधियों में राज्य के हस्तक्षेप की आलोचना की। इन लोगों का मानना था कि इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता और आर्थिक आज़ादी को चोट पहुँचती है। जॉन रॉल्स ने 1971 में अपनी किताब *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में ताकतवर दलीलें दीं आखिर क्यों समाज के कमज़ोर तबकों की भलाई के लिए राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। अपनी थियरी में रॉल्स शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए वितरणमूलक न्याय के लक्ष्य को हासिल करने की कोशिश करते हुए दिखाई देते हैं। अपने न्याय के सिद्धांत में उन्होंने हर किसी को समान स्वतंत्रता के अधिकार की तरफ़दारी की। इसके साथ ही भेदमूलक सिद्धांत के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि सामाजिक और आर्थिक अंतरों को इस तरह समायोजित किया जाना चाहिए कि इससे सबसे वंचित तबके को सबसे ज़्यादा फ़ायदा हो।

बाद के वर्षों में रॉल्स के सिद्धांत की कई आलोचनाएँ भी सामने आयीं, जो दरअसल सामाजिक न्याय के संदर्भ कई नये आयामों का प्रतिनिधित्व करती थीं। इस संदर्भ में समुदायवादियों और नारीवादियों की द्वारा की गयी आलोचनाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। समुदायवादियों ने सामान्य तौर पर उदारतावाद और विशेष रूप से रॉल्स के सिद्धांत की इसलिए आलोचना की कि इसमें व्यक्ति की अणुवादी संकल्पना पेश किया गया है। रॉल्स जिस व्यक्ति की संकल्पना करते हैं वह अपने संदर्भ और समुदाय से पूरी तरह कटा हुआ है। बाद में, 1980 के दशक के आखिरी वर्षों में, उदारतावादियों ने समुदायवादियों की आलोचनाओं को उदारतावाद के भीतर समायोजित करने की कोशिश की जिसके परिणामस्वरूप बहुसंस्कृतिवाद की संकल्पना सामने आयी। इसमें यह माना गया कि अल्पसंख्यक समूहों के साथ वास्तविक रूप से तभी न्याय हो सकता है, जब उन्हें अपनी संस्कृति से जुड़े विविध पहलुओं



रॉबर्ट पुटनेम (1941-)

की हिफाजत करने और उन्हें सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त करने की आज्ञा दी मिले। इसके लिए यह ज़रूरी है कि इनके सामुदायिक अधिकारों को मान्यता दी जाए। इस तरह सैद्धांतिक विमर्श के स्तर पर बहुसंस्कृतिवाद ने सामाजिक न्याय की अवधारणा में एक नया आयाम जोड़ा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि साठ के दशक से ही पश्चिम में नारीवादी आंदोलन, नागरिक अधिकार आंदोलन, गे, लेस्बियन और ट्रांस-जेंडर आंदोलन और पर्यावरण आंदोलन आदि उभरने लगे थे। बाद के दशकों में इनका प्रसार ज़्यादा बढ़ा और इन्होंने सैद्धांतिक विमर्श को भी गहराई प्रदान की। मसलन, नारीवादियों ने उदारतावाद और रॉल्सवादी रूपरेखा की आलोचना की। अपने विश्लेषण द्वारा उन्होंने पितृसत्ता को नारीवादियों के समान हक के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट के रूप में रेखांकित किया। इसी तरह, गे, लेस्बियन और ट्रांस-जेंडर लोगों ने समाज में 'सामान्य' या 'नार्मल' की वर्चस्वी रूपरेखा पर सवाल उठाया और अपने लिए समान स्थिति की माँग की। नागरिक अधिकार आंदोलनों द्वारा पश्चिम में, खास तौर पर अमेरिकी समाज में काले लोगों ने अपने लिए बराबरी की माँग की। मूल निवासियों ने भी अपने सांस्कृतिक अधिकारों की माँग करते हुए बहुत सारे आंदोलन किये हैं। बहुसंस्कृतिवादियों ने अपनी सैद्धांतिक रूपरेखा में इन सभी पहलुओं को समेटने की कोशिश की है। इन सभी पहलुओं ने सामाजिक न्याय के अर्थ में कई नये आयाम जोड़े हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विविध समूहों के लिए सामाजिक न्याय का अलग-अलग अर्थ रहा है।

असल में विकासशील समाजों में पश्चिमी समाजों की तुलना में सामाजिक न्याय ज़्यादा रैडिकल रूप में सामने आया

है। मसलन, दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत लोगों ने रंगभेद के खिलाफ और सत्ता में अपनी हिस्सेदारी के लिए जोरदार संघर्ष किया। इस संघर्ष की प्रकृति अमेरिका में काले लोगों द्वारा चलाये गये संघर्ष से इस अर्थ में अलग थी कि दक्षिण अफ्रीका में काले लोगों को ज़्यादा दमनकारी स्थिति का सामना करना पड़ रहा था। इस संदर्भ में भारत का उदाहरण भी उल्लेखनीय है। बहुसंस्कृतिवाद ने जिन सामुदायिक अधिकारों पर जोर दिया उनमें से कई अधिकार भारतीय संविधान में पहले से ही दर्ज हैं। लेकिन यहाँ सामाजिक न्याय वास्तविक राजनीति में संघर्ष का नारा बन कर उभरा। मसलन, भीमराव आम्बेडकर और उत्पीड़ित जातियों और समुदायों के कई नेता समाज के हाशिये पर पड़ी जातियों को शिक्षित और संगठित होकर संघर्ष करते हुए अपने न्यायपूर्ण हक को हासिल करने की विरासत रच चुके थे। इसी तरह पचास और साठ के दशक में राममनोहर लोहिया ने इस बात पर जोर दिया कि पिछड़ों, दलितों, अल्पसंख्यकों और स्त्रियों को एकजुट होकर सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करना चाहिए। लोहिया चाहते थे कि ये समूह एकजुट होकर सत्ता और नौकरियों में ऊँची जातियों के वर्चस्व को चुनौती दें। इस पृष्ठभूमि के साथ नब्बे के दशक के बाद सामाजिक न्याय भारतीय राजनीति का एक प्रमुख नारा बनता चला गया। इसके कारण अभी तक सत्ता से दूर रहे समूहों को सत्ता की राजनीति के केंद्र में आने का मौक़ा मिला। गौरतलब है कि भारत में भी पर्यावरण के आंदोलन चल रहे हैं। लेकिन ये लड़ाइयाँ स्थानीय समुदायों के अपने 'जल, जंगल और जमीन' के संघर्ष से जुड़ी हुई हैं। इसी तरह विकासशील समाजों में अल्पसंख्यक समूह भी अपने खिलाफ पूर्वग्रहों से लड़ते हुए अपने लिए ज़्यादा बेहतर सुविधाओं की माँग कर रहे हैं। इस अर्थ में सामाजिक न्याय का संघर्ष लोगों के अस्तित्व और अस्मिता से जुड़ा हुआ संघर्ष है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सामाजिक न्याय के नारे ने विभिन्न समाजों में विभिन्न तबकों को अपने लिए गरिमामय जिंदगी की माँग करने और उसके लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया है। सैद्धांतिक विमर्श में भी यूटोपियाई समाजवाद से लेकर वर्तमान समय तक सामाजिक न्याय में बहुत सारे आयाम जुड़ते गये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि विकसित समाजों की तुलना में विकासशील समाजों में सामाजिक न्याय का संघर्ष बहुत जटिलताओं से घिरा रहा है। अधिकांश मौक़ों पर इन समाजों में लोगों को सामाजिक न्याय के संघर्ष में बहुत ज़्यादा संरचात्मक हिंसा और कई मौक़ों पर राज्य की हिंसा का भी सामना करना पड़ा है। लेकिन सामाजिक न्याय के लिए चलने वाले संघर्षों के कारण इन समाजों में बुनियादी बदलाव हुए हैं। कुल मिला कर समय के साथ सामाजिक न्याय के

सिद्धांतीकरण में कई नये आयाम जुड़े हैं और एक संकल्पना या नारे के रूप में इसने लम्बे समय तक खामोश या नेपथ्य में रहने वाले समूहों को भी अपने के लिए जागृत किया है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, भीखू छोटालाल पारिख, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्जर, मिशेल फॉल्ट फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, सजनीतिक और सजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉजिक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, सिद्धांत, सिद्धांत: राजनीतिक-सामाजिक, सुधार, हान्ना एरेंट, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. जॉन रॉल्स (1971), *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. इलानोर ज़िलियट (1986), 'द सोशल ऐंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ बी.आर. आम्बेडकर', थॉमस पैथम और केनेथ एल. ड्युश्च (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. विल किमलिका (1996), *मल्टीकल्चरल सिटीजनशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीति दर्शन : एक परिचय*, (अनु. कमल नयन चौबे) पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

सामाजिक पूँजी

(Social Capital)

सामाजिक पूँजी के विचार को नये सिरे से प्रासंगिक बनाने का श्रेय अमेरिकी समाज-विज्ञान को जाता है। फ़्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुर्खाइम के समय से ही इससे मिलती-जुलती धारणाओं पर गौर किया जाता रहा है, पर बीसवीं सदी के आखिरी दशक में अमेरिकी समाज-विज्ञान के हलकों ने इस पर नये लहजे में बहस शुरू की। अमेरिकी समाज में नागरिक संस्थाओं की गिरती हुई सदस्यता से पैदा हुए सरोकारों की इस बहस के पीछे मुख्य भूमिका रही। समाज वैज्ञानिकों ने देखा कि महामंदी और विश्वयुद्ध के बाद पैदा हुई पीढ़ी के तिरोहित हो जाने और मनोरंजन के इलेक्ट्रॉनिक साधनों के सहारे घर की दुनिया में क़ैद हो जाने की प्रवृत्ति के कारण अमेरिका में सामाजिक संस्थाओं की गतिविधियाँ ठप पड़ गयी हैं। इसके प्रति अनुक्रिया करते हुए रॉबर्ट पुटनैम ने सामाजिक पूँजी की अवधारणा को टटोला। दुर्खाइम के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जो सूत्रीकरण सामाजिक एकजुटता और उसके मैकेनेकिल और ऑर्गेनिक आयामों के रूप में उभरता है, उसी से मिलता-जुलता परिप्रेक्ष्य पुटनैम के विमर्श में दिखाई पड़ता है। सामाजिक पूँजी के सिद्धांत के मर्म में आग्रह यह है कि सामाजिक नेटवर्कों के महत्त्व को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि सामाजिक संपर्क व्यक्तियों और उनके समूहों की उत्पादकता को प्रभावित करते हैं। लोग विभिन्न मक़सदों से अपने सम्पर्कों और रिश्तों को एक महत्त्वपूर्ण संसाधन की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे जैसे ही किसी समस्या में फँसते हैं या उनके जीवन में कोई परिवर्तन होता है, वे दोस्तों, नाते-रिश्तों और परिजनों को आवाज़ देते हैं। लोगों का समूह आपस में जुड़ कर अपने समान हितों को साधने का प्रयास करता है। इसी बात को व्यापक धरातल पर इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन के सभी रूप अंतर्व्यक्तिक संबंधों के धागों से बँधे होते हैं।

नब्बे के दशक के मध्य में रॉबर्ट पुटनैम ने इस प्रश्न पर कई विवादात्मक लेख लिखे। इसके बाद 2000 में तथ्यों-आँकड़ों से भरी हुई उनकी विश्लेषणात्मक पुस्तक *बौलिंग एलोन* प्रकाशित हुई जिसके पन्नों पर दर्ज एक विचलित कर देने वाली छवि ने सभी का ध्यान आकर्षित किया। इस किताब में पुटनैम दिखाते हैं कि अमेरिकी लोग एक बौलिंग एली में अकेले ही खेल रहे हैं जबकि कुछ समय पहले तक वहाँ विभिन्न टीमों में एक संगठित लीग के तहत आपस में खेला करती थीं। नब्बे के दशक में हुई बहस से पहले सामाजिक पूँजी के विचार के साथ समुदाय की अवधारणा नहीं जोड़ी जाती थी। पर, पुटनैम और उनके साथियों ने तर्क दिया कि सामाजिक पूँजी की अहमियत व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह एक व्यापक सामाजिक हित की गारंटी भी करती है। सामाजिक पूँजी के स्तर में गिरावट आने पर समुदाय के अस्तित्व पर ही विपरीत असर पड़ता है।

पुटनैम के प्रयासों से राजनीतिक समाजशास्त्र की उन परम्पराओं में नयी जान पड़ी जिनके तहत माना जाता था कि स्वयंसेवी संस्थाएँ व्यक्तियों को आपस में सूत्रबद्ध करके एक व्यापक संसार की रचना करती हैं। उन्नीसवीं सदी में अलैक्सिस द टॉकवील ने अमेरिकी लोकतंत्र से संबंधित अपने विख्यात अवलोकनों में दिखाया था कि किस तरह विभिन्न हित-समूह और नागरिक संगठन निरंतर अन्योन्यक्रिया के माध्यम से पूरी लोकतांत्रिक व्यवस्था की एकजुटता बनाये हुए हैं। ध्यान रहे कि युरोप के बारे में टॉकवील की मान्यता थी कि वहाँ स्थिरता लाने की यही भूमिका राजशाही और कुलीनतंत्र के नेतृत्व में जारी परम्पराओं ने निभायी है। पुटनैम के विचारों की प्रासंगिकता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि मीडिया ने उन्हें हाथो-हाथ लिया और उनका प्रभाव समाज-विज्ञान के दायरों के परे चला गया। अनगिनत रेडियो और टीवी कार्यक्रमों में उन्हें अपनी बात कहने का मौक़ा मिला। दो अमेरिकी राष्ट्रपतियों ने उनसे राय ली और कई युरोपीय प्रधानमंत्रियों ने उनके विचारों पर गौर किया।

पुटनैम से पहले दूसरे बुद्धिजीवी सामाजिक रिश्तों और नेटवर्कों के आईने में विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक परिघटनाओं की जाँच का प्रयास कर चुके थे। जेन जैकब्स द्वारा विभिन्न शहरों में होने वाले अपराधों के बीच फ़र्क़ का पता लगाने के लिए सामाजिक रिश्तों की असमानता का अध्ययन किया चुका था। इसी विचार के आधार पर फ़्रांसीसी समाजशास्त्री पिएर बोर्दियो भिन्न दिशा में सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी के पुनरुत्पादन की व्याख्या कर चुके थे। बोर्दियो ने अपने साथी लोइक वाकाँ के साथ प्रकाशित रचना में लिखा था कि सामाजिक पूँजी ऐसे वास्तविक और निराकार संसाधनों का योगफल है जो किसी व्यक्ति या समूह को किसी सामाजिक नेटवर्क की सदस्यता की बदौलत हासिल होते हैं। ये नेटवर्क आपसी जान-पहचान के कमोबेश संस्थागत रूप ले चुके संबंधों के ज़रिये टिके रहते हैं। व्यक्ति अपनी सामाजिक पूँजी के आधार पर हासिल की गयी उस सामाजिक-आर्थिक हैसियत को अगली पीढ़ी के हवाले कर पाता है जो उसने प्रभावशाली परिजनों, महँगे स्कूलों में पढ़ने वाले अपने सहपाठियों और किसी ख़ास क्लब के साथी सदस्यों की सोहबत के बदौलत हासिल की होती है। इस सामाजिक पूँजी को लगातार प्रासंगिक और प्रभावी रखने के लिए व्यक्ति आपसी मेल-जोल में अपने समय का योजनाबद्ध निवेश करता है।

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि बोर्दियो साठ के दशक में प्रचलित वर्ग-विश्लेषण के नव-मार्क्सवादी दायरे में चिंतन कर रहे थे। उनकी दिलचस्पी यह दिखाने में थी कि अभिजनों के समूह किस तरह अपनी सत्ता की निरंतरता बनाये रखते हैं।

इसके विपरीत जेम्स कोलमैन ने सामाजिक पूँजी की अवधारणा का इस्तेमाल करते हुए कई अफ्रीकन-अमेरिकन हाई स्कूल छात्रों के बीच किये गये आनुभविक अध्ययनों के ज़रिये दिखाया कि परिवार और समुदाय द्वारा मिले हुए गुणों द्वारा कम आमदनी और अच्छे स्कूल में पढ़ने की सुविधा न मिल पाने जैसी कमियों की भरपाई हो जाती है। बच्चे के संज्ञानात्मक विकास में ऐसे गुण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कोलमैन एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिनकी अर्थशास्त्र में काफ़ी दिलचस्पी थी। उन्होंने तर्कसंगत सामाजिक चयन सिद्धांत (रैशनल चॉयस थियरी) का आलोचना करते हुए कहा कि यह सिद्धांत व्यक्तिगत निजी-हित पर आधारित रवैये की तो व्याख्या कर लेता है, पर सहकारी व्यवहार और परोपकारी रवैये को नहीं समझ पाता। इस लिहाज़ से सामाजिक पूँजी का सिद्धांत रैशनल चॉयस थियरी की यह कमी पूरी कर देता है।

कहना न होगा कि बोर्दियो की निगाह में सामाजिक पूँजी की अवधारणा ऊँच-नीच क्रायम रखने में मददगार थी, और कोलमैन उसे वंचित समूहों को आगे बढ़ाने में सहायक के तौर पर देख रहे थे। हालाँकि यह एक अहम मानकीय अंतर था, पर कुल मिला कर दोनों ही विद्वानों ने इस सिद्धांत के विभिन्न आयामों को समृद्ध किया। नब्बे के दशक में जब इसके इर्द-गिर्द बहस शुरू हुई तो इस सिद्धांत को नये सिरे से प्रश्नांकित किया गया और अपने-अपने तर्कों के पक्ष में ढेर सारी तथ्यगत दलीलें जुटायी गयीं। कुछ अध्ययनों से स्पष्ट हुआ कि सामाजिक नेटवर्कों का लाभ असामाजिक और अपराधिक मक़सदों से भी उठाया जाता है। कुछ नेटवर्क ऐसे मूल्यों और आचरण-संहिताओं को मजबूत करते हैं जिनके प्रभाव के तहत लोग समस्याओं के ठीक से निदान करने में असमर्थ हो जाते हैं। बहस यह भी हुई कि इस सिद्धांत का कितना हिस्सा समाजशास्त्रीय है और कितना अर्थशास्त्री। इसी के तहत पूछा गया कि क्या पूँजी शब्द का इस्तेमाल इसमें केवल रूपक के तौर पर किया जा रहा है या सामाजिक पूँजी को बाज़ायदा नापा भी जा सकता है और उससे होने वाले मुनाफ़े की दर का भी पता लगाया जा सकता है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. रॉबर्ट डी. पुटनेम (2000), *बौलिंग एलोन : द क्लेप्स एंड रिवाइवल ऑफ अमेरिकन कम्युनिटी*, साइमन एंज शुस्टर, न्यूयॉर्क.
2. पिएर बोर्दियो और लोइक वाकाँ (1992), *एन इनविटेशन टू रिफ्लेक्सिव सोसियोलॉजी*, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो.
3. जेम्स कोलमैन (1994), *फ़ाउंडेशन ऑफ सोशल थियरी*, बेलकनैप प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
4. जॉन फ़्रील्ड (2003), *सोशल कैपिटल*, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक बहिर्वेशन

(Social Exclusion)

सामाजिक बहिर्वेशन केवल गरीबी या बेरोजगारी का परिणाम न हो कर समान अवसरों से वंचित करने की उस प्रक्रिया का नाम है जो समाज के कुछ समूहों पर थोप दी जाती है। नतीजा यह निकलता है कि उन समूहों के सदस्य निजी तौर पर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया में भागीदारी करने की हैसियत में नहीं रह जाते। बहिर्वेशन की यह प्रक्रिया सामाजिक संबंधों और सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर करती है। अगर वे बहिर्वेशनकारी और भेदभावपूर्ण हैं तो जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्तियों और समूहों को नकारात्मक रूप से प्रभावित करेंगे। सामाजिक बहिर्वेशन का दायरा बहुत बड़ा होता है। उसमें रोज़ी-रोटी न कमा पाने और गृहविहीनता की स्थितियों से लेकर जेंडर या जातीयता से जुड़ा पक्षपात भी शामिल है। सामाजिक बहिर्वेशन के सिद्धांतकारों के अनुसार यह बहुआयामी परिघटना अपनी प्रकृति में प्रक्रियात्मक होती है। अर्थात् कोई व्यक्ति या समूह बहिर्वेशनों के एक सिलसिले से क्रमशः गुजरता हुआ अलगाव, तिरस्कार, अवमानना और असुरक्षा का शिकार होता चला जाता है। अमर्त्य कुमार सेन ने सामाजिक बहिर्वेशन की बारीक व्याख्या करते हुए बताया है कि किस प्रकार कुछ लोग शामिल न किये जाने के कारण परित्यक्तता की अनुभूति करते हैं, और कुछ लोग शामिल किये जाने के बावजूद भेदभाव का शिकार होने के कारण उसी अनुभूति से गुजरते हैं। यानी बहिर्वेशन न केवल खुले तौर से अलगाव में डाल दिया जाने का परिणाम है, बल्कि वह उपेक्षा और अन्याय से भी उपजता है। अमर्त्य सेन ने सक्रिय और निष्क्रिय बहिर्वेशन की भी चर्चा की है। सरकार द्वारा बनायी गयी नीतियों के परिणामस्वरूप होने वाला बहिर्वेशन सक्रिय

श्रेणी में आता है, और समाज की खामोशी से चलने वाली प्रक्रियाओं के कारण होने वाले परिस्थितिजन्य बहिर्वेशन को निष्क्रिय क्रार दिया जा सकता है।

प्राचीन यूनानी दर्शन में बहिर्वेशन के प्रश्न और उसकी सीमाओं के बारे में अरस्तू ने अपनी रचना *पॉलिटिक्स* में विचार किया है। अरस्तू दासों, स्त्रियों, दस्तकारों, शारीरिक श्रम करने वालों और बाहर से आये लोगों को अपने पोलिस यानी राज्य की प्रक्रियाओं में भागीदारी करने की इजाजत नहीं देते। लेकिन, साथ में वे यह चेतावनी देना भी नहीं भूलते कि वही राज्य और वही संविधान टिकाऊ होता है जिसमें बहिर्वेशन के शिकार लोगों की संख्या कम से कम होती है। अरस्तू ने एक दिलचस्प सुझाव यह भी दिया है कि सत्ता के टिकाऊ होने के लिए उसका विशाल मध्यवर्ग पर आधारित होना अधिक कारगर हो सकता है। अरस्तू के विमर्श से सामाजिक बहिर्वेशन के बारे में दो सूत्र निकलते हैं। पहला, सफल राज्य-प्रणालियाँ बहिर्वेशन को कम से कम करने की कोशिश करती हैं, और जिस राज्य में मध्यवर्ग का आकार बढ़ता जाता है उसमें बहिर्वेशन घटता है। अरस्तू के दर्शन की रोशनी में अगर भारत में सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े समुदायों को दिये जाने वाले आरक्षण पर निगाह डाली जाए तो दिखता है कि विशेष सुविधाओं का यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से दलित, पिछड़े और आदिवासी समुदायों में एक मध्यवर्ग की रचना कर रहा है।

समाज-विज्ञान में सामाजिक बहिर्वेशन की अवधारणा नब्बे के दशक में ख़ास तौर से प्रचलित हुई। आज युरोप और अन्य विकसित देशों में लिए गये नीतिगत फैसलों का मूल्यांकन करने के लिए इसे एक आईने की तरह इस्तेमाल किया जाने लगा है। 1965 में फ़्रांसीसी विद्वान ज्यॉ क्लैनफ़र की रचना *सोशल एक्सक्लूज़न : द स्टडी ऑफ़ मार्जिनलिटी इन वेस्टर्न सोसाइटीज़* से इस विचार की शुरुआत मानी जाती है। इस रचना में ज्यादातर बहिर्वेशन के आर्थिक रूपों को रेखांकित किया गया था। इसके बाद सत्तर के दशक में एक और फ़्रांसीसी विद्वान रेने लेनोइर ने दिखाया कि किस तरह गरीबी और अधिकारहीनता के कारण फ़्रांसीसी नागरिकों का एक हिस्सा आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं में भागीदारी से वंचित है। अस्सी और नब्बे के दशक तक सामाजिक बहिर्वेशन ने एक अहम सिद्धांत की हैसियत प्राप्त कर ली। फ़्रांस की अर्थव्यवस्था पर हावी लगभग स्थाई क्रिस्म की दीर्घकालीन बेरोजगारी की स्थितियों की भी इसमें भूमिका रही। इसी के साथ-साथ इसी अवधि में आब्रजन और जातीय अल्पसंख्यकों के असमान दर्जे पर हुई बहसों ने इस अवधारणा को महज़ आर्थिक दायरों में होने वाली चर्चाओं से निकाला। धीरे-धीरे फ़्रांसीसी राजनीति में सामाजिक बहिर्वेशन के खिलाफ़ आवाज़ उठाना मतदाताओं की हमदर्दी

जीतने के लिए जरूरी समझा जाने लगा। सदी के अंत तक युरोप के अन्य देशों में भी बहिर्वेशन को एक सामाजिक बुराई के रूप में देखा जाने लगा और धीरे-धीरे नीतिगत बहसों का केंद्रीय सरोकार बन गया। 1997 में ब्रिटेन में लेबर पार्टी के टोनी ब्लेयर ने सत्ता सँभालते ही खुद को बहिर्वेशन के खिलाफ ज़िहाद करने वाले योद्धा के रूप में चित्रित किया। उन्होंने इस समस्या से निबटने के लिए अपनी सरकारी में एक विशेष इकायी का गठन तक कर डाला। युरोपीय यूनियन ने भी इस सिलसिले में पहल ली और अपने लिस्बन सम्मेलन में इसे रोजगार और सामाजिक नीति संबंधी रणनीति का प्रमुख हिस्सा बनाया। यूनियन ने 2000 में एक दस्तावेज़ जारी किया जिसका शीर्षक था *फ़ाइट अगेंस्ट पॉवर्टी ऐंड सोशल एक्सक्लूज़न*।

सामाजिक बहिर्वेशन से संबंधित इस युरोपीय अध्याय का एक विरोधाभास भी है। फ़्रांसीसी राजनेताओं ने अपनी राजनीतिक गोटी लाल करने के लिए इस मुद्दे के इर्द-गिर्द काफ़ी लच्छेदार बातें कहीं, लेकिन उसके मुकाबले इस सामाजिक बुराई को दूर करने के लिए कहीं छोटी रकम आबंटित की। ब्रिटेन में टोनी ब्लेयर ने बहिर्वेशन का मुकाबला करने के लिए फ़्रांसीसियों के मुकाबले बेहतर बजट का प्रावधान किया, लेकिन इसकी आड़ में वे बाजारोन्मुख आर्थिक नीतियाँ भी चलाते रहे। युरोपीय यूनियन ने बहिर्वेशन के सवाल को एक नैतिक मुद्दे के रूप में परिभाषित करने से परहेज़ किया जिसके कारण इससे संबंधित नीतिगत बहस श्रम-बाजार के दायरे में सिमट गयी।

युरोप के बाहर ऑस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे विकसित औद्योगिक देशों में भी सामाजिक बहिर्वेशन का सवाल नीतिगत दायरों में चर्चा का केंद्र बना है। लेकिन, अमेरिका में यह अभी भी कमोबेश हाशिये पर है, बावजूद इसके कि युरोप के मुकाबले अमेरिका में ग़रीबी और सामाजिक विषमता के सूचकांक ऊँचे हैं। अमेरिकी विद्वान आज भी अपने समाज की इन समस्याओं की व्याख्या करने के लिए बहिर्वेशन की धारणा का इस्तेमाल करने से बचते हैं।

बहिर्वेशन की अवधारणा से जुड़ा दूसरा अहम सवाल यह है कि क्या इस विचार को युरोप की भाँति ही ग़ैर-पश्चिमी और ग़ैर-विकसित देशों और समाजों पर लागू किया जा सकता है? अमीर देशों में रोजगार का बाजार औपचारिक रूप से गठित है, और वहाँ समाज-कल्याण के लिए सरकारें बहुत बड़े-बड़े बजट आबंटित कर सकती हैं। इस तरह की परिस्थितियाँ और सुविधाएँ ग़रीब देशों को उपलब्ध नहीं हैं। ग़रीब देशों में अनौपचारिक क्षेत्र का दायरा औपचारिक क्षेत्र से बड़ा होता है, और सरकारी नीतियों के कार्यान्वयन की पहुँच समाज के सभी तबकों तक नहीं हो पाती। इसलिए ऐसे देशों में सामाजिक बहिर्वेशन का कार्यक्रम मुख्यतः ग़रीबी

हटाओ कार्यक्रमों तक सीमित रह गया है।

भारतीय समाज-विज्ञान के दायरों में पिछले डेढ़ दशकों से इस धारणा पर चर्चा हो रही है। इस विमर्श के केंद्र में जाति आधारित बहिर्वेशन है। एक्शन एड नामक स्वयंसेवी संस्था (एनजीओ) द्वारा किये गये एक अखिल भारतीय अध्ययन से पता चला है कि देश के करीब 36 फ़ीसदी गाँवों में अनुसूचित जाति का होने के कारण मज़दूरों को खेतिहर रोजगार से वंचित किया जाता है। करीब 25 फ़ीसदी गाँवों में पूर्व-अछूत जातियों का होने के कारण उन्हें बाजार में प्रचलित दर से कम वेतन दिया जाता है। छुआछूत की प्रथा के सामाजिक प्रभाव के कारण इन जातियों के मज़दूरों को गाँवों में इमारती काम मिलने में कठिनाई होती है। इसी तरह उन्हें जल संबंधित रोजगारों से भी वंचित होना पड़ता है। देश के करीब 47 फ़ीसदी गाँव ऐसे हैं जहाँ अनुसूचित जातियों के लोग दूध नहीं बेच सकते। उन्होंने अगर पशु पाले हैं तो उनका दूध और दूध से बनी चीज़ें न तो गाँव की सहकारी समितियाँ ख़रीदती हैं और न ही निजी तौर पर लोग ख़रीदते हैं। आंध्र प्रदेश में किये गये एक अध्ययन के अनुसार अनुसूचित जातियों के लोग अगर अपना पारम्परिक व्यवसाय बदलना चाहें, तो इससे उन्हें रोका जाता है। कर्नाटक के एक अध्ययन से पता चला है कि इस प्रदेश में अनुसूचित जाति समाज के केवल 15 फ़ीसदी लोग ही अपना पारम्परिक पेशा बदलने में कामयाब हो पाये हैं। राजस्थान में पूर्व-अछूतों को दोपहर का खाना देने की योजनाओं में रसोइये और भोजन बाँटने की नौकरी मिलना मुश्किल है।

सुखदेव थोरात ने विभिन्न प्रदेशों में किये गये अध्ययनों के आधार पर दिखाया है कि जाति और जातीयता की बिना पर कुछ समूहों के साथ भेदभाव किया जाता है जिसके कारण उन्हें सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से अलगाव में पड़ जाना पड़ता है। थोरात की मान्यता है कि जाति प्रथा निचली जातियों को न केवल समान अवसरों और स्वतंत्रताओं से वंचित करती है, बल्कि उनके मानवाधिकारों को भी छीन लेती है। इसलिए नागरिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों के सिलसिले में सामाजिक बहिर्वेशन के सैद्धांतिक सूत्रीकरण का भारतीय संदर्भ जाति के प्रश्न के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सामाजिक आंदोलन, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन,

ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. अमर्त्य कुमार सेन (2000), 'सोशल एक्सक्लूजन : कंसेप्ट, एप्लीकेशन एंड स्कूटिनी', *एशियन डिवेलपमेंट वकिंग पेपर*.
2. रूही सेठ (2007), 'सोशल एक्सक्लूजन : द कंसेप्ट एंड एप्लीकेशन टू डिवेलपिंग कंट्रीज़', एफ. स्टीवार्ट, आर. सेठ और बी. हैरिस-व्हाइट (सम्पा.), *डिफाइनिंग पॉवर्टी इन द डिवेलपिंग वर्ल्ड*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक, यूके.
3. एम. डाली (2006), *सोशल एक्सक्लूजन एज कंसेप्ट एंड पॉलिसी टेम्प्लेट इन द युरोपीय यूनियन*, केम्ब्रिज, एमए : हार्वर्ड युनिवर्सिटी.
2. सुखदेव थोरात (2003), 'कास्ट, एथनिसिटी एंड रिलीजन : ऐन ओवरव्यू ऑफ़ एक्सक्लूजन / डिस्क्रीमिनेशन एंड डिप्राइवेशन', *डीएफआईडी कंसेप्ट पेपर, नयी दिल्ली*.

— अभय कुमार दुबे

सामाजिक स्तरीकरण

(Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण का प्रयोग समाज में मौजूद असमानता और क्रम-विन्यास का वर्णन करने के लिए किया जाता है जिससे समाज के विभेदीकरण की जानकारी हासिल करने में मदद मिलती है। समाजशास्त्र की इस अवधारणा को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : वह विभेदीकरण स्तरीकरण कहलाता है जिसका आधार क्रम-विन्यास है और जिसके तहत परिस्थितियों (स्टैटस या दर्जे) के हिसाब से ऊँचे और नीचे समझे जाने वाले समूहों का अध्ययन किया जाता है। समाज में व्यक्ति का विभेदीकरण उम्र, चमड़ी के रंग और लिंग-भेद के आधार पर होता है, पर स्तरीकरण में जैवकीय भिन्नताओं के स्थान पर देखा यह जाता है कि पदों और परिस्थितियों के वितरण का स्वरूप क्या है और उससे हैसियत या दर्जे का क्या आधार बन रहा है। स्तरीकरण बनाये रखने में समाजीकरण की भूमिका मुख्य है, क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया में ही व्यक्ति समाज में ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार करता है। उसी तरह जैसे परम्परागत भारतीय समाज में जाति-प्रथा के अंतर्गत व्यक्ति जातियों के अपेक्षित व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता और स्वीकार करता है।

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में और सभी कालखंडों में किसी न किसी रूप में रहा है। विभिन्न समाजों में सामाजिक-सांस्कृतिक कारक इसे अलग-अलग स्वरूप देते रहते हैं। भारत में जाति-प्रथा का रूप जन्म-आधारित है,

जबकि वर्ग आधारित युरोपीय समाजों में अर्जित गुणों के आधार पर ऊँच-नीच का भेद स्थापित होता है। जिन समाजों में प्रजातीयता के आधार पर स्तरीकरण होता है, वहाँ त्वचा के रंग को सर्वप्रमुख माना जाता है। जाहिर है कि स्तरीकरण या सामाजिक श्रेणीबद्धता का कोई सार्वभौम नियम नहीं है। इसके सामाजिक परिणाम भी अलग-अलग होते हैं। जीवन-अवसरों व जीवन-शैली पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। बच्चों की शिक्षा व मृत्यु, बीमारियाँ, वैवाहिक संघर्ष, मानसिक अवसाद जैसे कारक जीवन-अवसरों से प्रभावित होते हैं। जबकि समाज में श्रेणी व स्तर के हिसाब से ही व्यक्ति को मकान, पड़ोस, मनोविनोद के साधन, भोजन, क्रीमती वस्तुएँ आदि प्राप्त होती हैं।

स्तरीकरण शब्द भू-विज्ञान से लिया गया है। यूनानी दार्शनिकों प्लेटो और अरस्तू ने भी इस पर विचार किया है। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं और उनकी हैसियत का निर्धारण कौशल, बुद्धिमत्ता और शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता हूँ। जाहिर है कि ये प्राचीन विचारक सामाजिक असमानता की ज़िम्मेदारी सीधे-सीधे प्राकृतिक असमानता पर डाल देते थे। युरोप में ज्ञानोदय-काल के पश्चात मुख्य रूप से स्तरीकरण पर उसके सामाजिक कारण केंद्र में रख कर इस पर चर्चा आरम्भ हुई। रूसो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्तरीकरण का मुख्य आधार माना और कार्ल मार्क्स ने भी निजी सम्पत्ति के आधार पर होने वाले वर्ग विभाजन को स्तरीकरण का आधार माना।

सामाजिक स्तरीकरण के मुख्यतः चार स्वरूप माने गये हैं : जाति, वर्ग-व्यवस्था दास-प्रथा और जागीरें। भारत में जाति-प्रथा के अंतर्गत जाति की सदस्यता जन्मजात मानी जाती थी और उसके सदस्यों को भोजन संबंधी व अन्य निषेधों का पालन करना होता था। जातियों का संबंध व्यवसायों से भी रहा है। यह जिस शास्त्रीय वर्णक्रम का अंग रही है उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम-विन्यास का निर्धारण किया गया। जाति में परिवर्तन की अनुमति नहीं रही है और जाति से भिन्न योग्यता होने पर भी जन्म की जाति को नकारना सम्भव नहीं रहा है। हालाँकि कुछ समाजशास्त्रियों, जैसे एम.एन श्रीनिवास, ने संस्कृतीकरण की अवधारणा के ज़रिये निम्न जातियों के मध्य सामाजिक गतिशीलता के ऐतिहासिक पक्ष का अध्ययन करके दिखाया है कि वर्ण-व्यवस्था की जड़ता के बावजूद संस्कार, शुद्धि या राजनीतिक बल से निम्न जातियाँ अपने दर्जे को ऊँचा करने की कोशिश करती थीं।

इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था में सामाजिक परिस्थिति की बुनियाद में धन-संपत्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इसमें जन्मजात सदस्यता के स्थान पर निजी गुणों व प्रतिभा के आधार पर वर्ग-विकास को महत्त्व देने का चलन होता है।

एक ही वर्ग के सदस्यों के मध्य वैवाहिक और सामाजिक संबंध बनते हैं और उनकी उपसंस्कृति बन जाती है। इसके अलावा दास-प्रथा भी स्तरीकरण का आधार रही है। दासों को प्राचीन यूनानी और रोमन साम्राज्य में क्रानूनन अधिकारविहीन रखा जाता था। मालिकों के सामाजिक स्तर की तुलना में वे काफी निम्न माने जाते थे। अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी भाग में भी दास-प्रथा का चलन था। स्तरीकरण के रूप में दास-प्रथा एक आदिम व्यवस्था मानी जाती है। मध्यकाल में युरोप में पायी जाने वाली जागीरें भी बड़े पैमाने पर लोगों के मध्य सामाजिक विभेदीकरण पैदा करती थीं और लोग भिन्न-भिन्न स्तरों में विभक्त रहते थे। इसे भी परम्परा व क्रानूनन की मान्यता मिली हुई थी। इनके तीन वर्ग होते थे : पादरी, राजा-सरदार और आम जनता। चर्च के मुखिया के रूप में पादरियों को काफी सामाजिक अधिकार मिले हुए थे और इन्हें समाज में भी ऊँचा दर्जा प्राप्त था। हालाँकि राजाओं को पादरियों से ऊपर गिना जाता था, पर पादरियों का सामाजिक रुतबा उनकी उच्च-परिस्थिति का आधार था।

सामाजिक स्तरकीरण की व्याख्या के लिए दो प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है : प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण और द्वंद्वत्मक दृष्टिकोण।

प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक टैलकॉट पार्संस, किंग्सले डेविस और विल्बर्ट ई. मूर जैसे समाजशास्त्री हैं। इन लोगों ने स्तरीकरण यानी सामाजिक असमानता को उचित ठहराने के तर्क दिये हैं। उदाहरण के लिए पार्संस का मत है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए अनिवार्य है क्योंकि समाज को विभिन्न योग्यता और कार्य-दक्षता वाले लोगों की आवश्यकता पड़ती है। अलग-अलग योग्यता के हिसाब से लोगों को सम्मान व पारिश्रमिक मिलता है। हर समाज को अपने अस्तित्व और विकास के लिए खास मूल्य-व्यवस्था बनानी होती है जो समाज के सभी सदस्यों की सर्वसम्मति पर आधारित होती है। इन्हीं मूल्यों या पैमाने पर व्यक्ति की योग्यता की जाँच कर उसकी सामाजिक हैसियत तय की जाती है। पार्संस के अनुसार इससे समाज में तनाव या द्वंद्व नहीं बल्कि एकता पैदा होती है क्योंकि लोग यह मानकर आश्वस्त रहते हैं कि उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार ही काम मिल रहा है और कार्यकुशलता और क्षमता बढ़ाने की प्रेरणा भी मिलती है। इस सिद्धांत के अनुसार स्तरीकरण भिन्न-भिन्न प्रतिभा वाले लोगों को भिन्न हैसियत देकर उनकी योग्यता का सम्मान करता है। सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य लोगों को आसीन करने का भी यही एकमात्र सही तरीका है। प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण में यह भी माना जाता है कि कोई भी समाज वर्गहीन अथवा बगैर स्तरीकरण के नहीं हो सकता और सभी जटिल समाजों के लिए सामाजिक

स्तरीकरण अनिवार्य है। किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर जैसे समाजशास्त्रियों का मत है कि समाज में कम सुलभ और विशेषज्ञतापूर्ण पदों के लिए अधिक सम्मान-पुरस्कार मिलता है क्योंकि ऐसे कार्य करने के लिए योग्य व्यक्ति अधिक संख्या में नहीं मिलते हैं। इस विषय में मैक्स वेबर जैसे विचारकों का सोच भी महत्वपूर्ण है जो मानते हैं कि समाज में वर्ग, परिस्थिति समूह और दल के आधार पर स्तरीकरण होता है। वेबर ने परिस्थिति को सम्मान का पर्याय माना है जो वर्ग से कई बार मुक्त होती है। मसलन, आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों को समाज में कम सम्मान मिल सकता है, और किसी अच्छे प्रतिष्ठापूर्ण मध्यवर्गीय व्यवसाय करने वाले व्यक्ति को अधिक सम्मान प्राप्त हो सकता है।

दूसरी ओर सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में द्वंद्वत्मक या संघर्षात्मक सिद्धांत है जिसने इस बारे में प्रकार्यात्मक सिद्धांत की कड़ी आलोचना विकसित की है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत जहाँ सामाजिक स्तरीकरण को समाज की जरूरत बताता है, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांत इसे वर्ग व समुदाय की दृष्टि से देखता है और मानता है कि असमानता पूरे समाज की आवश्यकता नहीं बल्कि खास उच्च वर्ग की आवश्यकता है और उसके हितों की पूर्ति का माध्यम है। संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता कार्ल मार्क्स का मानना है कि मानव समाज का पूरा इतिहास ही वर्ग संघर्ष का इतिहास है और पूँजीवादी समाज स्तरीकृत यानी विषमतामूलक समाज का अंतिम अध्याय होगा।

प्रकार्यात्मक सिद्धांतकार समाज में शक्ति, सम्मान व पद के विभाजन को हानिकारक या आपत्तिजनक नहीं मानते, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांतकारों का मानना है कि समाज में मौजूद वर्गगत असमानता उसके विकास में बाधक होती है और वर्ग-संघर्ष सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत है। संघर्षात्मक सिद्धांत के एक अन्य महत्वपूर्ण समर्थक सी. राइट मिल्स हैं जिन्होंने अमेरिकी समाज के अभिजनों की सत्ता पर प्रकाश डाला है। अपनी प्रख्यात पुस्तक *द पॉवर इलीट* में उन्होंने बताया है कि किस प्रकार तीन शक्तिशाली संगठन औद्योगिक प्रतिष्ठान, सेना और संघीय सरकार मिल कर अमेरिका को नियंत्रित करते हैं और राजनीति में अपने किसी विकल्प को नहीं उभरने देते। मार्क्स से थोड़ा अलग मिल्स, गेरहार्ड लास्की और आर. डैहरेन-डौर्फ जैसे विचारकों ने वर्ग के स्थान पर शक्ति की धारणा का प्रयोग अधिक किया है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत विचारधारा की भूमिका का भी अध्ययन किया गया है जिसका प्रयोग समाज के प्रभावशाली समूह अपने प्रभुत्व को बनाये रखने और सामाजिक स्तरीकरण के रूप में मौजूद विषमता न्यायोचित ठहराने के लिए करते हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेटि, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एम.एम. ट्यूमिन (1967), *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन : द फ़ार्मर्स ऐंड फंक्शन ऑफ़ इनइक्वैलिटी*, प्रेंटिस हाल, न्यू जर्सी.
2. टी.बी. बॉटमोर (1965), *क्लासेज इन मॉडर्न सोसाइटी*, जॉर्ज एले ऐंड अनविन, लंदन.
3. आर. बेन्डिक्स और एस.लिपसेट (सम्पा.) (1967), *क्लास, स्टेट्स ऐंड पावर : सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन कम्परेटिव पर्सपेक्टिव*, रॉटलेज ऐंड कीगन पाल, लंदन.
4. एम.हारलम्बस, (1980) *सोसियॉलोजी : थीम्स ऐंड पर्सपेक्टिव्ज*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. जे.एच.हटन (1961), *कास्ट इन इण्डिया : इट्स नेचर, फंक्शन ऐंड ओरिजिन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— वैभव सिंह

सामाजिक समझौता

(Social Contract)

सामाजिक समझौता एक ऐसा सिद्धांत है जिसके केंद्र में मुख्य विचार यह है कि वैध सरकार स्वतंत्र नैतिक कर्त्ताओं के बीच स्वैच्छिक समझौते का कृत्रिम नतीजा होती है। इसके पीछे मान्यता है कि 'प्राकृतिक' राजनीतिक प्राधिकार जैसी कोई चीज़ नहीं होती है। आधुनिक युग में इस सिद्धांत ने दैवीय सिद्धांत का खण्डन करके व्यक्तियों की नैतिक समानता का तथ्य रेखांकित किया। इसलिए माइकल ओकशॉट ने समझौतावाद को 'इच्छा और कौशल' का सिद्धांत कहा है। लॉक के इस कथन से इसका पूरा महत्त्व सामने आता है कि 'स्वैच्छिक सहमति गवर्नर को राजनीतिक सत्ता देती है।' प्राचीन और मध्यकालीन चिंतन में भी समझौता सिद्धांत के सूत्रों को देखा जा सकता है। लेकिन 1650-1800 के बीच

के दौर को समझौता सिद्धांत का स्वर्ण-युग माना जा सकता है। इसकी शुरुआत हॉब्स की रचना *लेवायथन* से हुई और अंत कांट के *मेटाफिज़िकल एलीमेंट्स ऑफ़ जस्टिस* से हुआ। बीसवीं सदी में जॉन रॉल्स जैसे उदारतावादी-समतावादी चिंतक ने अपनी किताब *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में इस उसूल का नये सिरे से प्रयोग किया।

यह विवाद का विषय है कि आखिर पश्चिमी चिंतन में 'स्वैच्छिक सहमति' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कैसे मिल गया। इसका एक सम्भावित जवाब यह है कि ईसाइयत के प्रभाव के कारण प्राचीन सिद्धांतों ने 'अच्छे कार्यों' को उत्तम शासन और आदमी का स्वाभाविक सामाजिक लक्ष्य करार दे कर इस तरह की राजनीति के बारे में विचार करने का रास्ता तैयार किया होगा। दरअसल, अच्छा काम करने के लिए अच्छा क्या है, इसका ज्ञान और अच्छा करने की इच्छा—दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसी तरह राजनीति को भी नैतिक सहमति की ज़रूरत होती है। इसका मतलब है कि व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति से राजनीति में जुड़ाव। ईसाइयत के भीतर हमेशा ही असीम मानकों का स्वैच्छिक रूप से अनुमोदन करने की आज़ादी रही है। धर्मसुधार आंदोलन के बाद जहाँ नैतिक प्राधिकार की भूमिका कम हुई, वहीं नैतिक चिंतन में व्यक्तिगत चुनाव और दायित्व के तत्व को मजबूती मिली। धर्मसुधार आंदोलन का प्रभाव बेहद गहरा था। इसलिए यह एक स्वाभाविक सी बात है कि व्यक्तिगत नैतिक स्वायत्तता के प्रोटेस्टेंट दृष्टिकोण का प्रभाव धर्मशास्त्र और नैतिक दर्शन से लेकर राजनीति तक फैला। इसने सामाजिक समझौता सिद्धांत के लिए एक बौद्धिक आधार उपलब्ध कराया। धर्मसुधार के बुनियादी सामाजिक विचारों के सामने आने के साथ ही किसी संस्था की श्रेष्ठता उसकी वैधता का आधार नहीं रह गयी। अब इस संदर्भ में हर व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किये जाने वाले विचारों को महत्त्व दिया जाने लगा। बहरहाल, स्वेच्छावाद और सामाजिक समझौता के अभाव के साथ ही वैध राज्य के विचारों ने उत्तम राज्य के विचारों की जगह ले ली और सत्रहवीं सदी के बाद अमूमन यह माना जाने लगा कि वैधता इच्छा की अवधारणा पर निर्भर है।

संत ऑगस्टीन के लेखन ने पश्चिमी सामाजिक चिंतन को निर्णायक रूप से स्वेच्छावाद की ओर मोड़ा। ऑगस्टीन ने अपने नैतिक सिद्धांत में सहमति और इच्छा के बीच गहरा जुड़ाव कायम किया। इस जुड़ाव के बिना सामाजिक समझौता सिद्धांत की कल्पना नहीं की जा सकती थी। लेकिन सामाजिक समझौता स्कूल के उभार से पहले राजनीतिक स्वेच्छावाद का सबसे विकसित रूप फ्रैंसिस्को सुरेज के लेखन में पाया जाता है। सुरेज के अनुसार मुक्त इच्छा और राजनीतिक सहमति एक-दूसरे के समानान्तर हैं। इच्छा को राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। सुरेज

ने अपने सिद्धांत को संक्षिप्त रूप में व्यक्त करते हुए यह टिप्पणी की कि 'आदमियों को एक पूर्ण समुदाय में संगठित करने के लिए मानव इच्छा आवश्यक है।'

आधुनिक समझौतावादी सिद्धांत में भी यह बात शामिल है कि सहमति द्वारा राजनीति को वैधता मिलती है, इसलिए दायित्व और प्राधिकार हर किसी की मूल आज़ादी और दायित्व के कारण उत्पन्न होते हैं। दरअसल, समझौतावाद पर काफ़ी हल्के तरीक़े से भी विचार किया जा सकता है। इस तरह के विचार में यह माना जाता है कि समझौतावाद ऐसे मध्ययुगीन विचारों का विस्तार है जिसमें शासकों और लोगों के बीच में हुए समझौते पर जोर दिया जाता है; या इसे एक ऐसे सिद्धांत के रूप में देखा जाता है जिसने राज्य की सीमाएँ तय की। लेकिन समझौतावाद पर इतने हल्के तरीक़े से विचार करने का नुक़सान यह है कि क्रिश्चियन विचारों के द्वारा राजनीतिक और नैतिक दर्शन में किये गये क्रांतिकारी विचारों का बहुत ही नाक़ाफ़ी विवरण मिलता है। इस तरह इसमें स्वायत्तता, दायित्व, कर्तव्य, प्राधिकरण और इच्छा जैसे नैतिक घटकों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

सत्रहवीं सदी से इच्छा पर आधारित सहमति को एक नैतिकता के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। ख़ास तौर पर हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों ने सामाजिक समझौता की अवधारणा को बहुत लोकप्रिय बना दिया। इन सभी लेखकों ने मनुष्यों की प्रकृति, प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौता और इसके बाद सम्प्रभु के निर्माण की एक पूरी कहानी पेश की। इसके द्वारा इन्होंने अन्य बातों के अलावा, इस बात को स्पष्ट किया कि राज्य का प्राधिकार व्यक्तियों की सहमति पर निर्भर होता है। मसलन, हॉब्स ने *लेवायथन* में इस बात पर जोर दिया कि मूल रूप से सभी सम्प्रभु अधिकार शासित होने वाले हर व्यक्ति की सहमति से उत्पन्न होते हैं। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि मनुष्यों की इच्छाएँ हर तरह के समझौते की बुनियाद हैं। इसी तरह लॉक यह मानते हैं कि 'स्वैच्छिक सहमति से ... गवर्नरों को राजनीतिक सत्ता मिलती है कि वे अपने सब्जेक्ट्स (या प्रजाजनों की भलाई के लिए काम करें।' इसी तरह से रूसो ने भी इस बात पर जोर दिया कि 'जिनसे मैंने कोई वायदा नहीं किया, उनके प्रति मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है ... नागरिक साहचर्य इस दुनिया में सबसे स्वैच्छिक कार्य है, चूँकि हर व्यक्ति इस दुनिया में स्वतंत्र पैदा होता है और खुद अपना मालिक होता है, इसलिए किसी भी आधार पर किसी को उसकी सहमति के बिना अपने अधीन नहीं किया जा सकता है।' यह कथन इस बात को दिखाता है कि किस तरह सहमति, समझौता और स्वेच्छावाद के विचार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कांट ने भी इस बात पर जोर दिया कि सभी वैध नियम ऐसे होने चाहिए कि तार्किक व्यक्ति उन्हें

अपनी स्वीकृति दे सकें। हीगेल ने भी स्पष्ट रूप से इस बात पर जोर दिया कि प्राचीन काल में व्यक्तिपरक साध्य राज्य की इच्छा के अनुरूप होते थे' लेकिन 'आधुनिक दौर में हम निजी फ़ैसले, निजी इच्छा और निजी अंतःकरण का दावा करते हैं।' जब सामाजिक फ़ैसला लिया जाता है, तो व्यक्ति के द्वारा खुद अपनी इच्छा अभिव्यक्त की जानी चाहिए।

अपने स्वेच्छावाद के बावजूद हीगेल ने राज्य के समझौतावादी सिद्धांत की तीखी आलोचना की। 1831 में उनकी मौत के बाद सामाजिक समझौता सिद्धांत काफ़ी हल्का पड़ गया। इसमें एक तरफ़ उपयोगितावाद और दूसरी ओर राज्य के ऐतिहासिक सिद्धांतों ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बीसवीं सदी के दूसरे भाग में यह विचार फिर से उभर कर सामने आया, ख़ासतौर पर रॉल्स ने अपनी किताब *अ थियर ऑफ़ जस्टिस* में इसे नये सिरे से सामाजिक प्रतिष्ठा दिलायी। उन्होंने अपने न्याय के सिद्धांतों को ऐसे सिद्धांतों के रूप में पेश किया जिन्हें अपने हितों को बढ़ावा देने की इच्छा रखने वाले स्वतंत्र व्यक्ति मूल स्थिति में स्वीकार करेंगे। इस मूल स्थिति में सभी लोग समान होते हैं। इसमें चुने गये सिद्धांत को हर व्यक्ति अपने साहचर्य की बुनियादी शर्तों को परिभाषित करने वाला मानता है।

आधुनिक दौर में हॉब्स, लॉक, रूसो के विचारों में सामने आये सामाजिक समझौता सिद्धांत ने इस बात को स्पष्ट किया कि राज्य किसी देवी-देवता या कुछ लोगों की मर्जी का नतीजा नहीं है, बल्कि यह सभी व्यक्तियों द्वारा किये गये समझौते का नतीजा है। इसमें सभी लोगों की समानता का विचार निहित है। कई मर्तबा इस आधार पर सामाजिक समझौते की आलोचना की जाती है कि यह ऐतिहासिक नहीं है और किसी ख़ास चिंतक की अपनी मनमर्जी और दिमागी ख़यालों की उपज है। हॉब्स, लॉक, रूसो और कांट जैसे सामाजिक समझौता का प्रयोग करने वाले चिंतकों की मूल आलोचना यही हुई कि कभी भी प्राकृतिक अवस्था का अस्तित्व नहीं था या कभी भी इस तरह का समझौता नहीं हुआ। इसलिए न तो नागरिक और न ही सरकार इससे बंधे हुए हैं। इस संदर्भ में ड्वॉर्किन का यह मानना है कि 'यह बात सही है कि काल्पनिक सहमति वास्तविक समझौते का धुंधला रूप है; या फिर यह कोई समझौता ही नहीं है।' लेकिन ड्वॉर्किन के अनुसार सामाजिक समझौता के तर्कों को हमें एक ऐसे साधन के रूप में देखना चाहिए जिससे लोगों की नैतिक समानता से जुड़े निश्चित नैतिक आधार-वाक्यों के अर्थ को समझा जा सकता है। प्राकृतिक अवस्था के विचार का सहारा लेने का मतलब यह नहीं है कि समाज के ऐतिहासिक निर्माण या सरकार और लोगों के ऐतिहासिक दायित्वों को स्पष्ट किया जा रहा है। दरअसल, इसका

उपयोग व्यक्तियों की नैतिक समानता का मॉडल बनाने के लिए किया जाता है।

एक सामाजिक समझौता सिद्धांत को भी, अन्य सिद्धांतों की तरह, इस आधार पर खारिज या स्वीकार किया जा सकता है कि इसके द्वारा पेश किये जाने वाले तर्क किस सीमा तक हमारे सहजबोध के अनुरूप हैं। स्पष्टतः इस आधार पर हॉब्स, लॉक, रूसो और रॉल्स की भी तीखी आलोचना की गयी है। लेकिन यह मनुष्यों की समानता और संस्थाओं की रूपरेखा और उत्तम जीवन की अवधारणाओं पर विचार करने के एक साधन के रूप में सामाजिक समझौते के महत्त्व को पूरी तरह खारिज नहीं करता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकिल ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकार और सरकारियत-1 और 2, सामाजिक समझौता।

संदर्भ

1. ई. बार्कर (1946), *द सोशल कांटेक्ट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. जे. प्लेमेंनात्ज़ (1938), *कंसेंट, फ्रीडम एंड पॉलिटिकल ऑब्ज़िगेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
3. माइकल ओकशॉट (1946), *इंट्रोडक्शन टू लेवायथन*, ऑक्सफ़र्ड, ब्लैकवेल, 1946।
4. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीतिक दर्शन : एक परिचय*, अनुवाद : कमल नयन चौबे, पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

साम्राज्यवाद

(Imperialism)

अपनी सीमाएँ लाँघ कर विदेशी धरती को फ़ौजी ताक़त से जीत कर अपने क़ब्ज़े में रखने वाले साम्राज्यों की कहानियों से विश्व-इतिहास भरा हुआ है। मिस्त्रियों, असीरियनों,

बेबीलोनियनों, रोमनों और मंगोलों ने इस तरह के बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े किये थे। लेकिन, साम्राज्य स्थापित करने की इस प्रक्रिया को आधुनिक अर्थों में साम्राज्यवाद की संज्ञा पंद्रहवीं सदी में मिली जब युरोपियन ताक़तों ने अपना विस्तार शुरू किया। साम्राज्यवाद का यह सिलसिला बीसवीं सदी के मध्य तक चला जब वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के तहत राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों और क्रांतियों की लहर ने इसका अंत कर दिया। साम्राज्यवाद के कारणों और उसकी संरचनाओं के बारे में मुख्य तौर पर पाँच तरह की व्याख्याएँ प्रचलित हैं : अनुदारतावादी, उदारतावादी, मार्क्सवादी, यथार्थवादी और समाज-मनोवैज्ञानिक। इनके बीच में काफ़ी मतभेद हैं।

सन् 1500 के आसपास स्पेन, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ़्रांस और हालैण्ड की विस्तारवादी कार्रवाइयों को युरोपीय साम्राज्यवाद का पहला दौर माना जाता है। इसका दूसरा दौर 1870 के आसपास शुरू हुआ जब मुख्य तौर पर ब्रिटेन साम्राज्यवादी विस्तार के शीर्ष पर था। अगली सदी में जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका उसके प्रतियोगी के तौर पर उभरे। इन ताक़तों ने दुनिया के विभिन्न हिस्सों में जीत हासिल करके अपने उपनिवेश क़ायम करने के ज़रिये शक्ति, प्रतिष्ठा, सामरिक लाभ, सस्ता श्रम, प्राकृतिक संसाधन और नये बाज़ार हासिल किये। साम्राज्यवादी विजेताओं ने अपने अधिवासियों को एशिया और अफ़्रीका में फैले उपनिवेशों में बसाया और मिशनरियों को भेज कर ईसाइयत का प्रसार किया गया। ब्रिटेन के साथ फ़्रांस, जापान और अमेरिका की साम्राज्यवादी होड़ के तहत उपनिवेशों की स्थापना दुनिया के पैमाने पर प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ का स्रोत बन गया। यही वह दौर था जब युरोपियनों ने अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के दम्भ के तहत साम्राज्यवादी विस्तार को एक सभ्यता के वाहक के तौर पर देखना शुरू किया।

साम्राज्यवाद की दूसरी लहर ने सबसे पहले अफ़्रीका को अपना शिकार बनाया। इस महाद्वीप की हुकूमतें युरोपियन फ़ौजों के सामने आसानी से परास्त हो गयीं। बेल्जियम के लिए हेनरी स्टेनली ने कोंगो नदी घाटी पर क़ब्ज़ा कर लिया, फ़्रांस ने अल्जीरिया को हस्तगत करके स्वेज नहर का निर्माण किया और उसके जवाब में ब्रिटेन ने मिस्र पर क़ब्ज़ा करके इस नहर पर नियंत्रण कर लिया ताकि एशिया की तरफ़ जाने वाले समुद्री रास्तों पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सके। इसी के बाद फ़्रांस ने ट्यूनीशिया और मोरक्को को अपना उपनिवेश बनाया। इटली ने लीबिया को हड़प लिया। लातीनी और दक्षिणी अमेरिका में मुख्य तौर पर स्पेन के उपनिवेश रहे। इन क्षेत्रों की कई अर्थव्यवस्थाओं की लगाम अमेरिका और युरोपीय ताक़तों के हाथों में रही।

एक तरफ़ उन्नीसवीं सदी में अफ़्रीका के लिए साम्राज्यवादी होड़ चल रही थी, और दूसरी ओर दक्षिण

एशिया पर प्रभुत्व जमाने की प्रतियोगिता भी जारी थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ब्रिटेन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ज़रिये भारत के बड़े हिस्से का उपनिवेशीकरण करके बेशक्रीमती मसालों और कच्चे माल की प्राप्ति शुरू कर चुका था। पूर्वी एशिया में हालाँकि चीन ने विदेशियों के लिए दरवाजे बंद कर रखे थे, पर अंग्रेज़ अफ्रीम की सप्लाई के ज़रिये चीन से बड़े पैमाने पर मुनाफ़ा कमाने में लगे हुए थे। पश्चिमी प्रभाव के सामने घुटने टेकने के बाद जापान दक्षिण-पूर्व एशिया और प्रशांत क्षेत्र में अपनी साम्राज्यवादी नीतियाँ चला रहा था।

साम्राज्यवाद की अनुदारतावादी व्याख्या का दावा है कि साम्राज्यवादी हुकूमतों ने अपने भीतरी सामाजिक संघर्षों को सीमित रखने के लिए साम्राज्यवादी विस्तार की नीतियाँ अपनाने की तरक्कीब अपनायी थी। सेसिल रोड्स और रुडयार्ड किपलिंग जैसे लेखकों की राय थी कि अगर ये राज्य ऐसा न करते तो उनके अपने देश में तत्कालीन समाज व्यवस्था को क़ायम रख पाना मुश्किल हो जाता। उदारतावादी व्याख्या की मुख्य दलील है कि साम्राज्यवादी देशों के भीतर धन-सम्पत्ति के बढ़ते हुए केंद्रीकरण के कारण वहाँ की साधारण जनता आमदनी की किल्लत (अंडर-कंजम्पशन) के दौर से गुज़र रही थी। जॉन हॉब्सन और नॉर्मन एंजिल जैसे व्याख्याकारों के मुताबिक़ अगर ये देश चाहते तो इस समस्या का समाधान अपने स्तर पर कर सकते थे। वे इस तरह की नीतियाँ अपना सकते थे जिनके तहत अमीरों का कुछ धन गरीबों के हाथ में पहुँच जाता। उनके सामने नये क़ानून बनाने का विकल्प भी था। पर उन्होंने ऐसा न करके साम्राज्यवादी विस्तार की नीति अपनायी ताकि उत्पादन की लागत घटा कर नये उपभोक्ता बाज़ार को हासिल कर सकें।

साम्राज्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्या मानती है कि उदारतावादियों का विश्लेषण मोटे तौर पर सही है, पर उनकी तजवीज़ें ठीक नहीं हैं। साम्राज्यवादी देशों में राज्य पूँजी के हितों की नुमाइंदगी करता है, न कि श्रम के हितों की। साम्राज्यवाद के प्रश्न पर मार्क्सवादी न केवल अन्य व्याख्याओं से बहस करते हैं, बल्कि खुद उनके बीच भी तीखी बहसें रही हैं। साम्राज्यवाद का सर्वाधिक प्रचलित मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिपादित करने का मुख्य श्रेय रूसी बोलशेविक क्रांति के जनक व्लादीमिर इलीच लेनिन को है। उन्होंने ऑस्ट्रियायी मार्क्सवादी अर्थशास्त्री रुडॉल्फ़ हिल्फ़र्डिंग की रचना *फ़ायनेंस कैपिटल* और अंग्रेज़ अर्थशास्त्री की जॉन ए. हॉब्सन की 1902 की रचना *इम्पीरियलिज़म : अ स्टडी* को आधार बनते हुए आर्थिक आयामों को केंद्रस्थ किया। लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था के तौर पर दिखाया और निष्कर्ष निकाला कि प्रथम विश्व-युद्ध नये बाज़ारों और निवेश के

अवसरों की पूँजीवादी देशों के बीच हुई होड़ का नतीजा था।

लेनिन ने अपनी रचना *इम्पीरियलिज़म, हाइएस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म* में साम्राज्यवाद के लक्षणों की सूची पेश की है : जिंसों के निर्यात के साथ-साथ साम्राज्यवाद के तहत पूँजी का निर्यात महत्वपूर्ण हो जाना, बड़े-बड़े ट्रस्टों या कार्टेलों में उत्पादन और वितरण का संकेंद्रण, बैंकिंग और औद्योगिक पूँजी का आपस में विलय हो जाना, पूँजीवादी ताक़तों द्वारा दुनिया को अपने-अपने प्रभुत्व क्षेत्रों में बाँट लेना, परिणामस्वरूप अगले दौर में पूँजीवादी ताक़तों द्वारा विश्व के पुनः विभाजन की सम्भावना पैदा हो जाना। आम तौर पर इन सभी लक्षणों में पूँजी के निर्यात वाले पहलू को ही प्रधान समझ कर साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत की समझ हासिल करने का दावा किया जाता है। दिलचस्प बात है कि हाल ही में कुछ विद्वानों द्वारा किये गये दावे के अनुसार लेनिन ने पूँजीवाद की अवस्था बताने के लिए जो रूसी शब्द इस्तेमाल किया है उसके मायने 'हाइएस्ट' के बजाय 'लेटेस्ट' ज़्यादा बैठते हैं। दरअसल, लेनिन द्वारा रचित दो अन्य लेखों ('ऑन द सो काल्ड मार्केट क्वेश्चन' और 'ए करेक्टराइज़ेशन ऑफ़ इकॉनॉमिक रोमांटिसिज़म') का हवाला दिये बिना साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत की समझ पूरी नहीं हो सकती। इन दो लेखों में लेनिन उदारतावादियों द्वारा प्रतिपादित अंडर-कंजम्पशन के सिद्धांत के मुक़ाबले मार्क्स द्वारा प्रवर्तित एकाधिकारी पूँजीवाद के दौर में विश्व स्तर पर पूँजी-संचय के सिद्धांत का बचाव करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में यथार्थवादी व्याख्या साम्राज्यवाद को मुख्यतः शक्ति-संतुलन की अभिव्यक्ति के तौर पर देखती है। हेंस मोरगेंथाउ के अनुसार साम्राज्यवाद उस प्रक्रिया का अंग है जिसके तहत विभिन्न शक्तियाँ यथास्थिति को अपने पक्ष में झुकाने की कोशिश करती हैं। साम्राज्यवाद के ज़रिये बड़ी ताक़तें अपने राज्य की राजनीतिक और सामरिक दुर्बलता को घटाना चाहती थीं। लेनिन की दलील की आलोचना करते हुए यथार्थवादी कहते हैं कि सभी पूँजीवादी देश साम्राज्यवादी नहीं थे, और सभी साम्राज्यवादी देश पूँजीवादी नहीं थे।

साम्राज्यवादी की व्याख्या कई तरह के समाज-मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के मुताबिक़ भी की गयी है। ये व्याख्याएँ जोसेफ़ शुमपीटर के विमर्श से प्रभावित हैं। शुमपीटर मानते थे कि साम्राज्यवाद एक ध्येयहीन गतिविधि थी ताकि राज्य की संस्था अपना ज़बरन असीमित विस्तार कर सके। वे इस गतिविधि को एक मनोभाव के रूप में देखते हैं जो साम्राज्यिक राज्यों को 'योद्धा वर्ग' की देन है। हालाँकि योद्धा वर्ग की रचना राज्य की विदेशी आक्रमणों से प्रतिरक्षा के उद्देश्य से हुई थी, पर उसने अपने निरंतरता बनाये रखने



सिक्किम : राजशाही से लोकतंत्र की ओर

के लिए साम्राज्यवाद का सहारा लिया।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद साम्राज्यवाद का प्रभाव तेज़ी से घटा। जर्मनी में नाज़ियों के उत्थान से इसे थोड़े समय के लिए फिर उछाल मिला, पर 1945 में विश्व-युद्ध के खात्मे के बाद से स्पष्ट हो गया कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय पर उपनिवेशवाद विरोधी रुझान हावी हो चुके हैं। अमेरिका और सोवियत संघ ने इस दौर में उपनिवेशवाद का जम कर विरोध किया और आत्म-निर्णय के उसूल का पक्ष लिया। युरोप की हालत इस समय तक पतली हो चुकी थी। वह दूर-दराज़ क्षेत्रों में फैले हुए उपनिवेशों की आर्थिक लागत उठाने की हालत में नहीं था। नवगठित संयुक्त राष्ट्र उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रवादी आंदोलनों के प्रभाव में अ-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर रहा था। नतीजे के तौर पर 1947 से 1980 के बीच में ब्रिटेन को क्रमशः भारत, बर्मा, घाना, मलाया और ज़िम्बाब्वे का क्रब्जा छोड़ना पड़ा। इसी सिलसिले में आगे डच साम्राज्यवादियों को 1949 में इण्डोनेशिया से जाना पड़ा और अफ्रीका में आखिरी औपनिवेशिक ताक़त के रूप में पुर्तगाल ने अपने उपनिवेशों को 1974-75 में आजाद कर दिया। 1954 में इंडो-चीन क्षेत्र और 1962 में अल्जीरिया के रक्तरंजित संघर्ष के सामने फ्रांस को घुटने टेकने पड़े। साठ के दशक में ही भारत के प्रांत गोवा से पुर्तगाल ने अपना बोरिया-बिस्तर समेटा।

जाहिर है कि पुराने क्रिस्म का साम्राज्यवाद खत्म हो चुका है। उसके कुछ अवशेष जरूर बाक़ी हैं। बरमूडा अभी

भी ब्रिटिश साम्राज्य का अंग है। बाक़ी सभी जगहों पर साम्राज्यवाद का यह रूप अपने दिन गिन रहा है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि साम्राज्यवादी प्रभुत्व की समस्या से दुनिया को छुटकारा मिल गया हो। शीत-युद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ ने विश्व को अपने-अपने प्रभुत्व वाले क्षेत्रों में कुछ इस तरह से बाँट रखा था कि विश्लेषक *पैक्स-ब्रिटानिका* की जगह *पैक्स-अमेरिकाना* और *पैक्स-सोवियतिका* की चर्चा करने लगे थे। विश्व की राजनीति में बहस इस बात की थी कि दोनों महाशक्तियों में से किसकी में साम्राज्यवादी क्षमता अधिक है या किसकी क्षमता गिरती हुई है और किसकी उभरती हुई है। सत्तर के दशक के बाद चीन के नेता माओ त्से-तुंग ने सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दे कर साम्राज्यवाद की समझ में एक नया आयाम जोड़ा। आज सोवियत संघ के पराभव के बाद माओ के इस सूत्रीकरण को तक्ररीबन भुला दिया गया है। दुनिया इस समय एक-ध्रुवीय है। अमेरिका सबसे बड़ी फ़ौजी ताक़त है, पर एक आर्थिक ताक़त के रूप में उसकी श्रेष्ठता संदिग्ध हो चुकी है। विकसित युरोपीय देश और एशिया में जापान उसके साथ कड़ी प्रतियोगिता कर रहे हैं। नयी उभरती हुई आर्थिक ताक़त के रूप में चीन भी इस होड़ में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने जा रहा है। प्रश्न यह है कि उपनिवेशवाद और शीत-युद्ध के खात्मे के बाद क्या विश्व में शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया से एक बार फिर ऐसी कोई ताक़त उभरेगी जिसकी तुलना अतीत की साम्राज्यवादी ताक़तों से की सके, और अगर ऐसा होगा तो उस साम्राज्यवाद का रूप क्या होगा?

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय संघ, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, शस्त्र-नियंत्रण, शांति, शांतिवाद, शीत-युद्ध, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. जे.ए. हॉब्सन (1965), *इम्पीरियलिज़म : अ स्टडी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, ऐन आरबर, एमआई.
2. वी.आई. लेनिन (1968), *इम्पीरियलिज़म एज़ द हाईएस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म*, फ़ॉरेन लेंग्वेज प्रेस, मास्को.
3. जे. स्नायडर (1991), *मिथ ऑफ़ : डोमैस्टिक पॉलिटिक्स ऐंड इंटरनेशनल एम्बोशन*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, एनवाई.
4. ए. बुअर (1980), *माक्सिस्ट थियरी ऑफ़ इम्पीरियलिज़म*, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सिक्किम

(Sikkim)

हिमालय की पहाड़ियों के बीच बसे सिक्किम का भारत में विलय 16 मई, 1975 को हुआ था। इससे पहले सिक्किम पर विदेशी मामलों, राजनय, रक्षा और संचार के संबंध में भारत का नियंत्रण था, लेकिन अन्य मामलों में सिक्किम प्रशासनिक रूप से एक स्वायत्त राज्य था जिस पर उसके शासक चोग्याल की हुकूमत थी। भारत में पूर्ण विलय के बाद से सिक्किम की राजनीति में क्षेत्रीय दलों का वर्चस्व रहा है। यहाँ तुलनात्मक रूप से शांति और व्यवस्था कायम रही है और विकास भी हुआ है। सिक्किम के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ उत्तर-पूर्व के अधिकांश राज्यों की तरह कोई विद्रोही गतिविधि नहीं चल रही है और न ही यहाँ ऑफ़स्प्या (आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पॉवर एक्ट-1958) लागू है। ये दोनों ही बातें इस राज्य के शांतिपूर्ण माहौल की ओर इशारा करती हैं।

सिक्किम की राजधानी गांतोक है। इसके पश्चिम में नेपाल, उत्तर और पूर्व में चीन का स्वायत्तशासी क्षेत्र तिब्बत, दक्षिण-पूर्व में भूटान और दक्षिण में पश्चिम बंगाल स्थित है। सिक्किम का भौगोलिक क्षेत्रफल 7,096 वर्ग किमी है और इस लिहाज से यह भारत का सत्ताईसवाँ बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 6,07,688 है। इस लिहाज से यह भारत का सबसे छोटा राज्य है। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 85.6 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। सिक्किम भारत में सबसे कम जनसंख्या घनत्व वाला राज्य है। यहाँ की साक्षरता दर 76.6 प्रतिशत है और साक्षरता के लिहाज से भारत में इसका स्थान सातवाँ है। सिक्किम में एक हजार पुरुषों पर 889 महिलाएँ हैं। यहाँ की विधायिका एकसदनीय है जिसमें कुल 32 सदस्य होते हैं। इन 32 सीटों में से 12 सीटें भूटिया लेपचा समुदाय के लोगों के लिए और दो सीटें अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित हैं। यहाँ से लोकसभा का एक और राज्यसभा का एक सदस्य चुना जाता है। यहाँ की राजकीय भाषाओं में नेपाली, भूटिया, लेपचा, लिम्बू, नेवारी, राय, गुरूंग, मंगार, शेरपा, तमांग, और सुनवार शामिल हैं।

सिक्किम में नेपाली जातीय मूल के लोगों का बहुमत है। मूल सिक्किमी लोगों में भूटिया और लेपचा शामिल हैं। भूटिया चौदहवीं सदी में तिब्बत के खाम ज़िले से यहाँ आये

थे, जबकि माना यह जाता है कि लेपचा दूर पूर्वी भाग से यहाँ आये थे। राज्य के उत्तरी और पूर्वी भागों में तिब्बती लोग रहते हैं। इसके अलावा यहाँ बिहारी, बंगाली और मारवाड़ी समुदायों के भी लोग हैं जो मुख्य रूप से दक्षिणी सिक्किम और गांतोक में बसे हुए हैं। जनसंख्या का कुल 60.93 प्रतिशत लोग हिंदू हैं। बौद्ध धर्म सिक्किम का दूसरा सबसे बड़ा धर्म है। 28.2 प्रतिशत जनसंख्या बौद्ध धर्म को मानती है। इसके अलावा यहाँ ईसाई, मुसलमान और जैन भी हैं।

ऐतिहासिक रूप से सिक्किम सांस्कृतिक रूप से नेपाल और तिब्बत के ज़्यादा नजदीक है। 1642 में तिब्बत के एक संत खेये बैमसा के पाँचवीं पीढ़ी के वंशज फुंटसोग नामग्याल ने यहाँ राजतंत्र की स्थापना की। यहाँ के शासक को चोग्याल या पुरोहित-नरेश के रूप में जाना गया। चोग्याल राजाओं को अक्सर भूटानी या नेपाली शासकों के हमलों का सामना करना पड़ता था। भारत में अंग्रेज़ी शासन की शुरुआत होने पर सिक्किम ने दुश्मनों से बचने के लिए अंग्रेज़ों से समझौता कर लिया। लेकिन 1853 में अंग्रेज़ों ने सिक्किम के एक ज़िले दार्जिलिंग और मोरांग को ब्रिटिश भारत में मिला लिया। इसके बाद चोग्याल नाममात्र का शासक रह गया। अंग्रेज़ों ने उस पर नज़र रखने और अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए यहाँ अपना गवर्नर भी नियुक्त कर दिया। 1890 में सिक्किम ब्रिटेन का प्रोटेक्टोरेट (संरक्षित राज्य) बन गया। 1947 में भारत के आज़ाद होने के समय सिक्किम ने भारत में विलय के प्रस्ताव को नकार दिया। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू सिक्किम को विशेष प्रोटेक्टोरेट की हैसियत देने पर सहमत हो गये। इसके बाद सिक्किम की विदेश नीति, राजनय, रक्षा और संचार भारत के नियंत्रण में आ गये, लेकिन अन्य मामलों में सिक्किम प्रशासनिक रूप से स्वायत्त बना रहा। चोग्याल शासक के अंतर्गत संवैधानिक सरकार की इजाज़त देने के लिए एक राज्य परिषद् की स्थापना की गयी।

इस बीच सिक्किम नेशनल कांग्रेस ने नये चुनाव और सिक्किम में नेपालियों को ज़्यादा प्रतिनिधित्व देने की माँग की। उस समय के चोग्याल पालडेन थॉनडुप नामग्याल लोगों में बहुत अलोकप्रिय थे। 1973 में चोग्याल के महल के सामने हुए दंगों के कारण उन्हें भारत से सुरक्षा देने की माँग करनी पड़ी। 1975 में सिक्किम के प्रधानमंत्री ने यह अपील की कि सिक्किम को औपचारिक रूप से भारत का राज्य बना दिया जाए। अप्रैल, 1975 में भारतीय सेना ने गांतोक में प्रवेश करके चोग्याल के महल के सुरक्षा घेरे को हस्तगत कर लिया। एक जनमत संग्रह कराया गया जिसमें 97.5 प्रतिशत लोगों ने भारतीय संघ में शामिल होने और राजतंत्र को खत्म करने के पक्ष में मत दिया। सिक्किम को भारतीय संघ में शामिल करने के लिए भारतीय संसद ने पैतीसवाँ संविधान संशोधन किया। इसे सहायक राज्य (या एसोसिएट स्टेट) का



गुरु नानक देव (1469-1539) और मुसलमान रबाबी भाई मरदाना (बायें)

काष्ठशिल्प

दर्जा दिया गया। बाद में छत्तीसवें संविधान संशोधन द्वारा पैंतीसवें संविधान संशोधन को खत्म करके सिक्किम को भारत के पूर्ण राज्य का दर्जा मिला।

सिक्किम के एक अलग राज्य बनने के बाद कांग्रेस के काजी लेहडुप दोरजी यहाँ के पहले मुख्यमंत्री बने। वे मई, 1975 से अगस्त, 1975 तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। अगस्त, 1979 से अक्टूबर, 1979 तक राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा रहा। इसके बाद राज्य की राजनीति में नर बहादुर भण्डारी का उभार हुआ। भण्डारी ने 1977 में सिक्किम जनता परिषद् (एसजीपी) की स्थापना की। इस पार्टी ने 1979 के विधानसभा चुनावों में जीत हासिल की और भण्डारी राज्य के मुख्यमंत्री बने। वे मई, 1984 तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद कुछ समय के लिए (11 मई, 1984-25 मई, 1984) कांग्रेस के भीम बहादुर गुरंग मुख्यमंत्री बने। फिर 25 मई, 1984 से 8 मार्च, 1985 तक राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा रहा। 1985 में हुए विधानसभा चुनावों में नर बहादुर भण्डारी ने अपनी नयी पार्टी सिक्किम संग्राम परिषद् (एसएसपी) के बैनर तले चुनाव लड़ा। भण्डारी की पार्टी को बहुमत मिला और वे फिर राज्य के मुख्यमंत्री बने। अगले चुनावों में भी इनकी पार्टी जीती और वे मुख्यमंत्री बने। इस तरह वे मार्च, 1985 से 17 जून, 1994 तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। जून, 1994 में सिक्किम संग्राम परिषद् में ही भण्डारी के खिलाफ असंतोष हो जाने के कारण उनकी सरकार गिर गयी, और एसएसपी के ही संचामन लिम्बू (जून, 1994-दिसम्बर, 1994) मुख्यमंत्री बने। दरअसल, भण्डारी के कई सहयोगियों को उनके तथाकथित तानाशाही रवैये से नाराजगी थी। इसके कारण उनके एक कैबिनेट सहयोगी पवन कुमार चामलिंग ने 1993 में कैबिनेट से इस्तीफा देकर

सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट (एसडीएफ) का निर्माण किया। 1994 में हुए विधानसभा चुनावों में इस पार्टी को जीत मिली और इसके बाद चामलिंग राज्य के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद से हुए हर चुनावों में चामलिंग की पार्टी की लगातार जीत हासिल हुई है और उस समय से लेकर अब तक चामलिंग ही राज्य के मुख्यमंत्री हैं।

सिक्किम राज्य के गठन के बाद से ही यहाँ राजनीति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि

राष्ट्रीय दल यहाँ अपनी जड़ नहीं जमा पाये हैं। कांग्रेस ने यहाँ दो बार अपनी सरकार बनायी लेकिन वह यहाँ की राजनीति में मजबूती से पैर नहीं जमा पायी। भाजपा या अन्य राष्ट्रीय दलों की यहाँ कोई खास मौजूदगी नहीं है। स्पष्टतः यहाँ की जनसंख्या के एक बड़े हिस्से के हिंदू होने के बावजूद भाजपा की हिंदुत्ववादी राजनीति यहाँ नहीं चल पायी। दूसरा, यहाँ की राजनीति पर अमूमन क्षेत्रीय दलों का वर्चस्व रहा है। 1994 से पहले नर बहादुर भण्डारी ने पहले सिक्किम जनता परिषद् (1984 तक) और फिर सिक्किम संग्राम परिषद् (1984-1994) के माध्यम से अपना वर्चस्व कायम रखा। वही, 1994 से राज्य की राजनीति में सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट और इसके नेता पवन कुमार चामलिंग का वर्चस्व है। तीसरा, सिक्किम की राजनीति की एक मुख्य विशेषता यह है कि यहाँ पर 1994 के बाद सत्ताधारी दल के पक्ष में एक तरह का रुझान रहा है। इसका मुख्य उदाहरण राज्य में हुए पिछले दो विधानसभा चुनाव हैं। जहाँ 1994 में चामलिंग की पार्टी को 32 में से 31 सीटों पर जीत मिली, वहीं 2009 के विधानसभा चुनावों में इनकी पार्टी ने सभी 32 सीटों पर जीत हासिल की। इसका मुख्य कारण चामलिंग का कुशल नेतृत्व भी है। उनके मुख्यमंत्रित्व में पिछले तक्ररीबन 18 सालों में राज्य ने हर मोर्चे पर प्रगति की है। यही कारण है विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) द्वारा पिछले दो चुनावों में किये गये सर्वेक्षणों में तक्ररीबन तीन-चौथायी मतदाताओं ने राज्य सरकार के काम के प्रति अपना संतोष जाहिर किया।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पंजाब, पश्चिम बंग, बिहार, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, राजस्थान, हरियाणा।

संदर्भ

1. रंजन गुप्ता (1975), 'सिक्किम : द मर्जर विद इण्डिया', *एशियन सर्वे*, सितम्बर, खण्ड 4, अंक 9.
2. एन. राम (1975) 'सिक्किम स्टोरी : प्रोटेक्शन टू एब्जॉर्प्शन', *सोशल साइंटिस्ट*, सितम्बर, खण्ड 3, अंक 2.
3. बनस्मिता बोरा (2009), 'सिक्किम : अ प्रो-इंकम्बेंसी फैक्टर', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस 2004 एंड बियांड*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

सिक्ख धर्म और गुरु नानक

(Religion of Sikhs and Guru Nanak)

सिक्ख धर्म के संस्थापक, संत कवि और समाज-सुधारक गुरु नानक देव (1469-1539) ने पारम्परिक शिक्षा, कर्मकाण्ड और प्रपंच की कड़ी आलोचना करते हुए अपना संदेश दिया। नानक बाणी का बुनियादी रुख उनके भाषाई चुनाव में निहित है। उन्होंने परमात्मा के संधान को बोलचाल की पंजाबी में व्यक्त किया। हालाँकि करीब ढाई सौ साल पहले हुए बाबा शेख फ़रीद का कलाम पंजाबी में मिलता है, लेकिन नानक बाणी ने अपनी गहन, विस्तृत और विधिवत रागात्मकता से पंजाबी को बोलचाल से ऊपर उठा कर वैचरिकता से भरपूर भाषा में बदल दिया। इसी भाषाई चुनाव का अगला पड़ाव है जन-साधारण के जीवन का मर्म सहेजना और उनके रूहानी अधिकारों की वकालत करना। इसी नज़रिये के आधार पर नानक ने तत्कालीन दौर के हुक्मरानों और धर्माधिकारियों का तीखा प्रतिकार किया। लोक-प्रचलित काव्य रूप 'वार' (जिसमें योद्धाओं के शौर्य और पराक्रमी कृत्यों का वर्णन होता है) को नानक ने मनुष्य के अंतःकरण में चल रहे युद्ध की अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल किया, जैसे 'आसा दीवार'। 'माझ दी वार' अपने दौर के अन्याय पर बेबाक टिप्पणी है। नानक के इस रुख का शिखर 'बाबरवाणी' के शीर्षक के तहत संकलित चार शब्दों की रचना में हासिल है। सिक्ख स्टडीज़ के डब्ल्यू.एच. मैक्लियोड जैसे विद्वान गुरु नानक को केवल आत्मिक अनुभूति के रस में सराबोर संत परम्परा की सीमा में ही आँकते हैं। उनकी निगाह में नानक बाणी में ऐसे शब्द लगभग अपवाद ही हैं। वहीं पंजाबी मार्क्सवादी विद्वान किशन सिंह ने गुरु बाणी में और विशेष तौर पर नानक बाणी में सामाजिक संघर्ष की उस केंद्रीयता को स्थापित किया है जो 'नाम' और 'माया' के परस्पर विरोधी संकल्पों पर आधारित है।

नानक का जन्म लोधी वंश के शासन दौरान आज के पाकिस्तान में स्थित गाँव राय भोयं दी तलवंडी गाँव (ननकाणा साहिब नाम से मशहूर) में 1469 सत् में गुरु नानक का पटवारी कालू मेहता के घर माता तृप्ता की कोख से हुआ। बड़ी बहन का नाम नानकी था, इसलिए भाई का नाम नानक रखा गया। बचपन से ही नये सवालियों में दिलचस्पी रखने वाले नानक की शादी बटाला में माता सुलक्खनी से हुई जिससे दो पुत्र श्री चंद और लखमी चंद पैदा हुए। नानक ने सुलतानपुर के नवाब दौलत खान लोधी के मोदीखाने में नौकरी की और गहन अध्ययन जारी रखा। इसकी झलक उनकी बाणी में समाविष्ट अपने समय की प्रशासनिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मसलों के प्रति गहरी

जानकारी से मिलती है। पंद्रहवीं सदी के आखिरी सालों में वेई नदी में स्नान के समय हुई गहन अनुभूति को नानक का रूहानी साक्षात्कार माना जाता है। नानक ने 'सोदरू' के ज़रिये परमात्मा के सान्निध्य का वर्णन किया है। विशाल जीवनानुभव और वैचारिक माधुर्य को अंगीकार करने वाले गुरु नानक ने 1539 में करतारपुर में आखिरी साँस ली और भाई लहणा को गुरु अंगद कह कर सिक्ख धर्म के संस्थागत निर्माण की शुरुआत की।

उत्तर भारत और खास कर पंजाब में यह दौर सामाजिक गतिहीनता, वैचारिक जड़ता और राजनीतिक-प्रशासनिक अव्यवस्था का था जिसकी बुनियाद जमीन से मालिया उगाहने पर टिकी हुई थी। इस समय तक ज़मींदारी व्यवस्था मज़बूती से जम चुकी थी। सत्ताधारियों में जनता के प्रति तिरस्कार था। हिंदुओं में जातिवाद और अस्पृश्यता का बोलबाला था। औरतों की सामाजिक दुर्दशा थी और धार्मिक पाखण्ड के पैर जम चुके थे। अपने शासन के अंतिम वर्षों में समाज और प्रजा से कटे हुए लोधी हाकिम उत्तर-पश्चिम से होने वाले बाबर के हमलों के सामने बहुत कमजोर थे। यह दो साम्राज्यों के बीच संक्रमण का समय भी था। नयी परिस्थितियों, नये अनुभवों और हिंसा के आधिक्य ने भी अपना गहरा असर छोड़ा। ऐसे समय में गुरु नानक ने शासक वर्ग को लगातार अपने निशाने पर रखा जिसका दूरगामी असर सिक्ख धर्म की संस्थाओं के विकास पर पड़ा।

अपने रूहानी अनुभव और सामाजिक-आध्यात्मिक पथ पर बढ़ते हुए नानक की चार महा-यात्राओं का पंजाबी मानस गढ़ने में मिसाली योगदान है। राग में रची वाणी और भाई मरदाना (जो मुसलमान रबाबी थे) की सोहबत के साथ जंगल-पहाड़, थल-डूंगर, बस्तियों और नये भौगोलिक खिंटों में गुरु नानक का पहुँचना आज तक पंजाब के वैचारिक स्पेस में प्रतिमान की तरह स्थित है। इन महा-यात्राओं को सिक्ख पंथ में उदासियाँ कहा जाता है। गुरु नानक वाणी इन यात्राओं का स्मरण भी है। मसलन उन की महान कृति *आरती* जगन्नाथ पुरी में हो रही आरती में हिस्सा लेने से मना करने पर उकेरी गयी। ऐसी ही यात्रा से लौटते हुए भाई मरदाना चल बसे तो उन्हें गुरु नानक ने ही आज के पाकिस्तान के सीमांत प्रदेश में दफनाया। आज तक मुसलमान रबाबी गुरुबाणी के कीर्तन के प्रति समर्पित हैं।

गुरु नानक के संघर्ष का अगला चरण उन संन्यासियों, जोगियों, सिद्धों, जैन मुनियों, काज़ियों और पंडितों की आत्मिक-धार्मिक आलोचना में दिखता है जो सामाजिक परजीविता, श्रम से अलगाव और सत्ता के सान्निध्य में अपनी मुक्ति का दर्शन बघार रहे थे। 'सिद्ध गोष्टि' और 'रामकली की वार' आदि कुछ ऐसी ही रचनाएँ हैं। दूसरे, गुरु नानक ने संन्यासी विरक्ति को गार्हस्थ्य धर्म में धारण करने पर बल दिया। 'ग्रहस्थ महि उदासा' रहने को उन्होंने उत्तम माना।

करतारपुर बसाते हुए की गयी उनकी रचना 'जपुजी' में नानक के प्रौढ़ चिंतन का प्रमाण मिलता है। जिसे गुरुवाणी की कुंजी भी कहा जाता है। इसका रचना प्रबंध कड़क्क शैली का है जिसे विद्वानों ने दस कोटियों में बाँट कर देखा है। इसमें सिक्ख धर्म के मूलभूत सिद्धांतों जैसे नाम, हुकम, विस्माद, रज़ा इत्यादि से गुज़रते हुए आत्मिक साधना के पाँच पड़ावों को खण्ड कहा गया है : धर्मखण्ड, ज्ञानखण्ड, सर्म खण्ड, करम खण्ड और सच खण्ड। जिज्ञासु साधक इन खण्डों से गुजरता हुआ स्थूलता से सूक्ष्म की तरफ बढ़ता है। सूत्रिक शैली की इस रचना की सहज ताल, उसका भाषाई कौशल और अर्थ विस्तार इसे टीकाकारों के लिए चुनौती बना देते हैं। 'इहलोक' में कूड़ की शृंखला तोड़ना हर सिक्ख के लिए अनिवार्य है और ऐसा करके ही वह 'साचा' होने से भी आगे 'सचु आचार' का वाहक बन सकता है। यही गुरु नानक का शब्द है। इसी रुख से सिक्ख धर्म के नैतिक सदाचार और राजनीतिक अवधारणाओं का उद्भव होता है जिनके इर्द-गिर्द तवील अध्ययन हो रहे हैं और सामाजिक सर्गमियाँ बनी हुई हैं।

अपनी उदासियों के बाद गुरु नानक ने डेरा बाबा नानक के नज़दीक ही करतारपुर गाँव बसाया और स्वयं खेती करनी शुरू की। श्रम और सामाजिकता की बुनियाद पर खड़ी हो रही संगत ने यहीं बसेरा किया और सामूहिक लंगर की प्राप्ति आरम्भ हुई। शाम को गुरुवाणी कीर्तन होता और शब्द विचार भी। इस लिहाज़ से करतारपुर में सिक्ख धर्म की संस्थाओं की सर्वप्रथम स्थापना हुई। संगत-पंगत-लंगर-कीर्तन आदि को यहाँ अभ्यास में उतारा गया। इसी जगह लहणा (बाद में दूसरे गुरु अंगद देव) और सिक्ख इतिहास में भाई बुद्धा के नाम से मशहूर होने वाली हस्तियाँ संगत में शामिल हुईं। गुरु नानक ने सिक्ख सिद्धांत का वैचारिक चौखटा बड़े परिश्रम से तैयार किया जिससे परवर्ती गुरुओं के लिए ज़मीन तैयार हुई। इसी के आधार पर बाद में तत्कालीन दौर के मुताबिक नये अर्थ भरते हुए सिक्ख सिद्धांत का नवीकरण भी हुआ और परिपक्वता भी बरकरार रह सकी। गुरु नानक से जुड़ी हुई जन्म साखी परम्परा में सब से प्राचीन पुरातन जन्म-साखी को माना जाता है जो सोलहवीं शताब्दी से संबंध रखती है। विद्वानों की एक जमात असली गुरु नानक की तलाश को तथ्यात्मकता तक घटा देती है और जन्म-साखी परम्परा में मिलने वाले उनके जीवन के विवरण को सच-झूठ तक ले आती है। 'इतिहास में' गुरु नानक से ज्यादा वह 'इतिहास के गुरु नानक' पर केंद्रित होते हुए उन्हें संत परम्परा की कड़ी का पंजाबी संत साबित करती है। मैक्लडोड इस मत के प्रस्तावक है और उन्होंने इन विषयों पर लम्बे समय तक काम करके सिक्ख स्टडीज़ के उप-अनुशासन को सुदृढ़ किया और परवर्ती विद्वानों का सिलसिला पैदा किया। इस मत के बरक्स ऐसे समाजशास्त्री और साहित्यालोचक सामने आये जो जन्म-साखियों की

तथ्यात्मकता से ज्यादा उन में दर्शाए गुरु नानक के बिम्ब से तात्कालिक संगत के सामाजिक आधार, विचारधारा और आस्था का आकलन करते हैं। इसी प्रक्रिया में इसलामी विचारों से गुरु नानक का साक्षात्कार काफ़ी जटिल और विस्तृत रूप में उभरता है। ऐसे विद्वानों में निहार रंजन राय, जे.पी.एस ओबराय, किशन सिंह और सुरजीत हांस इत्यादि शामिल हैं।

गुरु नानक के अवसान के बाद हुए विकास में एक अहम मुकाम वह है जब दूसरे गुरु अंगद देव ने पंजाबी लिखने के लिए गुरुमुखी लिपि को प्रामाणिकता दी और खडूर में संगत को संगठित किया। गुरु अमर दास ने गोइंदवाल बसाया। रस्मों के निर्वाह के लिए ब्राह्मणी पूजा पद्धति के स्थान पर वाणी रचना की जिसकी मिसाल 'आनंद साहब' में मिलती है। बढ़ती जा रही संगत को संगठित करने के उद्देश्य से मंजीयाँ और उनके मंजीदार नियुक्त किये जो बाद में मसंद कहे जाने लगे। इसी के साथ सिक्ख पंथ ने जन-हित में कुएँ खुदवाने और सराय बनवाने जैसे गतिविधियाँ भी अपनाईं। चौथे गुरु राम दास ने चक रामदास (अमृतसर) बसाया और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही संगत संगठित करने के लिए अमृतसर को केंद्रीय स्थान बनाया। पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने संकलित बाणी को और भक्तों और सूफ़ियों की रचनाओं को सम्पादित करके आदि ग्रंथ सम्पूर्ण किया जिसका प्रकाश हरिमंदिर साहिब में किया गया। यही समय अकबर के बाद जहाँगीर के बादशाह बनने का भी था। सिक्खों की आपसी धड़ेबंदी, मुगल शहजादों में तख़्त के लिए होड़ और 'नयी किताब' का आगमन— इन सब ने मिलकर गुरु अर्जुन की शहादत में भूमिका निभायी। इसी दौर में जट्ट समुदाय पशुचारी कबीलों से निकल कर खेतीबाड़ी की जिंदगी अपना चुका था, पर वर्ण-व्यवस्था में वह कहीं न था। मुगल साम्राज्य द्वारा की जाने वाली ज़मीनी कर की माँग से असंतुष्ट जाट सिक्ख पंथ में शामिल होने लगे। गुरु हरिगोबिंद ने इसी दौर में मीरी (दुनियावी) और पीरी (आध्यात्मिक) सम्प्रभुता की तलवारें धारण कीं, अकाल तख़्त स्थापित किया, ढाड़ीयों से वीर रस में वारों के गायन की माँग की और सिक्खों की एक फ़ौजी टुकड़ी खड़ी करनी शुरू की। गुरु हरि राय और हरिकृष्ण क्रमशः सातवें और आठवें गुरु स्थापित हुए और मुगलों से टक्कर के चलते सिक्ख पंथ को अमृतसर और माझा इलाके में अलग-अलग किया गया। इसकी एक वजह यह भी थी कि बाबा पिरथी चंद के वंशज अमृतसर पर अपना क़ब्ज़ा के चलते संगत से गुरुओं का राबिता काफ़ी क्षीण हो चला था। ऐसे में गुरु तेग बहादुर नवें गुरु-स्थापित हुए। संगत को पुनःसंगठित करने के लिए उन्होंने लम्बे दौर किये, जनहित के काम शुरू किये गये और मुगलों से दूरी रखते हुए पहले कीरतपुर और बाद में आनंदपुर साहिब बसाये गये। अपनी इन सांगठनिक

कार्यवाहियों के चलते उन्हें 1675 में दिल्ली के चाँदनी चौक में शहीद कर दिया गया। उस समय उनके पुत्र गोबिंद राय सिर्फ़ नौ साल के थे। इस विचार-यात्रा और सांगठनिक-सामाजिक पहलकदमियों में गुरु नानक निर्मित पंथ की एकता और विभिन्न स्वरूपों में ढलने की क्षमता को कुछ अध्ययनकर्ता विचलन, राजनीतीकरण या सैन्यीकरण कहते हैं। दूसरी तरफ़ गुरु नानक की बाणी में प्रस्तुत राजनीतिक विवेक इन परिस्थितियों को अंगीकार करते हुए ज्ञानातीत रूप से इनके परे जाने की सम्भावना लिए हुए है। 1699 के बैसाख में खालसा की साजना इसी वैचारिक परिपाटी का विस्तार है, अंत नहीं।

देखें : खालसा पंथ।

संदर्भ

1. *आदि ग्रंथ*, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर.
2. जे.पी.एस. ओबराय (1999), *रिलीजन, सिविल सोसाइटी ऐंड द स्टेट : ए स्टडी ऑफ़ सिक्खिज़म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. जे.एस. गरेवाल (1969), *गुरु नानक इन हिस्ट्री*, गुरु नानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर.
4. सुरजीत हांस (1988), *अ रिकंस्ट्रक्शन ऑफ़ सिक्ख हिस्ट्री फ़्रॉम सिक्ख सोसैज़*, एबीएस पब्लिशर्स, जालंधर.

— सुमेल सिंह सिद्ध

सिद्ध-नाथ परम्परा

(Siddh-Nath Tradition)

हिंदी साहित्य के आदिकाल का आरम्भ विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी से माना जा सकता है। अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का यह संधिकाल अपने बहुलार्थक रूप में संक्रांतिकाल है। यहाँ अपभ्रंश और हिंदी का अद्भुत मिश्रण एवं सामंजस्य घटित होता दिखाई पड़ता है। बौद्ध धर्म के वज्रयानी सिद्धों द्वारा रचित साहित्य इसी संक्रांतिकाल की देन है। धार्मिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में बौद्ध धर्म का विकास हुआ और इसी धर्म की महायान शाखा में वैयक्तिक साधना के स्थान पर सामूहिक करुणा और लोकमंगल की भावना को महत्त्व मिला। यह महायान शाखा जनता की चित्तवृत्तियों को आत्मसात करने में समर्थ होकर जनप्रिय हुई। वैदिक और बौद्ध-जैन धाराओं के बीच समय-समय पर विचारों का संघर्ष होता रहा है। शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट जैसे दार्शनिकों ने अपने-अपने तरीके से वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रयास किया, लेकिन वे जनता के हृदय में बस गये बौद्ध प्रभाव को हटा नहीं सके। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य का अद्वैतवाद अपनी शुष्क-जटिल दर्शन चर्चा के कारण जनता के मन में प्रवेश नहीं कर पाया। जनता महायान शाखा की ओर निरंतर उन्मुख हुई। इसी महायान शाखा ने आगे चल कर

वज्रयान समुदाय के रूप में धर्म साधना का सहज-सुगम मार्ग प्रस्तुत किया।

धीरे-धीरे अपने ही विरोधी शैवधर्म से प्रभावित होकर महायान शाखा के वज्रयान सम्प्रदाय में तंत्र, मंत्र, गुह्य साधना, महासुखवाद आदि तांत्रिक प्रकृतियों को स्थान मिलने लगा। इस प्रकार शैवधर्म वज्रयान सम्प्रदाय से समझौता-प्रेम संगति करते हुए एक-दूसरे में समाते गये। अनेक तांत्रिक प्रवृत्तियों के समावेश के कारण बौद्ध धर्म में देहवाद, व्यभिचारवाद, विकृत नारी भोगवाद, मद्यपान, मैथुन आदि प्रकृतियों ने स्थाई आसन जमा लिया। भैरवी चक्र के रूप में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा का संसार सक्रिय होकर आगे बढ़ा। लेकिन सदाचार प्रधान बौद्ध धर्म विकृत होने के बावजूद जनता को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा, क्योंकि उसके मूल में जन-साधारण को जीने की राह दिखाई देती थी। ईसा की छठी शताब्दी के बाद लगभग पूरे देश में तांत्रिक उपासकों की संख्या इतनी तेजी से बढ़ी थी कि उसने जिसने सभी सम्प्रदायों को, चाहे वे भागवत धर्म के हों या शैवधर्म के, सभी को अपने आगोश में ले लिया था। इस दौर के तुरंत बाद सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक वज्रयान सम्प्रदाय ने अनेक रूप धारण किये और वह निरंतर बदलता रहा। मंत्रों से सिद्धि प्राप्त करने वाली युक्तियों का प्रचार करने वाले वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्ध साधक 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपने सामाजिक-धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार तत्कालीन लोक भाषा में किया, जिसे मगधी अपभ्रंश या विकसित 'मगही' भाषा कहा गया। 'इन सिद्धों' की संख्या चौरासी मानी जाती है। उनमें अनेक सिद्ध अच्छे कवि थे जिन्होंने काव्य के माध्यम से अपने सिद्धांतों का प्रसार-प्रचार किया। इनमें सरहपा, शबरपा सुसुकुपा, लुइपा, विरूपा, टारिकपा, औम्बिपा, गुंडरीपा, कुक्करिपा, कण्हापा, गोरक्षपा और तिलोपा के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन सिद्धचार्यों-कवियों में समाज के सभी वर्णों और व्यवसायों के लोग सम्मिलित थे। जाति या वर्ण भेद और वर्गभेद की अवहेलना करते हुए इन सिद्धों ने सामाजिक क्षेत्रों में वैचारिक क्रांति की। इन्होंने वज्रयान-सम्प्रदाय के सिद्धांतों को समयानुरूप ढाला और उनका परिष्कार करते हुए नया भाष्य प्रस्तुत किया। इनके ही भगीरथ प्रयासों से वेद विरोधी होने के बावजूद बौद्ध धर्म में ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई। आरम्भ में तो खैर इनकी धर्म-कर्म-साधना में मांस-मदिरा और मैथुन का अधिक प्रयोग हुआ, लेकिन समाज-समय के प्रभाव दबाव से इन तीनों का प्रयोग कम होता गया। इन सिद्धों ने सहज मार्ग अपनाकर जीवन के भोगों को अपनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

इन सिद्धों की कृतियों की खोज करते हुए हर प्रसाद शास्त्री, प्रबोधचंद्र बागची, राहुल सांकृत्यायन ने समाज का

ध्यान इनकी ओर आकृष्ट किया। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल में उपलब्ध सरहपा और कृष्णाचार्यपा के दोहों का संग्रह करके *बौद्धगान ओ दोहा* नाम से बंगीय साहित्य परिषद् से प्रकाशन कराया। प्रबोधचंद्र बागची ने अनेक हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करके तिलोपा और सरहपा के दोहों का संग्रह *दोह-कोष* नाम से प्रकाशित किया। राहुल ने अनेक सिद्ध कवियों की रचनाओं को *हिंदी-काव्यधारा* शीर्षक से प्रकाशित कराया। आज सिद्धों की रचनाएँ प्रायः दो काव्य रूपों में उपलब्ध होती हैं— *चर्यापद* तथा *दोहा कोष*। *दोहा-कोष* चतुष्पदियों की कडवक शैली में रचे गये हैं। सिद्धाचार्यों के *चर्यापद* लोक में गाये जाते हैं। अनेक स्थानों, समयों में रचे जाने के कारण इनकी काव्य भाषा में निरंतर बदलाव देखा गया है।

राहुल सांकृत्यायन ने माना है कि वज्रयानी सिद्धाचार्यों में सरहपा का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने एकाग्र भाव से वज्रयानी सम्प्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। कहना चाहिए कि उन्होंने ही वज्रयानी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और लगभग 32 ग्रंथ लिखे। इनके लिखे ग्रंथों में *दोहा कोष* विशेष प्रसिद्ध हुआ। सरहपा के शिष्य शबरपा हुए और शबरों की वेश-भूषा अपनाने के कारण इनका नाम शबरपा पड़ गया। इनकी कृतियाँ *चर्यापदों* के रूप में मिलती हैं। इनका ध्यान महासुखवाद की ओर रहा जिसमें ऐंद्रिक भोगों का प्राधान्य था। क्षत्रिय भिक्षु भुसुकुपा नालंदा में डेरा जमाये हुए थे और तांत्रिक साधना में महासुखवाद का प्रतिपादन करने वालों में आगे थे।

वज्रयान की संशोधित पद्धति से सहजयान का विकास हुआ। सहजयान ही समय के साथ नाथ सम्प्रदाय के रूप में सामने आया। नाथ सम्प्रदाय के संतों ने सिद्ध-संतों के धार्मिक-नैतिक सिद्धांतों में कई तरह के संशोधन-सम्पादन के बाद उन्हें नया रूप दिया। इस तरह नाथ सम्प्रदाय का मूलस्रोत सिद्ध साहित्य को ही मानना चाहिए। बौद्ध धर्म के विकृतरूप वज्रयान-सम्प्रदाय में जब पंच मकारों का समावेश हुआ और उसमें निरीश्वरवाद ने जोर पकड़ा तो प्रतिक्रियास्वरूप नाथपंथी संतों ने वीभत्स साधना पद्धतियों, अनाचारवाद और तमाम बाह्य आडम्बरों का विरोध दिया। साथ ही यौगिक साधना पर बल देते हुए ईश्वरवादी-आस्थावादी साधना पद्धतियों की प्रतिष्ठा की। यह नवीन साधना-पद्धति ही नाथ सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात हुई है।

गोरखनाथ को नाथ-सम्प्रदाय का प्रवर्तक-आचार्य माना जाता है। सिद्धाचार्यों में सिद्ध गोरक्षपा की महिमा बखानी जाती है। लेकिन ज्यादातर विद्वानों का मत है कि नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक-गुरु गोरखनाथ ही सिद्ध गोरक्षपा हैं। यह माना जाता है कि पहले गोरखनाथ वज्रयानी सिद्ध थे और बाद में शैवधर्म के उपासक हो गये। सच बात तो है कि

वज्रयानी सिद्धों और नाथ सम्प्रदाय के संत-योगियों में साधना-पद्धति के स्तर पर खूब आदान-प्रदान चलता रहा। बौद्धों और शैवों की योगपरक तांत्रिक साधनाएँ एक-दूसरे में प्रवेश करती रहीं। गोरखनाथ के समय को लेकर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। कुछ विद्वान उनका आविर्भाव दसवीं और दूसरे अनेक विद्वान तेरहवीं शताब्दी में मानते हैं।

पीताम्बरदत्त बड़धवाल ने गोरखनाथ की रचनाओं का संग्रह *गोरख बानी* नाम से प्रकाशित किया है। इसमें 'सबदी', 'पद', 'सिष्या दरसन', 'त्राण संकली', 'नरवै बोध', 'आत्म-बोध', 'अभै मात्रा जोग' आदि तेरह रचनाएँ सम्मिलित हैं। इन तेरह रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत में लिखी कुछ रचनाएँ भी गोरखनाथ रचित कहीं जाती हैं, किंतु आज तक उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। बड़ी बात यह है कि गोरखनाथ ने अपने सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के लिए लोक-भाषा को अपनाया। नाथ सम्प्रदाय निवृत्ति मार्गी-ज्ञानयोग पर केंद्रित है और गुरु की महिमा का बखान करता है। वैराग्य-प्राप्ति के लिए इंद्रिय निग्रह पर विशेष बल देता है- जैसे, 'गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला। गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाइला। दूधें धोयो कोयला उजला न होयला। कागा कंठै पहुय माल हंसना न भैयला।'

गोरखनाथ ने नाथ-पंथ की साधना में उन अनेक परम्परागत रूढ़ियों और मनोवृत्तियों की कठोर आलोचना की है जो उनके विचार से धर्म को विकृत करने वाली थीं। उन्होंने साधना-पद्धति में संयम-सदाचार की महिमा का वर्णन करते हुए आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहजमार्ग का प्रतिपादन किया। नाथ-सम्प्रदाय में नौ नाथों की प्रायः चर्चा की जाती है। दिलचस्प तथ्य यह है कि इन नौ नाथों के भिन्न-भिन्न परम्पराओं में नाम भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होते हैं। इन नौ नाथों के नाम हैं- आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, चर्पट नाथ, गाहिमिनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेंद्रनाथ, भर्तनाथ तथा गोपीचंद्रनाथ। पर्याप्त अनुसंधान के अभाव में नाथों की ज्यादातर रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। नाथ-सम्प्रदाय में जनश्रुति है कि आदिनाथ साक्षात् शिव थे और गोरखनाथ मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य। मत्स्येंद्रनाथ को मीननाथ और मछंदरनाथ नाम से भी स्मरण किया जाता है।

जनश्रुति है कि आदिनाथ शिव मत्स्येंद्रनाथ के ज्ञान-गुरु थे। सर्वप्रथम तो शिव ने पार्वती को योग की शिक्षा दी। मत्स्येंद्रनाथ ने मछली का रूप धारण कर गुप्त रूप से उस ज्ञान-शिक्षा को सुना। उसके बाद मत्स्येंद्रनाथ के अपने योग्य शिष्य गोरखनाथ को योग में पारंगत किया। प्रतिभाशाली गोरखनाथ के योग की ज्ञान-शिक्षा को व्यवस्थित करके उसका परिष्कार किया। गोरखनाथ ने ही शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर योगमार्ग में शिव और शक्ति को आदितत्त्व के रूप में स्थान दिया। मछली के रूप में मत्स्येंद्रनाथ ने शिव की

योग शिक्षा को छिप कर प्राप्त किया तो शिव ने उन्हें मोहासक्त होने का शाप दिया। इस शाप से कुएँ में गिरे अपने गुरु मत्स्येंद्रनाथ को देखकर गोरखनाथ ने आवाज दी 'जाग मछंदर गोरख आया।'

समय के साथ-साथ नाथपंथियों की अन्य रचनाओं में योग, ज्ञान, वैराग्य, आत्मज्ञान, शील, संयम आदि नाना विषयों का समावेश हुआ। चर्पटनाथ आदि के कारण नाथ-सम्प्रदाय सारे देश में फैल गया। कबीरदास के आविर्भाव से पहले ही नाथ-पंथ पूरे देश में शक्तिशाली हो चला था। आगे चलकर निर्गुणिये संतों-कवियों ने नाथ-पंथ की अनेक विचारधाराओं को लेकर निर्गुण सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। दरअसल संत कवियों पर वज्रयानी सिद्धों-नाथों का प्रभाव दूर तक भिदा हुआ मिलता है। नाथ-पंथ सिद्ध सम्प्रदाय और संतों के निर्गुण सम्प्रदाय के बीच संवाद-सेतु बनाता है। संतों ने इनकी अनेक परम्पराओं को ग्रहण किया। समाज को सुधार के मार्ग पर लाने के लिए इन्हीं के मार्ग पर बढ़ कर संतों ने, जाति-पाँति, भेदभाव, बाह्य आडम्बर, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि का डटकर विरोध किया। संतों ने अनेक पारिभाषिक शब्दों-प्रतीकों को सिद्धों और योगियों की परम्परा से प्राप्त किया। संतों की गुरु-महिमा गायन पर सिद्धों-नाथों का गहरा प्रभाव है। इसी प्रभाव के तहत संतों ने कहा कि शरीर में शिव-शक्ति के निवास के कारण देवालय मौजूद है, इसलिए तीर्थों में भटकना व्यर्थ है। हठयोग के षट्चक्र, उनकी स्थिति और कमलदलों की संख्या नाथ सम्प्रदाय से संतों ने प्राप्त की। तीन नाडियों, इला-पिंगला-सुषुम्णा को ही गंगा-जमुना-सरस्वती कहा गया। योग साधना के शब्द सुरति-निरति, शून्य, गगन, नाद, अनहद शब्द नयी काव्य रूप शैली, नयी संध्या-भाषा के साथ सिद्धों-नाथों से संतों को प्राप्त हुए। और तो और कबीर की उलटबाँसियों की शैली सिद्ध-नाथ योगियों से आयी है। ~~संस्कृत-काव्य की परम्पराओं पर सिद्धों-नाथों का प्रदेय अविस्मरणीय है।~~

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायलॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और

‘लोकप्रिय’-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी (1981), *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, (हिंदी साहित्य की भूमिका, नाथ सम्प्रदाय, मध्ययुगीन धर्म साधना, मध्ययुगीनबोध का स्वरूप, कबीरदास), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) (1959), *हिंदी साहित्य*, द्वितीय खण्ड- भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग..
4. रामधारी सिंह दिनकर (1956) *संस्कृति के चार अध्याय*, पटना.

— कृष्णदत्त पालीवाल

सिद्धांत

(Theory)

इस जगत के विभिन्न पहलुओं पर विधिपूर्वक विचार करने के भाषा-आधारित माध्यमों में से एक प्रमुख और प्रभावशाली माध्यम का नाम सिद्धांत है जिसे थियरी या दर्शन का नाम भी दिया जा सकता है। अगर किसी सिद्धांतकार या दार्शनिक से समय के बारे में प्रश्न पूछा जाए तो उससे अपेक्षा की जाती है कि वह घड़ी देख कर वक्त बताने के बजाय उस समय के तात्पर्य पर चर्चा करेगा जिसमें हम रह रहे हैं। अगर उससे बुनियादी आवश्यकताओं के बारे में पूछा जाए तो हमारी कामनाओं की सूची पेश करने के बजाय वह हमें बतायेगा कि साधारण कामनाओं और आवश्यकताओं के बीच क्या फ़र्क होता है, और किस तरह हम अपनी अपरिहार्य और टाली जा सकने वाली ज़रूरतों के बीच अंतर कर सकते हैं। विधिपूर्वक विचार करने के अन्य भाषा-आधारित माध्यमों और समाज वैज्ञानिक सिद्धांत-रचना के बीच अंतर को छह तरह से समझा जा सकता है : विचारों के प्रति अक्षुण्ण संवेदनशीलता, बुद्धिसंगत संरचना, वस्तुनिष्ठता और सत्य उपलब्ध करने की इच्छा, सामान्यता और अमूर्तन, पृष्ठभूमि में छिपी धारणाओं को सामने लाना और अटकलबाजी से मुक्ति।

पहला आयाम है सिद्धांत का अवधारणाओं या विचारों के साथ संबंध, अर्थात् उनकी भीतरी संरचना के साथ एक अनिवार्य क्रिस्म का सरोकार रखना, यह पता लगाना कि अवधारणाएँ किस तरह परस्पर ताल्लुक रखती हैं और किस तरह गुच्छों में सामने आती हुई उस प्रक्रिया में अपनी चौहद्दी तय करती हैं। उदाहरण के लिए सत्ता, प्रभाव, बल, हिंसा और आग्रह आदि विचारों के एक ही गुच्छे के सदस्य हैं। इसी तरह स्वाधीनता, समानता और न्याय अवधारणाओं एक अन्य गुच्छा है। सिद्धांतकार शब्द या पद के तात्पर्य पर बारीकी से ध्यान दे कर इन विचारों का सीमांकन करने की भूमिका निभाता है। कवि, उपन्यासकार और निबंधकार भी शब्दों का सुचिंतित इस्तेमाल करते हैं, पर उनका काम यह बताना नहीं है कि किसी विचार के लिए एक खास शब्द या पद ही क्यों इस्तेमाल किया जाना चाहिए। यह काम सिद्धांतकार का है। मसलन, एक आम आदमी सामाजिक क्रांति, समाज सुधार और सामाजिक इंजीनियरिंग जैसे पदों को बिना अंतर किये ढीले-ढाले ढंग से इस्तेमाल कर सकता है। लेकिन, एक सिद्धांतकार के लिए ये तीनों अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। अर्थात् विचारों के तात्पर्यों के प्रति अभंग संवेदनशीलता और उन्हें उनकी सम्पूर्णता में व्यक्त करने के प्रति प्रतिबद्धता

सिद्धांत का पहला तत्त्व है।

सिद्धांत को अन्य माध्यमों से अलग करने वाला दूसरा तत्त्व है उसमें निहित बुद्धिसंगत उद्यम। इसका मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि सिद्धांतकार मनोभावों या अंतर्ज्ञान से कतई काम नहीं लेते। इसका मतलब यह भी नहीं कि हर सिद्धांत को तर्कशास्त्र के मुताबिक ही होना चाहिए। दरअसल, सिद्धांतकार किसी विचार को पेश करके ही नहीं रह जाता, बल्कि उसका कारण बताता है। दिये हुए कारण का भी एक कारण होता है, और उस शुरुआती कारण के अन्य कारण भी दिये जाते हैं। इस तरह एक सैद्धांतिक निर्मिति बुद्धिसंगत कारणों की शृंखला से तैयार होती है। कुछ की मान्यता है कि इस प्रक्रिया का अंत एक अंतिम कारण से होता है यानी जिसके परे कोई अन्य कारण नहीं होता। लेकिन, समाज-विज्ञान की दुनिया में सिद्धांतकारों के बीच इस दावे पर मतैक्य नहीं है। कुल मिला कर यह दूसरा तत्त्व कहता है कि हर सिद्धांत की संरचना बुद्धिसंगत कारणों के एक सिलसिले से बननी चाहिए।

इसी मुकाम से सिद्धांत की संरचना को दूसरों से अलग करने वाला तीसरा तत्त्व निकलता है : सिद्धांत रचने के साथ जुड़ी सत्य और वस्तुनिष्ठता उपलब्ध करने की आकांक्षा। समाज-विज्ञान में सिद्धांत रचना के जरिये जो सत्य प्राप्त किया जाता है, वह सर्वकालीन और सार्वभौम होने के बजाय अधिकतर संदर्भ-निर्भर होता है। हालाँकि कुछ असाधारण सिद्धांत दिक् और काल की सीमाओं के परे जा पाते हैं, फिर भी जो सत्य उपलब्ध किया जाता है सीमित ही होता है। यही स्थिति वस्तुनिष्ठता की है। मानवीय ज्ञान न तो आत्मगत दृष्टिकोण से पूरी तरह मुक्त हो सकता है, और न ही उसे अमीर या ताकतवर वर्ग की आत्मगत समझ में हमेशा के लिए कैद रखा जा सकता है। कुछ दिनों के लिए हो सकता है कि उसे ज्ञान समझा जाता रहे, पर जल्दी ही उसकी सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

सिद्धांत का चौथा तत्त्व है हमारे वक्तव्यों, आस्थाओं, क्रियाओं और आचरणों के पीछे मौजूद पूर्वधारणाओं को सामने लाना। मसलन, सत्रहवीं सदी के इंग्लैण्ड में राजनेता बिना धार्मिक अपील का सहारा लिए राजनीतिक चर्चाएँ करने लगे थे, पर इस बात को एक पूर्वधारणा की तरह मान कर अक्सर कहने की ज़रूरत नहीं समझी जाती थी। पृष्ठभूमि में छिपी इस हकीकत को पहली बार थॉमस हॉब्स ने सैद्धांतिक रूप से पेश किया कि राजनीति विशुद्ध सेकुलर ढंग से करने का वक्त आ गया है। सिद्धांत का पाँचवाँ तत्त्व है एक हद तक सामान्यता और अमूर्तन प्राप्त करने का लक्ष्य। इसकी वजह यह है कि एक सिद्धांत आपस में जुड़ी हुई पर अलग-अलग परिघटनाओं को अपने दायरे में समेटने की कोशिश करता है। यह काम बिना सामान्यता और अमूर्तन के नहीं हो

सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि सिद्धांत को अपने दायरे में सार्वभौम ही होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि सिद्धांत का ताल्लुक किसी एक खास और ठोस परिघटना से नहीं होता। मसलन, गति का सिद्धांत ग्रहों से लेकर लुढ़कते पत्थरों तक पर लागू होता है। यह उदाहरण प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी का माना जा सकता है, लेकिन समाज-विज्ञान के सिद्धांतों की प्रकृति इस तरह की नहीं होती है। मसलन, भारतीय राष्ट्रवाद का अलग से वर्णनात्मक अध्ययन किया जा सकता है या भारतीय राष्ट्रवाद के कारणों पर तथ्यगत शोध किया जा सकता है, पर यह कहना मुश्किल है कि राष्ट्रवाद का कोई ऐसा सिद्धांत हो सकता है जो सिर्फ भारत पर ही लागू होता हो।

छठा तत्त्व इस मान्यता पर आधारित है कि सिद्धांत-रचना की जिस परिघटना की हम चर्चा कर रहे हैं वह आधुनिक परिस्थितियों की देन है और आधुनिक विज्ञान के उदय से जुड़ी हुई है। आधुनिक सिद्धांत विशुद्ध अटकलबाजी पर आधारित नहीं हो सकते। उन्हें इस जगत के तथ्यगत यथार्थ के अनुकूल होना होगा, और फिर उसके बाद ही वे उसके परे जा पाएँगे। सिद्धांत इस आनुभविक जगत से पूरी तरह कतरा कर नहीं निकल सकते। सिद्धांतकार न तो वैज्ञानिकों द्वारा जमा किये गये आँकड़ों और तथ्यों को नकार सकते हैं, न ही अंतर्दृष्टि-सम्पन्न प्रेक्षकों, सामाजिक विचारकों और विशेषज्ञ समाज वैज्ञानिकों की रचनाओं में व्यक्त होने वाले समाज के जीवंत अनुभवों की उपेक्षा कर सकते हैं। इसीलिए एक सिद्धांत को हमेशा ही समाज के सामूहिक अनुभव की जड़ों में निहित होना होता है और उसी के साथ समुदाय के सामान्य ज्ञान और अंतर्निहित आचरण के परे भी जाना होता है। इस तरह से सिद्धांत न तो सामाजिक अनुभव का वर्णन मात्र है और न ही उसका अस्तित्व अनुभव से विच्छिन्न है। वैसे यह भी कोई ज़रूरी नहीं कि हर सिद्धांत में ये सभी छह तत्त्व हों। पर यह आवश्यक है कि वह अस्थायी प्रकृति के सोच-विचार, अटकलबाजी, किसी एक खास परिघटना के बारे में की गयी तथ्यगत जाँच-पड़ताल, किसी एक समृद्ध अंतर्दृष्टि, किसी कल्पनाशील गद्य और उससे संबंधित वर्णनों से स्पष्ट रूप से भिन्न हो। इसी तरह उसे विचारधारा, विश्व-दृष्टि कॉस्मोलॉजी से भी अलग होना चाहिए।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक,

बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, सिद्धांत : राजनीतिक-सामाजिक, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2008), 'व्हाट इज़ पॉलिटिकल थियरी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
2. ब्राइन बैरी (1990), *पॉलिटिकल आगूमेंट*, हारवेस्टर व्हीट शीफ, हेमेल हेम्पस्टीड.
3. एस. स्टेनली क्लीनबर्ग (1991), *पॉलिटिक्स ऐंड फ़िलॉसफ़ी*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
4. जोनाथन वोलफ़ (1996), *ऐन इंट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

सिद्धांत, राजनीतिक-सामाजिक

(Theory, Political-Social)

मानवीय जीवन और जगत को समझने के संदर्भ में राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांत मुख्यतः तीन भूमिकाएँ निभाता है : व्याख्यात्मक, विचारात्मक और नैतिक अथवा मानकीय।

व्याख्यात्मक भूमिका : राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांत का पहला काम है जीवन और जगत को समझना, व्याख्या करना और उसके भविष्य के बारे में अंदाज़ा लगाना। समझ के धरातल पर सभी मानवीय क्रियाओं, आचरण और परिस्थितियों का संघटन-संस्थापन अवधारणाओं द्वारा होता है। उन्हें समझना उन अवधारणाओं को समझना है। इसीलिए व्याख्यात्मक घटक सभी तरह के मानव विज्ञानों के आनुभविक पहलू के लिए महत्वपूर्ण है। समाज-विज्ञान के लिए इस आनुभविक आयाम की प्रकृति प्राकृतिक विज्ञान से

भिन्न होती है। इसकी वजह है कि प्राकृतिक जगत की संस्थापना अवधारणाओं से स्वतंत्र होती है, क्योंकि प्रकृति तो अवधारणाओं से पहले भी थी। लेकिन सामाजिक परिघटनाओं की जानने की प्रक्रिया अनुभवपरक अध्ययन के जरिये सम्पन्न होती है।

उदाहरण के लिए अगर हम पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के जन्म और विकास की परिघटना समझना चाहते हैं तो हमें देखना होगा कि अनुभवपरक और तथ्यात्मक अध्ययन के किस पहलू पर जोर दिया गया है। मार्क्स ने मनुष्य द्वारा अपनी भौतिक खुशहाली बेहतर करने की प्रवृत्ति पर बल दिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि ऐसा करने के लिए वह अपनी उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास करता है। इससे उत्पादन के सामाजिक संबंध बनते हैं, और खास तरह के यही संबंध उत्पादक शक्तियों के विकास को आगे बढ़ाते हैं। एक सीमा के बाद इन्हीं संबंधों के कारण उत्पादक शक्तियाँ विकसित नहीं हो पातीं। उत्पादकता नहीं बढ़ती, पर उसे बढ़ाने की इच्छा बनी रहती है। यह अंतर्विरोध उत्पादन के सामाजिक संबंधों में तब्दीली की तरफ ले जाता है। मार्क्स ने अपनी यह प्रस्थापना पूँजी और श्रम के बीच उन संबंधों को परिभाषित करते हुए की जो मुक्त बाज़ार द्वारा बनाये जाते हैं। लेकिन, मैक्स वेबर पूँजीवाद के विकास का दूसरा सिद्धांत देते हैं क्योंकि उनका जोर भिन्न क्रिस्म के तथ्यों पर है। उनके मुताबिक अगर कुछ समाजों में धर्म की भूमिका न बदलती तो पूँजीवाद का उदय नहीं हो सकता था। कैथलिक मूल्यों की जगह प्रोटेस्टेंट मूल्यों के आगमन के कारण लौकिकता पर बल देने की प्रवृत्ति पैदा हुई, पूँजी संचय के लिए आवश्यक अनुशासित श्रम सम्भव हुआ और एक कार्यकुशल और सक्षम श्रम-शक्ति का उदय हो सका।

विचारात्मक भूमिका : राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांत का दूसरा काम है उन सामाजिक और राजनीतिक परिघटनाओं के बारे में चिंतन सुलभ करना जो बहुत विशाल पैमाने पर घटती हैं, और केवल तथ्यात्मक या अनुभवपरक जाँच-पड़ताल उनके साथ न्याय नहीं कर सकती। इसे राजनीतिक सिद्धांत की विचारात्मक भूमिका कहा जाता है। मसलन, पूँजीवाद का उदय या सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण की परिघटना केवल तथ्यात्मक अध्ययन के जरिये ग्रहण नहीं की जा सकती। उसके लिए चिंतन के स्तर पर एक सीमा तक एक ऐसा उद्यम करना ही होगा जो अनुभवपरकता या तथ्यों की सीमा से परे जाता हो। इसी तरह अगर आधुनिकता की प्रकृति समझनी है या आधुनिक जगत में मानवीय दुविधाओं की क्रिस्मों का पता लगाना है या औपनिवेशिकता के तहत अधीनता के आयामों की शिनाख्त करनी है, तो महज़ अनुभवपरक जाँच से काम नहीं चलेगा। उसके साथ विचारात्मक या चिंतनपरक उद्यम

अनिवार्य है।

यह उद्यम उस समय और भी आवश्यक हो जाता है जब नयी खोजों की रोशनी में मानवीय स्थितियों पर नये सिरे से चिंतन करना पड़ता है, क्योंकि उनके कारण अनुभव बदल जाता है।

नैतिक भूमिका : राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांत का तीसरा काम है मानवीय और सामाजिक परिघटनाओं के बारे में नैतिक और मानकीय सवाल उठाना। यह काम प्राकृतिक विज्ञान के दायरे में नहीं होता। मसलन, गुरुत्वाकर्षण के नैतिक मूल्यांकन में किसी की दिलचस्पी नहीं हो सकती। इसी तरह गति के नियमों के अच्छे या बुरे होने की चर्चा व्यर्थ की क़वायद ही मानी जाएगी। लेकिन, नैतिक और मानकीय प्रश्न उठाना मानवीय जीवन और जगत के मर्म में निहित है। दरअसल, मानव-समाज एक क्रिया-निर्भर समाज है। हर क्रिया सम्पन्न होते समय कर्ता के सामने उसे करने के बारे में कई विकल्प होते हैं। उन विकल्पों में से एक का चुनाव करने के लिए कभी-कभी तो उसे पल भर का ही समय मिलता है। उसी थोड़े या अधिक समय में किये गये उसके फ़ैसले का असर दूसरी बहुत सी संबंधित स्थितियों पर पड़ना लाज़मी है। इसलिए जिस समझ के आधार पर कर्ता अपनी क्रिया का फ़ैसला करता है, उसका मूल्यांकन दूसरे भी करते हैं। इसी जगह उस मानकीय घटक की भूमिका सामने आती है जिसके आधार पर वह फ़ैसला किया जाता है। अगर इसी बात को राज्य की संस्था के संदर्भ में सोचा जाए तो राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांत का यह आयाम और स्पष्ट हो सकता है। मान लीजिए कि राज्य शिक्षा के क्षेत्र से अपने क़दम खींच रहा है। ऐसे में सवाल उठ सकता है कि अब आरक्षण की नीति का क्या होगा? निजी क्षेत्र द्वारा मैरिट का सवाल उठाया जाएगा, और उसके आधार पर दिये गये दाखिलों या नौकरियों में कमज़ोर वर्ग को स्थान मिलना मुश्किल हो जाएगा। ऐसे में क्या किया जाए? क्या असहाय हो कर अनुसूचित जातियों और जनजातियों या पिछड़े वर्गों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए? या निजी क्षेत्र को मजबूर किया जाए कि वह कुछ स्थान उनके लिए आरक्षित करे? यहीं पर राज्य नैतिक दृष्टि से मानकीय निर्णय करेगा, और उसके निर्णय का सभी पक्षों द्वारा मूल्यांकन भी होगा।

राजनीतिक सिद्धांत की नैतिक भूमिका पर प्रत्यक्षवाद के तहत पश्चिमी जगत के कई विद्वानों ने सवालिया निशान लगाये हैं। उनकी मान्यता है कि नैतिक और राजनीतिक दर्शन के ज़रिये केवल मत-मतांतर व्यक्त किये जा सकते हैं, प्राथमिकताएँ पेश की जा सकती हैं, पर उन्हें ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनकी तथ्यात्मक या अनुभवपरक अध्ययन से पुष्टि नहीं की जा सकती। इसलिए

अनुभवसिद्ध विज्ञानों के उदय के बाद राजनीतिक सिद्धांत-रचना पतन के लिए अभिशप्त है। यह प्रत्यक्षवादी दावा इसलिए ग़लत है कि अगर मूल्यों को बुद्धि और वस्तुनिष्ठता के परे मान लिया जाएगा तो फिर जगत का केवल आत्मपरक ज्ञान ही सम्भव रह जाएगा और समाज-विज्ञानों के होने की सम्भावना ही प्रश्नांकित हो जाएगी। दरअसल, प्राकृतिक विज्ञानों और समाज-विज्ञानों के बीच अंतर का आधार ही यही है कि समाज-विज्ञान जीवन और जगत के बारे में विधिपूर्वक मानकीय और नैतिक चिंतन कर सकते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साज़ा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, सिद्धांत, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2008), 'व्हाई डू वी नीड पॉलिटिकल थियरी?', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. हाज़ा एरेंट (1958), *द ह्यूमन कण्डिशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
3. भीखू पारिख (1983), 'पॉलिटिकल थियरी : ट्रेडिंशंस ऑफ़ पॉलिटिकल थियरी', डेविड मिलर और लैरी सीडेनटॉप (सम्पा.), *अ न्यू हैंडबुक ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. मैक्स वेबर (1930), *द प्रोटेस्टेंट इथिक्स ऐंड स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म*, जॉर्ज एलन ऐंड अनविन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे



सिमोन द बोउवार (1908-1986)

सिनेमाई यथार्थवाद / नियोरियलिज़्म / न्यू-वेव

(Cinematic Realism/Neo-Realism/New Wave)

ज़िंदगी जैसी है उसके वैसे ही चित्रण पर जोर देने वाली यथार्थवाद की धारणा सिनेमा ने उन्नीसवीं सदी के दौरान चले साहित्यिक आंदोलन से प्राप्त की। फ़िल्म के कैमरे को यथार्थ के दृश्यात्मक बयान के लिए एक स्वाभाविक औज़ार माना गया। लेकिन लिखे हुए शब्द के मुक़ाबले यह एक दोहरा यथार्थवाद था। एक परत कथांकन की रहती थी और दूसरी दृश्यात्मकता की। देखा गया कि इस प्रक्रिया में कथांकन की संरचनाओं के तहत भौतिक यथार्थ और मनोगत यथार्थ का संगम हो कर एक मानीख़ेज़ वक्तव्य का जन्म होता है। सामाजिक मुद्दों पर रोशनी डालने के लिए इस सिनेमाई यथार्थवाद का ख़ूब इस्तेमाल किया गया। पर जल्दी ही लगने लगा कि ऐसी फ़िल्मों में कथांकन का जहाँ उपसंहार होता है, वहाँ फ़िल्मकार को समस्याओं का आसान सा समाधान तजवीज़ करना पड़ता है जिससे समाज के तनावों और द्वंद्वों की तलख़ी कुछ नरम पड़ जाती है और ऐसा सिनेमा दर्शक को गहन सोच-विचार करने के लिए मजबूर नहीं कर पाता। इस उलझन ने फ़िल्मकारों और विमर्शकारों को सिनेमाई यथार्थवाद की जटिल प्रकृति पर सोचने के लिए विवश किया। परिणामस्वरूप यथार्थवाद के इर्द-गिर्द कई परिष्कृत सिद्धांतों और आचार-संहिताओं का विकास हुआ। यथार्थवाद से युरोपीय और भारतीय न्यू-वेव तक चली इस यात्रा ने उल्लेखनीय सिनेमा आंदोलनों को जन्म दिया।

तीस के दशक में फ़्रांसीसी फ़िल्मकारों ने और फिर पचास के दशक में आंद्रे बाज़िन ने यथार्थवादी सौंदर्यशास्त्र की जम कर वकालत की। बाज़िन ने दावा किया कि कैमरे का यथार्थ से अलग तरह का रिश्ता होता है। एक पेंटर अपनी कल्पना के ज़रिये या देख कर जिस पेड़ का चित्र बनाता है उसमें वह पेड़ सजीव रूप से शामिल नहीं होता। परंतु कैमरामैन जिस वृक्ष का फ़ोटो उतारता है, उस फ़ोटो की रचना में वह वृक्ष और कैमरा दोनों शामिल हो जाते हैं। चित्रकार बनायी गयी पेंटिंग पर अपनी मर्जी लागू करता है, पर कैमरामैन कितनी भी कोशिश कर ले, कैमरे और वस्तु का संयोग फ़ोटोग्राफ़ में एक ऐसी बात पैदा कर देता है जो खींचने वाले की मंशा से परे होती है। ज़ाहिर है कि इस व्याख्या में यह मान्यता भी शामिल थी कि पर्दे पर चलने वाला यथार्थवादी विमर्श कुछ ख़ास तरह की सच्चाइयों को दबा देता है, और कुछ को गढ़ कर पेश कर देता है। यानी यथार्थवाद के उपकरणों से उसका अपना यथार्थ

निकलता है। यानी स्क्रीन पर दिखाया जाने वाला यथार्थ दरअसल यथार्थ की प्रतीति ही है।

इसलिए यथार्थवाद के सिद्धांतकारों ने फ़िल्मकारों को सुझाव दिया कि वे तकनीक का इस्तेमाल कुछ इस तरह से करें कि दर्शकों को फ़िल्म के पाठ की अपनी समझ बनाने की गुंजाइश मिल सके। दर्शक फ़िल्मकार द्वारा दृश्यात्मकता और कथांकन में दर्ज तात्पर्य के परे जा कर उसका प्रेक्षण कर सके। इस मकसद की पूर्ति के लिए यथार्थवादी फ़िल्मकारों ने स्टूडियो से बाहर स्वाभाविक जगहों पर, कुदरती रोशनी में और ग़ैर-पेशेवर अभिनेताओं के साथ फ़िल्में शूट कीं। उन्होंने डीप-फ़ोकस सिनेमैटोग्राफी का इस्तेमाल करते हुए लांग शॉट लिए ताकि पर्दे पर उभरने वाले बिम्बों के साथ दर्शक बँध न जाए। उन्होंने लांग टेक यानी लम्बे-लम्बे दृश्य रचे ताकि सम्पादन की कला से पैदा होने वाली सीवनहीनता का प्रभाव कम हो जाए।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद दर्शकों की बेचैनियों को शांत करने के बजाय और उकसाने के लिए इटली में नव-यथार्थवादी सिनेमा आंदोलन चला। इसके पीछे राजनीतिक प्रेरणाओं से संचालित सामाजिक-यथार्थवादी फ़िल्में बनाने का वह आग्रह था जिसके तहत 1934 में फ्रांस में ज्यॉ रेनुआँ *टोनी* जैसी फ़िल्म बना चुके थे। 1942 से 1956 के बीच रॉबर्टो रोझेलीनी, लुशियानो विस्कोंती और विट्टोरियो डि सिका ने कुछ असाधारण फ़िल्में बनायीं। विस्कोंती रेनुआँ के सहायक के रूप में काम कर चुके थे। उनकी फ़िल्म *ऑब्सेशंस* (1942) से ही इस आंदोलन की शुरुआत हुई। उन्हीं के पटकथाकार अंतोनियो पीत्रागेली ने इस सिनेमा को पहली बार नियो-रियलिज़म का लक़ब दिया। रोझेलीनी की कृति *रोम ओपिन सिटी* (1945) को पहली पूर्णतः नियो-रियलिस्ट फ़िल्म माना जाता है। डि सिका की *बाइसक्रिल थीफ़* (1948) एक ऐसी प्रभावशाली फ़िल्म थी जिसने पचास के दशक में सारी दुनिया में फ़िल्मकारों की उदीयमान पीढ़ी को प्रभावित किया। भारत में सत्यजीत राय और जापान में आकिरी कुरोसोवा ने अपनी फ़िल्म-कला पर रेनुआँ से लेकर डि सिका का गहरा प्रभाव स्वीकार किया है। स्वयं इटली में इमैनुएल ओल्मी, माइकिल एंजिलो अंतोनियोनी और फ़ेदरीको फ़ेलीनी की पीढ़ी ने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया।

फ्रांस और ब्रिटेन में इस आंदोलन की विरासत से सिनेमा की न्यू-वेव का जन्म हुआ। फ्रांस में इस नयी लहर के शीर्ष पर 'काहीर द्यु सिनेमा' नामक फ़िल्म-समीक्षकों और विमर्शकारों का एक समूह था जिनमें क्लॉद शबरोल, एरिक रोहमर, एग्नेस वरदा, ज्यॉ-लुक गोदार और फ्रांसुआ त्रुफ़ो प्रमुख थे। इन लोगों ने पहले किसी फ़िल्मकार के सहायक

की भूमिका नहीं निभायी थी। फ्रांसीसी न्यू-वेव की फ़िल्मों ने पूँजीपति वर्ग की आलोचना का रवैया तो अख़्तियार किया ही ऑट्युर शैली अपनाते हुए शैली और रूप से संबंधित सभी स्थापित मान्यताओं को खारिज कर दिया। यथार्थवादी सिनेमा चिंतक बाज़िन को अपना पितामह मानते हुए इन समीक्षक-फ़िल्मकारों ने अभिव्यक्ति के अभूतपूर्व तौर-तरीकों का इस्तेमाल किया। फ़िल्म-सेट के नाम पर वे किसी दोस्त के प्लैट में शूटिंग करते और फ़िल्म-यूनिट के सदस्य ही उनके अभिनेता बन जाते। वे लम्बे-लम्बे ट्रेकिंग शॉट लेते और जब फ़िल्म लम्बी हो जाती तो जम्प कट के ज़रिये उन्हें बीच में से काट देते। इससे फ़िल्म छोटी तो ही ही जाती, साथ ही एक अनूठा प्रभाव भी पैदा होता। उन्होंने संवाद-लेखन के क्षेत्र में नवाचार किया, दृश्यों को तेज़ी से बदलते हुए दिखाया और ऐसे शॉट लिए जो सामान्य 360 डिग्री के अक्ष से परे जाते थे। दर्शकों को सम्मोहित करने के बजाय उन्होंने अपने कैमरा-वर्क से उन्हें चौंकाया, अस्थिर किया। ये फ़िल्मकार बेहतर सिनेमा की सराहना करने में अक्षम दर्शक के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया भी अपनाते थे। कम बजट की इन फ़िल्मों ने प्रोडक्शन से जुड़ी हुए खर्चीले तौर-तरीकों पर पुनर्विचार का माहौल भी बनाया। न्यू-वेव ने जिन नयी सिनेमाई संहिताओं को जन्म दिया उन्होंने कैमरे के उपयोग का लोकतंत्रीकरण करने की भूमिका निभायी। इसने फ्रांसीसी फ़िल्मकारों को स्त्रियों, कालों और फ्रेंच-अरबों की जीवन-स्थितियों की तरफ़ कैमरा घुमाने की प्रेरणा भी दी।

इतालवी नियोरियलिज़म के अलावा इन फ़िल्मकारों ने अपनी कला पर हॉलीवुड के महान स्टूडियो निर्देशकों (चार्ली चैपलिन, ओरसन वेल्स, जॉन फ़र्ड, अल्फ्रेड हिचकॉक और निकोलस रे) का असर भी स्वीकार किया। शबरोल की फ़िल्म *ले हियू सर्ज* (1958), त्रुफ़ो की *द 400 ब्लोज़* (1959) और गोदार की *ब्रेथलेस* (1960) को असाधारण अंतर्राष्ट्रीय कामयाबी मिली। समीक्षकों ने उनकी सराहना की और टिकट खिड़की पर भी दर्शक उनकी ओर खिंचे। फ्रांसीसी न्यू-वेव का शैलीगत असर जल्दी ही हॉलीवुड की व्यावसायिक फ़िल्मों पर दिखाई देने लगा। 1967 में आर्थर पेन की फ़िल्म *बोनी एंड क्लायड* इसका पहला सबूत ले कर आयी। इसके बाद फ्रांसिस फ़र्ड कोपोला, ब्राइन द पामा, मार्टिन स्कोरसीस और क्वेंटिन टारंटीनो जैसे विख्यात फ़िल्मकारों ने 1958 से 1964 के बीच बनी इन फ़िल्मों का अपने काम पर प्रभाव स्वीकार किया है।

फ्रांसीसी न्यू-वेव सिनेमा को लेकर विमर्शकारों के बीच कई तरह के विवाद हैं। इनमें पहला और सबसे अहम यह है कि क्या यह सिनेमा एक राजनीतिक सिनेमा था। दावा किया जाता है कि इस न्यू-वेव से आगे चल कर कोंस्तातिन कोस्टागवरास और लुई माले का राजनीतिक रूप से प्रतिबद्ध

सिनेमा जन्मा, लेकिन इसके पीछे साठ के दशक में फ्रांस के संकटग्रस्त राजनीतिक हालात की भूमिका अधिक बताई जाती है जिसकी रोशनी में शबरोल, गोदार और त्रुफो की फ़िल्मों को राजनीतिक आभा मिल गयी।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. आंद्रे बाज़िन (1967), *व्हाट इज़ सिनेमा? वॉल्युम 1*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
2. मिशेल मैरी (2002), *द फ्रेंच न्यू वेव : ऐन आर्टिस्टिक स्कूल*, जॉन विली एंड संज़, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

सिमोन द बोउवार

(Simone de Beauvoir)

फ्रांस की अस्तित्ववादी दार्शनिक, उपन्यासकार और पत्रकार सिमोन द बोउवार (1908-1986) की विख्यात रचना *द सेकण्ड सेक्स* (1949) को युरोप और अमेरिका में नारीवाद की दूसरी लहर की प्रणेता माना जाता है। चालीस के दशक आखिरी सालों में जब बोउवार यह किताब लिख रही थीं, पश्चिमी जगत में नारीवाद अपनी शुरुआती कामयाबियों के परे देखने की कोशिश कर रहा था। राजनीतिक रूप से पश्चिमी स्त्रियों को वोट देने का, सम्पत्ति का स्वामी बनने का और ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिल चुका था। विभिन्न पेशों के द्वार उनके लिए खुल चुके थे। स्त्रियाँ सामाजिक और यौनिक रूप से पहले के मुकाबले कहीं आज़ाद थीं। ऐसे माहौल में बोउवार ने दलील दी कि इन सफलताओं के बाद भी स्त्रियाँ पुरुष की अधीनता में ही हैं। उन्होंने उदारतावादी क्रान्ती अधिकारों के महत्त्व को कम करके नहीं आँका, लेकिन उन्होंने महिलाओं के संघर्ष को इससे आगे ले जाने पर जोर दिया। इतिहास, मानवशास्त्र, मिथक, नृजातिवर्णन, जैविकी, साहित्य और समाजशास्त्र के औज़ारों का इस्तेमाल करके बोउवार ने साबित किया कि

स्त्रियों को कैसे कमतर रखा जाता है जिसके कारण उनकी सृजनशीलता कुंठित हो गयी है और वे आसानी से पराजय और दासता स्वीकार कर लेती हैं। पुरुष के मुकाबले उनका नम्बर दूसरे सेक्स का है। उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र और दार्शनिक ज्याँ-पॉल सार्त्र की रचना *बीइंग ऐंड नथिंगनेस* (1943) में प्रतिपादित अस्तित्ववादी श्रेणियों का इस्तेमाल भी किया और कई बार उनके परे भी गयीं। बोउवार ने कहा कि ज्यादातर समाजों में पुरुष अपनी इयत्ता के जरिये और स्त्री 'अन्य' होने के जरिये समझी जाती है। मानवता को पुरुष और मानवीय स्थिति को पुरुषत्व की तरह परिभाषित किया जाता है, और स्त्री हमेशा पुरुष के साथ संबंधों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित होती है। *द सेकंड सेक्स* दो खण्डों में प्रकाशित एक बृहद रचना थी जो छपते ही बेहद लोकप्रिय साबित हुई। इसके बाद जल्दी ही उसका एक थोड़ा सा संक्षिप्त अंग्रेज़ी संस्करण प्रकाशित हुआ जिसके इर्द-गिर्द विकसित हुए विमर्श ने साठ और सत्तर के दशक में पश्चिमी नारीवादी आंदोलन की वैचारिक भित्ति का निर्माण किया।

बोउवार ने अपना वर्णन 'शब्दों की महिला' के रूप में किया है। उनका यह कथन बहुत ज्यादा प्रसिद्ध हुआ कि 'औरत पैदा नहीं होती है, बल्कि बना दी जाती है।' बोउवार ने जीवविज्ञान को ही परम-सत्य मानने की प्रवृत्ति को चुनौती दी। दरअसल, महिलाओं की जैविक स्थिति का उपयोग उनकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक अधीनता को सही साबित करने के लिए किया जाता था। अस्तित्ववाद के साथ-साथ कई जगहों पर बोउवार ने मार्क्सवाद का भी सहारा लिया। उन्होंने दिखाया कि एक पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं की 'स्थिति' बहुत सी ऐतिहासिक और भौतिक सीमाओं से घिरी होती है। उन्होंने सिर्फ़ इस बात को उजागर नहीं किया कि किस तरह पितृसत्ता महिलाओं का दमन करती है, बल्कि उन्होंने यह भी दिखाया कि किस तरह कई मर्तबा महिलाएँ भी अपने दमन को बढ़ावा देती हैं। उन्होंने यह दिखाया कि बहुत से मौकों पर महिलाएँ जेंडर द्वारा तय की गयी भूमिकाओं से बाहर काम करने की आज़ादी का उपयोग नहीं करतीं।

उन्होंने अपने समय के मनोविज्ञान और विज्ञान के भीतर मौजूद सेक्सिज़म पर सवाल खड़ा किया और स्पष्ट करने की कोशिश की कि ऐतिहासिक रूप से 'महिला' शब्द एक ख़ास तरह के अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है और इसलिए यह एक सार्वभौम या बुनियादी श्रेणी नहीं है। इस तरह उन्होंने लम्बे समय तक अपने बौद्धिक साथी (और जीवन-साथी) रहे ज्याँ पॉल सार्त्र की उस कोशिश से अलग अपना विचार पेश किया। सार्त्र का शुरू में विचार था कि आज़ादी और चुनाव की ऐसी अस्तित्ववादी श्रेणियाँ व्यक्ति की सामाजिक सीमाओं से स्वतंत्र होती हैं। लेकिन बोउवार ने एक व्यक्ति की आज़ादी और उस आज़ादी का उपयोग



सुकरात (469-399 ईसा पूर्व)

करने की उसकी सीमित सामर्थ्य के बीच अंतर किया।

अपने इस महान ग्रंथ में वे दो मुख्य तर्क पेश करती है : पहला, एक श्रेणी के रूप में 'महिला' का निर्माण सामाजिक रूप से होता है; और दूसरा, ऐतिहासिक रूप से महिलाओं को, हीगेलवादी शब्दों में 'अन्य' के रूप में देखा जाता रहा है। बोउवार सीधे तौर पर हीगेल के मालिक/दास द्विभाजन को अपनाते हुए यह नहीं कहती हैं कि आदमी मालिक होता है और औरत दास। इसकी बजाय वे इस द्वंद्व के ज्यादा उदात्त रूप को अपनाती हैं। हीगेल यह मानते हैं कि अपनी 'चेतना' के लिए संघर्ष या किसी व्यक्ति की अपनी पहचान की संकल्पना को निश्चित रूप से किसी अन्य की चेतना की मृत्यु होने में ख़त्म होना चाहिए। मालिक/दास द्वंद्व की अपनी व्याख्या में बोउवार स्पष्ट करती हैं कि किसी भी एक कर्ता (या एक्टर) की चेतना की मौत होने से ख़त्म नहीं होता। इसकी बजाय 'पारस्परिकता' या एक-दूसरे की मानवता की पारस्परिक-मान्यता की गुंजाइश रहती है। बोउवार ने सबसे पहले अपनी दार्शनिक श्रेणियों को चालीस के दशक में *द सेकंड सेक्स* से पहले प्रकाशित किताबों में व्यक्त किया था। इस संबंध में उनकी एक कृति अंग्रेज़ी में *द एथिक्स ऑफ़ एम्बीगुइटी* (1994) के रूप में अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई है।

बोउवार द्वारा लिखा गया रचनात्मक साहित्य भी उनकी दार्शनिक रुचि प्रदर्शित करता है। बोउवार की कृति *द मण्डारिस* (1954) में जर्मन क्रब्जे के खिलाफ़ फ्रेंच प्रतिरोध का वर्णन किया गया है। उनकी यह रचना आत्मकथात्मक है और आलोचकों का मानना है कि इसमें बहुत कम बातें काल्पनिक हैं। 1954 में *द मण्डारिस* को पुरस्कृत किया गया। इसमें मुक्ति के बाद के फ्रेंच प्रतिरोध में शामिल किरदार के सामने आने वाली विभिन्न स्थितियों का वर्णन करने के लिए अस्तित्ववादी चिंतन का प्रयोग किया गया है। मसलन, इसमें व्यक्तियों को इस फ़ैसले का सामना करना होता है कि नाज़ियों के साथ सहयोग करने वाले फ़्रांसीसी नागरिकों के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाए। इस किताब में लेखिका ने दूसरे कई विषयों को भी उठाया है। वे एक ऐसी महिला की स्थिति का वर्णन करती हैं जो पाती है कि वह एक बुरे विश्वास का प्रयोग कर रही है क्योंकि वह काफ़ी पहले ख़त्म हो चुके संबंध के बाहर निहित स्वतंत्रता को मान्यता देने से इनकार करती है।

बोउवार ने चार खण्डों में अपनी आत्मकथा लिखी। पहला खण्ड *मेमॉयर्स ऑफ़ अ ड्युटीफुल डॉटर* 1954 में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने अपने बचपन से लेकर सार्त्र से मुलाकात तक का वर्णन किया है। दूसरा खण्ड 1960 में *द प्राइम ऑफ़ लाइफ़* शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस भाग में सार्त्र से उनकी मुलाकात से लेकर द्वितीय विश्व-युद्ध तक की घटनाओं का वर्णन है। 1963 में तीसरा खण्ड *फ़ोर्स ऑफ़ सरकमस्टेंसेज़* शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने अन्य बातों के अलावा अमेरिकन उपन्यासकार नेल्सन अल्ग्रीन के साथ अपने प्रेम-संबंधों और अपने और सार्त्र के प्रसिद्ध हस्तियों के रूप में उभरने के बारे में बताया है। बोउवार की माँ की मौत आँतों के कैंसर से 1963 में हो गयी। माँ की याद में उन्होंने 1964 में *द वेरी इज़ी डेथ* नामक किताब लिखी। आत्मकथा का चौथा खण्ड *आल सैड ऐंड उन* 1972 में प्रकाशित हुआ।

बोउवार द्वारा लिखी गयी दार्शनिक, साहित्यिक और आत्मकथात्मक रचनाएँ उनके बौद्धिक साथियों के जीवन और कार्यों के बारे में भी जानकारी देती हैं। इन साथियों में सार्त्र, अल्बर्ट कैमियो तथा मॉरिस मर्ली पोंती आदि शामिल हैं। इस बात में किसी शक की गुंजाइश नहीं है कि फ़्रांसीसी अस्तित्ववादी चिंतन पर बोउवार का स्पष्ट प्रभाव रहा है, लेकिन यह भी सच है कि अमूमन उन्हें जितना श्रेय दिया जाना चाहिए उतना नहीं दिया जाता है। कुछ आलोचक दावा करते हैं कि बोउवार ज़्यादातर सार्त्र के अस्तित्ववाद को ही पेश करती थीं। लेकिन इस तरह के विश्लेषण में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता है कि किस तरह से बोउवार का लेखन सार्त्र के विचारों को चुनौती देता है। इसके अलावा, इस तरह का

विश्लेषण इस बात की भी उपेक्षा करता है कि बोडवार जेंडर के आधार पर विचार करते हुए 'अन्य' (या अदर) की श्रेणी जैसे मूल सैद्धांतिक शब्दों में बुनियादी संशोधन करती हैं।

1970 के दशक से लेकर अपनी मृत्यु तक बोडवार एक समर्पित नारीवादी कार्यकर्ता बनी रहीं। अल्जीरियाई स्वतंत्रता संग्राम के दौरान (1954-62) उन्होंने अल्जीरिया की महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उन्होंने गर्भनिरोधकों और गर्भपात के अधिकार के लिए अभियान चलाया। 1974 में इसे परीक्षण के लिए पाँच वर्षों तक क्रान्ती मान्यता दी गयी और इसके बाद 1979 में इसे स्थाई बना दिया गया। 1973 में सिमोन ने *ला तौ मोदर्न* पत्रिका में नारी समर्थक कॉलम की शुरुआत की। वे 1974 में नारी मुक्ति आंदोलन की अध्यक्ष चुनी गयीं। 1978 में उनके जीवन पर एक फ़िल्म बनायी गयी। 1979 में उनके आजीवन साथी रहे सार्त्र की मृत्यु हो गयी। इसके बाद धीरे-धीरे उनके कई अन्य दोस्तों की भी मृत्यु हो गयी। अपने जीवन के आखिरी दिनों में वे अकेली रहीं लेकिन पूरी शिद्दत से काम में जुटी रहीं। 14 अप्रैल, 1986 को उनका निधन हुआ।

दरअसल 1970 के पहले बोडवार नारी मुक्ति आंदोलन के प्रति एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण रखती थीं लेकिन इसके बाद वे स्त्री की स्थिति में आमूल परिवर्तन चाहने लगीं। वे मानने लगीं कि युगों से चल रहे नारी-उत्पीड़न का पूर्ण उन्मूलन ज़रूरी है। सोवियत संघ के उदाहरण देते हुए वे इस बात पर जोर देती थीं कि समाजवाद से स्त्री की समस्या हल नहीं हो सकती। इसलिए स्त्रियों को सारी जातियों और राष्ट्रों का अतिक्रमण करके एक अधीनस्थ जाति की तरह लम्बी लड़ाई लड़नी होगी। उन्होंने समान काम के लिए समान वेतन देने और घरेलू काम-काज के निष्पक्ष पुनर्वितरण के लिए अभियान चलाया। बोडवार के बाद नारीवादी आंदोलन में बहुत ज़्यादा विस्तार और विभेदीकरण भी हुआ। लेकिन बाद की नारीवादियों की तुलना में बोडवार इस लिहाज़ से अलग हैं कि इनके विचार पश्चिमी समाजों से बाहर भी फैले और विकासशील समाजों में भी नारीवाद के प्रचार-प्रसार में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनकी किताब ने *द सेकेंड सेक्स* ने नारीवादियों की एक पूरी पीढ़ी को प्रेरणा दी है; इसमें रैडिकल नारीवादियों से लेकर जूडिथ बटलर जैसी उत्तर-आधुनिकतावादी नारीवादी भी शामिल हैं। इस किताब का हिंदी सहित बहुत सी भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इसलामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी

शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवाद परिप्रेक्ष्य, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. सीमोन द बोडवार (1998) *स्त्री : उपेक्षिता, द सेकण्ड सेक्स* का संक्षिप्त हिंदी रूपांतर, जीवनी, संदर्भ और प्रस्तुति : , प्रभा खेतान, हिंद, पॉकेट बुक्स, दिल्ली.
2. डी. बेयर (1990), *सीमोन द बोडवार : अ बायोग्राफी*, सम्पिट बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. जे. ओकली (1986), *सीमोन द बोडवार : ए रिरिडिंग*, विरगो, लंदन.

— कमल नयन चौबे

सुकरात

(Socrates)

प्राचीन एथेंस के महान दार्शनिक सुकरात (469-399 ईसा पूर्व) को पश्चिमी दर्शन का पितामह माना जाता है, बावजूद इसके कि उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा। वे मुख्यतः वाचिक परम्परा के दार्शनिक थे। ऐतिहासिक रिकॉर्ड के लिहाज़ से न केवल उनके लिखित विचार अनुपलब्ध हैं, बल्कि उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी बहुत कम जानकारी मिलती है। सुकरात के बारे में जानकारियाँ हासिल करने के लिए उनके शिष्य जेनोफ़ोन और अफ़लातून (प्लेटो) की रचनाओं का सहारा लेना पड़ता है। सुकरात के इन महान शिष्यों ने अपने गुरु और पथप्रदर्शक की शिक्षाओं को संवाद (प्रश्नोत्तर) की तरह लिखना शुरू किया जिससे सोक्रेटिक डायलॉग की शैली आरम्भ हुई। अफ़लातून ने अपनी सारी बातें सुकरात के मुँह से कहलवायी हैं। जाहिर है कि यह समस्त लेखन संवादों के रूप में है, और इसमें सुकरात राजनीति और समाज के बारे में वे तमाम सिफ़ारिशें करते हुए दिखते हैं जो प्लेटो करना चाहते हैं। इस तरह से सुकरात का ऐतिहासिक व्यक्तित्व उनके शिष्य की कल्पनाओं के सुकरात से गड्ढमड्डु हो जाता है। दिलचस्प बात यह है कि शिष्यों के माध्यम से मिली जानकारी पर निर्भर होने के कारण प्रामाणिकता की कमी उनके विचारों के महत्व को प्रश्नांकित नहीं कर पायी। सुकरात के विचारों ने पिछली सहस्राब्दियों में मानवीय चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है।



सुदीप्त कविराज (1945-)

सुकरात ने दार्शनिक प्रज्ञा के विकास के लिए जिस प्रश्नोत्तर शैली की द्वंद्वत्मकता का विकास किया उसे सोक्रेटिक मैथेंड के नाम से जाना जाता है। ज्ञानी होते हुए भी खुद को अज्ञानी बताने की सुकरात की शैली सोक्रेटिक आयरनी कही जाती है। खुद को अज्ञानी कह कर सुकरात स्वघोषित विशेषज्ञों और जानकारों के घमण्ड भरे दावों को भीतर से हिला देते थे। इससे उन्हें नये विचारों के विकास के लिए रास्ता साफ करने में मदद मिलती थी। सुकरात के लिए दार्शनिक का मतलब था एक ऐसा विनम्र व्यक्ति जो खुद को अज्ञानी समझता हो। उनकी निगाह में ऐसा व्यक्ति ही दार्शनिक अर्थात् प्रज्ञा का सच्चा प्रेमी हो सकता है। प्लेटो के मुताबिक सुकरात ने कहा था कि 'कोई भी व्यक्ति स्वतः गलत काम नहीं करता।' इसका मतलब था हर गलत काम ज्ञान की कमी का फलितार्थ होता है। इसका विरोधाभासी मतलब यह निकलता है कि अच्छा काम करना अथवा सद्गुण सम्पन्न होना ही ज्ञान है। इसे ही सोक्रेटिक पैराडॉक्स कहा जाता है। सुकरात ऐसे अनूठे दार्शनिक थे जिन्होंने अपने विचारों के लिए अपनी जान देना पसंद किया। युगों-युगों से सुकरात के बारे में यह निर्विवाद धारणा है कि जब तक इस संसार में व्यक्तिगत और निजी निष्ठा को एक अनुकरणीय आदर्श माना जाता रहेगा तब तक वे उसके मूर्तिमान प्रतीक बने रहेंगे।

हैलेनिक और रोमन युग के विभिन्न विचार-पंथ सुकरात को अपने दार्शनिक-अभिभावक के तौर पर देखते थे। सिनिकवादियों या दोषदर्शियों को लगता था कि सुकरात

द्वारा गुजारा गया संतों जैसा जीवन ही उनके अपने आदर्श के नजदीक है। इसी तरह संशयवादी दार्शनिकों को सुकरात का यह विनम्र दावा पसंद था कि मैं तो अज्ञानी हूँ। स्टोइकवादी दार्शनिकों की निगाह में सुकरात इसलिए महान थे कि उन्होंने केवल सद्गुणों को ही वास्तविक ईश्वर का दर्जा दिया था। दूसरी सदी के ईसाई चिंतकों ने सुकरात को ईसा के पूर्वगामी होने का दर्जा देकर सम्मानित किया क्योंकि उत्पीड़नकारी राज्य द्वारा जहर का प्याला पीने के लिए विवश किये जाने पर भी सुकरात ने ईसा के तर्ज पर ही अपने हत्यारों को माफ़ कर दिया था। पंद्रहवीं सदी में नव-प्लेटोवादी भी सुकरात को ईसा का पूर्वगामी मानते थे। मध्ययुगीन इस्लाम में सुकरात को मूर्तिपूजा के विरुद्ध बोलने वाले और एकेश्वरवाद के समर्थक के तौर पर देखा जाता है। रिनेसाँ और फिर ज्ञानोदय के दौर में सुकरात को मानवीय गुणों के ऐसे सर्वोत्तम प्रतिनिधि के तौर पर चित्रित किया गया जिसके बुद्धिवाद को अंधविश्वास के हाथों अपनी बलि देनी पड़ी। आधुनिक दर्शन में हीगेल, कीर्केगार्ड और नीत्शे ने सुकरात को मानवीय चिंतन के विकास की धुरी मान कर उनके इर्दगिर्द अपने दर्शन के कई पहलुओं की रचना की। मिशेल फूको के विचारों पर भी सुकरात का गहरा प्रभाव माना जाता है। कार्ल पॉपर ने व्यक्तिवादी उदारतावादी चिंतक रूप में पेश किया है। सुकरात की आलोचना भी होती है। कुछ विचारकों का मानना है कि वे प्रतिक्रियावादी सर्वसत्तावाद के प्रवर्तक थे और इसीलिए उनसे प्रभावित हो कर कई सामंतों द्वारा एथेनियन लोकतंत्र का तख्ता पलटने की कोशिश की गयी थी।

अब यहीं सवाल उठता है कि सुकरात के दर्शन और जीवन में ऐसा क्या था जिसने मानवता को उनका ऋणी बना दिया है? सुकरात के बारे में अधिकतर जानकारी देने वाले जेनोफोन और अफ़लातून के शुरुआती संवाद उनकी छवि अलग-अलग ढंग से पेश करते हैं। जेनोफोन के विवरण के अनुसार सुकरात एक परम्परावादी ढंग से सोचने वाले चिंतक थे। पर प्लेटो ने उनकी तस्वीर एक ऐसे चिंतक के रूप में बनायी है जिसके विचार अपने वक्रत की मान्यताओं को चुनौती देने वाले थे। सुकरात की मान्यता थी कि समाज की बेहतरी के लिए दर्शन का इस्तेमाल कुछ इस तरीके से होना चाहिए कि उसके ठोस नतीजे निकलें। उन्होंने तर्क-बुद्धि पर आधारित एक नैतिक प्रणाली की स्थापना की कोशिश की जिसके केंद्र में मनुष्य द्वारा खुद को जाँचने-परखने की क्षमता का आग्रह था। वे कहते थे कि स्वयं न परखा हुआ जीवन जीने योग्य नहीं होता। व्यक्ति खुद को जितना जानेगा और बुद्धि आधारित चयन में जितना समर्थ होगा, उसी के अनुपात में वह खुशी हासिल करता चला जाएगा। सुकरात ने अपने इस उसूल का राजनीतिक तात्पर्य यह निकाला कि शासन का सबसे अच्छा रूप न तो निरंकुशता है और न ही लोकतंत्र। वही शासन अच्छा काम करता है जिसकी बागडोर ऐसे लोगों

के हाथ में हो जो योग्यता, ज्ञान और सदगुणों में सबसे आगे हों और खुद को गहराई से जानते हों।

सुकरात एथेंस के उस लोकतंत्र और उसके हुक्मरानों के कड़े आलोचक थे जिसे अपनी सहिष्णुता पर गर्व था। वहाँ के लोकतंत्र में आस्था रखने के बजाय उन्होंने पूरे एथेंस को एक कक्षा की तरह लिया और वहाँ के अभिजनों से लेकर साधारण व्यक्तियों से सवाल पूछने निकल पड़े ताकि राजनीतिक और नैतिक सत्य की खोज की जा सके। वे भाषण देने से परहेज करते थे। उनका कहना होता था कि उनके पास तो कोई विचार है ही नहीं। वे तो अज्ञानी हैं, और उनकी प्रज्ञा इस बात में ही निहित है कि उन्होंने अपने अज्ञानी होने को जान लिया है। सवाल पूछने का उनका तरीका इस तरह से द्वंद्वात्मक होता था कि उससे लोगों को सोचने और एक तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचने में मदद मिलती थी। कभी-कभी तो समस्याओं के समाधान इतने प्रकट होते थे कि सुकरात के विरोधियों को अपनी मूर्खता का एहसास होने लगता था। सुकरात के इस रवैये के प्रशंसकों की कोई कमी न थी, लेकिन इसी रवैये के कारण उनके विरोधियों की संख्या भी बढ़ती चली गयी।

सुकरात ने समकालीन राजनीति के दोषों को निर्ममता से रेखांकित किया। उनका कहना था कि बहुमत से होने वाले निर्णय सही नहीं होते क्योंकि उनके पक्ष में वोट देने वाले नागरिकों में मुद्दों को समझने की न तो क्षमता होती है और न ही समय। उन्होंने सवाल उठाया कि जब एथेंस के डॉक्टरों और वास्तुशिल्पियों के लिए प्रशिक्षण और योग्यता की जरूरत है तो राजनीतिज्ञों को बौद्धिक रूप से प्रशिक्षित क्यों नहीं होना चाहिए। ऐसा क्यों है कि राजनेताओं की ताकत उनकी योग्यता के बजाय लोकप्रिय अपील पर निर्भर होती है? सुकरात सोफ्रीवादियों के विरोधी थे। सोफ्रिस्ट उस शब्दाडम्बर के पैरोकार थे जिसका इस्तेमाल करके राजनेताओं को आम लोगों की भावनाएँ भड़काने में कामयाबी मिल जाती थी।

प्लेटो की रचना *रिपब्लिक* का पहला अध्याय सुकरात और सोफ्रीवादी दार्शनिक थ्रेसीमेकस के बीच बहस के रूप में लिखा गया है। थ्रेसीमेकस की तरफ से मिली चुनौती में यह दावा निहित है कि न्याय का मतलब सिर्फ एक ही हो सकता है : सत्तारूढ़ का हित। अगर शासक द्वारा अपने फ़ायदे के लिए बनाये गये न्याय के नियमों से कोई असंतुष्ट है तो वह सत्तारूढ़ के कोप से बचने का कौशल दिखाते हुए अवज्ञा के जरिये अपना हित साध सकता है। थ्रेसीमेकस का कहना है कि महज न्यायसम्मत रहने से कुछ फ़ायदा नहीं होने वाला। अफ़लातून के सुकरात जवाब में साबित करते हैं कि थ्रेसीमेकस के तर्क के विपरीत न्यायसम्मत होना और न्याय के पक्ष में होना ही लाभकारी है। इसके लिए प्लेटो न्याय को

व्यापक फलक पर परिभाषित करते हैं। वे न्यायप्रद राज्य की कसौटियाँ बनाते हैं और फिर देखते हैं कि क्या ये कसौटियाँ व्यक्ति के संदर्भ में भी लागू हो सकती हैं।

सुकरात के जीवन-काल में एथेंस नाटकीय परिवर्तनों से गुज़र रहा था। स्पार्टा के साथ हुए युद्ध में उसे अपमानजनक पराजय झेलनी पड़ी थी। अपनी अस्मिता और विश्व में अपने स्थान को लेकर संशयग्रस्त होने के कारण उसके प्रभु वर्ग में अतीत के गुणगान की प्रवृत्तियाँ बढ़ गयी थीं। धन-सम्पत्ति का महत्त्व बढ़ता जा रहा था और शारीरिक सौंदर्य के प्रति आग्रह की कोई सीमा नहीं थी। सुकरात इन सभी पहलुओं की आलोचना करते थे। वे दैहिक सौंदर्य की जगह मस्तिष्क की श्रेष्ठता के पैरोकार थे। उन्होंने एथेंस के प्रभु वर्ग के रवैये का बार-बार उपहास किया। उन्होंने युवकों से कहा कि वे राजनीति में तब तक हिस्सा न लें जब तक उनके ज्ञान का दार्शनिक पक्ष प्रबल न हो जाए। एक तरफ़ तो लोकतंत्र की आलोचना, दूसरी तरफ़ प्रभु वर्ग की धारणाओं का उपहास और तीसरी तरफ़ युवकों से की गयी अपील— इन तीनों पहलुओं ने मिल कर सुकरात को तत्कालीन सत्तारूढ़ों का शत्रु बना दिया।

नतीजा उनके खिलाफ़ मुकदमे में निकला। सुकरात के ऊपर तीन आरोप लगाये गये : पहला, वे उन देवताओं को मानने से इनकार करते हैं जिन्हें एथेंस का शहर मान्यता देता है; दूसरा, वे नये देवताओं की तजवीज़ करते हैं; और तीसरा, वे युवाओं को भ्रष्ट कर रहे हैं। ईसा से 399 वर्ष पूर्व सुकरात को उनके ही शहरवासियों की एक जूरी ने मौत की सज़ा के रूप में हेमलॉक नाम के ज़हर से भरा प्याला पीने का आदेश दिया। एथेंस के क्रानून के मुताबिक़ सुकरात को इस सज़ा का विकल्प चुनने का अधिकार था। वे चाहते तो बदले में निर्वासन चुन कर अपने प्राण बचा सकते थे। लेकिन जब उनसे विकल्प पूछा गया तो उन्होंने बेहिचक कहा कि उन्होंने युवकों को जो सिखाया है उसके बदले एथेंस को उनका सम्मान करना चाहिए और एक शिक्षक के तौर पर उन्हें उसका शुल्क भी मिलना जरूरी है। सुकरात के इस कथन को उनकी उदंडता समझा गया। सुकरात के समर्थकों ने उन्हें मृत्युदण्ड वाले दिन से ठीक पहले कारागार से छुड़ाना चाहा ताकि वे एथेंस से बाहर जा कर अपना जीवन गुज़ार सकें। लेकिन अपना सारा जीवन एथेंस में ही गुज़ारने वाले सुकरात ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। उन्होंने कहा कि वे एथेंस के क्रानून का आदर करते हैं, उस क्रानून का भी जिसने उन्हें मौत की सज़ा दी है। प्लेटो के विवरण के अनुसार सुकरात ने शांति से ज़हर का प्याला पिया। उनका शरीर धीरे-धीरे सुन्न होने लगा। आखिरी साँस लेने से पहले सुकरात ने अपनी मृत्यु को देह से आत्मा की मुक्ति की संज्ञा दी।

देखें : अफ़लातून, आग्युस्त कॉम्ट, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल

हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, कार्ल रायमुंड पॉपर, ज्याँ जाक रूसो, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोतेस्की, जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस : पाडुआ के, रेने देकार्त, संत ऑगस्टीन, सुकरात, संत थॉमस एक्विना।

संदर्भ

1. आर. क्रॉट (1984), *सोक्रेटीज एंड द स्टेट*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
2. अन्ना एस. बेंजामिन (1965), *रिप्लेक्शंस ऑफ सोक्रेटीज एंड सोक्रेटीज डिफेंस बिफोर द जूरी ऑफ जेनोफोन*, बॉक्स-मेरिल, इण्डियानापोलिस.
3. *राजनीतिक सिद्धांतों का इतिहास* (1985), अनु. बुद्धिप्रसाद भट्ट, खण्ड-1, प्रगति प्रकाशन, मास्को.
4. जे. कोलमेन (2000), *अ हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट*, खण्ड-1, ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

सुदीप्त कविराज

(Sudipta Kaviraj)

राजनीतिक सिद्धांतकार, सांस्कृतिक-चिंतक, भाषा-साहित्य के विमर्शकार और समर्पित अध्यापक सुदीप्त कविराज (1945-) का लेखन सिद्धांत और व्यवहार के स्थापित फ़र्क को बौद्धिक रूप से अस्थिर करने की भूमिका निभाता है। वे भारतीय राजनीति के अध्ययन के माध्यम से युरोकेंद्रित राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन की सर्वमान्यता पर सवाल उठाने वाले विचारक हैं। लेकिन उनकी यह कोशिश एकतरफ़ा नहीं है। वे युरोकेंद्रीय दर्शन के योगदान के प्रति सजग रहते हुए वे भारतीय संदर्भों में राजनीतिक सिद्धांत रचने का आह्वान करते हैं और यही संवेदनशील और रैडिकल बौद्धिक प्रोजेक्ट कविराज की कृतियों को विशिष्ट और चुनौतीपूर्ण बनाता है। समाजशास्त्र, इतिहास, संस्कृति-अध्ययन, साहित्य-अध्ययन और राजनीतिक विश्लेषण के शोधार्थी और लेखक उनके काम की संवेदनशीलता और सैद्धांतिक व्यापकता को एक स्थापित कसौटी मानते हैं। कविराज के विमर्श की विशिष्टता को समझने के लिए उनके लेखन की गतिशीलता को आधार बनाना ज़रूरी है। इस लिहाज़ से तीन प्रमुख संदर्भ-बिंदुओं की पहचान हो सकती है : भारतीय राजनीति के विश्लेषण के लिए मार्क्सवाद की सैद्धांतिक उपयोगिता से संबंधित लेखन, भारतीय आधुनिकता की समझ के लिए उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद संबंधी लेखन, राजनीतिक विचारों के इतिहास, राजनीतिक अमल और

साहित्य के रिश्तों से संबंधित लेखन। हालाँकि ये तीनों विषय उनके लेखन के मूलबिंदु हैं, पर विश्लेषण की दृष्टि से इन विषयों को किसी काल-खण्ड में बाँटना भ्रामक और एकतरफ़ा हो सकता है। इसी वजह से कविराज के लेखन की तारतम्यता के प्रति सजग रहना ज़रूरी है। शैली के लिहाज़ से उनके लेख व्यवस्थित और क्रमबद्ध रहते हैं, लेकिन अपने तर्क की विभिन्न परतों को उघाड़ने के लिए वे अपनी भाषा के साथ कई तरह के प्रयोग करते हैं जिसकी वजह से उनका गद्य एक प्रवाहपूर्ण विशिष्टता से सम्पन्न हो जाता है। कविराज की रचनाएँ हमसे कहती हैं कि राजनीतिक गद्य का भी अपना अलग रूप-विधान हो सकता है। कविराज के अधिकांश लेख अंग्रेज़ी में हैं, लेकिन वे बांग्ला भाषा में भी लिखते रहे हैं।

सुदीप्त कविराज का जन्म और शुरुआती शिक्षा पश्चिम बंगाल में हुई। कलकत्ता के मशहूर प्रेसीडेंसी कॉलेज से राजनीति शास्त्र में एमए करने के बाद वे 1971 में दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र के प्रवक्ता बन गये। अध्यापन के प्रारम्भिक दौर में ही उन्होंने मार्क्सवाद और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन पर जनेवि से ही पीएचडी शुरू की। उनका यह शोध 1979 में पूरा हुआ। इस अभी तक अप्रकाशित थीसिस में कविराज ने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की जो मार्क्सवादी व्याख्या पेश की है, उसके कई तर्कों का विस्तार उनके इस दौर के अन्य लेखों में भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये 1983 में प्रकाशित अपने लेख *ऑन द स्टेट्स ऑफ मार्क्सिज़ रायटिंगज़ ऑन इण्डिया* में वे बताते हैं कि मार्क्स के भारत से संबंधित लेखन में ऐतिहासिकता की खोज करना या उनके द्वारा प्रतिपादित एशियाई उत्पादन पद्धति को एक क्रमबद्ध अवधारणा मानना उचित नहीं है। मार्क्स के युरोपीय-संदर्भ में लिखे अन्य लेखों का हवाला देते हुए कविराज साबित करते हैं कि मार्क्स द्वारा भारत पर लिखे लेखों को एक पद्धतिमूलक टिप्पणी की तरह में लेना चाहिए जो मार्क्स के सैद्धांतिक ढाँचे से निकलती है। कविराज की यह प्रस्तावना अपने आप में रैडिकल थी, क्योंकि उस समय तक भारतीय समाज-विज्ञान में मार्क्सवाद ने एक स्थापित मान्यता का रूप ग्रहण कर लिया था और मार्क्सवादी होने का अर्थ इतिहास और राजनीति को तयशुदा अर्थों में समझने से लिया जाता था।

अस्सी के दशक में कविराज ने मार्क्सवादी परिपेक्ष्य के भीतर रह कर संदर्भ-केंद्रित सिद्धांत की अपनी तलाश जारी रखी। यही वजह थी कि उनके लेखन में इतालवी मार्क्सवादी चिंतक एंतोनियो ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित अवधारणाएँ केंद्रस्थ होती चली गयीं। ग्राम्शी ने मार्क्सवाद को अपने देश के संदर्भ में समझने की कोशिश करते हुए एक ऐसे मार्क्सवाद को प्रस्तुत किया था जिसके ज़रिये विशिष्ट इतालवी पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक विमर्श का

अध्ययन किया जा सके। कविराज ने ग्राम्शी ही की तर्ज पर आधुनिक राज्य का सैद्धांतिक अध्ययन और समकालीन भारतीय राजनीति और पूँजीवाद की एक संशोधनपरक-मार्क्सवादी व्याख्या पर शोध प्रारम्भ किया। 1986-88 में प्रकाशित दो लेख *इंदिरा गाँधी ऐंड इण्डियन पॉलिटिक्स* और *ए क्रिटीक ऑफ द पैसिव रेवोल्यूशन* इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। इन लेखों में कविराज भारतीय पूँजीवाद और राजनीति के रिश्तों की संरचनात्मक-मार्क्सवादी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। उनका मूल तर्क यह है कि भारत में पूँजीवाद के संकट की बजाय उसकी सफलता ने शासक वर्ग के लिए राजनीतिक दुविधाएँ पैदा की जिसके चलते एक विशिष्ट राजनीतिक संकट उभरा। ग्राम्शी के पैसिव रेवोल्यूशन के सिद्धांत के हवाले से कविराज दर्शाते हैं कि ग्राम्शी की पद्धति के प्रासंगिक होने के बावजूद इस स्थिति को पैसिव रेवोल्यूशन नहीं कहा जा सकता।

तक्ररीबन इसी समय में रणजीत गुहा और उनके सहयोगियों ने सबाल्टर्न स्टडीज़ प्रोजेक्ट कि शुरुआत की। सबाल्टर्न स्टडीज़ का यह आरम्भिक काल भी ग्राम्शी के मार्क्सवाद से प्रभावित था। रणजीत गुहा स्वयं ब्रिटिश राज्य को 'डोमिनंस विदाउट हेजेमनी' के सिद्धांत से समझने कि वकालत कर रहे थे। इस स्थिति में कविराज का सबाल्टर्न स्टडीज़ की ओर रुझान स्वाभाविक था। वे स्वयं संशोधनपरक मार्क्सवाद के पक्षधर थे और अपने आरम्भिक लेखन में भारतीय इतिहास की विशिष्ट गतिशीलता को रेखांकित कर चुके थे।

कविराज के इस बदलते रुझान ने उनके लेखन को एक नयी दिशा दी। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के सैद्धांतिक पक्षों के अध्ययन के लिए ब्रिटिश औपनिवेशिक विमर्श का क्रमबद्ध विवेचन शुरू किया। भारत में उदारतावादी विचारधारा का विस्तार, औपनिवेशिक राज्य का स्वरूप और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय पर लिखे उनके कई लेख इस संदर्भ में उद्धृत किये जा सकते हैं। इन्ही लेखों का विस्तृत रूप उनकी पुस्तक *अनहैपी कांशसनेस : बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ऐंड द फॉर्मेशन ऑफ नैशनलिस्ट डिस्कॉर्स* (1993) में देखा जा सकता है। इस अपेक्षाकृत छोटी पुस्तक में कविराज ने साहित्य और राजनीति के अंतर्संबंधों का एक जटिल मूल्यांकन पेश किया। उनका मूल तर्क यह है कि राष्ट्रवाद की स्थापित कहानी के विपरीत ब्रिटिश औपनिवेशिकता को एक आधुनिक विमर्श के रूप में देखना चाहिए। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों और पहले से चले आ रहे राजनीतिक व्यवहारों के साथ एक नया रिश्ता क्रायम किया जिसकी वजह से एक अलग तरह की आधुनिक बौद्धिक परम्परा शुरू हुई। इस तर्क को उन्होंने अपने लेख 'द इमेजनरी इंस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया' में विकसित किया। दिलचस्प बात यह है की यह सबाल्टर्न

स्टडीज़ के लिए लिखा गया कविराज का एकमात्र लेख है।

1990 में कविराज स्कूल ऑफ ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज़ में बतौर रीडर नियुक्त हुए। इस समय तक उनका बौद्धिक कार्य दो दिशाओं में जारी था। एक ओर वे उपनिवेशवाद के विमर्श का अध्ययन करने के लिए भारतीय आधुनिकता में भाषा और साहित्य के रिश्तों पर शोध कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर भारतीय राजनीति में होने वाले नये परिवर्तनों का सैद्धांतिक विश्लेषण उनका प्रमुख बौद्धिक प्रोजेक्ट बन रहा था। यही कारण है कि 1995-2005 तक के उनके लेखन में न केवल उपनिवेशवाद के विमर्श का एक बेहद बारीक विश्लेषण मौजूद है बल्कि हिंदू राष्ट्रवाद और दलित राजनीति का उद्गम और भारतीय राजनीति में इन तत्त्वों के विशिष्ट समायोजन की व्याख्या भी है। कविराज के इस समय के लेखन ने आधुनिक दक्षिण एशिया/भारत की समझ के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इतिहास और भारतीय राजनीति की रोज़मर्रा की कशमकश के बीच एक बेहद दिलचस्प सैद्धांतिक रिश्ता क्रायम किया है।

कविराज के लेखन की इस गतिशीलता को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उनके बौद्धिक प्रोजेक्ट में ऐतिहासिकता की अवधारणात्मक स्थिति और सिद्धांत-वास्तविकता के अंतःसंबंध को समझें। उपनिवेशवाद के विमर्श पर आधारित अपने लेख, 'ऑन द कंस्ट्रक्शन ऑफ कोलोनियल पावर : स्ट्रक्चर, डिस्कॉर्स, हेजेमनी' में कविराज स्पष्ट करते हैं कि उपनिवेशवाद और उसके द्वारा तीसरी दुनिया के समाजों में लाये गये बदलावों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम इतिहास और राजनीतिक सिद्धांत के बीच की स्थापित दूरी को न मिटा दे। वे यह बात स्पष्ट करते हैं कि उपनिवेशवाद का अध्ययन एक सैद्धांतिक प्रोजेक्ट भी हो सकता है। इसके लिए ज़रूरी है कि हम इतिहास को नये सिरे से रचने का प्रयोजन छोड़ कर इतिहास के मौजूदा ज्ञान से कुछ दूसरी किस्म के राजनीतिक सवाल पूछें। घटनाओं की तारीख और उनमें व्यक्तियों की भूमिका की चर्चा करने के बजाय यदि हम उन संरचनाओं को समझने की कोशिश करें जिनके मध्य कोई एक घटना वास्तव में घटना बनती है, तब हम उस विमर्श की सामाजिक पैठ का विश्लेषण कर सकते हैं जिसने हमें ऐतिहासिक तौर पर निर्मित किया है।

कविराज का मत है कि सिद्धांत-रचना का अर्थ क्रतई तौर पर व्यावहारिकता को नज़रअंदाज़ करना नहीं है। उनके लिए सिद्धांत रचना सदैव ऐतिहासिक क्रमबद्धता से जुड़ी होती है। अपने लेख 'ऐन आउटलाइन ऑफ अ रिवीज़निस्ट थियरी ऑफ मॉडर्निटी' में वे लिखते हैं कि युरोप-केंद्रित सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराएँ और सिद्धांत हमें अपनी ओर आकर्षित करते से लगते हैं। ये सिद्धांत युरोप की

विशिष्ट परिस्थितियों और संकटों के गर्भ से निकले हैं लेकिन इनमें एक सैद्धांतिक गूढ़ता है। कविराज के अनुसार भारतीय आधुनिकता की ऐतिहासिकता और क्रम अलग तरह का है। इसलिए उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय आधुनिकता की व्याख्या के लिए जरूरी है कि युरोपीय सिद्धांतों की विश्लेषण सीमा इंगित करते हुए भारतीय परिस्थितियों का संवेदनशील और बारीक अध्ययन हो ताकि राजनीतिक स्पष्टीकरण की एक विशिष्ट भारतीय पद्धति विकसित हो सके।

कविराज की प्रासंगिकता उनके वैचारिक खुलेपन में निहित है। सत्तर के दशक में वे मार्क्सवादी हो कर भी मार्क्स के सिद्धांत की सीमाओं पर लिख रहे थे। अस्सी के दशक में वे ग्राम्शी से प्रभावित होने के बावजूद पैसिव रिवोल्यूशन की सीमित उपयोगिता की ओर इशारा कर रहे थे। सबाल्टर्न स्टडीज़ से सहानुभूति रखने के बावजूद उन्होंने सबाल्टर्न लेखन का दावा नहीं किया। हाल के वर्षों में आधुनिकता और लोकतंत्र को समझने के लिए उन्होंने कभी भी फ्रैशनेबिल उत्तर-आधुनिकता का सहारा नहीं लिया। उनके लेखन में जहां मार्क्स, ग्राम्शी, फूको, टॉकवील और टेलर के लिए स्थान है; वहीं बंकिमचंद्र, रवींद्रनाथ, गाँधी और नेहरू भी सहजता से मिल जाते हैं। इस खुलेपन के बावजूद, कविराज की एक सटीक बौद्धिक-राजनीतिक मुद्रा है जिसकी बदौलत वे विचारों की संवेदनशीलता के प्रति सजग रहते हुए भी पश्चिमी वर्चस्व का विरोध कर पाते हैं।

कविराज इस समय न्यूयॉर्क की कोलम्बिया युनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।

देखें : आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, धीरूभाई शेठ, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, निष्क्रिय क्रांति, पार्थ चटर्जी, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, मानवाधिकार, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में सार्विक मताधिकार, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज, संस्कृति : मार्क्सवादी विमर्श।

संदर्भ

1. सुदीप्त कविराज (2005), *द अनहैपी कांशसनेस : बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय एंड द फ़ार्मेशन ऑफ़ नैशनलिस्ट डिस्कॉर्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. सुदीप्त कविराज (2010), *इमेजिनरी इंस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया : पॉलिटिक्स एंड आइडियाज़*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. सुदीप्त कविराज (1997), *ऑन द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ द कोलोनियल पावर : स्ट्रक्चर, डिस्कॉर्स, हेजेमनी*, सुदीप्त कविराज (सम्पा.), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. सुदीप्त कविराज (1983), 'ऑन द स्टेट्स ऑफ़ मार्क्सज़ राइटिंगज़ ऑन इण्डिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 11, अंक 9 (कार्ल मार्क्स विशेषांक).

— हिलाल अहमद

सुधार

(Reform)

सुधार या रिफ़ॉर्म का आधुनिक अर्थ है निरंतरता कायम रखते हुए परिवर्तन अर्थात् उथल-पुथल मचा देने वाले किसी एकमुश्त बुनियादी परिवर्तन से बचते हुए पहले के मुकाबले बेहतर होते चले जाना। सुधारों में पुराने समाजों का नवीकरण करने की क्षमता होती है। सुधारों से गुज़रने वाले व्यक्ति, समाज या संस्था में से अवांछित समझे जाने वाले पहलू निकल जाते हैं, लेकिन जो पहले था उसे नष्ट करके एकदम नया बनाने की क्रांतिकारी प्रक्रिया नहीं चलती। दिलचस्प बात यह है कि आधुनिकता से पहले रिफ़ॉर्म का अर्थ इसका ठीक उल्टा था। इसका मतलब था रि-फ़ॉर्म यानी जो रूप पहले था उसी को फिर से धारण करना। मसलन, सिपाहियों को अपनी क्रतारें रि-फ़ॉर्म करने का आदेश दिया जाता था। इस अर्थ को समाज, धर्म और राजनीति के दायरों में रूढ़ करने की भूमिका सोलहवीं सदी के दौरान ईसाई धर्म के भीतर मार्टिन लूथर के नेतृत्व में चले प्रोटेस्टेंट रिफ़ॉर्मेशन आंदोलन ने निभायी। लूथर की मुहिम तत्कालीन कैथोलिक चर्च के भ्रष्टाचार के बरक्स आध्यात्मिकता के पुराने और अपेक्षाकृत शुद्ध रूपों की पुनः स्थापना के लिए थी। ज़ाहिर है कि सुधार की परिघटना का यह पीछे मुड़कर देखने वाला पहलू अपने व्यापक अर्थों में अतीतोन्मुखता और पुरानी व्यवस्था के जीर्णोद्धार जैसे कार्यक्रमों से जुड़ा हुआ था। आधुनिकता और सेकुलरीकरण ने रिफ़ॉर्म के इस अर्थ को पूरी तरह से बदल कर उसे प्रगति के विचार से जोड़ दिया। व्यक्तिगत चरित्र से लेकर सामुदायिक रीति-रिवाजों, धार्मिक तौर-तरीकों, राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों में सुधार की कोई भी माँग या उसके आधार पर चलाई जाने वाली किसी भी मुहिम की आलोचना प्रतिक्रियावादी या यथास्थितिवादी कही जाने लगी।

भूमण्डलीकरण संबंधी अध्ययनों में सुधार का तात्पर्य न्यू पब्लिक मैनेजमेंट (एनपीएम) से है। इसके तहत अपनायी जाने वाली प्रक्रियाओं और रणनीतियों से राजनीतिक प्रणालियों में भीतरी तब्दीलियाँ लायी जाती हैं। एनपीएम की थियरी का प्रतिपादन लुई गन और क्रिस्टोफ़र हुड ने अस्सी के दशक के मध्य में किया था। इन परिवर्तनों का मकसद होता है नियम-आधारित और प्राधिकार-आधारित प्रक्रियाओं को बाज़ार-आधारित और स्पर्धा-आधारित कार्यनीतियों से प्रतिस्थापित करना। एनपीएम को सुधार के ग्लोबल मूवमेंट



सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921)

की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि तत्कालीन एक ही रणनीतियों के आधार पर अस्सी से नब्बे के दशक के बीच में कई राष्ट्रों ने सुधार के इस एजेंडे पर अमल किया। एनपीएम के छह मुख्य लक्षण गिनाये गये हैं : उत्पादकता में बढ़ोतरी करने वाले कार्यक्रमों को अपनाना, प्रबंधकों की कार्यशैली बदलने के लिए बाजार द्वारा अख्तियार करने वाले तौर-तरीकों पर जोर देना, नागरिकों को 'क्लाइंट' के तौर पर देखना, शासन के निचले स्तर तक विभिन्न कार्यक्रमों का विकेंद्रीकरण करना, सरकार के नीति संबंधी दायित्वों को उसके सेवा मुहैया कराने वाले दायित्वों से अलग कर देना, और जवाबदेही की कसौटियों को बदलना (ऊपर से नीचे आने वाले नियम आधारित ढाँचे की जगह नीचे से ऊपर जाने वाले परिणाम आधारित ढाँचे को क्रायम करना ताकि प्रक्रियाओं और संरचनाओं की जगह उत्पादन और नतीजों पर ज्यादा जोर दिया जा सके)। एनपीएम मान कर चलता है कि प्रबंधन में सुधार लाने की यह मुहिम भूमण्डलीकरण के युग में आर्थिक समृद्धि और सामाजिक स्थिरता के उद्देश्य से सुशासन की धारणा के इर्द-गिर्द खुद को गोलबंद करती है और उसी के मुताबिक लक्ष्य, भूमिका, क्षमता और संबंधों के समीकरण का विन्यास किया जाता है। एनपीएम की धारणा है कि पब्लिक मैनेजमेंट संबंधी सुधारों से सरकार और नागरिकों के बीच का संबंध बदल कर उसे नव-उदारतावादी मूल्यों के मुताबिक ढाला जा सकता है।

विभिन्न तरह की सरकारों द्वारा एनपीएम को अपनाये जाने के बावजूद उसे दुतरफा आलोचना का सामना करना

पड़ा है। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के आलोचक एनपीएम के भी सबसे बड़े आलोचक हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भी उसे आड़े हाथों लिया गया है और कल्याणकारी राज्य का समर्थन करने वालों ने भी उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया है।

मार्क्सवादियों की परम्परा परिवर्तन के संदर्भ में सुधार के बजाय क्रांति को प्राथमिकता देने की रही है। किसी विफल होती हुई संस्था में सुधार की माँग का तात्पर्य होगा उसके सांगठनिक ढाँचे का पुनर्गठन, अधिकारों का नये सिरे से बँटवारा और ज़िम्मेदारियों के पुनः आबंटन। बजाय इसके क्रांतिकारी रवैया उस संस्था को पूरी तरह से भंग करके उसकी जगह नयी संस्था स्थापित करने की माँग करेगा। दरअसल, क्रांति का विमर्श परिवर्तन के माध्यम के रूप में 'सुधार' को किसी क्रिस्म की वैधता देने से इनकार करता है। मार्क्सवाद में विश्वास करने वाले क्रांतिकारियों की पीढ़ियाँ संसदीय राजनीति को सुधारवाद का पर्याय मान कर उसके विरोध की खुराक पर पली-बढ़ी हैं। क्रांतिकारी विचारकों की मान्यता है कि सुधार कभी बुनियादी स्थितियों को नहीं बदलते। वे केवल सतही परिवर्तन ही अंजाम दे पाते हैं। सुधार कभी भी निजी सम्पत्ति के संस्थागत रूपों को नहीं बदलते और इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था को टिकाये रखने के माध्यम बन जाते हैं। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग ने 1899 में प्रकाशित अपनी रचना *सोशल रिफॉर्म ऑर रेवोल्यूशन* में जर्मन समाजवादियों के सुधारवादी रुझानों पर आक्रमण करते हुए उसे पूँजीवादी लोकतंत्र का ही एक रूप करार देती हैं। रोज़ा की स्पष्ट मान्यता थी कि संसदीय राजनीति के तहत होने वाला क्रमिक परिवर्तन सर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा नहीं कर सकता। सुधारवाद के सबसे बड़े आलोचक तो लेनिन थे। उन्होंने अपनी विख्यात रचना *द स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में लिखा है कि संसदीय चुनावों के ज़रिये एक निश्चित अवधि के बाद यह तय होता है कि शासक वर्ग का कौन सा हिस्सा और कौन सा नेता जनता का दमन और उत्पीड़न करेगा।

दूसरी तरफ़ उदारतावादी सुधारों में यकीन करते हैं। जेरेमी बेंथम और उनके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के दर्शन ने उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में हुए कई प्रमुख सुधारों को दार्शनिक आधार मुहैया कराया था। 'अधिकतम लोगों को अधिकतम खुशी' मुहैया कराने के उद्देश्य के मुताबिक उपयोगितावाद के पैरोकारों ने कई तरह के वैधानिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों के लिए दबाव बनाया। बेंथम का आग्रह था कि 'प्राकृतिक क़ानून' या 'प्राकृतिक अधिकार' जैसे हवाई विचारों के चक्कर में फँसे बिना उपयोगिता की बुद्धिसंगत पैमाइश करते हुए उसके आधार पर विधिनिर्माण किया जाना चाहिए। इन उपयोगितावादियों ने ऐडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो द्वारा प्रवर्तित क्लासिकल पॉलिटिकल

इकॉनॉमी का समर्थन किया। जाहिर है कि ये लोग बाज़ार के कामकाज में किसी भी क्रिस्म के संरक्षणवाद या इजारेदारी द्वारा बाधा डालने का विरोध करते थे। इन लोगों ने राजनीतिक सुधारों के जिस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया उसके केंद्र में लोकतंत्र और गुप्त मतदान द्वारा होने वाला चुनाव था। इन सुधारकों की बदौलत ब्रिटेन एक पदानुक्रमवादी और कुलीनतंत्रीय व्यवस्था से बदल कर आधुनिक संसदीय लोकतंत्र का रूप ग्रहण कर पाया।

समाजवादी सुधारकों ने भी उदारतावाद के कई आयामों को अपनाया। 1884 में स्थापित फ़ेबियन सोसाइटी ने क्रांतिकारी समाजवाद को ख़ारिज करते हुए एक ऐसे समाजवादी समाज की तजवीज़ की जिसे निरंतर चलने वाले योजनाबद्ध सुधारों के ज़रिये पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर से उभरना था। फ़ेबियन समाजवाद ने अपना नामकरण उस रोमन सेनापति फ़ेबियस मैक्सिमस के नाम पर किया था जिसने अपनी धीरजभरी और टालू क्रिस्म की समरनीति के दम पर हनीबाल की हमलावर फ़ौजों को हरा दिया था। यही नीति आगे चल कर 'क्रमशःवाद की अपरिहार्यता' के रूप में सूत्रीकृत हुई। सुधारवाद की यह वामपंथी परम्परा संसदीय प्रणाली में यक्रीन करने वाले युरोपियन और अन्य समाजवादियों ने अपनायी। जर्मनी में एडुअर्ड बर्नस्टीन ने 1898 में 'इवोल्यूशनरी सोशलिज़्म' लिख कर क्रांतिकारी मार्क्सवाद की आलोचना की और पूँजीवाद से समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण का सिद्धांत पेश किया। पश्चिमी सामाजिक जनवाद का आधार यही है। 1956 में एंथनी क्रॉसलैण्ड ने अपनी रचना 'द प्र्यूचर ऑफ़ सोशलिज़्म' में दावा किया कि समाजवाद का मतलब पूँजीवाद का उन्मूलन करके उसकी जगह जन-स्वामित्व की स्थापना नहीं है, बल्कि समाज में सुविधाओं के अधिक समतामूलक बँटवारे के ज़रिये समानता के लक्ष्य की तरफ़ निरंतर बढ़ते जाना है। क्रॉसलैण्ड का विचार था कि यह लक्ष्य समाज सुधार की क्रमिक प्रक्रिया, कल्याणकारी राज्य के विस्तार और शिक्षा सुविधाओं में निरंतर सुधार के माध्यम से हो सकता है।

सुधार के पक्ष में तीन सबसे मज़बूत तर्क दिये जाते हैं। पहला, सुधार शांतिपूर्ण होते हैं। टुकड़ों-टुकड़ों में धीरे-धीरे एक लम्बी अवधि में किये जाने के कारण उनके कारण हिंसा और उथल-पुथल नहीं मचती। शुरू में भले ही सतही लंगों पर अंत में उनका कुल योगफल बुनियादी परिवर्तन जैसा ही निकलता है। दूसरा, जो पहले से मौजूद है उसे ख़ारिज या नष्ट करने के बजाय सुधार उसी के आधार पर अपने ढाँचे का निर्माण करते हैं। इस तरह वे अतीत और वर्तमान दोनों से लाभान्वित होने में सफल रहते हैं। तीसरा, सुधार एक वर्धमान प्रक्रिया है जो छोटे-छोटे क्रम उठा कर पूरी होती है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य का विकास इसी तरह से

हुआ है। तीस के दशक में रूज़वेल्ट द्वारा उठाये गये क्रदमों की बुनियाद पर ही अमेरिका राज्य साठ के दशक में कल्याणकारी नीतियों का कार्यक्रम लागू कर पाया। इसी तरह ब्रिटेन में प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान किये गये कार्यक्रमों की बुनियाद पर ही चालीस के दशक में एटली ने सुधार की नीतियाँ तैयार कर पायीं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, ऐडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यों जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़ेड्रिख़ वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, संविधानवाद, संघवाद, सामाजिक समझौता, सिद्धांत, सिद्धांत : राजनीतिक-सामाजिक, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एंड्रू हेवुड (2004), 'ट्रेडिशन, प्रोग्रेस ऐंड यूटोपिया', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
2. रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग (1899/1937), *रिफ़ॉर्म ऑर रेवोल्यूशन*, श्री एरोज़, न्यूयॉर्क.
3. एडुअर्ड बर्नस्टीन (1909), *इवोल्यूशनरी सोशलिज़्म*, आईएलपी, लंदन.
4. आर. गुडिन (1995), *यूटिलिटेरियनिज़्म एज़ अ पब्लिक फ़िलॉसॉफी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

सुब्रह्मण्य भारती

(Subhramanya Bharti)

आधुनिक भारतीय साहित्य के निर्माताओं में से एक सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921) का कृतित्व भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन की लय से सम्पन्न है। वे द्रष्टा कवि, भारतीय नवजागरण के अग्रदूत तथा नयी वैचारिक संवेदना के संदेशवाहक हैं। भारती ने तमिल जाति के इतिहास में नये विचारों का योगदान किया जिससे तमिल साहित्य में परिवर्तन की गति तेज़ हो गयी। भारती को देशभक्ति का कवि-गायक माना जाता है, पर यह कम लोग ही जानते हैं कि आधुनिक तमिल गद्य के निर्माताओं में भी उनका नाम अविस्मरणीय है। तमिल का परिष्कार करके उन्होंने ओजस्वी गद्य लिखा। पत्रकार के रूप में उन्होंने राजनीति, धर्म, संस्कृति, पुराण और मिथक पर कलम चलाई और अनुवाद, कहानी, निबंध, रिपोर्ताज सभी विधाओं में रचनाएँ कीं। इस गद्य की अंतर्वस्तु काव्य की ही भाँति सुधार भावना तथा देशभक्ति से पूर्ण है। नारी यातना तथा अछूतों के शोषण पर वे जम कर लिखते रहे। उन्होंने पुरुषों से आग्रह किया कि वे नारी को बराबरी का दर्जा दें तथा उसकी महिमा-महत्ता स्पष्ट करें।

सुब्रह्मण्य भारती ने 1882 में तिरुनेलवेली एट्टयपुरम ग्राम में जन्म लिया। उनके पिता चिन्नस्वामी अय्यर एक जमींदार की सेवा में थे। उनके नाना ने उन्हें तमिल की प्राचीन साहित्य परम्परा से परिचित कराया और वे दस वर्ष की आयु में ही कविता लिखने लगे। जनता में इतने लोकप्रिय हुए कि उन्हें 'भारती' की उपाधि दी गयी। परिस्थितियाँ इस प्रसिद्ध कवि को बनारस ले गयीं जहाँ अपनी बुआ के पास रह कर उन्होंने संस्कृत-हिंदी-अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त किया। बनारस के दिनों में ही उन्होंने पगड़ी बाँधना शुरू किया और मूँछें बढ़ा लीं। एनी बेसेंट के भाषणों से प्रभावित हो कर भारती का कवि जड़ काव्य-रूढ़ियों को तोड़कर क्रांतिकारी हो गया। भारती शेली की कविता पर मुग्ध थे और फुरसत के क्षणों में शेली, कम्बन और इलंगो का अध्ययन करते। उन्होंने स्वामी विवेकानंद, अरविंद और तिलक के भाषणों का अनुवाद किया। इसी बीच कवि भारती ने तीन संकल्प किये— राजनीतिक चेतना, जाति भेद का अंत तथा भारतीय नारियों का उत्थान।

भारत की प्राचीन भाषाओं में तमिल का स्थान संस्कृत के बराबर है। इस भाषा के पास दो हजार वर्षों की सृजन-चिंतन परम्परा का खज़ाना है। विद्वान मानते हैं कि तमिल का लिखित इतिहास ईसा की दूसरी शताब्दी से प्राप्त होता है।

तमिल परम्परा में 473 कवियों (जिनमें 102 अज्ञात हैं) की पुष्प माला है जिसे *एट्टुनोगै* तथा *पात्तुपार* में संकलित किया गया है। इस सम्मिलित रूप को ही संगम काव्य कहा जाता है। संगम काव्य के बाद तमिल में महाकाव्य का युग आया। इलंगो के *शिलप्पदिकारम्*, सित्तलै सात्तनार के *मणि मेखलै* और तिरुक्क देवट के *जीवंत चिंतामणि* इन तीन महाकाव्यों में काव्य-कला का उत्कर्ष तथा परम्परा का नया संदर्भ मिलता है। मध्यकाल में तमिल ने जन भाषा की सर्जनात्मक शक्ति को पहचान कर उसमें सृजन प्रयोग किये। संत कवियों ने तमिल में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की और कम्बन के प्रख्यात महाकाव्य *रामावतारम्* की रचना से नयी पौ फटी। कम्बन रामायण का प्रभाव तुलसीदास के *रामचरितमानस* पर भी दिखाई देता है। इसी परम्परा में नये स्वर फूटे और परम्परा का विपरीत दिशा में विकास हुआ। वेद नायकम् पिल्लै, राजन अय्यर, उ.व. स्वामिनाथ अय्यर जैसे कवि-कथाकार हुए लेकिन कविता तथा गद्य का ढाँचा नहीं बदला। तमिल भाषा तथा काव्य को सुब्रह्मण्य भारती की प्रतीक्षा थी। उन्होंने आकर परम्परा को आधुनिक रूप दिया।

फिरंगी शासन ने भारती देशभक्तिपूर्ण कविताओं पर कड़ा रुख अपनाया। भारती पाण्डुचेरी चले गये और वहीं से अपनी गतिविधियों को चालू रखने का मन बनाया। *विजया*, *कर्मयोगी* तथा *बाल भारत* जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। अपने स्वभाव के कारण वे लाला लाजपतराय, अरविंद तथा तिलक से प्रभावित हुए। 20 नवम्बर, 1918 को भारती फ्रेंच और ब्रिटिश इण्डिया की सीमा में क़ैद कर लिए गये। एनी बेसेंट तथा रामास्वामी अय्यर के कारण जेल से छूटे। तिरुनेलवेली में उनका भव्य स्वागत किया गया। गाँधी और उनके विचार-दर्शन के प्रति निष्ठा से वे गाँधीमय हो गये। त्रियलिकेन मंदिर में एक हाथी को नारियल खिलाते समय उस हाथी ने ही उन्हें पटक दिया। 12 दिसम्बर, 1921 को उन्होंने संसार छोड़ दिया। उनकी उम्र अभी चालीस वर्ष की भी नहीं थी।

भारती के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य को विविधता की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है : देशभक्तिपरक गीत, भक्तिपरक गीत, विविध गीत और तीन महान गीत— कण्णनपट्टु (कृष्ण गीत), पांचाली शपथम्, कोइलपट्टु (कोयल गीत)। दिलचस्प बात यह है कि उनके गीतों का कथा-प्रवाह विचारों की लय को तीव्र बनाता चलता है और प्रत्येक कविता अपने में स्वतंत्र है। उनके छोटे गीत दूर तक मार करते हैं। जैसे 'चिंगारी' कविता में भारती लिखते हैं : *संयोग से मैंने एक चिंगारी उठाई/ और उसे एक जंगली पेड़ की खोखल में रख दिया/ और वह जंगल राख हो गया/ हा, हा, हा, आग की इस विनाश-शक्ति के समक्ष/ क्या कोई बड़ा या छोटा है/ या फिर, जवान या बूढ़ा है भला।* कविता

में आग का प्रतीक बहुलार्थक है और उसे अनेक संदर्भों से जोड़ कर एक पाठ उठाया जा सकता है और उस पाठ के अनेक निहितार्थ सामने आ सकते हैं। इसका ध्वन्यर्थ व्यंजनाओं की शक्ति का प्रतीक है। हिंदी कवि जयशंकर प्रसाद, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी तथा भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं की तरह भारती के गीत अर्थ की एकलयता को तोड़ते हैं और एक साथ कई नये अर्थों की निष्पत्ति करते हैं।

पाण्डुचेरी प्रवास के दिनों में भारती की रचनाओं में आलवार वैष्णव भक्तों का कृष्ण रस बाल लीला चित्रण में छलक उठा। 'कृष्ण गीत' की संगीतात्मकता में लोकलय की झूम है। कृष्ण गीतों में तेईस गीत हैं। *गीत-गोविंद* का यह नया कृष्ण स्वर है जिसमें सूरदास के पदों की लयात्मक तन्मयता एवं मीरा-भाव की समग्र चरम समाधि है। भारती निरंतर पौराणिक प्रसंगों की आधुनिकता सामने लाते रहे। 'द्रौपदी का गीत' नारी शक्ति का स्मरण है। यह कविता है तो राजनीतिक, लेकिन इसका सांस्कृतिक स्रोत कम महत्वपूर्ण नहीं है। द्रौपदी को कुरु दरबार में परतंत्र मातृभूमि के रूप में पाना एक सशक्त प्रतीक है। 'पांचाली शपथम्' राजनीतिक कविता है जिसमें द्रौपदी का क्रोध सामने आता है। कुछ समय बाद भारती ने 'कुइलपाट्टु' (कोयल गीत) की रचना की। यह कथात्मक कविता सात सौ पचास पंक्तियों की है जिसके पात्र पशु हैं और नायिका एक भारतीय कोयल। यह कॉलरिज की 'कुबला खाँ' जैसी फ्रंतासी है। भारती अछूतों को देखकर द्रवित थे। रघुनाथ राव की पत्रिका *रैंडिकल सोशल रिफॉर्म* में उन्होंने लेख लिख, जातिवाद का खण्डन किया तथा नारी सुधार आंदोलन की ओर क्रदम उठाये। प्रश्नाभाव से भारती पूछते रहे कि धर्म-धर्म के बीच यह कैसा भेदभाव। बाल विवाह, विधवा विवाह जैसे समाज सुधार आंदोलनों में उन्होंने अगुआ भूमिका निभायी। भारती की 'नूतन नारी' कविता एक नयी हवा की लहर है। उनकी 'गद्य कविताओं' का आज विशेष महत्त्व है।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नजरूल इसलाम, कुमार आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, जय प्रकाश नारायण, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरुंडेल, विनोबा भावे, वल्लत्तोल नारायण मेनन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, हजारि प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. शिशिर कुमार दास (सम्पा.) (1996), *इंटीग्रेटेड हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर* (दो भाग), साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
2. डॉ. नगेंद्र (सम्पा.) (1994), *भारतीय साहित्य का समेकित*

इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन, निदेशालय, नयी दिल्ली.

3. प्रेमानंद कुमार (1979), *भारती* (भारतीय साहित्य के निर्माता) साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
4. के. एस. रामस्वामी शास्त्री (1995), *सुब्रह्मण्य भारती, हिज माइंड ऐंड आर्ट*, वेल्थ ऐंड वेलफेयर ऑफिस, मद्रास.

— कृष्णादत्त पालीवाल

सूचना

(Information)

अनुसंधान से विवेक तक की यात्रा का पहला महत्वपूर्ण पड़ाव सूचना है। शोध और संग्रह से तथ्यों और सामग्री की प्राप्ति होती है जिनके सुव्यवस्थित रूप से सूचना बनती है। सूचना या सूचनाओं के आधार पर ही ज्ञान की संरचनाएँ खड़ी होती हैं। ज्ञान का संश्लेषण करके उसे किसी उद्देश्य के लिए प्रयोग करने का निर्णय विवेक द्वारा लिया जाता है। तथ्यों और सामग्री की तरह सूचना आसानी से स्थानांतरित की जा सकती है, इसलिए वह विनिमय की वस्तु बन कर एक पण्य के रूप में आर्थिक गतिविधि का अंग बनती है। फ़र्म और संस्थाएँ सूचना के उत्पादन, संग्रह, विनिमय, वितरण, परिसंचार, संसाधन, प्रसारण और नियंत्रण में लगी रहती हैं। अर्थव्यवस्था में सूचना के बढ़ते हुए महत्त्व ने एक पूरे इनफ़ॉर्मेशन सेक्टर को ही जन्म दे दिया है। एक अवधारणा के रूप में सूचना को उसकी संचार-प्रणाली से काट कर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इसलिए समाज-विज्ञान में अधिकांशतः सूचना और उसकी प्रौद्योगिकी पर एक साथ विचार किया गया है।

जिस तरह कभी राष्ट्र-राज्य भू-क्षेत्र पर कब्जे और नियंत्रण के लिए संघर्ष किया करते थे और जिस तरह कच्चे माल व सस्ते श्रम के संसाधनों के दोहन के लिए साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक अभियान चलाये जाते थे, आज के ज़माने में उसी तरह सूचनाओं पर क्राबिज होने की कोशिशें की जाती हैं। समाज-विज्ञान की निगाह में सूचना एक ऐसा प्रतिमान है जिसके माध्यम से सामाजिक विकास की नयी प्रवृत्तियों की व्याख्या की जा सकती है। चूँकि समाज का आर्थिक आधार कारखाना-उत्पादन के बजाय सेवा-आधारित होता जा रहा है, इसलिए दो दशक पहले तक सिद्धांतकारों द्वारा उसे उत्तर-औद्योगिक की संज्ञा दी जा रही थी। हालाँकि सेवा-आधारित अर्थव्यवस्था की अहमियत अभी कम नहीं हुई है, पर इसके बावजूद समाजवैज्ञानिकों ने मौजूदा दौर की व्याख्या उत्तर-

औद्योगिक के बजाय सूचना-समाज के रूप में करनी शुरू कर दी है।

मानव-इतिहास के प्रत्येक दौर में सूचना के उत्पादन, प्रयोग, संग्रह और वितरण का केंद्रीय महत्त्व रहा है। लेकिन, एक अवधारणा के तौर पर सूचना की जाँच-पड़ताल बहुत कम हुई है। सूचना-समाज के पैरोकार भी एक विचार के रूप में सूचना के सूत्रीकरण पर ज्यादा दिमाग खपाते नहीं दिखाई देते। इसीलिए इतनी महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद सूचना का वैचारिक इतिहास उकेरना आसान नहीं है। आधुनिक युग में सूचना पर सैद्धांतिक चिंतन की शुरुआत 1948 में प्रकाशित क्लॉड शैनन के लेख 'द मैथेमेटिकल थियरी ऑफ़ कम्युनिकेशन' से मानी जाती है। शैनन बैल टेलिफोन कम्पनी में काम करते थे। पहली नज़र में उनकी यह रचना पूरी तरह से गणितीय है, लेकिन इसने मीडिया और संस्कृति संबंधी चिंतन को बुनियादी रूप से प्रभावित किया है।

शैनन ने अपने इस लेख में संचार के तकनीकी पहलुओं को उसके समाजशास्त्रीय या दार्शनिक सार से काट कर देखने की कोशिश की है। उनके लिए संचार एक इंजीनियरिंग संबंधी प्रश्न है, न कि समाजशास्त्रीय। साठ साल पहले लिखे गये इस लेख की केंद्रीय जिज्ञासा यह है कि कोई भी संचार-प्रणाली किसी सूचना-संदेश को कैसे संसाधित करती है। आज की भाषा में इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि एक मोबाइल फ़ोन वह टेक्स्ट मैसेज कैसे भेज देता है जिसकी जानकारी उस फ़ोन की डिज़ाइन बनाने वाले इंजीनियर को पहले से नहीं थी। शैनन के पास इसका जवाब यह था कि कुछ पूर्व-परिभाषित चरों (वेरिबल्स) के माध्यम से वह संदेश बनता और स्थानांतरित होता है।

इस तरह शैनन संचार को एक अर्थ-विषयक (सीमेंटिक) समस्या के रूप में न देख कर एक सांख्यिकीय सम्भावना की तरह पेश करते हैं। उनका बुनियादी विचार यह है कि उत्पादन और प्रसारण की एक निश्चित दर के आधार पर एक निश्चित मात्रा में सूचना उस समय पैदा होती है जब किसी संदेश के माध्यम से पूर्व-परिभाषित चरों में से कुछ का चयन किया जाता है। संदेश जारी करने वाली प्रणाली जितनी जटिल होगी, वह अपने प्रयोगकर्ता को उतनी ही ज्यादा संख्या में पूर्व-परिभाषित चरों में से चुनाव करने का मौक़ा देगी। चयन का अवसर जितना बड़ा होगा, प्रणाली उतनी बढ़ी हुई दर से सूचना का उत्पादन और प्रसारण कर पायेगी। शैनन के अनुसार ऐसी किसी भी प्रणाली के पाँच बुनियादी घटक होते हैं : सूचना का स्रोत (मनुष्य या मशीन), ट्रांसमीटर (संदेश को कोड्स में बदल कर सिगनल बनाना), चैनल (माध्यम जिससे सिगनल प्रसारित होगा), रिसीवर (जो कोड्स को डिकोड करेगा) और डेस्टिनेशन

यानी सूचना की मंज़िल। सूचना भेजने की इस प्रक्रिया में शोर-गुल या कोलाहल की दखलंदाजी से वह विकृति का शिकार हो सकती है। यहीं रिसीवर की अहमियत पैदा होती है जो प्राप्त कोड्स (चाहे वे टेलिफ़ोनी के ध्वन्यात्मक कोड हों या डॉट-डैश सरीखे वायरलैस कोड हों) को डिकोड करके मंज़िल तक पहुँचाता है।

शैनन के साथी वारेन वीवर ने उनके साथ प्रकाशित एक निबंध में संचार को तीन हिस्सों में बाँटा है : तकनीकी समस्या, संदेश की अर्थ-विषयक समस्या और उसके समाजशास्त्रीय पहलू। उनके लिहाज़ से तकनीकी पक्ष की अहमियत सबसे ज्यादा होनी चाहिए क्योंकि सिगनल जितना सही पैदा होगा, अर्थ उतना ही स्पष्ट होगा जिससे उसके सामाजिक या कार्रवाईगत पहलू उतने ही प्रभावित होंगे। शैनन और वीवर द्वारा तैयार किये गये सूचना-उत्पादन और प्रसारण के इस मॉडल को कई विद्वानों द्वारा उलट-फेर कर आजमाया गया है। ज्यादातर समाजवैज्ञानिक सूचना और संचार के तकनीकी पहलू को नज़रअंदाज़ करते हुए अर्थ-विषयक और समाजशास्त्रीय पहलू पर अधिक बल देते हैं। लेकिन भले ही वे शैनन और वीवर की तरह संचार की गणितीय प्रकृति की उपेक्षा कर दें, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें भी सूचना के माध्यम की प्रौद्योगिकीय प्रकृति पर गहरा ध्यान देना पड़ता है।

मार्शल मैकलुहन ने 1964 में प्रकाशित अपनी प्रमुख रचना *अंडरस्टैंडिंग मीडिया* में शैनन की ही भाँति प्रौद्योगिकी के विश्लेषण को अधिक अहमियत दी है, न कि प्रसारित संदेश की सारवस्तु को। इसीलिए उनका निष्कर्ष इस मशहूर फ़िकरे के रूप में सामने आता है कि 'माध्यम ही संदेश है।' शैनन और वीवर की दिलचस्पी केवल सिगनल और उसकी कोडिंग और डिकोडिंग कर सकने वाली गणितीय प्रक्रियाओं में थी, पर मैकलुहन इसी तर्क का विस्तार करते हुए दावा करते हैं कि प्रसारित सूचना का चरित्र उसे भेजने वाली प्रौद्योगिकी द्वारा तय होता है। अर्थात् सूचना को उसे पैदा और प्रसारित करने वाले प्रौद्योगिकीय यंत्र से अलग करके नहीं समझा जा सकता। बाद में मैकलुहन ने अपनी इसी धारणा को टेलिविज़न स्क्रीन पर तेज़ी से बदलते हुए बिम्बों और छोटे-छोटे साउंड-बाइट्स पर लागू किया। उन्होंने सूचना के स्रोत (मानव या मशीन) और उसकी आखिरी मंज़िल पर गौर करने के बजाय यह देखा कि संचार की प्रौद्योगिकी के कारण इनसानी दुनिया में किस तरह की तब्दीलियाँ हो रही हैं। इस तरह मैकलुहन की रचनाएँ मानवीय इयत्ता और उसके विकल्प के रूप में सूचना की मशीनरी के बीच तनाव में फँसी नज़र आती हैं।

फ्रेड्रिख किटलर ने अपनी व्याख्याओं में मैकलुहन द्वारा

छोड़े गये अंतरालों पर नज़र डाली है। वे इस ज़ोरदार दावे के साथ सामने आते हैं कि मीडिया हमारे हालात को तय करता है इसीलिए उसका आलोचनात्मक विश्लेषण करना अनिवार्य है। लेकिन यह कोई आसान काम नहीं है। पहली बाधा तो यह है कि अधिकतर मीडिया प्रौद्योगिकियाँ फ़ौजी मक़सदों से रची गयी थीं इसलिए उनके जन्म के ऐतिहासिक ब्योरे गोपनीय दस्तावेज़ों में बंद हैं। दूसरी बाधा यह है कि मीडिया के किसी रूप का वर्णन और विश्लेषण करने के लिए हम किसी दूसरे मीडिया का इस्तेमाल करने के लिए मजबूर हैं। इसलिए मीडिया की जिन प्रौद्योगिकियों को हम प्रश्नांकित करना चाहते हैं उनसे एक ज़रूरी आलोचनात्मक फ़ासला नहीं बन पाता। तीसरी बाधा यह है कि नये मीडिया की प्रौद्योगिकियों द्वारा पैदा की गयी सूचनाओं के ज़रिये ही उनकी जाँच की जा सकती है, लेकिन ये सूचनाएँ बाइनरी कोड की शकल में होने के कारण उस समय तक निरर्थक सी होती हैं जब तक उन्हें मशीनों द्वारा संसाधित न किया जाए। इस मुक़ाम पर किटलर शैन्न से सहमत नज़र आते हैं कि सूचना और उसके संचार का माध्यम व्याख्यात्मक अर्थों में नहीं समझा जा सकता। किटलर मैकलुहन की आलोचना करते हैं कि वे प्रौद्योगिकियों और मशीनों में एक तरह का मानवपन देखते थे। इस लिहाज़ से वे एथ्रोपोसेंट्रिक मतिभ्रम के शिकार थे। किटलर के अनुसार सूचना का तात्पर्य प्रौद्योगिकी में निहित नहीं है, बल्कि प्रौद्योगिकी की उपस्थिति उसकी तरफ़ इशारा करके उसकी समझ सम्भव बनाती है। अपने सूत्रीकरण में शैन्न और वीवर से परे जाते हुए किटलर 'सूचना भौतिकवाद' की धारणा पेश करते हैं जिसके तहत सूचना और उसकी संचार-प्रणाली उत्तरोत्तर एक-दूसरे में समाते जा रहे हैं। सूचना पदार्थ बनती जा रही है और पदार्थ सूचना।

किटलर द्वारा स्थापित सूचना की इस भौतिकता को नारीवादी विचारक डोना हरावे और कैथरीन एन. हायल्स ने सवालों के घेरे में खड़ा किया है। हायल्स का कहना है कि शैन्न द्वारा सूचना को सांख्यिकीय रूप की तरह पेश करने का चिंतन सूचना को उसकी देह से काट कर अलग कर देता है। परिणामस्वरूप मीडिया की विभिन्न क्रिस्मों में व्याप्त तत्क्षणिकता की प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं हो पाती। डोना हरावे अपनी रचना 'सायबर्ग मेनिफ़ेस्टो' में सूचना, सत्ता और देह के बीच एक बेहद पेचीदा सूत्र पर विचार करती हैं। उनका विश्लेषण निष्कर्ष निकालता है कि सत्ता जिस तरह उत्पादन के दैहिक संबंधों में निवास करती है, उसी तरह अब उसका वास सूचना प्रणालियों में भी है। प्रभुत्व के इनफ़ॉर्मेटिक्स की चर्चा करते हुए हरावे दावा करती हैं कि कोडिंग से कुछ भी बचा नहीं रह गया है : न कोई वस्तु, न कोई स्पेस और न ही मानवीय देह।

हरावे के विमर्श के केंद्र में सूचना की अवधारणा है।

उन्होंने जिस नये संसार का चित्र खींचा है उसमें प्रकृति और संस्कृति के बीच पहले से चला आ रहा अंतर निरर्थक हो चुका है। ये दोनों दायरे कई तरह के जटिल और अक्सर परस्पर विनिमय कोड्स का रूप धारण कर चुके हैं। जो जीवन-रूप और प्रौद्योगिकियाँ पहले आपस में नहीं जुड़े हुए थे, इन कोड्स के कारण उनका जुड़ाव सम्भव हो गया है। शैन्न की तरह वे सूचना को महज़ सांख्यिकीय सम्भावना की तरह देखने तक ही सीमित नहीं रहना चाहतीं। वे उसे एक कोड की तरह देखती हैं जो प्रौद्योगिकीय मीडिया की शरीर-रचना और मानवीय देह की प्रणालियों से गुँथा हुआ है। पहले जो प्रणालीगत कोड कहीं छिपे पड़े रहते थे, उनका इंटरफ़ेस संस्कृति के 'सार्वभौम अनुवाद' की सम्भावना पैदा कर रहा है। हरावे इस विकास-क्रम के खतरों की तरफ़ भी इशारा करती हैं कि इससे एक नयी 'यंत्रिय सत्ता' पैदा हो सकती है। फूको के विश्लेषण ने सत्ता/ज्ञान के जिस इंटरफ़ेस की तरफ़ इशारा किया है, हरावे उसे बदल कर सत्ता/सूचना के रूप में पेश करती हैं।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना-समाज, सेंसरशिप, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. क्लॉड शैन्न और वारेन वीवर (1994), *द मैथेमेटिकल थियरी ऑफ़ कम्युनिकेशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, अरबाना.
2. मार्शल मैकलुहन (1997), *अंडरस्टैंडिंग मीडिया*, रॉटलेज, लंदन.
3. फ्रेड्रिख किटलर, *लिटरेचर, मीडिया, इनफ़ॉर्मेशन सिस्टम्स*, जी+बी आर्ट्स, एमस्टर्डम.
4. डोना हरावे (1991), *सिमियंस, सायबर्ग, और वुमन : द रिइन्वेंशन ऑफ़ नेचर*, फ्री एसोसिएशन, लंदन.
5. एन.के. हायल्स (1999), *हाउ वी बिकेम पोस्टह्यूमन : वर्चुअल बॉडीज़ इन सायबरनेटिक्स*, लिटरेचर, एंड इनफ़ॉर्मेटिक्स, युनिवर्सिटी शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

सूचना-समाज

(Information Society)

सूचना के उत्पादन, विनिमय और उपभोग के इर्द-गिर्द संगठित समाज की इस धारणा का प्रतिपादन नब्बे के दशक में किया गया। सत्तर के दशक के मध्य में डेनियल बेल के उत्तर-औद्योगिक समाज संबंधी लेखन में सूचना-समाज की आहटें सुनी जा सकती थीं, पर नब्बे के दशक में इंटरनेट जैसी ग्लोबल इनफॉर्मेशन प्रौद्योगिकियों के विस्फोट के बाद ही यह विचार पूरी तरह विकसित हो पाया। सूचना और सूचना-समाज का रिश्ता कमोबेश वैसा ही है जैसा उद्योगों और औद्योगिक युग के बीच है। मशीनों, कारखानों और उजरती श्रम का अस्तित्व औद्योगिक युग से पहले भी था, लेकिन उन्नीसवीं सदी में उनकी केंद्रीयता कुछ इस तरह से बढ़ी कि लोगों की जिंदगी और उनके दृष्टिकोण में बुनियादी तब्दीली हो गयी। सूचना, जो हमेशा से मौजूद और अहम थी, एक निश्चित प्रौद्योगिकीय अवस्था के कारण पिछले तीन दशक के दौरान मानव-समाज की नियामक बन गयी है। इसके कारण सामाजिक संगठन का एक विशिष्ट रूप पैदा हो गया है जिसमें उत्पादकता और सत्ता का बुनियादी स्रोत सूचनाओं के उत्पादन, संसाधन और प्रसारण में निहित है। सूचना ने सबसे क्रीमती और जरूरी पण्य का रूप ग्रहण कर लिया है। इसका मतलब यह नहीं है कि कारखाना-उत्पादन और सेवा-आधारित अर्थव्यवस्था का महत्त्व खत्म हो गया है। अर्थव्यवस्था के ये क्षेत्र अपनी भूमिका निभा रहे हैं, लेकिन औद्योगिक समाज या उत्तर-औद्योगिक समाज की धारणाएँ अब परिवर्तन की मुख्य चालक-शक्ति नहीं रह गयी हैं।

कुछ विद्वानों का आग्रह है कि सूचना-समाज की परिघटना सूचना-आधारित बाजारों के चौतरफा उदय की रोशनी में परिभाषित की जानी चाहिए। शारीरिक श्रम के बजाय सूचना आधारित पूँजी कहीं अधिक धन पैदा कर सकती है। सूचना-आधारित उत्पादों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी और बढ़ती ही जा रही है। 1945 में समूची धरती पर जितनी कम्प्यूटर-पावर मौजूद थी, उससे ज्यादा ताकत खोलते ही संगीत सुनाने वाले सिर्फ एक ग्रीटिंग कार्ड में मौजूद होती है। सुबह कागज़ पर छपा अखबार खोलते ही हम पाठक के साथ-साथ श्रोता भी हो जाते हैं। हमारी निगाह न केवल विज्ञापनों में दर्ज सूचनाओं पर पड़ती है, बल्कि किसी-किसी विज्ञापन में लगे हुए एक छोटे से यंत्र से आती हुई आवाज़ भी उस उत्पाद का प्रचार करती हुई सुनायी देती है। किसी ज़माने में कार की ज्यादातर क्रीमत उसमें लगे

इस्पात के आधार पर तय होती थी, पर आज नयी टोयोटा कार का 70 फ़ीसदी से ज्यादा मूल्य उसके इनफॉर्मेटिक्स संबंधी घटक से निकाला जाता है। मार्केट-रिसर्च के आधार पर प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उपभोक्ता के चरित्र और प्रवृत्तियों की शिनाख्त की जाती है जिसका निर्णायक असर उत्पादन संबंधी फैसलों पर पड़ता है। जैविक सूचनाओं की डिफ़ोडिंग के माध्यम से विज्ञान की सम्भावनाओं में लगातार वृद्धि की जा रही है। इसके नतीजे ह्यूमन जिनोम प्रोजेक्ट में निकले हैं। क्लोनिंग और सूचना की प्रतिकृति बनाना एक-दूसरे के पर्याय ही हैं। सूचना प्रौद्योगिकियाँ बाजारों और संस्कृतियों की गतिशीलता और फैलाव का माध्यम बन गयी हैं।

राष्ट्र-राज्य भू-क्षेत्रों पर कब्ज़े और नियंत्रण के लिए आज भी संघर्ष करते हैं। कच्चे माल व सस्ते श्रम के संसाधनों के दोहन के लिए साम्राज्यवादी और नव-औपनिवेशिक अभियान आज भी चलाये जाते हैं। लेकिन सूचनाओं पर क्राबिज़ होने के लिए किया जाने वाला संघर्ष आज कहीं ज्यादा बड़ा हो चुका है। सूचना एक ऐसा प्रतिमान है जिसके माध्यम से सामाजिक विकास की नयी प्रवृत्तियों की व्याख्या की जा सकती है। सूचना-आधारित विकास-क्रम के कारण मीडिया, औषधि और निगरानी से संबंधित प्रौद्योगिकी से संबंधित नैतिक सरोकारों का जन्म हुआ है। सूचना के वितरण, उस पर अधिकार और लेखकत्व की परिभाषाओं से जुड़े प्रश्न लगातार विवादास्पद होते जा रहे हैं। ये नयी प्रवृत्तियाँ केवल सकारात्मक ही नहीं हैं। विचारकों के बीच सूचना के बोलबाले के कारण पैदा हुई दुश्चिंताओं पर भी चिंतन-मनन चल रहा है। सूचना-समाज में ज्ञान की संरचनाओं की स्थिति को लेकर भी समाजवैज्ञानिकों में काफी चिंता देखी गयी है।

सूचना-समाज पर बहस का ध्रुवीकरण हो गया है। एक पक्ष की मान्यता है कि समाज के इस रूप ने उन्हें आज़ादी के नये आयामों से परिचित कराया है। ऐसे समाज में लोग अधिक सूचना-सम्पन्न होने के नाते बेहतर आत्माभिव्यक्ति के योग्य होंगे। नयी प्रौद्योगिकियों के माध्यम से उन्हें राजनीतिक और सांस्कृतिक दायरों में बेहतर सहभागिता का मौक़ा मिल पायेगा। यह पक्ष प्रौद्योगिकी के प्रभुत्व में किसी क्रिस्म का जोखिम नहीं देखता। इसके विपरीत दूसरा पक्ष सूचना-बाहुल्य और सूचना-प्रधानता के कारण कई तरह की दुश्चिंताओं की तरफ़ इशारा कर रहा है। सत्ता संरचनाएँ सूचना-प्रौद्योगिकियों का सहारा ले कर व्यक्ति और समाज की गतिविधियों की अधिक निगरानी कर रही हैं जिससे निजता और प्राइवैसी अंत के करीब पहुँच गयी है। नयी टेक्नॉलॉजी के ज़रिये लगातार नज़र रखना और रिकॉर्ड करना सम्भव हो गया है। इसके अलावा अगर हमारी ख़रीद-फ़रोख़्त और घूमने-फिरने से संबंधित जानकारीयें

भी जमा की जा रही हैं, तो उनके आधार पर भी हमें एक पूर्व-निर्धारित क्रिस्म के आचरण की तरफ जाने-अनजाने धकेला जा सकता है। यह पक्ष मानता है कि सूचना-समाज स्वतंत्र नहीं है। उसने तरह-तरह के विकेंद्रीकृत नेटवर्कों के माध्यम से नियंत्रण किया जा रहा है। पहले बेंथम ने और फूको ने जिस पनोप्टीकॉन के विचार का प्रतिपादन किया है, वह सूचना-समाज की परिस्थितियों पर पूरी तरह से लागू होता है।

सूचना-समाज के सबसे चर्चित सिद्धांतकार मैनुएल कैसेल्स हैं जिनकी रचना *द इनफॉर्मेशन एज : इकॉनॉमी, सोसाइटी एंड कल्चर* ने इस प्रत्यय को प्रचलित किया है। कैसेल्स के विमर्श से इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि सूचना-समाज में ज्ञान की संरचनाओं की क्या स्थिति होगी। उन्होंने सूचना और ज्ञान को जिस चिंतन (डेनियल बेल : *द क्रिमिंग ऑफ पोस्ट-इंडस्ट्रियल सोसाइटी*, फ्रिट्ज़ मैकलुप : *द प्रोडक्शन ऐंड डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ नॉलेज इन द यूनाइटेड स्टेट्स*, मार्क पोरट : *द इनफॉर्मेशन इकॉनॉमी*) के आधार पर परिभाषित किया है वह 1962 से 1977 के बीच प्रकाश में आया था। मार्शल मैकलुहन का मीडिया से संबंधित सिद्धांत भी साठ के दशक में प्रकाशित हुआ था। इस शास्त्र द्वारा दी गयी परिभाषाओं के मुताबिक सूचना (सुव्यवस्थित तथ्य और सामग्री) के आधार पर ज्ञान की रचना होती है, और सूचना को उसे उत्पादित और प्रसारित करने वाली प्रौद्योगिकी से काट कर नहीं समझा जा सकता। नतीजतन प्रौद्योगिकीय स्थिति ज्ञान की संरचना को गहराई से प्रभावित करती है। अगर यह विमर्श सही है तो फिर सवाल उठता है कि सूचना-प्रौद्योगिकी में होने वाले किसी अचानक परिवर्तन से सूचना-समाज में ज्ञान भी बदल जाएगा ?

ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर ने भी 1979 में प्रकाशित अपनी रचना *पोस्टमॉडर्न कण्डीशन* में यह चौंका देने वाला अवलोकन किया था कि कम्प्यूटरीकृत पूँजीवाद के जमाने में ज्ञान परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकता। ल्योतर ने उसी समय देख लिया था कि ज्ञान 'सूचनात्मक पण्य' बनता जा रहा है। डिजिटलाइजेशन ने ज्ञान को सूचना के टुकड़ों में बदल दिया है और उन बिट्स को मशीनों पर संसाधित करके तेज रफ्तार से प्रसारित किया जा सकता है। इस तरह ल्योतर की निगाह में सूचना ज्ञान का वह रूप बन जाती है जिसे चैनल के मार्फत प्रसारित करने के लिए डिज़ाइन किया गया है ताकि वह कारगर या ऑपरेशनल हो सके। इस लिहाज से ज्ञान का यह रूप चिंतनपरक न हो कर प्रदर्शनपरक और परिणामात्मक है। मैकलुहन इसी बात को इस तरह कहते हैं कि सूचना एक गैर-विमर्शी कोड या डाटा है जिसे टीवी के छोटे-छोटे साउंड बाइट्स की तरह उत्पादित किया जाता है और मनुष्य जिसका मशीनों की तरह उपभोग करते चले जाते हैं।

सूचना-समाज में ज्ञान की ऐसी चिंताजनक स्थिति पर विचार करते हुए स्कॉट लैश ने अपनी रचना *क्रिटिक ऑफ इनफॉर्मेशन* में आख्यान आधारित ज्ञान और प्रौद्योगिकीय सूचना आधारित ज्ञान में फ़र्क किया है। लैश के अनुसार आख्यान आधारित ज्ञान धीरज के साथ चिंतन और मनन की माँग करता है, जबकि ज्ञान का यह नया रूप जितनी तेज़ी से प्रकट होता है उतनी ही तेज़ी से लुप्त भी हो जाता है। इस लिहाज से लैश सूचना को प्रतिनिधित्वमूलक मानने के बजाय प्रस्तुतिमूलक मानते हैं। सूचना एक 'अनगढ़ तथ्यात्मकता' का नाम है। उसकी यह प्रकृति समाज और संस्कृति के सिद्धांतकारों के लिए कठिनाई पेश करती है। उनके पास सूचना-समाज के दायरों से बाहर रह कर उनकी आलोचना विकसित करने का कोई मौक़ा ही नहीं है। इसीलिए उन्हें पहले संस्कृति और समाज को परिभाषित करने वाली बुनियादी धारणाओं पर पुनर्विचार करना होगा। ये धारणाएँ आख्यानान्तात्मक ज्ञान की उपज होने के कारण सूचना-समाज के भीतर कारगर साबित नहीं होतीं।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और सज़नीति, मीडिया और भारतीय सज़नीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सेंसरशिप, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. मैनुएल कैसेल्स (1996), *द राइज़ ऑफ़ द नेटवर्क सोसाइटी, द इनफॉर्मेशन एज : इकॉनॉमी, सोसाइटी एंड कल्चर*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड, खण्ड 1.
2. ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर (1984), *द पोस्टमॉडर्न कण्डीशन : अ रिपोर्ट ऑन नॉलेज*, मैचैस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैचैस्टर.
3. मार्क पोरट (1977), *द इनफॉर्मेशन इकॉनॉमी : डेफ़िनिशन ऐंड मेज़रमेंट*, यूएस डिपार्टमेंट ऑफ़ कॉमर्स, वाशिंगटन डीसी.
4. स्कॉट लैश (2002), *क्रिटिक ऑफ़ इनफॉर्मेशन*, सेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सूफीयत और प्रेमाख्यान

(Sufi Thought and Premakhyan)

भारतीय मध्ययुग में एक ओर तो निर्गुणीय संत कवि एकेश्वरवाद का प्रचार करते हुए हिंद-इसलाम के बीच सामंजस्य की प्रतिष्ठा कर रहे थे, दूसरी ओर मुसलमान सूफी संत सांस्कृतिक एकता लाने के लिए प्रयत्नशील थे। निर्गुणीय संतों की खण्डन-मण्डन प्रकृति और ज्ञान-धारा सामान्य जनता के हृदय में स्थान बनाने में कम सक्षम थी। किंतु सूफी संत कवियों को प्रेममयी मधुरवाणी द्वारा जनता के हृदय को लुभाने में पर्याप्त सफलता मिली। इन सूफी संतों ने अपनी प्रेम-गाथाओं द्वारा प्रेम की गंगा को निर्बाध प्रवाहित किया। प्रायः सूफी शब्द का व्यवहार इसलाम धर्म के रहस्यवादियों के लिए किया जाता है। भारत की धरती पर सूफियों के क्रदम ग्यारहवीं सदी में पड़े। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (1190) से उनका क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। सूफी पवित्र, सदाचारी और सादा जीवन व्यतीत करने वाले सदाचारी साधक होते हैं। सूफियों के चिश्तिया, सुहरावर्दिया, क्रादरिया, नक्शबंदिया, मेहदरी और सत्तारी सिलसिले मशहूर हैं। ध्यान रहे कि इस सूफी प्रेम गाथा परम्परा के सभी कवि मुसलमान थे और उन पर फ़ारसी साहित्य का गहरा प्रभाव था। लेकिन उन्होंने नव-अफ़लातूनी प्रभाव के साथ भारतीय वेदांत की सहायता से अपने सिद्धांतों का निर्माण किया।

सूफी शब्द की अलग-अलग परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ हैं। सूफी तथा तसव्वुफ़ (सूफी विचारधारा) को लेकर शेख़ फ़रीदुद्दीन सत्तार (1230) ने सूफी संतों के बारे में अपनी पुस्तक *तज़क़िरातुल औलिया* में सत्तर परिभाषाएँ दी हैं। यह भी सच है कि सूफी मत इसलाम के अंतर्गत ऐसा संगठित सम्प्रदाय नहीं था कि उसके मतों-सिद्धांतों को एक प्रणाली के रूप में पेश किया जा सके। सूफी शब्द को 'सफ़ा', 'अहअल सुफ़ाह', 'सफ़', 'सुफ़ाह', 'बनसूफ़ा', 'सूफ़वतुलकजा', 'सोफ़िया' और 'सूफ़ानी' से जोड़ा गया। शेख़ हुज्वेरी का मानना है कि 'सफ़ा' अर्थात् पवित्रता शब्द से सूफी की व्युत्पत्ति हुई है। कुछ विद्वान कहते हैं 'पैगम्बर मोहम्मद साहब के समय मदीने की मसजिद नवबी के सामने सुफ़ा (चबूतरा) पर आसन लगाने वाले भक्त साधक 'सुफ़ाह' कहलाये। कुछ विद्वानों ने 'सफ़ा' शब्द से प्रार्थना में निरत ईमान में आस्था रखने वालों को सफ़ा या सूफी कहा है। एक विवरण यह भी है कि 'सफ़' के एक अर्थ 'क्रयामत' (अंतिम निर्णय) से जुड़े साधक सूफी कहलाये। 'गिया मुललगाती' के अनुसार अरबों की एक जाति मक्का के देवालय की सेवा में सांसारिकता से दूर थी। रामपूजन तिवारी ने 'बनसूफ़ा' नामक एक यायावर जाति से 'सूफी' की व्युत्पत्ति मानी है।

कुछ विद्वानों ने 'सोफ़िस्ता' से सूफी और कुछ ने ग्रीक भाषा के शब्द 'सोफ़िया' (ज्ञान) से सूफी शब्द का संबंध माना है। अरबी शब्द 'सूफ़' का अर्थ है ऊन (मोटे वस्त्र)

जिसे पहनने वाला साधक 'सूफी' कहलाया। ज्यादातर विद्वान 'सूफ़' शब्द से सूफी की व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'तसव्वुफ़' शब्द के अर्थ पर बहुत विवाद है। ज्यादातर विद्वान मानते हैं कि इसका मतलब है परमात्मा के प्रति प्रेम की अनुभूति करने वाला। अल गज़ाली उसे सूफी मानते हैं जो ईश्वरानुभूति में तन्मय जीवन व्यतीत करता है, इसलिए सूफी का अंतिम लक्ष्य है 'मारफ़त'। निकल्सन की रचना *दाइडिया ऑफ़ पर्सनैल्टी इन सूफीइज़म* में सूफीमत के विकास में नव-अफ़लातूनी ईसाई धर्म तथा बौद्ध धर्म का हाथ माना गया है। सूफियों का चरम लक्ष्य है 'फ़ना' से 'बक्रा' अर्थात् एकत्व प्राप्त करना है।

सूफीमत में संत भक्त सूफी कवियों ने अंधानुकरण करने के बजाय कुरान का भाष्य अपने ढंग से किया। यह सच है कि इसलाम की तरह सूफीयत भी एकेश्वरवाद का समर्थन करती है, किंतु सूफियों का एकेश्वरवाद कुरान में प्रतिपादित एकेश्वरवाद से भिन्न है। इसलाम के अनुयायी परमात्मा की सृष्टि में सभी पदार्थों को शामिल मानते हैं, जबकि सूफी सृष्टि में व्याप्त परमात्मा की सत्ता कण-कण में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि नाम और रूप अलग होने पर भी आत्म-सत्ता नित्य है। परमात्मा सत्य भी है और सौंदर्य भी। परमात्मा निर्गुण-निराकार होते हुए भी प्रेमरूप है। सच्चा सालिक (साधक) ही उसका साक्षात्कार कर सकता है। प्रेम रूप परमात्मा का ज्ञान प्रेम-पंथ अपनाकर ही हो सकता है। परमात्मा का नाम 'हक़' है, वही साधक की साधना का इष्ट है। सूफी मानते हैं कि यह जीवन एक यात्रा है— इस यात्रा की अनेक मंजिलें हैं— जिन्हें पार करने पर ही साधक ईश्वर तक पहुँच सकता है। सूफी मार्ग की चार मंजिलें हैं— नासूत-अर्थात् साधक की प्रकृत-अवस्था, मलकूत अर्थात् नैतिकता से ऊपर उठ कर पवित्र जीवन अपना कर, मारिफ़त-अर्थात् परमात्मा से मिलने की साधक की क्षमता और हक़ीक़त अर्थात् परम सत्य का साक्षात्कार। इस अवस्था में 'सालिक' को 'लाहूता' की अवस्था प्राप्त होती है। चरम लक्ष्य प्राप्त करने वाले सालिक (साधक) को 'अनलहक़' की अनुभूति होने लगती है।

सूफीयत में सर्वाधिक महत्त्व 'इश्क़' या प्रेम को प्राप्त है। उनके मत से इश्क़ मज़ाज़ी ही इश्क़ हक़ीक़ी को पाने का सोपान है। सालिक को सारा संसार इश्क़मय दिखाई देता है— इश्क़ का भाव अपनी तन्मयता से साधक में विरह की अग्नि सुलगा देता है, प्रेम में 'लौ' लग जाती है तो साधक स्त्री रूप में अपने को मानकर पुरुष— परमात्मा से राग, रागात्मक संबंध जोड़ता है। वह परमात्मा से अलौकिक संबंध जोड़कर उसके सौंदर्य पर न्योछावर हो जाता है। आत्मा-परमात्मा के बीच मिलन में बाधा शैतान है— वह साधक को साधना पथ से विचलित करने के लिए अलग-अलग प्रेम-परीक्षाएँ लेता

है। अंतिम विश्लेषण में शैतान भी अल्लाह से प्रेम करता है, घृणा नहीं। शंकर के अद्वैत-दर्शन में माया का वही स्थान है जो सूफीमत में शैतान का। इस शैतान से बचाव के लिए सूफीमत में पीर (गुरु) की आवश्यकता होती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सूफियों का आत्मा-परमात्मा का सिद्धान्त-निरूपण इस्लाम की अपेक्षा भारतीय वेदांत के अधिक निकट है। कुरान में ब्रह्म की वैसी विस्तृत व्याख्या नहीं है जैसी भारतीय उपनिषद्, वेदांत-चिंतन में की गयी है। अल्लाह सर्वोपरि है और मुहम्मद साहब उसके रसूल। ब्रह्म और जीव भिन्न दिखाई देने पर भी अभिन्न हैं। जीव को 'अहं' ब्रह्म से दूर करता है— लेकिन ज्ञान हो जाने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' की अनुभूति पैदा हो जाती है। सृष्टि विकास से संबंधित सूफियों की अवधारणा वेदांतियों के प्रतिबिम्बवाद के निकट है। इस्लाम की सृष्टि-विकास को लेकर धारणा है कि अल्लाह के 'कुन' मात्र कहने से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। किंतु सूफियों में इस विषय को लेकर कई तरह के मत हैं। सूफियों के अनुसार यह समस्त दृश्यमान जगत उसी अल्लाह की झलक है। अल्लाह से तादात्म्य स्थापित करना ही साधक की साधना का उद्देश्य है।

हिंदी में सूफी संत कवियों ने प्रेम-गाथाओं में वर्णित लौकिक प्रेम का आश्रय लेकर अलौकिक प्रेम-व्यंजना के लिए काव्य सृजन किया। उदार-हृदय सूफी कवियों ने हिंदुओं में प्रचलित प्रेम-गाथाओं को लेकर उन्हीं की भाषा में प्रेमाख्यानक काव्य रचे और हिंदुओं के हृदय को स्पर्श किया। सूफी काव्य परम्परा का प्राचीनतम काव्य मुल्ला दारुद का *चंदायन* है। इस सूफी काव्य-परम्परा की प्रतिनिधि रचना *पद्मावत* है, जिसका सृजन मलिक मुहम्मद जायसी ने किया है। इसकी रचना शेरशाह सूरी के शासन काल में हुई। मलिक मुहम्मद जायसी ने *पद्मावत* में अपने पहले की छह प्रेमगाथाओं का उल्लेख किया है : स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खण्डरावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से *मृगावती* और *मधुमालती* तो आज उपलब्ध हैं— पर शेष रचनाओं का आज ठीक से अता-पता नहीं है। चन्द्रगिरी के राजा गणमति देव के पुत्र तथा कंचननगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेमकथा *मृगावती* काव्य में है। मंझन कृत *मधुमालती* में कलेसर के राजकुमार मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का काव्यात्मक विदग्धता से भरा वर्णन है।

हिंदी की सूफी काव्य परम्परा की सर्वोत्तम सर्जनात्मक उपलब्धि जायसीकृत *पद्मावत* ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने *जायसी ग्रंथावली* की भूमिका में पहली बार जायसी के महत्त्व का प्रतिपादन किया। आचार्य शुक्ल से पूर्व जायसी पर सतही चर्चा होती थी। लेकिन आचार्य शुक्ल ने जायसी के एक पूरे पाठ से ही हिंदी आलोचना को समृद्ध

किया। आचार्य शुक्ल के बाद सूफी काव्य परम्परा पर विचार करने वाले विद्वान जायसी के *पद्मावत* को सूफी सिद्धांतों की विशिष्ट कृति मानने लगे। डॉ. माता प्रसाद गुप्त, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वानों ने *पद्मावत* का नया भाष्य किया। जायसी संबंधी इस विद्वत्ता की परम्परा में नया मोड़ तब आया जब मार्च, 1982 में हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग में नयी कविता के कवि-आलोचक एवं सिद्धांतकार विजयदेव नारायण साही के तीन व्याख्यान हुए। साही बहुत वर्षों तक जायसीमय रहे। नतीजा यह हुआ कि *जायसी* शीर्षक से प्रकाशित उनकी कृति में प्रखर बौद्धिकता और संवेदनात्मक गहराई से सम्पन्न अध्ययन-अनुसंधान नयी स्थापनाओं के साथ सामने आया। यह लघु समीक्षा पुस्तक जायसी के नये भाष्य के कारण सृजनात्मक समीक्षा का प्रेरक प्रतिमान बन गयी। अपने जायसी विमर्श में साही ने आचार्य शुक्ल की बहुत सी स्थापनाओं की अस्वीकार करते हुए नयी स्थापनाएँ कीं।

साही ने प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया कि *पद्मावत* सूफी ग्रंथ नहीं है— भले ही उसमें सूफीमत के कुछ अंश हों। इसी आधार पर वे जायसी को 'सूफी' नहीं, 'कवि' मानते हैं। इस मान्यता के अनुसार *पद्मावत* की कथा ऐतिहासिक कथा न हो कर कवि जायसी की मौलिक उद्भावना है। *पद्मावत* के कथानक में 'अलोक' तथा 'इतिहास-लोक' का पूरक द्वंद्व है। यह द्वंद्व इस कृति को निरंतर बेधता रहता है और एक अद्भुत ढंग की त्रासदी का जन्म होता है। साही ने स्वयं माना है कि जायसी अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी हैं और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी। विशिष्ट बात यह है कि जायसी में पहली बार अवधी भाषा सहज काव्यात्मक प्रवाह में बहने लगती है। हिंदी का अवधी रूप काव्यमय हो उठता है। इस तथ्य के आधार पर कहा जा सकता है कि जायसी हिंदी के पहले महत्त्वपूर्ण कवि हैं। जायसी कहते हैं— 'मुहम्मद कवि जो प्रेम का' या 'हों सब कविन्ह केर पिछलगा' या 'एक नैत कवि मुहम्मद गुनी' आदि। कबीर में कवि के प्रयास-चिह्न हैं जबकि जायसी में प्रयास कहीं दिखलायी नहीं देता। जायसी पहुँचे हुए सिद्ध थे। उनके आशीर्वाद से संतानें पैदा होती थीं। फिर जायसी किसी सूफी सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध नहीं थे।

तसव्वुफ़ या सूफी सम्प्रदाय के चौखटे में जायसी को घेरने की शुरुआत डॉ. ग्रियर्सन ने की। ग्रियर्सन ने जायसी को मुसलमान एसेटिक अर्थात् मुसलमान संन्यासी कहा है। जायसी देखा-समझा जाए तो सूफी नहीं हैं— अगर हैं तो 'कुजात सूफी' हैं। जायसी की चिंता का विषय ईश्वर या तसव्वुफ़ नहीं है— मनुष्य है। उनका कवि-लोक यूटोपिया से निर्मित है। उसमें वेदांत और हठयोग है, सिद्धों-नाथों के

चिंतन की धमक है। इतिहासकारों ने पद्मावती और अलाउद्दीन खिलजी की कथा जायसी से ली है। इस तरह उन्होंने इस त्रासदी-काव्य में इतिहास-लोक निर्मित किया है जिसमें यूनानी ट्रेजेडी नहीं, विषाद योग है और बैकुंठी प्रेम की जयकार है।

सूफ़ियों ने इश्क मजाजी और इश्क हक़ीक़ी के माध्यम से भारतीय समाज-संस्कृति में मानवतावादी रंग प्रगाढ़ किया। आपसी फूट, बैर एवं विद्वेष से तबाह होते मध्यकालीन समाज को प्रेम का पाठ पढ़ाया। टूटे हुए हिंदू-मुसलमान हृदयों को जोड़ने का बड़ा भारी काम किया। उदार दृष्टि से प्रेम की महिमा को सूफ़ी फ़कीरों-दरवेशों-पीरों-संतों ने परम पुरुषार्थ घोषित किया। नतीजा यह हुआ कि भक्तिकाल की निर्गुण-सगुण, विशेषकर कृष्ण भक्ति धारा पर इन सूफ़ियों का बहुत गहरा असर पड़ा। सूरदास, अष्टछाप, मीरां, रसखान की कविता में यह सूफ़ी प्रभाव भिदा हुआ है। रीतिकाल कवियों में रीतिमुक्तधारा के कवि घनानन्द-बोधा-आलम-ठाकुर आदि सभी पर यह सूफ़ी रंग चढ़ा हुआ है। आधुनिक काल में भारतेंदु से लेकर पण्डित जगन्नाथ रत्नाकर तक यह सूफ़ी प्रेम मद छलकता है। सूफ़ियों ने भारत आकर भारतीयता को खुले हृदय से अपनाया, इसीलिए यह खुलापन भारतीय हृदयों की मुक्ति के द्वार खोल सका।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लोसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. धीरेंद्र वर्मा (1960), 'जायसी : तिथिक्रम और गुरु परम्परा', *हिंदी अनुशीलन* (धीरेंद्र वर्मा विशेषांक), भारतीय हिंदी परिषद्
2. विजयदेव नारायण साही (1983), *जायसी*, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद.
3. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी

सभा, काशी.

4. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.), *हिंदी साहित्य- खण्ड दो*, हिंदी परिषद्, प्रयाग.
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1986), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

— कृष्णादत्त पालीवाल

सेक्सुअलिटी

(Sexuality)

सेक्सुअलिटी यौनिकता का समानार्थक नहीं है। सेक्सुअलिटी के समाज-वैज्ञानिक तात्पर्य का पूर्ण समाहार न लैंगिकता में होता है, न ही कामुकता में। समाज-विज्ञान में आम तौर पर सेक्सुअलिटी को दो तरीकों से समझा गया है। पहला मॉडल है तात्त्विकतावादी, यानी मनुष्य के जैविक तत्त्व के आधार पर सेक्सुअलिटी की व्याख्या। यह रवैया सेक्सुअलिटी के तात्पर्यों को मानवीय कामना और यौनिक आनंद तक सीमित कर देता है। दूसरा मॉडल है सामाजिक संरचनावादी यानी व्यक्ति और समाज के आपसी संबंधों के ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक पहलुओं के आईने में यौनिक कामनाओं, आचरणों, मनोविश्लेषण और अस्मिताओं की निर्मितियों का संधान। यह रवैया न केवल समाजशास्त्रीय है, बल्कि विभिन्न समाजों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं का ध्यान भी रखता है। मैरी ई. जॉन और जानकी नायर के मुताबिक बीसवीं सदी में एक विषय के रूप में सेक्सुअलिटी के विकास के पाँच प्रमुख आयाम हैं। पहला, जिगमण्ड फ्रॉयड की रचनाएँ, साठ के दशक में स्त्री-आंदोलन की रैडिकल 'सेक्सुअल राजनीति', ज़ाक लकाँ और 'फ्रांसीसी' नारीवादी सिद्धांतशास्त्र, मिशेल फूको द्वारा रचित सेक्सुअलिटी का तीन खण्डीय इतिहास और हाल ही में निकाला गया सेक्सुअलिटी का नया मतलब यानी उसे सेक्सुअल चुनाव के रूप में देखना। समाज-विज्ञान आज जैविकी का महत्त्व स्वीकारते हुए सेक्सुअलिटी की सामाजिक रूप से अवस्थित और बेहद परिष्कृत व्याख्याएँ पेश कर रहा है। आज के विमर्श के केंद्र में सेक्सुअलिटी का समाजशास्त्र है। सेक्सुअलिटी की नारीवादी समझ अलग है। इसी तरह पुरुषत्व और सेक्सुअलिटी के संबंधों की व्याख्या का भिन्न दायरा है। क्वियर थियरी भी सेक्सुअलिटी अध्ययन की देन है। इन सभी पहलुओं को जेंडर, नस्ल, जातीयता, वर्ग, आयु और राष्ट्रीयता के रंग विशिष्टता प्रदान करते हैं।

उन्नीसवीं सदी के सेक्सुअलिटी-विमर्श के एक सिरे पर समलैंगिकता (होमोसेक्सुअलिटी) थी और दूसरे सिरे पर इतरलैंगिकता (हेटरोसेक्सुअलिटी)। सेक्सुअलिटी की परिभाषा इस द्विभाजन पर ही टिकी थी। बीसवीं सदी के पहले दशक में जिग्मण्ड फ्रायड ने मनुष्य के सेक्सुअल विकास का मनोवैश्लेषिक मॉडल पेश करके इस निर्मिति द्वारा की जाने वाली सार्वभौमिकता और स्वाभाविकता की दावेदारियाँ गड़बड़ा दीं। उन्होंने अपनी रचना *श्री एसेज़ ऑन द थियरी ऑफ़ सेक्सुअलिटी* में बच्चों की सेक्सुअलिटी पर विचार करते हुए स्त्रीत्व और स्त्री की सेक्सुअलिटी का संधान किया। इस मॉडल ने बताया कि व्यक्ति बाइसेक्सुअलिटी के साथ पैदा होता है जिसका विकास धीरे-धीरे सामाजिक परिस्थितियों के तहत एक स्थिर हेटरोसेक्सुअल अस्मिता में होता चला जाता है। विकास की इस प्रक्रिया में होमोसेक्सुअलिटी एक अस्थाई लेकिन 'बचकाने' चरण के रूप में सामने आती है। हालाँकि फ्रायड का मॉडल क्रमिक रैखिकता से ग्रस्त था, पर उसकी खास बात यह थी कि उसने होमोसेक्सुअलिटी को परवर्जन या यौन-विकृति मानने से इनकार कर दिया। साथ ही उसने मनुष्य की प्रकृति को मूलतः बाइसेक्सुअल दिखाया जिससे इनसान के नैसर्गिक रूप से हेटरोसेक्सुअल होने की मान्यता पर सवालिया निशान लग गया। फ्रायड के सेक्सुअलिटी विमर्श के दो तरह के परिणाम निकले। एक तरफ़ उनके कारण सेक्सुअलिटी-विमर्श में नयी ज़मीन टूटने की सम्भावनाएँ पैदा हुईं, और दूसरी तरफ़ फ्रायड के विचारों ने उस बौद्धिक संरचना को भी पुष्ट किया जो हेटरो/हेमो के द्विभाजन की निरंतरता के लिए ज़िम्मेदार थी।

चालीस और पचास के दशकों में अल्फ्रेड किंसी और उनकी टीम ने दो विशाल अध्ययन किये जिनके जरिये पहले पुरुष और फिर स्त्री के सेक्सुअल व्यवहार का समाजशास्त्र सामने आया। किंसी ने कई तरह के सेक्सुअल व्यवहार रेखांकित किये। उन्होंने नतीजा निकाला कि अगर एक सिरे पर पूरी तरह हेटरोसेक्सुअल व्यवहार है और दूसरे सिरे पर होमोसेक्सुअल व्यवहार, तो उनके बीच में दोनों जेंडरों के प्रति आकर्षण की नुमाइंदगी करने वाली सेक्सुअलिटीज़ भी हैं। किंसी ने यह भी कहा कि मनुष्य जीवन-भर इन सेक्सुअल श्रेणियों के बीच इधर-उधर होता रहता है। जाहिर है कि किंसी स्थिर सेक्सुअल अस्मिता को वैध नहीं मानते थे। एक पृथक समलैंगिक अस्मिता की निर्मिति उनकी निगाह में समाज द्वारा होमोसेक्सुअलिटी को खारिज करने की प्रतिक्रिया का परिणाम थी। हालाँकि किंसी स्वयं एक जीवविज्ञानी थे, पर उनके अनुसंधान से सेक्सुअलिटी संबंधी समाजशास्त्रीय चिंतन को खासा उछाल मिला। विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि सेक्सुअलिटी के मामले में पथभ्रष्ट आचरण जैसी कोई चीज़

नहीं होती। हर तरह का सेक्सुअल व्यवहार एक सामाजिक गढ़ंत है। समलैंगिकों को पथभ्रष्ट या डेविएंट कहना भी उनके प्रति शत्रुता रखने वाले सामाजिक रवैये का परिणाम है। सेक्सुअल व्यवहार की एक श्रेणी के रूप में समलैंगिकता से जुड़ी अस्मिता, संस्कृति और सामुदायिकता का व्यापक और गहरा अध्ययन किया गया। इससे यह बात भी सामने आयी कि किसी व्यक्ति को निजी स्तर पर समलैंगिक श्रेणी में डालने से होता यह है कि फिर उसके बाद उसके समलैंगिक आचरण की निगरानी आसान हो जाती है। सामाजिक नियंत्रण का यह तरीका दूसरे व्यक्तियों को समलैंगिक श्रेणी में आने से हतोत्साहित करता है। यह लेबिलिंग उसे अलग-थलग डाल कर एक होमोसेक्सुअल उप-संस्कृति के निर्माण की तरफ़ धकेलती है।

अस्सी के दशक की शुरुआत में मिशेल फ़ूको ने पश्चिमी समाजों में सेक्सुअलिटी का इतिहास तीन खण्डों में पेश किया। उन्होंने मानने से इनकार कर दिया कि होमो/हेटरो द्विभाजन कोई स्थिर और इतिहास से परे जाने वाली परिघटना है। फ़ूको ने बताया कि 1869 से पहले होमोसेक्सुअलिटी और हेटरोसेक्सुअलिटी जैसे पद ही नहीं थे। इस द्विभाजन से पहले अट्टारहवीं सदी में सेक्सुअलिटी को एक जैविकी आधारित सहज-वृत्ति मानने का आग्रह था। इसी के परिणामस्वरूप सेक्सुअलिटी को व्यक्ति के स्वास्थ्य, उसकी रुग्णता और अस्मिता की कुंजी समझा जाने लगा। इसी तर्ज पर उन्नीसवीं सदी में सेक्सोलॉजी का विकास हुआ। जनसंख्या नियंत्रण की विधियाँ निकलीं। सांख्यिकी और जनसांख्यिकी के अनुशासन विकसित हुए। सेक्सोलॉजी ने दैहिक रोगों की औषधि और सेक्सुअल रोगों की औषधि के क्षेत्र अलग-अलग कर दिये। सेक्सुअल उपचारों का विमर्श पैदा हुआ। सेक्स का मतलब हो गया यौनक्रिया, और सेक्सुअलिटी व्यक्ति की अस्मिता का सार बनती चली गयी। कुछ सेक्सुअल प्रवृत्तियों को स्वाभाविक माना गया, कुछ को विकृत और पथभ्रष्ट। इन श्रेणियों को यौन व्यवहार के मुताबिक व्यक्तियों पर आरोपित किया जाने लगा। फ़ूको ने दिखाया कि किस तरह इस विकास-क्रम के फलितार्थ ने होमो और हेटरो अस्मिताओं को सुदृढ़ किया। देह के विविध विज्ञानों ने मिल कर ज्ञान की जिस सत्ता का निर्माण किया, वह सेक्स यानी दैहिक आनंद के विज्ञान के साथ घुल-मिल गयी। इस मिश्रण में होमोसेक्सुअलिटी को विकृति के खाने में डाल कर उसकी निगरानी और नियंत्रण की संरचनाएँ बनायी गयीं। इतरलैंगिक विवाह और मातृत्व को महिमामण्डित करने का दूसरा पक्ष यह था कि पुरुष समलैंगिकता के खिलाफ़ क़ानून बनाये गये, और स्त्री-समलैंगिकता को अदृश्य होने पर मजबूर कर दिया गया।

सेक्सुअलिटी विमर्श में नारीवादी हस्तक्षेप निर्णायक

साबित हुआ। आधुनिक नारीवाद ने एक तरफ तो हेटरोसेक्सुअल सेक्स में सत्ता के पितृसत्तात्मक संबंध निहित देखे, और दूसरी तरफ सेक्स को स्त्रियों के लिए एक सकारात्मक जीवनी-शक्ति के रूप में दिखाने का प्रयास किया। साठ के दशक के दौरान और उसके बाद हुई यौन क्रांति के प्रभाव के कारण स्त्री को कामना की वस्तु मानने के बजाय पितृसत्ता की भाषा का इस्तेमाल किये बिना कामना करने वाले कर्ता की तरह परिभाषित किया गया। रैडिकल फ्रेमिनिस्टों ने इतरलैंगिकता के दायरे में स्त्री-सेक्सुअलिटी को निष्क्रिय और पुरुष-सेक्सुअलिटी को सक्रिय करार देने के स्थापित रवैये से लोहा लिया। अस्सी के दशक में ही पोर्नोग्राफी और स्त्री-समलैंगिकता (लेस्बियनिज्म) के इर्द-गिर्द बुने गये पितृसत्ता विरोधी सेक्सुअल विमर्श ने दावा किया कि अनिवार्य इतरलैंगिकता के जरिये पितृसत्ता (जो पुरुष समलैंगिकता के प्रति भी शत्रुभाव रखती है) स्त्री की सेक्सुअलिटी और प्रजनन-क्षमताओं का नियंत्रण करके उस पर भौतिक, आर्थिक और जज्बाती कब्जा कर लेते हैं। दूसरी तरफ लेस्बियनिज्म को रुग्णता का पर्याय करार दे दिया जाता है।

सेक्सुअलिटी के इर्द-गिर्द होने वाली इन बहसों से एक भरा-पूरा विमर्श उभरा और सेक्सुअलिटी स्टडीज का विकास हुआ। कुछ पुरुष समाजशास्त्रियों ने पुरुषत्व का अध्ययन करना शुरू किया और उसे सेक्सुअलिटीज के सामाजिक संगठन से जोड़ कर देखा। इस सिलसिले में सत्ता और पुरुषत्व के बीच रिश्ते की मुख्य रूप से जाँच-पड़ताल की गयी। मर्दानगी की तीन क्रिस्में रेखांकित की गयीं : वर्चस्वी पुरुषत्व, अधीनस्थ पुरुषत्व और सहापराधी पुरुषत्व। इतरलैंगिकता को वर्चस्वी पुरुषत्व की श्रेणी में रखा गया, और समलैंगिकता को अधीनस्थ पुरुषत्व के तहत।

नब्बे के दशक में अमेरिका में सेक्सुअलिटी के अध्येताओं ने लेस्बियन और गे स्टडी कार्यक्रम चलाया। इसका नतीजा क्वियर थियरी में निकला जिसके तहत सभी तरह की सेक्सुअल श्रेणियों और नामकरणों के प्रतिरोध की राजनीति परवान चढ़ी। फ़ूको और देरिदा के विमर्श का सहारा ले कर क्वियर थियरी ने समलैंगिकों को उनके घेरे से बाहर निकालने और इतरलैंगिक मानकीयता पर आधारित ज्ञान और सामाजिकता की संरचनाओं की गहरी जाँच-पड़ताल करने की सम्भावनाएँ जगायीं। एक विचार के तौर पर क्वियर का उभार समलैंगिक सेक्सुअलिटियों की राजनीति और एक हद तक नारीवादी राजनीति के कुछ पहलुओं के मिश्रण से हुआ है। नब्बे के दशक में इसके जरिये इयत्ता-रचना के कुछ सम्भव आयाम टटोले गये। क्वियर थियरी के तहत हाशियाकृत सेक्सुअलिटीज को अल्पसंख्यक राजनीति की तरह सूत्रबद्ध करने से बचा जाता है। यह थियरी केंद्र और परिधि के द्विभाजन के पक्ष में नहीं है। क्वियर थियरी भिन्नता

के नाम पर बने तरह-तरह के केंद्रों के खिलाफ बगावत का संदेश देती है। वह उन भिन्नताओं के पक्ष में है जो आपस में गुँथी हुई हैं, अस्तित्व-बहुल और अर्थ-बहुल हैं और ठोस न होकर सरंध्र हैं। क्वियर थियरी किसी भी धारणा को समाज की केंद्रीय या बुनियादी मानने के लिए तैयार नहीं है। क्वियर थियरी को पूरी तरह से उत्तर-आधुनिकतावादी भी नहीं कह सकते, क्योंकि उत्तर-आधुनिक विद्वानों ने उसकी हमदर्द आलोचनाएँ भी की हैं।

देखें : अंतरंगता, जिगमण्ड फ़ॉयड-1 और 2, जूडिथ बटलर, नैसी शोदरौ, जूलिया क्रिस्टेवा, पुरुषत्व, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, फ़िल्म और सेक्सुअलिटी, ब्रह्मचर्य और सेलिबेसी, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, सेक्सुअलिटी-अध्ययन।

संदर्भ

1. मिशेल फ़ूको (1979-1985), *द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्सुअलिटी* (तीन खण्ड), अनु. आर. हर्ली, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ, लंदन.
2. जे.एन. कैटज़ (1996), *द इनवेंशन ऑफ़ हेटरोसेक्सुअलिटी*, प्लम पेंगुइन, लंदन.
3. के. प्लमर (सम्पा.) (1981), *द मॉडर्न ऑफ़ द मॉडर्न होमोसेक्सुअल*, हर्चिसन, लंदन.
4. जेफ्री वीक्स (1985), *सेक्सुअलिटी ऐंड इट्स डिसकॉन्टेंट्स : मीनिंग, मिथ्स ऐंड मॉडर्न सेक्सुअलिटीज*, रॉटलेज, लंदन.
5. एड्रियन रिच (1980), 'कम्प्लेसरी हेटरोसेक्सुअलिटी ऐंड लेस्बियन एक्जिस्टेंस', *साइंस*, खण्ड 5, अंक 4.
6. मैरी ई. जॉन और जानकी नायर (सम्पा.) (2008), *कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक : आधुनिक भारत में सेक्सुअलिटी के सरोकार*, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. निवेदिता मेनन (सम्पा.) (2007), *सेक्सुअलिटीज*, वुमन अनलिमिटेड, नयी दिल्ली.

— अनामिका

सेक्सुअलिटी-अध्ययन

(Sexuality Studies)

सेक्सुअलिटी-अध्ययन के दायरे में मुख्य तौर पर पुरुष सेक्सुअलिटी के विभिन्न रूपों की जाँच-पड़ताल की जाती है। साथ में समलैंगिक पुरुषों (गे) और समलैंगिक स्त्रियों (लेस्बियन) से जुड़े सामाजिक-राजनीतिक एजेंडों का गहन विश्लेषण किया जाता है। अध्ययन का यह क्षेत्र सेक्सुअलिटी के अन्य रूपों, जैसे उभयलैंगिकता और अंतर-यौनिकता वगैरह, में भी झाँकता है। सेक्सुअलिटी-अध्ययन से जुड़े हुए विद्वान पहले तो यह देखने की कोशिश करते हैं कि उत्पीड़नकारी सत्ता संबंधों में सेक्सुअलिटी और सेक्सुअलिटी संबंधी अस्मिताएँ किस तरह सहभागिता करती हैं, फिर वे यह

भी पता लगाते हैं कि सत्ता की संरचनाओं को सेक्सुअलिटी के जरिये किस तरह विचलित किया जा सकता है। यह देख कर थोड़ा ताज्जुब हो सकता है कि सेक्सुअलिटी-अध्ययन स्त्री की सेक्सुअलिटी पर ज़्यादा ध्यान नहीं देता। इसका कारण यह है कि स्त्री-अध्ययन और जेंडर स्टडी के दायरे में स्त्री के प्रश्न पर विस्तृत विचार-विमर्श की परम्परा पहले से ही चली आ रही है। नारीवाद और सेक्सुअलिटी-अध्ययन के बीच एक फ़र्क यह भी है कि स्त्री-आंदोलन पर उन्नीसवीं सदी से ही उदारतावादी विचार-श्रेणियों की छाप रही है, जबकि सेक्सुअलिटी-अध्ययन का सरोकार सामाजिक परिवर्तन के मक़सद से मोटे तौर पर मार्क्सवाद प्रेरित राजनीतिक कार्रवाई के सिद्धांतीकरण से जुड़ा रहा है। बावजूद इस अंतर के नारीवादी विद्वानों ने भी इस क्षेत्र के विमर्शों में उल्लेखनीय भागीदारी की है। उनकी सहभागिता को दो चरणों में समझा जा सकता है। पहला दौर वह था जब वे सेक्सुअलिटी को पितृसत्ता की भींच में फँसा हुआ मानती थीं, और इसलिए उनका रवैया कुछ चौकन्ना होता था। दूसरे दौर में वे सत्ता और सेक्सुअलिटी के प्रति अधिक सकारात्मक नज़रिये के साथ सामने आयीं। कुल मिला कर सेक्सुअलिटी-अध्ययन और सेक्सुअलिटी की राजनीति आपस में काफ़ी गुँथी रही है।

अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में पहुँचने से पहले सेक्सुअलिटी-अध्ययन का जोर मुख्य तौर पर समलैंगिकों के साथ होने वाले भेदभाव का विरोध करने तक सीमित था। उन्नीसवीं सदी के आखिरी और बीसवीं सदी के शुरुआती दौर की यह बौद्धिक-राजनीतिक प्रवृत्ति समलैंगिकों को समाज की पूर्ण नागरिकता दिलाने के कार्यक्रम पर अमल करती थी। इन गतिविधियों की अगली क़तरारों में समलैंगिकता से हमदर्दी रखने वाले इतरलैंगिक रहते थे। लेकिन साठ और सत्तर के दशक तक यह स्पष्ट हो गया कि समलैंगिकों के व्यापक समाज में आत्मसातीकरण का यह आग्रह कोई ख़ास कामयाबी हासिल नहीं कर पा रहा है। इसके बात 'गे लिबेरेशन' का झण्डा बुलंद किया गया। इसमें गे शब्द दोनों तरह के समलैंगिकों के लिए इस्तेमाल किया गया था। राजनीतिक कार्रवाई के तौर पर इस आंदोलन का मॉडल अफ़्रीकन-अमेरिकी ब्लैक-पावर आंदोलन से प्रभावित था। इसका केंद्रीय रूपक स्टोनवाल इन में हुए समलैंगिकों के जमावड़े पर हमले के खिलाफ़ उपजे रोज़ और मुक्ति के आग्रह ने मुहैया कराया। गे लिबेरेशन का विमर्श एक ऐसी सेक्सुअलिटी हासिल करने के पक्ष में था जो उत्पीड़नकारी बंदिशों और समाज द्वारा आरोपित वर्जनाओं से परे जाते हुए मनुष्य की सच्ची इयत्ता की अभिव्यक्ति करती हो। इस आंदोलन ने दावा किया कि सेक्सुअलिटी सत्ता-संबंधों को पलट सकती है। डेनिस आल्टमैन जैसे लेखक

इसके मुख्य प्रवक्ता थे।

सेक्सुअलिटी-अध्ययन में दूसरा बड़ा योगदान दूसरी लहर के नारीवादियों ने किया। गे लिबेरेशन के चिंतकों से अलग हट कर इन विद्वानों ने इतरलैंगिकता की गहन आलोचना तैयार की। उनका कहना था कि इतरलैंगिकता पर सेक्सुअलिटी का पुरुष मॉडल हावी है जिसके तहत शिशन-प्रवेश को ही वास्तविक सेक्स की मान्यता दी जाती है और बाकी सब कुछ को प्राक्कीड़ा या फ़ोरप्ले कह कर कमतर बना दिया जाता है। स्त्री-मुक्ति को केंद्र बना कर किये गये इस सेक्सुअलिटी विमर्श ने आत्मरति, सेलिबेसी (जिसे भारत में ग़लती से ब्रह्मचर्य की संज्ञा दी जाती है), बलात्कार और बाल यौन-शोषण जैसी परिघटनाओं की गहन विवेचना की। इस विमर्श का परिणाम यह हुआ कि पुरुष की इतरलैंगिक कामनाओं को स्वाभाविक और सहजात मानने वाले आग्रहों पर सवालिया निशान लगाते हुए उसके राजनीतिक और सत्तासंबंधी पहलुओं का उद्घाटन किया जा सका। इसी मुक़ाम पर इतरलैंगिकता को लेकर एक यह बहस भी चली कि क्या यह स्त्री के लिए स्थाई रूप से समस्याग्रस्त शै है या इसे स्त्री के पक्ष में झुकाया भी जा सकता है।

अस्सी का दशक आते-आते समलैंगिकों के आंदोलन में खुद को जातीय अल्पसंख्यकों की तरह परिभाषित करने की शक्तिशाली प्रवृत्ति पैदा हुई। लेस्बियनों को लगा कि वे पुरुष समलैंगिकों से भिन्न हैं इसलिए एक ही झण्डे के बजाय उन्हें अपनी अस्मिता पर अलग से जोर देना चाहिए। वे गे-मुक्ति छोड़ कर स्त्री-मुक्ति के मुहावरे से जुड़ने लगीं। इसके तीन असर हुए। पहला, इतरलैंगिक स्त्रियों और समलैंगिक स्त्रियों की दावेदारियों के बीच एकता हुई। पहचान और अनुभव के मामले में औरतों की एक मुश्तरका तहरीक़ बनी। दूसरा, गे-पुरुषों के अलग आंदोलन की ज़मीन बनी जिससे गे-स्टडीज़ का तानाबाना उभरा। तीसरा, इस दौर के सेक्सुअलिटी विमर्श के स्त्री-पक्ष पर लेस्बियन डिस्कोर्स बहुत हद तक हावी रहा और इतरलैंगिक स्त्रियों पर न के बराबर ही ध्यान दिया गया।

नब्बे के दशक में सेक्सुअल अस्मिताओं की राजनीति से थोड़ा मोह भंग-सा दिखाई देने लगा। गे/लेस्बियन द्विभाजन पर सवालिया निशान लगने लगे। लेस्बियन रैडिकल चिंतकों ने गे-पुरुषों की राजनीति में प्रचलित 'सेक्सुअलिटी एज़ प्लेज़र' की तरफ़दारी करते हुए स्त्री-मुक्ति के दायरे में प्रचलित वे आग्रह को ख़ारिज कर दिये जो शिशन-प्रवेश विरोधी अनाक्रमक सेक्स की ज़रूरत पर बल दे रहे थे। इन लेस्बियनों को मुख्य तौर पर सेक्सुअलिटी की नकारात्मक परिभाषा पर आपत्ति थी। लेस्बियन रैडिकल चिंतकों का कहना था कि सेक्सुअल आनंद लेने के विकृत समझे जाने

वाले तरीके (जैसे, परपीड़क कामुकता, पोर्नोग्राफी) अनिवार्यतः पितृसत्तात्मक नहीं माने जा सकते। इन विचारकों ने आपसी सहमति के आधार पर परपीड़ा में आनंद लेने वाला सेक्स-एक्ट किया जा सकता है, स्त्रियों के लिए अलग से पोर्नोग्राफी हो सकती है, और स्त्रियों के बीच बच (यौनक्रिया में सक्रिय पार्टनर) और फ़ेमे (निष्क्रिय पार्टनर) जैसे संबंधों का समर्थन किया।

गे/लेस्बियन द्विभाजन पर नस्ल, जातीयता, वर्ग और साम्राज्यवाद की रोशनी में भी आपत्तियाँ की गयीं। अल्पसंख्यक, निम्नवर्गीय और उत्तर-औपनिवेशिक संस्कृतियों से आये विमर्शकारों ने कहा कि उनके अपने अनुभवों और आवश्यकताओं की बात तो गे और लेस्बियन में विभाजित मुख्य धार की सेक्सुअलिटी राजनीति में कोई करता ही नहीं। इसके अलावा उभयलैंगिकता और द्विलैंगिकता की तरफ़ से गे/लेस्बियन विभाजन की सीमाओं पर उँगली रखी गयी। पूछा गया कि अगर स्त्री से पुरुष बना एक उभयलैंगिक व्यक्ति किसी स्त्री की तरफ़ आकर्षित होता है तो उसकी सेक्सुअल अस्मिता इतरलैंगिक समझी जाएगी या लेस्बियन? जेंडर के आईने में ऐसा व्यक्ति इतरलैंगिक लगेगा, और जैविकी के लिहाज से लेस्बियन। गे/लेस्बियन सेक्सुअल अस्मिता की राजनीति सामाजिक संरचनावादियों की तरफ़ से भी आलोचना का निशाना बनायी गयी। इन विद्वानों ने अस्मिताओं को खारिज नहीं किया, बल्कि उनके भीतर मौजूद तात्त्विकतावादी प्रवृत्तियों को आड़े हाथों लिया।

सेक्सुअलिटी-अध्ययन के दायरे में नब्बे के दशक में मिशेल फ़ूको से प्रभावित हो कर उत्तर-आधुनिकता की ज़बरदस्त दावेदारी उभरी। इसका नतीजा क्वियर थियरी में निकला। इस विमर्श ने गे या लेस्बियन अस्मिताओं को तो खारिज किया ही, परिप्रेक्ष्य-आधारित विश्लेषण की वकालत भी की। इसमें जेंडर और सेक्सुअलिटी को जोड़ने वाले विमर्शकार भी शामिल थे, और उनके बीच कोई संबंध न देखने वाले भी। उत्तर-आधुनिक विमर्श ने सेक्सुअलिटी को सत्ता का अंग ज़रूर माना, पर साथ में यह भी कहा कि क्रिस्म-क्रिस्म की सेक्सुअलिटियों के बीच ये सत्ता-संबंध केवल नकारात्मक और अधीनस्थता की तरफ़ धकेलने वाले नहीं होते। बल्कि, इनके तहत इयत्ता अपनी रचना करते हुए यौनानंद के स्रोतों की शिनाख़्त करती है। आज अपने नये अवतार में सेक्सुअलिटी-अध्ययन उत्तर-आधुनिक/क्वियर और 'सेक्स की तरफ़दारी' करने वाले रवैये के लिए जाना जाता है। लेकिन, इसका पहले से चला आ रहा ध्रुव भी पूरी तरह से सक्रिय है। गे और लेस्बियन अस्मिताओं के आधार पर की जाने वाली राजनीति भी मुखर है।

देखें : अंतरंगता, पुरुषत्व, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन,

फ़िल्म और सेक्सुअलिटी, ब्रह्मचर्य और सेलिबेसी, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, सेक्सुअलिटी।

संदर्भ

1. एच. एबेलोव वगैरह (सम्पा.) (1993), *द लेस्बियन ऐंड गे स्टडीज़ रीडर*, रॉटलेज, लंदन.
2. बी. ऐडम (1995), *द राइज़ ऑफ़ अ गे ऐंड लेस्बियन मूवमेंट*, ट्वायनी, न्यूयॉर्क.
3. डी. आल्टमैन (1996), *होमोसेक्सुअल : ऑप्रेशन ऐंड लिबरेशन*, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. एम. वानर (1999), *द ट्रबुल विद नॉर्मल सेक्स : सेक्स, पॉलिटिक्स, ऐंड द इथिक्स ऑफ़ क्वियर लाइफ़*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. जेफ़री वीक्स (1985), *सेक्सुअलिटी ऐंड इट्स डिसकंटेन्ट्स : मीनिंग्स, मिथ्स ऐंड मॉडर्न सेक्सुअलिटीज़*, रॉटलेज कीगन पॉल, लंदन.
6. जे. डी 'इमिलियो (1997), 'कैपिटलिज़्म ऐंड गे आइडेंटिटी', आर. लंकास्टर और एम. डी 'लिओनार्डो (सम्पा.), *द जेंडर/सेक्सुअलिटी रीडर : कल्चर, हिस्ट्री, पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क और लंदन.

— अनामिका

सेकुलरवाद

(Secularism)

सेकुलरवाद की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'सेकुलरिस' से हुई है। सेकुलरिस से फ्रेंच भाषा ने सेकुलर शब्द हासिल किया जिसे मध्यकालीन अंग्रेजी ने अपना लिया। इसका मतलब है 'आज का समय' अर्थात् जो 'दैवी समय' से भिन्न है। आज के समय की अवधारणा में ही 'इहलोक' का विचार निहित है जो उस दुनिया यानी 'परलोक' से अलग है। धार्मिक संदर्भों में मान्यता यह है कि इस दुनिया में रहने का मतलब है एक कमतर क्रिस्म के वजूद की गिरफ्त में रहना जिससे मुक्ति केवल तभी हो सकती है जब एक बेहतर अस्तित्व यानी पारलौकिक संसार में गमन किया जा सके। सेकुलरवाद इस मान्यता का खण्डन करते हुए दावा करता है कि आज का समय यानी इहलौकिक अस्तित्व किसी पारलौकिक अस्तित्व के मुकाबले निकृष्ट नहीं है। मनुष्य का भौतिक और सामाजिक जगत अपने-आप में एक महत्वपूर्ण और निर्णायक तथ्य है। सेकुलरवाद मनुष्य और उसके संसार की इहलौकिकता का सिद्धांत है। वह धर्म के वर्चस्व, उसकी निरंकुशता और उसके आधार पर किये जाने वाले किसी भी क्रिस्म के बहिर्वेशन के विरोध में खड़ा है।

सेकुलरवाद आग्रह करता है कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था संस्थागत धार्मिक प्रभुत्व से पूरी तरह मुक्त होनी चाहिए। धर्म के उत्पीड़नकारी, निरंकुश, विषमतामूलक और बहिर्वेशनकारी पहलुओं का विरोध करने के लिए सेकुलरवाद को अक्सर धर्म का ही विरोध करने की हद तक जाना पड़ता है। लेकिन, वह अनिवार्यतः धर्म का उन्मूलन करने की अपील करने वाली विचारधारा नहीं है। वह धर्मों की स्वतंत्रता, धर्म से स्वतंत्रता, धर्मों की आपसी समानता और आस्तिकों व नास्तिकों के बीच समानता की वकालत करता है। इससे स्पष्ट होता है कि सेकुलरवाद धर्म के उदात्त और आध्यात्मिक पहलुओं के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया नहीं अपनाता। उसका रवैया धर्म के प्रति आलोचनात्मक आदर का है।

घटनात्मक इतिहास : विरोधाभास यह है कि इहलोक के महत्त्व को स्थापित करने वाले इस सिद्धांत का उद्गम ईसाई धर्म के अंदरूनी विवादों में निहित है। *सेकुलरिस* मूलतः पुरोहितों की जमात के उस हिस्से का द्योतक था जो ईसाई मठ-व्यवस्था के नियम-कानूनों से असंतुष्ट थे। कैथोलिक चर्च के सर्वग्रासी वर्चस्व के खिलाफ़ मार्टिन लूथर के नेतृत्व में चले प्रोटेस्टेंट आंदोलन की सफलता ने पहली बार सिद्धांत और व्यवहार में दिखाया कि ईश्वर से तादात्म्य

स्थापित करने के लिए चर्च की बिचौलिया भूमिका की आवश्यकता नहीं है। सोलहवीं सदी में कैथोलिक चर्च की धार्मिक पदानुक्रमता और परम्परानिष्ठा को दी गयी इस चुनौती ने सच्चे धर्म की भिन्न व्याख्या की और मनुष्य और ईश्वर के बीच सीधी घनिष्ठता पर जोर दिया, धर्म को पुरोहितों की जकड़ से निकाला, श्रद्धालुओं की भावना को प्रमुखता दी और इस प्रक्रिया में व्यक्ति की स्वायत्तता स्थापित करने का रास्ता खोला। चर्च का प्राधिकार कमजोर होने का पहला लाभ राजशाहियों ने उठाया। सोलहवीं सदी में ही इंग्लैण्ड के राजा हेनरी अष्टम ने रोम से नाता तोड़ कर चर्च की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली। धीरे-धीरे राज्य चर्च के प्रभाव से मुक्त होने लगा। प्रोटेस्टेंटों ने धर्म-सुधार के जरिये जिन नये मूल्यों की स्थापना की, उन्होंने युरोपीय ज्ञानोदय द्वारा प्रवर्तित व्यक्तिवाद पर निर्णायक असर डाला। ज्ञानोदय ने धर्म को पूरी तरह से खारिज तो नहीं किया, पर उसे तर्क बुद्धि की सीमाओं में कैद करने की तजवीज़ ज़रूर कर डाली। ऐसी बात नहीं कि धर्म ने सेकुलरवाद का बोलबाला आसानी से स्थापित हो जाने दिया हो। प्रोटेस्टेंटों के खिलाफ़ कैथोलिकों ने कड़ी प्रतिक्रिया की और धार्मिक युद्धों का सिलसिला शुरू हुआ। युरोप में तीस साल तक चले युद्धों के समापन पर चर्च की सम्पत्ति पूरी तरह से राजाओं के हाथ में जाने लगी।

सत्रहवीं सदी में वेस्टफ़ेलिया की संधि तक पहुँचते-पहुँचते यह प्रक्रिया राजनीति की ज़मीन पर व्यापक रूप ग्रहण करने लगी। 1648 में इस परिघटना को सेकुलरीकरण का नाम दिया गया। उस समय तक इसका मतलब था चर्च की सम्पत्ति का राजा के नियंत्रण में हस्तांतरण। अठारहवीं सदी में इस प्रवृत्ति ने और ज़्यादा जोर पकड़ा। फ्रांसीसी क्रांति में ज्ञानोदय के विचारधारा और सेकुलरीकरण के आग्रह काफ़ी ताकतवर ढंग से व्यक्त हुए। इस क्रांति के बाद यह विचार एक मूल्यगत वक्तव्य बन गया। दो नवम्बर, 1789 को टैलीरैंड ने फ्रांसीसी नैशनल एसेम्बली के सामने गिरजाघर की सम्पत्तियों को राष्ट्र की मातहत में लाने का एलान कुछ इस तर्ज़ पर किया जैसे कि ऐसा तो होना ही चाहिए था। इसे एक वाद का रूप उन्नीसवीं सदी के मध्य मिला। इंग्लैण्ड के एक रैंडिकल अनीश्वरवादी जॉर्ज जैकब होलियाँक ने 1851 में पहली बार सेकुलरवाद शब्द का प्रयोग किया। होलियाँक राबर्ट ओवेन के समाजवादी विचारों, उपयोगितावाद और गणराज्यवाद से प्रभावित थे। नास्तिकता का झण्डा बुलंद करने के कारण वे जेलयात्रा भी कर चुके थे। उनकी कोशिश थी कि नास्तिक, काफ़िर, फ्री थिंकर और अनीश्वरवादी जैसे शब्दों की जगह कोई नयी अभिव्यक्ति खोजी जाए। उन्हें लगा कि यह ज़रूरत सेकुलरवाद पूरा कर सकता है।

होलियाँक और उनके उत्तराधिकारी चार्ल्स ब्रैडलॉ ने मिल कर इंग्लैण्ड में सेकुलर संस्थाएँ कुछ इस अंदाज़ में

खोलीं जैसे कि किसी वैकल्पिक चर्च की स्थापना करने की कोशिश की जा रही हो। इन सेकुलर संस्थाओं ने अंग्रेज मजदूरों के अपेक्षाकृत खाते-पीते हिस्से को अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने माँग की कि एंग्लिकन चर्च की विशेष सुविधाएँ खत्म की जानी चाहिए, अन्य धर्मों और नास्तिकों को भी समान अधिकार दिये जाने चाहिए, ईश्वर में आस्था न रखने वालों की गवाही भी वैध समझी जानी चाहिए और ईशनिंदा को अपराध करार देने वाला कानून रद्द कर दिया जाना चाहिए। ब्रैडलॉ जब पहली बार संसद के लिए चुने गये तो उन्होंने ईश्वर के नाम पर शपथ लेने से इनकार कर दिया। इस तरह पहली बार किसी अनीश्वरवादी को सरकारी हैसियत प्राप्त हुई। होलियाँक की मृत्यु के बाद ब्रैडलॉ का साथ एनी बेसेंट ने दिया जो बाद में हिंदू और बौद्ध प्रभाव वाले थियोसिफिकल आंदोलन के साथ जुड़ी और भारत आ कर उसके उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की नेता बनीं।

1860 से 1914 की अवधि युरोपीय देशों में सेकुलरीकरण का दौर माना जाता है। उन्नीसवीं सदी में ही इटली के राजा विक्टर इमैनुएल ने पोप को राज्यच्युत करके उसके साथ अपना रिश्ता तोड़ लिया। इस तरह पोप की सत्ता केवल रोम स्थित वेटिकन तक रह गयी। फ्रांस में सरकार और चर्च के बीच क्रांति के ज़माने से चला आ रहा संघर्ष 1901 से 1905 के बीच अपनी चरम परिणति तक पहुँचा और चर्च की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गयी। फ्रांस ने सेकुलर शब्दावली में 'लाइसिज़म' जैसी अभिव्यक्ति जोड़ी जो सम्भवतः राज्य और धर्म के अलगाव को सर्वाधिक कड़ाई से परिभाषित करती है। पश्चिम युरोपीय देशों के राज्य और समाज पर रोमन कैथोलिकवाद के शिकंजे को तोड़ने में लाइसिज़म ने निर्णायक भूमिका निभायी। रूस में पीटर द ग्रेट ने चर्च की ताकत को कमजोर करने वाले क्रदम उठाये। उनके बाद कैथरीन द ग्रेट और परवर्ती जारों ने चर्च की सत्ता को भंग कर दिया। पुर्तगाल, स्पेन और लातीनी अमेरिकी देशों में भी कमोबेश इसी तरह के घटनाक्रम चले। उन्नीसवीं सदी में संयुक्त राज्य अमेरिका के नेताओं ने भी सेकुलर सिद्धांतों के आस-पास राजनीतिक जीवन की संरचनाएँ बनायीं। अमेरिका में धार्मिक स्वतंत्रता इतनी ज़्यादा थी कि कोई भी अपना धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित कर सकता था, पर बुद्धिजीवियों के बीच धर्म की सामाजिक भूमिका बुद्धिवादी विवेचना के आधार पर ही निर्धारित की जाती थी।

उन्नीसवीं सदी खत्म होते-होते चर्च के दुर्बल हो जाने और सेकुलर विचारों के मज़बूत होने के कारण धार्मिक और अनीश्वरवादी अल्पसंख्यकों को राज्य का संरक्षण मिलने लगा। होलियाँक और ब्रैडलॉ जैसे प्रतिबद्ध लोगों द्वारा चलाये गये आंदोलनों की कोई ज़रूरत ही नहीं रह गयी। डार्विन के विकासवाद और मार्क्स के समाजवादी विचारों का प्रचार-

प्रसार बढ़ गया। सेकुलरवाद इन आधुनिकतावादी और प्रगतिवादी वैचारिक आग्रहों का अभिन्न अंग था।

फ्रांसीसी क्रांति के ज़माने से ही यह अनुभूति होने लगी थी कि राष्ट्र-राज्य आधारित राष्ट्रवाद एक ऐसी शै है जो एक ग़ैर-धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक साझेदारी का आधार बन सकती है। पोलैण्ड और आयरलैण्ड के अपवाद को छोड़ कर बाक़ी जगहों पर राष्ट्रवाद और सेकुलरीकरण का ताक़तवर गठजोड़ बनता चला गया। सेकुलरवाद की मदद से राष्ट्र के प्रति निष्ठा धार्मिक दावेदारियों से ऊपर समझी जाने लगी। अभिजन और बौद्धिक हलकों में समझा जाने लगा कि राष्ट्रवाद और सेकुलरीकरण के सम्मिलित प्रभाव से धर्म अब हाशिये पर जाने के लिए अभिशप्त हो गया है। 1917 की बोलशेविक क्रांति के बाद लगा कि फ्रांसीसी क्रांति के मूल्यों की चरम रैडिकल परिणति का वक्त आ गया है।

राजनीतिक सेकुलरवाद का उभार : बीसवीं सदी में सेकुलरवाद आधुनिक राज्य के वैचारिक औज़ार के रूप में उभरा जिसके मुताबिक़ धर्म और उसकी संस्थाओं को सरकारी नितंत्रण में रखा जाता है, क़ानून बना कर धर्म का स्वरूप बदला जाता है और सामाजिक-आर्थिक आधुनिकीकरण किया जाता है। राज्य और धर्म के संबंध को परिभाषित करने वाले इस सिद्धांत को राजनीतिक सेकुलरवाद की संज्ञा दी जाती है। सेकुलरवाद के ऐसे इस्तेमाल के उदाहरण हैं मुस्तफ़ा कमाल पाशा का तुर्की, रज़ा शाह पहलवी का ईरान, बौरगुइबा का ट्यूनीशिया, लेनिन का सोवियत संघ, माओ का चीन और कम्युनिस्ट हुकूमतों वाले पूर्वी युरोप के देश। सेकुलरवाद की अवधारणा के घटनात्मक विकास से जाहिर है कि किस तरह यह विचार धीरे-धीरे बुद्धिवाद, ग़ैर-धार्मिकता, आधुनिकतावाद और राष्ट्रवाद के साथ के साथ गुँथता चला गया। इसका परिणाम दोहरा निकला। एक तरफ़ तो सेकुलरवाद को आधुनिक युग की एक स्वाभाविक विचारधारा और स्वागतयोग्य प्रवृत्ति का दर्जा मिला, और दूसरी ओर इसे आधुनिक जीवन से उपजी कई समस्याओं का ज़िम्मेदार भी माना गया। आधुनिकता के आलोचकों ने, परम्परा को हमदर्दी की निगाह से देखने वालों ने और पश्चिमी छाप वाले समरूपीकरण के मुक्राबले सांस्कृतिक विविधता के पैरोकारों ने सेकुलरवाद पर वैचारिक प्रहार किये। इससे भी ज़्यादा संगीन परिघटना यह हुई कि लोकतंत्र और सेकुलरवाद पर दावा ठोकने वाली एक बहुसंख्यकवाद नामक एक नयी अशुभ परिघटना उभर आयी। इन तमाम पहलुओं के अंतर्गुम्फ़न से एक ऐसा विमर्श उभरा जिसने सेकुलरवादी विचार की कई कोणों से आलोचना पेश की।

सेकुलरवाद को भारत जैसे बहुधार्मिक देशों के लिए

भी उपयुक्त माना गया। लेकिन इस प्रक्रिया में राजनीतिक सेकुलरवाद की सैद्धांतिक निष्पत्तियाँ नये सिरे से प्रश्नांकित हुई हैं। भारत में बहुसंख्यक समाज से आये नेताओं ने सेकुलरवाद को आधुनिकीकरण के मुहावरे के तौर पर अपनाया है और अल्पसंख्यकों के राजनीतिक प्रवक्ताओं ने उसे धार्मिक आजादी के नाम पर अपने धार्मिक-सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए अंगीकार किया है। भारत के संदर्भ में सेकुलरवाद, राज्य और धर्म का त्रिकोण युरोपीय या अमेरिकी मॉडल की तरह स्पष्ट नहीं है। इसी अस्पष्टता के गर्भ से भारतीय सेकुलरवाद की विशिष्ट संरचना विकसित हुई है। भारतीय राज्य को विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न धर्मों में हस्तक्षेप करने या न करने के बारे में संवेदनशील क्रिस्म के फैसले लेने पड़ते हैं जिससे राजनीति और सामाजिक चेतना में बेचैनियाँ पैदा होती हैं। अपने धुँधलकों और अपने फलितार्थों के कारण सेकुलरवाद की यह भारतीय क्रिस्म समाज-विज्ञान की दुनिया में एक महाविवाद का कारण बन चुकी है।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2008), 'सेकुलरिज़्म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
2. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2005), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
3. सच्चिदानंद सिन्हा (1993), *धर्मनिरपेक्षता : परम्परा और प्रासंगिकता*, 'आज के प्रश्न' शृंखला, वाणी, नयी दिल्ली.
4. सत्यपाल गौतम (1991), 'धर्मनिरपेक्षता', *समाज दर्शन*, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरीकरण

(Secularisation)

अगर सेकुलरिज़्म एक सिद्धांत और विचारधारा का नाम है जिसके आधार पर राज्य और धर्म के बीच पार्थक्य की दीवार खड़ी की जाती है, तो सेकुलरीकरण एक प्रक्रिया है जो आधुनिकता के इतिहास और आधुनिकीकरण के सिलसिले से जुड़ी हुई है। समाज-विज्ञान की दुनिया में मैक्स वेबर जैसे उत्तर-मार्क्स समाजशास्त्रियों ने सेकुलरीकरण की प्रक्रिया को अपने विमर्श में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इसी मुकाम पर समाज वैज्ञानिकों ने सेकुलरवाद के सिद्धांत और सेकुलरीकरण की अलग-अलग शिनाख्त की। उन्होंने देखा कि हमजोली होने के साथ-साथ इन दोनों का विकास एक-दूसरे से स्वतंत्र भी है।

वेबर के मुताबिक समाज में बुद्धिवाद और विज्ञान का विकास अलौकिक शक्तियों में आस्था और अंधविश्वास को प्रतिस्थापित करता चला जाता है जिससे 'दुनिया का मोहभंग' सम्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप धार्मिक संस्थाओं को कुछ ऐसे परिवर्तनों की शुरुआत करनी पड़ती है जो उन्हें सेकुलरीकरण के कारण बदलती हुई दुनिया के साथ तालमेल करने में मददगार हो सकें। अपने बेहद शुरुआती चरण में यह प्रक्रिया वाचिक परम्परा से लेखन की संस्कृति की तरफ धीमे संक्रमण के रूप में घटित हुई थी जिसके कारण ज्ञान का पहले के मुकाबले अधिक प्रसार होने लगा। इस परिघटना के कारण ईश्वर प्रदत्त ज्ञान के वाहक के रूप में पुरोहितों की प्रतिष्ठा कम कर दी। धीरे-धीरे शिक्षा की जिम्मेदारी परिवार और समुदाय के हाथ से निकल कर राज्य की होती चली गयी जिसके दो नतीजे निकले। पहला, सामुदायिक विवेक की व्यक्ति के विवेक पर श्रेष्ठता का हास हुआ, और दूसरा, सामुदायिक गतिविधियों के बिखराव के कारण धर्म अधिकतर सार्वजनिक जीवन से निजी जीवन की परिघटना बनता चला गया।

सामाजिक संरचनाओं के संदर्भ में सेकुलरीकरण का एक मतलब विभेदीकरण भी लगाया जाता है। युरोपीय समाजशास्त्र ने मानवशास्त्रीय अध्ययनों के जरिये आदिम समाजों के आधुनिकता में दीक्षित होने की प्रक्रियाओं पर काफ़ी जोर दिया था। समाज-विज्ञान की यह परम्परा परिवर्तन के इस सिलसिले को प्रगति के विचार की विजय के रूप में देखती थी, पर विख्यात समाज वैज्ञानिक टालकोट पार्संस ने समाज को एक ऐसी प्रणाली की तरह देखने पर बल दिया जो लगातार विभेदीकरण के दौर से गुज़रती रहती है। पार्संस के मुताबिक समाज के टिके रहने के लिए ज़रूरी होता है कि पुरानी एकात्म संस्थाएँ टूटें और उनकी जगह नयी

संस्थाएँ लें। इस तरह कम विभेदीकृत संस्थागत ढाँचे की जगह अधिक विभेदीकृत ढाँचा लेता चला जाता है। इसका मतलब यह भी है सेकुलरीकरण की वजह से चलने वाली वह प्रक्रिया जिसके कारण समाज के आर्थिक, राजनीतिक, क्रान्ती, वैज्ञानिक और नैतिक आयाम उत्तरोत्तर एक-दूसरे से विशिष्ट होते चले जाते हैं। धर्म या धार्मिक अनुभव हर तरह के ज्ञान का स्रोत नहीं रह जाता। संस्थाओं पर सेकुलरीकरण का असर किस तरह पड़ता है इसका उदाहरण हार्वर्ड विश्वविद्यालय के रूप में देखा जा सकता है। किसी ज़माने में प्रमुख रूप से धार्मिक समझी जाने वाली इस विश्व प्रसिद्ध संस्था के धर्म संबंधी आयाम केवल अब उसके डिविनिटी स्कूल में सिमट कर रह गये हैं।

विभेदीकरण की थीसिस का इस्तेमाल करते हुए खोसे कासानोवा ने सूत्रीकरण किया है कि सेकुलरीकरण न सिर्फ़ राज्य, अर्थव्यवस्था और विज्ञान को अलग-अलग करते हुए स्वतंत्र दायरों में ले जाता है, बल्कि इसके कारण स्वयं धार्मिक दायरा अपने भीतर विभेदीकृत और विशिष्टीकृत होता चला जाता है। यह थीसिस बताती है कि किस तरह सेकुलरीकरण धर्म के प्रभाव को सीमित ही नहीं करता, बल्कि वह उसे भीतर से बदलने की भूमिका भी निभाता है।

इतिहास : उन्नीसवीं सदी के मध्य में इंग्लैण्ड के रैडिकल अनीश्वरवादी जॉर्ज जैकब होलियाँक द्वारा सेकुलरवाद शब्द का पहली बार इस्तेमाल किये जाने से पहले ही सेकुलरीकरण का पद गढ़ा जा चुका था। सत्रहवीं सदी के आठवें दशक में ही चर्च की सम्पत्ति का राज्य के संचालन में हस्तांतरण होने की प्रक्रिया को सेकुलरीकरण का नाम दे दिया गया था। इस प्रक्रिया ने अट्टारवीं सदी में जोर पकड़ा और अमेरिकी क्रांति और फ्रांसीसी क्रांति ने इस प्रक्रिया को आधुनिकता और राष्ट्रवाद के साथ पूरी तरह से जोड़ दिया।

सेकुलरवाद जहाँ आधुनिक राज्य के औज़ार की तरह उभरा वहाँ सेकुलरीकरण की प्रक्रिया राज्य के इरादों पर निर्भर होने के बावजूद अनिवार्य तौर पर उसके आधीन कभी नहीं रही। राज्य अगर सेकुलर है तो यह प्रक्रिया तेज़ रफ़्तार से चलती है, पर अगर राज्य सेकुलर नहीं है तो भी समाज के धरातल पर धीमी गति से ही सही पर यह प्रक्रिया चलती रहती है। कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर यह कभी बंद नहीं होती। सेकुलरीकरण के सिलसिले पर निगाह रखने वालों का कहना तो यहाँ तक है कि खुद को धर्मतंत्रीय घोषित करने वाले राज्यों (जैसे, ईरानी इस्लामी गणराज्य) में भी भले ही स्वीकार न किया जाए पर सेकुलरीकरण की गतिशीलता सामाजिक संरचनाओं और व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करती रहती है। परम्परागत समाजों का आधुनिक दायरे में आना, धर्म का सार्वजनिक दायरे से हट कर उत्तरोत्तर

निजी दायरे में जाना, आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार, शहरीकरण और उद्योगीकरण को सेकुलरीकरण का माध्यम और परिणाम माना गया है।

कालांतर में यह भी देखा गया है कि मंदिर जाने वालों, चर्च में प्रार्थना करने वालों या मसजिद में नमाज़ पढ़ने वालों की संख्या में कमी आने या बढ़तीरी जैसे आँकड़ों से सेकुलरीकरण की रफ़्तार का ठीक-ठीक अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता। इसकी वजह है कि कई परिस्थितियों में सेकुलरीकरण उपासना के चलन को कम हतोत्साहित करने के बावजूद धर्म के सार और उसकी लोकप्रिय समझ में खामोशी से परिवर्तन कर देता है। लोग पूजा-अर्चना करते रहते हैं, और उनका व्यक्तिगत व सार्वजनिक जीवन सेकुलरीकृत भी होता रहता है।

इस लिहाज़ से कहा जा सकता है कि सेकुलरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो धार्मिकता के स्वरूप को और अंततः धर्म के स्वरूप को ही बदल देती है। वह एक ऐसी अस्मिता रचती है जो भले ही किसी पुराने नाम से पुकारी जाती हो, पर अपने सार में बदली हुई होती है। युरोपीय और अमेरिकी ईसाइयों पर सेकुलरीकरण का ऐसा असर साफ़ दिखता है। सेकुलरीकरण के दौर में पला-बढ़ा, खुद को हिंदू कहने वाला और कुछ हिंदू धर्म-विधियों का पालन करने वाला व्यक्ति भी सेकुलरीकरण के दौर से पहले वाले हिंदू से कई मायनों में भिन्न होता है। अपने सार्वजनिक जीवन में या उत्पादन प्रक्रिया में संलग्न होने पर वह या तो धर्म का कतई इस्तेमाल नहीं करता या फिर धर्म के राजनीतिक संस्करण का प्रयोग करता है जिसका धार्मिकता या आध्यात्मिकता से कोई ताल्लुक नहीं होता। इसी तरह दक्षिण एशिया की अन्य धार्मिक परम्पराओं का भी सेकुलरीकरण हुआ है। माना जाता है कि मुहम्मद इक़बाल और सैयद अहमद ख़ान ने इस्लाम के सेकुलरीकरण की मुहिमें चलाई थीं। डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने तो बुद्ध धर्म के सेकुलरीकरण का पूरा शास्त्र ही तैयार कर डाला था।

स्वामी विवेकानंद को श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने भगवा वस्त्र पहनने और अद्वैत का प्रचार करने के बावजूद हिंदू धर्म में सामाजिक न्याय के पहलुओं का समावेश करके उसके सेकुलरीकरण का आधार तैयार किया। विद्वानों ने राजनीति से धर्म को आवेशित करने का आग्रह कई बार करने वाले गाँधी को भी हिंदू धर्म का भरपूर सेकुलरीकरण करने का श्रेय दिया है। हिंदू समाज के भीतरी मामलों में अंग्रेज़ी हुकूमत के हस्तक्षेप का विरोध करने वाले बाल गंगाधर तिलक ने भी अपने प्रयासों से हिंदू समाज के अंदरूनी सेकुलराइज़ेशन में योगदान किया था। दरअसल, बहुत से भारतीय समाज सुधारकों ने धर्म विरोध हुए बिना धर्म से लगाव के कारण अपने-अपने धार्मिक समुदायों में सुधार की

जो मुहिमें चलाई, उनके भीतर सेकुलरीकरण के प्रभावशाली पहलू मौजूद थे।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. सी.जे. समरविले (1998), 'सेकुलर सोसाइटी, रिलीजस पोपुलेशन : अवर टेसिट रूल्स फ़ॉर यूजिंग द टर्म सेकुलराइजेशन', *जरनल फ़ॉर द साइंटिफिक स्टडी ऑल रिलीजन*, खण्ड 37, अंक 2.
2. जोसे कासानोवा (1994), *पब्लिक रिलीजंस इन द मॉडर्न वर्ल्ड*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
3. मार्टिन डेविड (2005), *ऑन सेकुलराइजेशन : टुवर्ड्स अ रिवाइज्ड जरनल थियरी*, एशगेट पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयॉर्क.
4. पिपा नॉरिस और रोनाल्ड इंग्लेहार्ट (2004), *सेक्रेड ऐंड सेकुलर*, *रिलीजन ऐंड पॉलिटिक्स वर्ल्डवाइड*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य

(Secular Versus Religious State)

सेकुलरवाद, राज्य और धर्म के त्रिकोण का आज तक कोई एक निश्चित फ़ार्मूला नहीं बन पाया है। समाज-विज्ञान की दुनिया में इस मुद्दे पर कई बौद्धिक क़वायदें हुई हैं। धर्म को अहमियत देने वाले राज्य और सेकुलर राज्य के बीच तुलनात्मक चर्चा करके इस त्रिकोण की कुछ समझ बनायी जा सकती है।

धर्म को अहमियत देने वाले राज्य मोटे तौर पर तीन तरह के देखे गये हैं : धर्मतंत्रीय राज्य, किसी एक धर्म को स्थापित करने वाले राज्य और कई धर्मों को स्थापित करने वाले राज्य। धर्मतंत्रीय राज्य में पुरोहित वर्ग किन्हीं दैवी क़ानूनों के तहत राजतंत्र का संचालन करता है। ऐसे राज्यों में धर्मतंत्र और राजतंत्र एक-दूसरे के पर्याय हो जाते हैं। अयालुल्ला ख़ुमैनी ने जिस ईरानी इसलामिक गणराज्य की

स्थापना की थी और तालिबान द्वारा अफ़ग़ानिस्तान में स्थापित हुकूमत धर्मतंत्रीय राज्य के स्पष्ट उदाहरण हैं। अगर भारतीय राज्य धर्मशास्त्रों के मुताबिक़ ब्राह्मणों द्वारा संचालित किया जाए, तो उसे भी धर्मतंत्रीय कहा जाएगा। किसी एक धर्म को औपचारिक और क़ानूनी मान्यता दे कर उसके साथ अधिकारिक गठजोड़ करने वाला राज्य धर्मतंत्रीय राज्य से भिन्न होता है, क्योंकि पुरोहित वर्ग उसके ऊपर सीधे हुकूमत नहीं करता। ऐसे राज्य में धार्मिक संस्थाएँ और धार्मिक कारकुन राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक कारकुनों से अलग होते हैं। राज्य धार्मिक लक्ष्यों को सर्वोपरि मानते हुए भी अलग तरह से काम करता है, उसकी सत्ता संरचनाएँ और उसके आंतरिक मानक भिन्न होते हैं। राज्य और धर्म का यह अलगाव अंतिम विश्लेषण में धर्म की सेवा में लगता है। मसलन, राज्य द्वारा जमा किया गया राजस्व धार्मिक कामों में खर्च किया जाता है और राज्य ऐसे क़ानून भी बना सकता है जो लोगों को धार्मिक एकत्रीकरण के लिए विवश करते हों। शताब्दियों तक इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और जर्मनी ऐसे ही राज्य रहे हैं। उनमें प्रोटेस्टेंट ईसाइयत का बोलबाला रहा है। इटली और स्पेन ने कैथोलिक धर्म को झण्डा बुलंद किया है। आज के ज़माने में पाकिस्तान और सऊदी अरब ऐसे ही राज्य हैं। एक से ज़्यादा धर्मों को मान्यता देने वाले राज्यों में धार्मिक सहिष्णुता का गुण होता है। अशोक द्वारा स्थापित राज्य इसका एक नज़दीकी उदाहरण है। मुग़ल सम्राट अकबर की महत्वाकांक्षाएँ भी इसी तरह का राज्य स्थापित करने की थी। चौदहवीं सदी का विजयनगर साम्राज्य भी ऐसा ही एक उदाहरण है जिसमें शैव, वैष्णव और जैन मत को एक साथ मान्यता दे रखी थी।

सेकुलर राज्य इन तीनों क्रिस्म के राज्यों से अलग तरह का होता है। न तो धार्मिक लक्ष्य उसके लक्ष्य हो सकते हैं, न ही उसका संस्थागत रूप से धर्म से कोई रिश्ता हो सकता है और न ही क़ानून और सरकारी नीति के स्तर पर उसका धर्म से कोई लेन-देन सम्भव है। न वह किसी एक धर्म की स्थापना करेगा, न ही धार्मिक सहिष्णुता के नाम पर एक से अधिक धर्मों की।

राज्य और धर्म के अलगाव का एक स्थापित मॉडल राज्य और चर्च के पार्थक्य का है। कुछ विद्वान सेकुलरवाद को इस मॉडल का पर्याय मानते हैं, पर अधिक गहराई में जाने पर पता लगता है कि चर्च और राज्य का पार्थक्य किसी राज्य को सेकुलर बनाने के लिए ज़रूरी तो है पर अपने आप में पर्याप्त शर्त नहीं है। इस तरह का पार्थक्य तो तकनीकी रूप से उन राज्यों में भी होता है जो पुरोहित वर्गों द्वारा शासित नहीं होते और जहाँ धार्मिक और राजनीतिक तंत्र अलग-अलग काम करते हैं। सेकुलर राज्य के लिए लाज़मी यह है कि वह

न केवल धार्मिक तंत्र से उसके विशेषाधिकार छीन ले, बल्कि उसके लक्ष्य भी प्रमुख रूप से सेकुलर हों। लेकिन, अगर कोई राज्य सिर्फ सत्ता और सम्पत्ति अर्जित करने तक सीमित रहता है और शासितों की वफादारी जीतने के लिए उनके धर्म में अ-हस्तक्षेप की नीति अपनाता है तो उसका सेकुलरवाद मूल्य आधारित नहीं माना जाएगा। भारत में अंग्रेजों की औपनिवेशिक हुकूमत इसी क्रिस्म की थी। ऐसी हुकूमत ज़रूरत पड़ने पर धर्म से नाता जोड़ भी लेती है। एक मूल्य आधारित सेकुलर राज्य तभी बन सकता है जब वह सत्ता और सम्पत्ति को सेकुलर आधारों पर अर्जित करने के साथ-साथ शांति, स्वतंत्रता और समानता का वाहक बनते हुए शासितों को पूर्ण नागरिकता प्रदान करता हो।

एक मूल्य आधारित सेकुलर राज्य सामाजिक शांति-व्यवस्था की गारंटी करता है, भले ही उस राज्य में उत्तम जीवन की एक से अधिक परस्पर प्रतियोगितारत धारणाएँ सक्रिय हों। ऐसा राज्य अपनी नीतियों को इस प्रकार बनायेगा ताकि इन धारणाओं की वाहक शक्तियाँ आपस में बर्बरतापूर्ण संघर्ष पर न उतर सकें। मूल्य आधारित सेकुलर राज्य सहिष्णुता के उसूल पर चलता है और धार्मिक आधार पर किसी के उत्पीड़न की इजाजत नहीं देता। वह एक तितरफ़ा धार्मिक स्वतंत्रता को कार्यान्वित करेगा। इसके तहत एक धर्म के भीतर उसके सदस्यों को बिना किसी उत्पीड़न के डर के उस धर्म की प्रधान या वर्चस्वी व्याख्याओं से असंतुष्ट होने, उन्हें चुनौती देने, उनकी आलोचना करने और उनके खिलाफ़ गोलबंदी करने के अधिकार की गारंटी होनी चाहिए। दूसरे, यह धार्मिक स्वतंत्रता एक धर्म को दूसरे धर्म पर प्राथमिकता नहीं प्राप्त करने देगी। तीसरे, यह अपने जन्मना धर्म को त्यागने और दूसरा धर्म क़बूल करने या बिना किसी धर्म के रहने की पूरी छूट देगी।

मूल्य आधारित सेकुलर राज्य से आशा की जाती है कि वह अपने नागरिकों को हुकूमत की आलोचना करने, उसके खिलाफ़ लोकतांत्रिक ढंग से जन-गोलबंदी करने और उसका विकल्प प्रस्तावित करने तक की अनुमति देगा। अमेरिकी संविधान में फ़र्स्ट एमेंडमेंट के नाम से मशहूर अनुच्छेद सेकुलरवाद से जुड़ी हुई धार्मिक स्वतंत्रता का विस्तार एक अधिक सामान्य धरातल पर अभिव्यक्ति की, शांतिपूर्ण गोलबंदी की और राजनीतिक असहमति की स्वतंत्रता तक करता है।

भिन्न सेकुलर राज्य धर्म के साथ अपने संबंध अलग-अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। कुछ सेकुलर राज्य अपने मामलों में धर्म को क़तई हस्तक्षेप नहीं करने देते, पर स्वयं उनका रवैया हस्तक्षेपकारी होता है। भारत का सेकुलर राज्य धर्म में विधि निर्माण के ज़रिये सुधार करता है और

आधुनिकीकरण की परियोजना अंजाम देता है। लेकिन वह धर्म को नष्ट करने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं करता। लेकिन, कुछ ऐसे राज्य भी होते हैं जो अपनी दखलंदाजी के ज़रिये धर्म को नियंत्रित करने से लेकर उसे नष्ट करने तक के उपाय करते हैं। धर्म को भ्रान्त चेतना, दकियानूसीपन या अंधविश्वास क़रार दे कर ऐसे राज्य पूरी तरह से धर्मविरोधी रवैया तक अख़्तियार कर लेते हैं। कम्युनिस्ट राज्य, तुर्की का सेकुलर राज्य या उन्नीसवीं सदी का फ़्रांसीसी लाइसिज़म इसका उदाहरण है। कुछ अन्य सेकुलर राज्य न तो धर्म को हस्तक्षेप करने देते हैं और न ही उसमें दखल देते हैं। धर्म को निजी मामला मान कर वे न तो उसके साथ सकारात्मक संबंध रखते हैं और न ही नकारात्मक संबंध। ऐसे राज्यों में धर्म का निजीकरण हो जाता है। अमेरिकी सेकुलरवाद इसी क्रिस्म का है। दिलचस्प बात यह है कि एक धर्म की स्थापना करने के बावजूद कोई राज्य सेकुलर राज्य की श्रेणी में माना जा सकता है। ब्रिटेन एक ऐसा ही राज्य है। वह एंग्लीकन चर्च को औपचारिक मान्यता देने के बावजूद एक मूल्य आधारित सेकुलर राज्य की ऊपर वर्णित कसौटियों पर खरा उतरता है।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. माइकिल वालज़र (1984), 'लिबरलिज़म ऐंड द आर्ट ऑफ़ सेपेरेशन', *पॉलिटिकल थियरी*, खण्ड 12, अंक 3.
2. राजीव भार्गव (2008), 'सेकुलरिज़म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
2. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2005), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
4. निका आर. किड्डी, (2003) 'सेकुलरिज़म ऐंड इट्स डिस्कटेंट्स', *डेडलस*, ग्रीष्म.
5. बर्नार्ड लेविस (1968), इमरज़ेंस ऑफ़ मॉडर्न टर्की, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम

(Religious Dimensions of Secular Nationalism)

क्या धर्म को राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन से विस्थापित कर देने वाले सेकुलर राष्ट्र-राज्य के भी धार्मिक आयाम हो सकते हैं? क्या ये आयाम एक सीमा के बाद राष्ट्र-राज्य के सेकुलर पहलुओं के ऊपर हावी भी हो जाते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले हमें मार्क्स का वह कथन याद रखना चाहिए जिसमें उन्होंने राज्य और धर्म के पार्थक्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि राज्य के धर्म से मुक्त हो जाने का मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि मनुष्य भी धर्म से मुक्त हो जाएगा। इसलिए विरोधाभासी और अंतर्विरोधी लगने के बावजूद इन सवालों का जवाब हाँ में है। सेकुलर राष्ट्र-राज्य ने धर्म को राजसत्ता का सिंह-द्वार नहीं रहने दिया, लेकिन वह उसे राजनीति से पूर्णतः बहिष्कृत नहीं कर पाया। सामाजिक धरातल पर धर्म का निजीकरण हो गया, अर्थात् उसके लिए गुंजाइशें बनी रहीं। इसका फ़ायदा उठा कर आमने-सामने की लड़ाई में पिट जाने के बावजूद उसने पिछले दरवाजे से सेकुलर राष्ट्र-राज्य में घुसपैठ करने में कामयाबी हासिल की। इस परियोजना में उसे पश्चिमी सेकुलरवाद के उन आयामों से मदद मिली जिनके पीछे धार्मिक अंतःप्रेरणाएँ काम कर रही थीं।

ये धार्मिक अंतःप्रेरणाएँ क्या थीं और क्या हैं? इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालने से स्पष्ट हो जाता है कि चर्च और राज्य का पार्थक्य ईसाइयत का आंतरिक और पश्चिमी सेकुलरवाद का अभिन्न घटक है। इसका उद्गम ईसाई धर्म के भीतरी विवादों में निहित रहा है। मार्टिन लूथर द्वारा प्रवर्तित प्रोटेस्टेंटवाद के बिना आज के सेकुलरवाद की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए सेकुलरवाद के कई आलोचक उसे एक प्रोटेस्टेंट रचना के रूप में पेश करते हैं। उनकी मान्यता है कि सेकुलरवाद सार्वभौम होने के दिखावे के पीछे अपने प्रोटेस्टेंट उद्गम को छिपाने की कोशिश करता है। अपने इसी पहलू के कारण वह संस्कृतियों के आर-पार मान्यता प्राप्त विचार की तरह विकसित होने में नाकाम हो गया है। प्रोटेस्टेंटिकृत और निजीकृत धर्मों के साथ सहज महसूस करने वाला सेकुलरवाद ऐसे धर्मों से निबटने में अक्षम है जो समुदायपरक हैं और जिनकी सार्वजनिक जीवन में प्रभावशाली उपस्थिति है। समूहों और समुदायों के प्रति गैर-संवेदनशील होने के नाते यह सामुदायिक अधिकारों को सेकुलर दायरे से बाहर की चीज़ मानता है।

विचार के तौर पर सेकुलरवाद के ये पहलू उस समय धर्म के बाहरी और भीतरी प्रभाव से ग्रस्त हो जाने के लिए और अभिशप्त हो जाते हैं जब उसका राष्ट्रवाद से गठजोड़ होता है। उन्नीसवीं सदी तक सेकुलरवाद एक सिद्धांत के तौर पर नास्तिकवाद, अज्ञेयवाद और बुद्धिवाद का पर्याय बन चुका था। लेकिन, सेकुलर राष्ट्रवाद की व्यावहारिकताएँ विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों में दर्ज सेकुलर सिद्धांत से अलग तरह की थीं। अपने बोलबाले के लिए सेकुलर राष्ट्रवाद को भी तर्कातीत क्रिस्म की निष्ठाओं ('बुद्धि की देवी के शिष्यों में अंध आस्था') की आवश्यकता थी। यह जरूरत सेकुलर आस्था में निहित एक अदृश्य धार्मिक मर्म की तरफ इशारा करती है।

फ्रांसीसी क्रांति ने रैंडिकल लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और सेकुलरवाद के गठजोड़ की जो विरासत आधुनिक जगत को सौंपी है, उसमें धार्मिक आवेग के तत्त्व रहे हैं। यह क्रांतिकारी लोकतंत्र अपने अनुयायियों से उम्मीद करता था कि वे बुद्धि की देवी के उन प्रिय शिष्यों के नेतृत्व में अंध आस्था रखेंगे जिनकी प्रगल्भ वक्रतृता उन्हें लोकतंत्र की मशाल थमाने जा रही है। इसी तरह अमेरिकी सेकुलरवाद को जन्म देने वाली लोकतांत्रिक क्रांति का भी एक धार्मिक पहलू था। उसके कई नेताओं के ऊपर अट्टारहवीं सदी के उस धार्मिक मत का प्रभाव था जिसके तहत चर्च के धर्म को विज्ञान की कसौटी पर कसने के बाद खारिज करने की मुहिम चलाई गयी थी। अमेरिका की ही तरह फ्रांस ने भी 'सिविल रिलीजन' जैसी धारणाएँ विकसित की थीं जिसमें सेकुलर राष्ट्रवाद और ईसाइयत के प्रतीक चिह्नों का सहअस्तित्व था।

दूसरी तरफ ईसाइयत ने भी सेकुलर आक्रमण के खिलाफ दोहरी रणनीति अपनायी। इस रणनीति का एक पहलू रक्षात्मक पैतरा लेते हुए सेकुलर ईसाइयत के विचार का सूत्रीकरण करना था। बीसवीं सदी में जर्मन धर्मशास्त्री बीट्रिश बॉनहोफर ने घोषित किया कि ईसाइयत की सेकुलर व्याख्या अनिवार्य है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पश्चिम ने बाकी दुनिया को जो सेकुलर संरचनाएँ थमार्या, उनमें ईसाइयत के कई सेकुलरीकृत रूप थे। मिसाल के तौर पर पोप ग्रेगरी द्वारा बनाया गया कैलेण्डर, रविवार को रखा जाने वाला साप्ताहिक अवकाश और क्रॉस की प्रतीक चिह्न नेक-टाई। रोज़मर्रा के इस्तेमाल में आने वाली इन बातों के ईसाई इतिहास की चर्चा शायद ही कभी होती हो।

रणनीति का दूसरा पहलू ईसाइयत द्वारा सेकुलर राजनीति में सीधे हस्तक्षेप के रूप में सामने आया। जिस ज़माने में युरोप में सेकुलरवाद की दुंदुभि बज रही थी, उसी समय जर्मनी के कैथोलिकों ने अपना राजनीतिक दल बनाया और उल्लेखनीय ताकत हासिल करके दिखाई। पिछले पचास

साल में युरोपीय राजनीति में धर्म आधारित पार्टियों ने बार-बार अपनी दावेदारियाँ पेश की हैं। अमेरिका में धर्म की समाजशास्त्रीय और बुद्धिवादी व्याख्याओं के खिलाफ उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों से ही प्रोटेस्टेंट अनुदारतावादियों का आंदोलन चल रहा है। ये लोग प्राथमिक शिक्षा के स्तर से ही व्यक्ति के जीवन में धार्मिक अंश बढ़ाने की पैरोकारी करते हैं। अमेरिकी जन-जीवन पर कैथोलिक चर्च के प्रभाव को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। गर्भपात को वैध करने और समलैंगिक रिश्तों को क़ानूनी जामा पहनाने की मुहिमों को लगातार कैथोलिकों के कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा है।

पश्चिम के सेकुलर देशों का रवैया उपनिवेशवाद के दौर में अपने अधीनस्थ देशों के प्रति सेकुलर नहीं रहा है। फ्रांस ने अपने यहाँ तो धार्मिक शिक्षा को हतोत्साहित किया, पर उपनिवेशों में ईसाई शिक्षा को बढ़ावा दिया। भारत में दलित समाज के नेता भीमराव आम्बेडकर ने हिंदू समाज के सेकुलरीकरण की उपेक्षा करने के लिए अंग्रेज़ों की कड़ी आलोचना की है। भारत में धार्मिक अस्मिताओं का उपनिवेशवादी स्वार्थों के लिए दोहन करने के चक्कर में अंग्रेज़ों ने धार्मिक आधार पर गोलबंदी के लिए ऐतिहासिक रूप से ज़मीन बनायी। इसीलिए आज़ादी के बाद भारतीय सेकुलरवाद को विभिन्न राजनीतिकृत धार्मिक अस्मिताओं का सामना करना पड़ा।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. कार्ल मार्क्स (1975), *ऑन द ज्युडिश क्वेश्चन*, कलेक्टिड वर्क्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को.
2. टी.एन. मदन (1997), *मॉडर्न मिथ्स, लॉकड माइंड्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. त्रिलोकी नाथ मदन (2005), 'सेकुलरवाद की सीमा', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
4. मार्क जुरगेंसमेयर (1993), *रिलीजस नैशनलिज़म कन्फ्रंट्स द सेकुलर स्टेट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. राजीव भार्गव (2008), 'सेकुलरिज़म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.

सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद

(Secularism Versus Majoritarianism)

सेकुलरवाद के साथ घनिष्ठता का दावा बहुसंख्यकवाद के कई पैरोकारों ने किया है। यह असम्भव नहीं है कि कोई निजी जिंदगी में घोषित रूप से सेकुलर हो, पर सार्वजनिक जीवन में किसी एक धर्म या जातीयता आधारित राजनीतिक पहचान के वर्चस्व के लिए काम करता नज़र आये। ज़ियनवादी इज़रायल के संस्थापक थियोडोर हर्ज़ल, मुसलमानों के लिए पाकिस्तान की स्थापना करने वाले मुहम्मद अली जिन्ना और राजनीतिक हिंदुत्व के संस्थापक विनायक दामोदर सावरकर बुद्धिवादी आग्रहों के हामी थे। इन तीनों की मिसाल बताती है कि किसी एक समुदाय के दबदबे वाले राष्ट्र की स्थापना के लिए ग़ैर-सेकुलर मुहिम चलाने के बाद उसे सेकुलर रूप देने की कोशिशें भी की जा सकती हैं। ज़ियनवादी आधार के बावजूद इज़रायल आज सेकुलर समाज होने का दावा करता है। जिन्ना की बात उनके उत्तराधिकारियों ने नहीं मानी, हालाँकि उन्होंने 14 अगस्त, 1947 को एक राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का उद्घाटन करते हुए उसे आधुनिक सेकुलर राज्य बनाने का आह्वान किया था। सावरकर के हिंदुत्व का एक महत्वपूर्ण तात्पर्य यह भी है कि वह अल्पसंख्यकों के लिए ग़ैर-सेकुलर, लेकिन हिंदू बहुसंख्या के लिए सेकुलर मंतव्यों वाला सिद्धांत है। ज़ाहिर है कि अगर सेकुलरवाद को बहुलतावाद से आवेशित न किया जाए, और उसे केवल धर्मतंत्रीय राज्य की मुखालफ़त तक ही सीमित रखा जाए तो कोरी आधुनिकता, निर्मम बुद्धिवाद और सामाजिक-सांस्कृतिक समरूपीकरण का बुलडोज़र उसे अनुदार, बहुसंख्यकवादी और यहाँ तक फ़ासीवादी हाथों का औज़ार भी बना सकता है। बहुलतावाद से रहित सेकुलरवाद किसी समुदाय के आंतरिक आधुनिकीकरण का वाहक तो हो सकता है, पर समुदाय की सीमाओं से बाहर वह 'अन्यीकरण' अर्थात् कुछ समुदायों को पराया घोषित करने की राजनीति के खिलाफ़ कुछ नहीं कर पाता।

बहुसंख्यकवाद एक धर्म या जाति या जातीयता में पैदा हुए लोगों के किसी दूसरे धार्मिक समुदाय पर प्रभुत्व का ही नाम नहीं है। यह रवैया एक धर्म के भीतर भी पनपता है। पाकिस्तान का उदाहरण बताता है कि किस तरह इस्लाम के भीतर सुन्नी बहुसंख्यकवादी प्रभुत्व ने शियाओं और अहमदियों को दूसरे दर्जे के नागरिक की हैसियत में धकेल दिया है। पाकिस्तानी संविधान का अनुच्छेद 260 अहमदियों को ग़ैर-मुसलमान अल्पसंख्यक क्रार दे कर उनके धार्मिक

और सामाजिक जीवन को इस्लामिक प्रतीकों के इस्तेमाल से वंचित कर देता है। अहमदियाओं के लिए अपने पूजा स्थल को मसजिद तक कहना एक अपराध है। इज़रायल घोषित रूप से यहूदी बहुसंख्यक राष्ट्र है। उसका लोकतंत्र यहूदी बहुसंख्या के हितों के लिए काम करने वाली व्यवस्था है। जब वह अपने अरब नागरिकों को ही पूरे अधिकार नहीं देता, तो उससे यह उम्मीद करना बेकार ही है कि वह फ़िलस्तीनियों को आज़ादी दे देगा।

सेकुलरवाद की व्यावहारिक राजनीति और सेकुलर राज्य के समकालीन इतिहास पर नज़र दौड़ाने पर प्रतीत होता है कि विचार पिछले कुछ दशकों से संकट का सामना कर रहा है। सेकुलर उसूलों पर आधारित राजनीतिक संस्थाएँ और सेकुलर उद्देश्यों को प्राप्त करने में लगी हुई हुकूमतों की वैधता साँसत में पड़ी हुई है। मिस्र, सूडान, अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, नाइजीरिया, सेनेगल और तुर्की में सेकुलर राज्य और सेकुलर सिद्धांत को प्रश्नांकित करने वाला घटनाक्रम चला है। पिछले दो दशकों में पाकिस्तान और बांग्लादेश के राज्य अगर पूरी तरह से धर्मतंत्रीय नहीं बने, तो कम से कम उनमें उस तरह के रुझान अवश्य पैदा हो गये हैं। पोलैण्ड में धार्मिक आधार वाले आंदोलन का उदय हो चुका है, और अमेरिकी राजनीति में भी प्रोटेस्टेंट कट्टरपंथ की ताकतें मज़बूत हुई हैं। पश्चिमी युरोप में सेकुलर राज्य को पूर्व-उपनिवेश से आये प्रवासी मज़दूरों के साथ-साथ भूमण्डलीकरण की सघन हो रही प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ रहा है। सिक्ख राष्ट्रवाद तो भारतीय राष्ट्रवाद के सेकुलर आधारों के खिलाफ़ सशस्त्र विद्रोह ही कर चुका है। श्रीलंका में बौद्ध सिंहली राष्ट्रवाद ने निरंकुश रवैया अख़्तियार करके तमिलों के जातीय नरसंहार पर कमर कस रखी है। इनमें से ज्यादातर उदाहरण बहुसंख्यकवादी राजनीति के हैं, जो अक्सर धर्म आधारित राजनीतिक पहचान के ज़रिये सेकुलर राज्य की संकल्पना को चुनौती देने में लगी हुई है।

ज़ाहिर है कि पिछले पचास साल से एक सदी के सेकुलर प्रयोगों के सभी नतीजे इच्छित नहीं निकले हैं। समाज, धर्म और राज्य के रिश्तों का सेकुलर विकास होने के साथ-साथ कुछ नयी विकृतियाँ भी पैदा हुई हैं जिनकी ज़िम्मेदारी से बचना सेकुलरवाद के लिए मुश्किल होता जा रहा है। सेकुलरवाद पर आक्रमण करने वालों में राजनेता, नागर समाज के समूह और पुरोहित ही नहीं, बल्कि अकादमीशियन भी शामिल हैं। इन आलोचकों का मक़सद अलग-अलग है। पुरोहितों और धर्म आधारित राजनीति की मंशा तो स्पष्ट रूप से सेकुलर राज्य को इतिहास के कूड़ेदान में फेंकने की है। लेकिन, बहुसंख्यकवाद के कुछ पैरोकार लोकतंत्र और सेकुलरवाद को खारिज करने के बजाय उनकी परिभाषा ही बदल देना चाहते हैं। सेकुलरवाद को भीतर से

पलट देने की यह संगीन कोशिश बेहद नफ़ीस ढंग से चलाई जा रही है।

हिंदू बहुसंख्यकवाद : सेकुलरवाद को ऐसी चुनौती भारत की ज़मीन पर हिंदू राष्ट्रवाद की दावेदारियों ने दी है। उसने चुनावी लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी करते हुए सेकुलरवाद की मौजूदा संरचनाओं को छद्म क्रार देकर राजतंत्र को बहुसंख्यकवादी मोड़ देने का नियोजित प्रयास किया है। इन बहुसंख्यकवादियों का तर्क है कि भारतीय समाज तो अपनी हिंदू बहुसंख्या के कारण नैसर्गिक रूप से सेकुलर और सहिष्णु है। इन लोगों की निगाह में संविधानसम्मत सेकुलर राज्य अपने मर्म में हिंदू राष्ट्र ही है, भले ही ऐसी घोषणा न की गयी हो। अल्पसंख्यक समुदायों को मिलने वाली किसी भी विशेष सुविधा को बहुसंख्यकवाद तुष्टीकरण की नीति क्रार देते हैं। लोकतंत्र में होने वाले चुनावी संख्या के खेल का फ़ायदा उठा कर ये लोग हिंदुओं की आंतरिक बहुलता, विविधता और सहिष्णुता को अपने सच्चे सेकुलरवाद का पर्याय बताते हुए उसे छद्म यानी सरकारी सेकुलरवाद के ख़िलाफ़ स्थापित करने की कोशिश करते हैं। हम जानते हैं कि बहुलता और सहिष्णुता सेकुलरवाद का एक गुण अवश्य है, पर वह उसकी पर्याप्त शर्त नहीं हो सकती। इसी तरह बहुसंख्यकवाद की भित्ति हिंदू के रूप में पैदा हुए लोगों के स्थाई और इस प्रकार अलोकतांत्रिक बहुमत के आधार पर बनती है। लोकतांत्रिक बहुमत अस्थायी और बनते-बिगड़ते बहुमत और अल्पमत से तैयार होता है।

दिलचस्प बात यह है कि इस दावे के प्रति उन सज़नीतिक शक्तियों के बीच भी हमदर्दी देखी जाती है जो साम्प्रदायिक आधार पर की जाने वाली राजनीति का विरोध करती हैं। हिंदुओं की धार्मिक बहुलता और विविधता को सेकुलर प्रवृत्तियों से सम्पन्न मान लेने का नतीजा यह निकला है कि अल्पसंख्यकों को पूर्ण नागरिकता प्रदान करने के समर्थक भी भीतर ही भीतर राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में उनकी भूमिका न के बराबर ही देखते हैं। यह रवैया कुछ इस प्रकार का है : अल्पसंख्यकों (खासकर मुसलमान समुदाय) को लोकतंत्र के मानकों के लिहाज़ से बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। वैसे भी ज्यादातर मुसलमान किन्हीं परिस्थितियों में धर्मांतरण करने वाले हिंदू ही हैं। उन्हें एक व्यापक हिंदू संस्कृति का अंग समझा जाना चाहिए। उनकी तो केवल पूजा पद्धति अलग है। वे 'मुहम्मदिया हिंदू' या 'सनातनी मुसलमान' हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे हिंदू राष्ट्रवादी संगठन यह सूत्रीकरण खुले रूप में करते हैं, पर उसके कई विरोधी (जिनका ताल्लुक कम्युनिस्ट, समाजवादी और गाँधीवादी आंदोलन तक से है) इसी तरह के विमर्श को घुमाफिरा कर चलाते हैं। सेकुलरवाद के बारे में चर्चा करते समय उनका जोर उसे कट्टर हिंदू के मुक़ाबले उदार हिंदू के संघर्ष

में सीमित कर देने पर रहता है। देखने में हिंदू बनाम हिंदू का यह फ़ार्मूला डॉ. लोहिया की एक बेहतरीन रचना से उठाया गया ज़रूर लगता है, पर असल में इसकी मंशा हिंदू मानस पर आलोचनात्मक दृष्टि न डाल कर सेकुलर विमर्श से अल्पसंख्यकों (विशेष रूप से मुसलमान) ग़ैरहाज़िर करने की रहती है।

छद्म और सच्चे सेकुलरवाद की इस बहस में सांस्कृतिक राजनीति के ज़रिये कई तरह की पेचीदगियाँ पैदा की गयी हैं। सेकुलरिज़म शब्द के विभिन्न विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवादों की मिसाल से इस चालाकी को समझा जा सकता है। सेकुलरिज़म को हिंदी में धर्मनिरपेक्षता के रूप में व्यक्त करने वाले लोगों की समझ यह है कि राज्य को किसी भी धर्म (चाहे वह हिंदू हो या कोई और) से निरपेक्ष रहना चाहिए। लेकिन, सेकुलरिज़म को पंथनिरपेक्षता के रूप में व्यक्त करने वाले धर्म और पंथ में फ़र्क करते हैं। उनकी निगाह में हिंदू एक धर्म होने के नाते श्रेष्ठ और राज्य द्वारा धारण किये जाने योग्य है। इसलाम, ईसाई, सिक्ख आदि पंथ होने के नाते कमतर हैं और राज्य को इनसे निरपेक्ष रहना चाहिए। सेकुलरिज़म का तीसरा अनुवाद सर्वधर्म समभाव के रूप में सामने आता है, जिसका मतलब यह निकलता है कि राज्य को सभी धर्मों से बराबर की दूरी रखनी चाहिए। अगर राज्य ऐसा नहीं कर पाता, तो उसका सेकुलरवाद दोषपूर्ण है। उर्दू में सेकुलरिज़म का एक अनुवाद ला-दीनियत प्रचलित है जिसका मतलब निकलता है धर्म का विरोध। यह अनुवाद केवल उन लोगों को पसंद आ सकता है जो सेकुलरवाद को नास्तिकता और बुद्धिवाद का पर्याय मानते हैं। कन्नड़ में सेकुलरिज़म को लौकिकवाद के रूप में व्यक्त किया जाता है, जो एक बार फिर उसकी समझ को बुद्धिवादी श्रेणी में सीमित करने का प्रयास है। इस तरह की सेकुलरवादी समझ धर्म के प्रति आलोचनात्मक आदर के दृष्टिकोण से वंचित रह जाती है।

ये परिभाषाएँ या तो सेकुलर राज्य को हिंदू वर्चस्व की तरफ़ धकेलने का बेहिचक मक़सद रखती हैं, या सेकुलरवाद को धर्म विरोधी सिद्धांत के रूप में पेश करके उसे सामाजिक वैधता से पूरी तरह काट देती हैं। सामाजिक वैधता से कटते ही राज्य का सेकुलरत्व सार्वजनिक जीवन में आधारहीन हो कर कुछ मुट्टी भर आधुनिकतावादियों और बुद्धिवादियों की विचारधारा में सीमित रह जाता है।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (2005), 'सेकुलर हिंदू वर्चस्व : अनुवाद, निरपेक्षता और समभाव की राजनीति', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
2. राजीव भार्गव (2008), 'सेकुलरिज्म', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
3. राममनोहर लोहिया (1995), 'हिंदू बनाम हिंदू', *परिवेश*, मुरादाबाद.
4. रजनी कोठारी (2005), 'बहुसंख्यकवाद से निकली साम्प्रदायिकता', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1

(उसूली फ़ासले का सिद्धांत)

(Secularism: Indian Model-1)

सेकुलरवाद के पश्चिमी मॉडल के साथ तुलना की जाए तो भारतीय सेकुलरवाद में उसके सभी लक्षण दिखाई पड़ते हैं। धार्मिक स्वतंत्रता और नागरिक समानता के लिहाज़ से भारतीय संविधान पश्चिम की ही भाँति राज्य और धर्म के बीच पार्थक्य की दीवार खड़ा करता है। लेकिन, इस समानता के साथ-साथ भारतीय सेकुलरवाद पश्चिमी मॉडल से काफी भिन्न भी है। इन समानताओं और भिन्नताओं को समझना आवश्यक है।

समानताएँ : संविधान के अनुच्छेद 25, 25(1), 27, 28 और धार्मिक कामकाज में सरकारी धन खर्च करने को प्रतिबंधित करते हैं। सरकारी कोष द्वारा संचालित किसी भी स्कूल में धार्मिक शिक्षा पर पाबंदी है। हर व्यक्ति को अपने अंतःकरण के आधार पर अपना धर्म चुनने, उसका पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी है। अंतःकरण की यह स्वतंत्रता किसी धर्मविहीन व्यक्ति की स्वतंत्रता की भी गारंटी करती है। संविधान धर्म और धर्म से संबंधित किसी भी खर्च के लिए राज्य को व्यक्ति पर कोई टैक्स लगाने का अधिकार नहीं देता। अगर किसी शिक्षा संस्था में किसी भी तरह का धार्मिक पूजा-पाठ होता है या धार्मिक शिक्षा दी जाती है तो उसमें भाग लेने के लिए किसी व्यक्ति को मजबूर नहीं किया जा सकता।

दूसरी तरफ़ संविधान के अनुच्छेद 14, 15(1) और 29(2) धर्म, जाति, नस्ल, लिंग और जन्मस्थान के आधार पर किसी नागरिक के साथ भेदभाव को प्रतिबंधित करते हैं। राज्य द्वारा संचालित किसी शिक्षा संस्थान में इन आधारों पर किसी व्यक्ति को दाखिले से वंचित नहीं किया जा सकता, न ही सरकार नौकरी देने के मामले में किसी के साथ इस तरह का भेदभाव कर सकती है। सार्विक मताधिकार संबंधित अनुच्छेद और उसके साथ-साथ अनुच्छेद 325 के तहत मतदाता सूची में कोई व्यक्ति उक्त आधारों पर अपना नाम शामिल नहीं करा सकता।

इन प्रतिबंधों का मतलब साफ़ है। संविधान के प्रावधान धर्मतंत्रीय राज्य और किसी धर्म को औपचारिक मान्यता की सम्भावनाओं को खारिज करते हैं। हालाँकि उसकी सहिष्णुता पारम्परिक हिंदू सहिष्णुता से अलग तरह की है, पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज की पारम्परिक सहिष्णुता के तत्त्वों ने संविधान प्रदत्त सहिष्णुता की संरचना में योगदान किया है।

भिन्नताएँ : कम से कम छह ऐसे लक्षण हैं जो भारतीय सेकुलरवाद को पश्चिमी मॉडल से अलग दिखाते हैं।

पहली भिन्नता यह है कि भारतीय मॉडल संविधान के अनुच्छेद 26 और 30(1) के अनुसार धार्मिक और ग़ैर-धार्मिक स्वतंत्रताओं और समानता को व्यक्तिगत आधार पर ही नहीं बल्कि शांति, सहिष्णुता और ग़ैर-व्यक्तिगत आधार पर स्थापित स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों को भी मान्यता देता है। इसका मतलब यह हुआ कि यह मॉडल व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि समुदायों को भी अपनी धार्मिक आस्थाओं के मुताबिक शिक्षा संस्थाएँ चलाने की इजाज़त देता है ताकि वे अपनी विशिष्ट धार्मिक परम्पराओं की संरक्षा कर सकें।

दूसरी भिन्नता यह है कि सेकुलरवाद का भारतीय मॉडल एक बहुधार्मिक समाज में एक धर्म द्वारा किसी दूसरे धर्म पर प्रभुत्व जमाने के प्रति ही नहीं, बल्कि किसी धर्म के भीतर प्रभुत्व की परिघटना का भी ध्यान रखता है। इसीलिए भारत में अल्पसंख्यकों को उनकी विशेष आवश्यकताओं और माँगों के हिसाब से अधिकारों का प्रावधान किया गया है। धार्मिक समुदायों को राजनीतिक आरक्षण दिया भी जाता है, और कुछ निश्चित संदर्भों में उनकी यह माँग नहीं भी मानी जाती है। कुल मिला कर इस तरह के आरक्षण की भारतीय संविधान में गुंजाइश है।

तीसरी भिन्नता यह है कि भारतीय मॉडल राज्य और धर्म के बीच पार्थक्य के मामले में उसूली फ़ासले के सिद्धांत से प्रतिबद्ध है। भारतीय मॉडल की समझ स्पष्ट करने के लिए ज़रूरी है कि उसूली फ़ासले के सिद्धांत पर विस्तार से गौर किया जाए।

पश्चिमी मॉडल में पार्थक्य का मतलब है राज्य और धर्म का परस्पर अलगाव। पर उसूली फ़ासले का सिद्धांत पार्थक्य के सिद्धांत की अलग समझ सामने लाता है। लक्ष्यों और संस्थाओं के धरातल पर धर्म और राज्य का पार्थक्य बिल्कुल स्पष्ट है, पर क़ानून और नीति के धरातल उसकी स्थिति अलग है। युरोपीय ज्ञानोदय के विचारों से अलग हटते हुए भारतीय मॉडल मानता है कि मनुष्य भौतिक जगत और अपने अस्तित्व से परे जाते हुए किसी अलौकिक सत्ता में यक्रीन कर सकता है, और उस आस्था के आधार पर सार्वजनिक जीवन में अपनी गतिविधियों को नियोजित भी कर सकता है। भारतीय मॉडल मानता है कि धर्म एक संचित परम्परा होने के साथ-साथ लोगों की अस्मिता का स्रोत भी है। लेकिन इस मान्यता के साथ-साथ भारतीय मॉडल धार्मिक निष्ठा को किसी अनिच्छुक व्यक्ति के गले उतारने के खिलाफ़ भी है, और न ही वह धार्मिक आधार पर स्वतंत्रताओं और अन्य संसाधनों के असमान वितरण की अनुमति देता है। उसूली फ़ासले का तात्पर्य यह है कि धर्म के आधार पर राष्ट्र और राज्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता, पर इससे धर्म का सार्वजनिक महत्त्व ख़ारिज नहीं हो जाता।

उसूली फ़ासले का सिद्धांत धर्म और राज्य के बीच पार्थक्य के मामले में लचीला रवैया अपना कर देखता है कि किसी धर्म की प्रकृति, संदर्भ और मौजूदा स्थिति क्या है। वह राज्य में धर्म के हस्तक्षेप की इजाज़त देने के लिए तैयार हो सकता है, बशर्ते उसके जरिये स्वतंत्रता, समानता या सेकुलर मूल्यों को प्रोत्साहन मिलता हो। इसी आधार पर भारतीय राज्य तय करता है कि किस धर्म में कितना हस्तक्षेप करना है और किस धर्म के प्रति अ-हस्तक्षेप की नीति अख़्तियार करनी है। अपने ऐतिहासिक विकास और सामाजिक स्थिति के कारण कोई एक धर्म सेकुलर मूल्यों के लिहाज़ से राज्य के हस्तक्षेप के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है, जबकि किसी दूसरे धर्म में भिन्न स्थिति के कारण राज्य उसी तरह का क़ानूनी हस्तक्षेप न करने की निर्णय ले सकता है। उदाहरण के लिए सामाजिक समानता के सिद्धांत के मुताबिक़ राज्य को जातिगत ऊँच-नीच ख़त्म करने के लिए हिंदू धर्म में अधिक हस्तक्षेप करना चाहिए। उसी तरह धार्मिक विविधता कायम रखने के लिए इस्लाम और ईसाइयत उसके अधिक हस्तक्षेप का पात्र होना चाहिए। जाहिर है कि राज्य सभी धर्मों में एक ही तरह और बराबर का हस्तक्षेप करने या न करने का निर्णय नहीं ले सकता। जाहिर है कि इसके लिए राज्य को कुछ निश्चित मूल्यों और सिद्धांतों के मुताबिक़ एक ग़ैर-संकीर्ण रवैया अपनाते हुए अलग-अलग धर्मों की स्थिति के मुताबिक़ उनमें हस्तक्षेप का विवेकसम्मत अख़्तियार करना होगा।

वैसे भी कई क़ानून किन्हीं ख़ास धार्मिक प्रथाओं और रिवाज़ों को सेकुलर मूल्यों के हिसाब से तरमीम करने के लिए बनाये जाते हैं, और उनका प्रयोग दूसरे धर्मों पर नहीं होता जहाँ वे रीति-रिवाज़ प्रभावी नहीं होते। मसलन, देवदासी प्रथा को प्रतिबंधित करने वाला क़ानून ग़ैर-हिंदू धर्मों पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरे, उदारतावादी लोकतंत्र में कोई भी क़ानून जन-वैधता की माँग करता है। कम से कम उसके लिए समुदाय के प्रतिनिधियों की सहमति तो आवश्यक है ही। अगर किसी क़ानून के लिए केवल एक ही समुदाय के प्रतिनिधियों ने सहमति दी है तो बेहतर यही होगा कि केवल उसी समुदाय के लिए क़ानून बनाया जाए।

जाहिर है कि यह रवैया धर्मों के प्रति पूर्ण तटस्थता के दृष्टिकोण से तो अलग है ही, यह सभी धर्मों को समान भाव से देखने के विचार से भी भिन्न है। समभाव का सिद्धांत उसूली के बजाय बराबरी के फ़ासले का प्रतिपादन करता है। यानी अगर राज्य किसी एक धर्म में निश्चित हस्तक्षेप करता है तो वह दूसरे धर्म में भी उतना ही हस्तक्षेप करे। दरअसल, उसूली फ़ासले के पीछे वैचारिक आग्रह यह है कि अगर सभी के साथ समानता का व्यवहार करना है तो उस समानता को वास्तविक बनाने के लिए समरूप नहीं बल्कि विवेकसम्मत विभेदीकृत व्यवहार का सहारा लेना होगा।

मसलन, अगर किसी एक धार्मिक संस्कृति में कोई आचरण प्रतिबंधित या विनियमित है, तो उसूली फ़ासले के मुताबिक़ दूसरी धार्मिक संस्कृति में उसकी अनुमति दी जा सकती है अगर उसके सदस्यों के बीच उसके लिए सकारात्मक मान्यता प्रचलित है। सारी दुनिया में मुसलमान, सिक्ख या यहूदी ऐसी कई माँगें करते हैं। कई रिपब्लिकन या उदारतावादी सिद्धांतकारों को इन माँगों से दिक्कत होती है क्योंकि वे समान व्यवहार या समान स्वतंत्रता के हामी होते हैं। धार्मिक समूह न केवल राज्य से उनके मामलों में अ-हस्तक्षेप की नीति अपनाने की माँग कर सकते हैं, बल्कि वे राज्य से इस प्रकार का हस्तक्षेप करने की माँग भी कर सकते हैं जिसके तहत मिलने वाली विशेष सहायता के जरिये उन्हें वह उपलब्ध हो सके जो बहुसंख्यक या प्रधान समूहों को सहज रूप से प्राप्त होता रहता है। इसके अलावा धार्मिक समूह अपने अलग विवाह क़ानूनों की माँग कर सकते हैं, सम्पत्ति और उत्तराधिकार संबंधी भिन्न क़ानूनों का आग्रह कर सकते हैं। उसूली फ़ासले का सिद्धांत एक सेकुलर राज्य को गुंजाइश देता है कि वह धार्मिक समूहों को ऐसे क़ानूनों की मातहत में न रहने दे जो उन्हें अन्यायपूर्ण लगते हैं।

चौथी भिन्नता यह है कि उसूली फ़ासले के सिद्धांत के तहत राज्य धर्म के किन्हीं आयामों के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अख़्तियार करेगा, और किन्हीं प्रश्नों पर धार्मिक दृष्टिकोण का आदर करते हुए मसलों को नज़रअंदाज़ करेगा। अर्थात् धर्म

की आलोचना और आदर साथ-साथ चलाने वाला यह रवैया उन महान भारतीय धर्म सुधारकों जैसा है जो अपने धर्म के प्रति लगाव के कारण ही उसमें परिवर्तन करना चाहते थे।

पाँचवीं भिन्नता यह है कि उसूली फ़ासले का सिद्धांत सेकुलर दृष्टिकोण को आधुनिक बनाम पारम्परिक, पश्चिमी बनाम पूर्वी, विदेशी बनाम देशज जैसे द्विभाजनों में फँसने से रोकता है। उसके मुताबिक भारतीय सेकुलरवाद आधुनिक तो है, पर पश्चिमी मॉडल से पर्याप्त रूप से भिन्न है।

छठी भिन्नता भारतीय सेकुलरवाद को नैतिक मूल्यांकन के अलग तरह के मॉडल की तरफ ले जाती है जो बेहद संदर्भगत है और जिसके तहत विभिन्न समाज अपने अलग-अलग तरह के सेकुलरवादों की अभिकल्पना कर सकते हैं। इससे एकाधिक सेकुलरवादों की सम्भावनाएँ खुलती हैं। अर्थात् सेकुलरवाद का रूप और सार अलग-अलग परिस्थितियों, समय और संदर्भों में अलग-अलग हो सकता है।

भारतीय सेकुलरवाद के इस मॉडल को दुनिया भर में काफ़ी आलोचना का सामना करना पड़ा है। लेकिन, ज्यादातर आलोचक भारतीय सेकुलरवाद के अनुभव को अमेरिकी या फ़्रांसीसी अनुभव की कसौटियों पर कसते रहे हैं। इस तरह का तुलनात्मक रवैया सेकुलरवाद के समर्थकों को ही नहीं, विरोधियों को भी भारतीय मॉडल खारिज करने का मौक़ा दे देता है। दोनों ही कहने लगते हैं कि भारतीय सेकुलरवाद नाकाम है क्योंकि वह उस सेकुलर आदर्श पर खरा नहीं उतरता जो सार्वभौम (वस्तुतः पश्चिमी) है। ज्यादातर आलोचनाएँ सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की बारीकियों का ध्यान न रखते हुए की जाती हैं।

दूसरी तरफ़ यह भी एक तथ्य है कि भारतीय राज्य कई बार अपने सेकुलर मॉडल के व्यावहारिक कार्यावयन के लिए आवश्यक विवेकसम्मत नीतिगत रवैया अपनाने में नाकाम रहा है जिसके अवांछित सामाजिक और राजनीतिक नतीजे निकले हैं। इन विफलताओं ने सेकुलरवाद के आलोचकों का उत्साह बढ़ाया है। उन्होंने न केवल भारत की ज़मीन पर सेकुलरवाद के आधार पर किये जाने वाले अमल को आड़े हाथों लिया है, बल्कि सेकुलरवाद, आधुनिकता, बुद्धिवाद और राष्ट्रवाद के पूरे पैकेज की समृद्ध आलोचना की है। इस प्रक्रिया ने समाज-विज्ञान के क्षेत्र में एक महाविवाद को जन्म दिया है जिसकी पहली आहट उस समय सुनायी पड़ी थी जब भारतीय सेकुलरवाद के मॉडल ने अपने दस साल पूरे किये थे।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक

दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2008), 'सेकुलरिज़म' (विशेष तौर से देखें, 'ऐन आल्टरनेटिव कंसेप्शन : इण्डियन सेकुलरिज़म'), राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
2. राजीव भार्गव, (2005) 'सेकुलरवाद का उद्देश्य और उसूली फ़ासले का सिद्धांत', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
3. नीरा चंडोख (1999), बियांड सेकुलरिज़म : राइट्स ऑफ़ रिलीजस माइनॉरिटीज़, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. थॉमस पेंथम (2004), 'अंडरस्टैंडिंग इण्डियन सेकुलरिज़म : लर्निंग फ़्रॉम इट्स रियसैंट क्रिटिक्स', राजेंद्र वोरा और सुहास पल्शीकर (सम्पा.), *इण्डियन डेमाॅक्रेसी*, नयी दिल्ली, सेज.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-2

(गाँधी-नेहरू विरासत)

(Secularism: Indian Model-2)

सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की सैद्धांतिक चर्चा करने के बाद यह जानना जरूरी है कि आखिर संविधान सभा ने यह सूत्रीकरण कैसे किया। 1946 से 1950 के बीच संविधान सभा में अल्पसंख्यक अधिकारों पर हुई बहस में कुछ आवाज़ें ऐसी भी थीं जिन्हें बहुसंख्यकवाद को सेकुलरवाद का पर्याय बताने में कोई संकोच नहीं था। सभा के ये सदस्य हिंदुओं की आंतरिक विविधता और सहिष्णुता को सेकुलरवाद का पर्याय बताने पर तुले हुए थे। उदारतावादी लोकतंत्र के विचार से प्रतिबद्ध राष्ट्रीय नेतृत्व अपनी समझ और साख के बल पर इस खुले बहुसंख्यकवाद को आसानी से खारिज कर सकता था। पर, उसके सामने असली मुश्किल पश्चिमी सेकुलरवाद नज़रिये से पेश किये गये प्रस्तावों को लेकर थी। इन्हें मान लेने का मतलब था भारतीय राज्य पर अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का कोई दायित्व न रहना। इन प्रस्तावों की अंतर्निहित कल्पनाशीलता कुछ इस तरह की थी कि जैसे भारत धर्मबहुल न हो कर समरूप समाज वाला कोई युरोपीय देश हो। जाहिर है कि पश्चिमी सेकुलरवाद की व्यावहारिक निष्पत्ति भी दूसरे

तरीक्रे से भारत को एक बहुसंख्यकवादी लोकतंत्र बनाने की तरफ ले जाने वाली थी।

सौभाग्य से संविधान सभा ने न केवल खुले बहुसंख्यकवाद को ठुकराया, बल्कि पश्चिमी आग्रहों को भी मानने से इनकार कर दिया। धर्म को राज्य से अलग रख कर उसने अपने सेकुलरवादी मॉडल को बुद्धिवादी टेक दी। धर्मों का आलोचनात्मक आदर करने की थीसिस दे कर अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा को राज्य की प्रमुख जिम्मेदारियों में से एक बनाया। यह सेकुलरवादी मॉडल में बहुलतावाद का समावेश था। समान नागरिक संहिता लागू करने का संकल्प लेकर संविधान सभा ने यह तय कर दिया कि विभिन्न समुदायों के निजी जीवन और सांस्कृतिक आचरण का राज्य निर्देशित सेकुलरीकरण किया जाएगा।

बुद्धिवाद, बहुलतावाद और राज्य की भूमिका के मिले-जुले रूप के पीछे गाँधी और नेहरू के विचारों की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सवाल यह है कि क्या इस विशिष्ट क्रिस्म के भारतीय सेकुलरवाद को गाँधी-नेहरू विरासत का वाहक माना जा सकता है? नेहरू और उनके सेकुलरवाद का विरोध करने वाले कई प्रभावशाली विद्वानों का दावा है कि इस मामले में गाँधी की नेहरू के साथ जोड़ी नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि गाँधी राजनीति को धार्मिकता से आवेशित करना चाहते थे और नेहरू धर्म विरोधी थे। वैसे भी नेहरू ने स्वतंत्रता आंदोलन में धार्मिक प्रतीकों के इस्तेमाल के लिए गाँधी की आलोचना की थी। गाँधी के बारे में प्रचलित है कि वे आधुनिकता के विरोधी थे, स्वाभाविक तौर पर कतई सेकुलर नहीं थे और उन्हें अपनी प्रेरणाएँ सनातन धर्म से मिला करती थीं।

सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की रोशनी में गाँधी और नेहरू के बारे में अकाट्य समझी जाने वाली इस समझ की दोबारा जाँच-पड़ताल करने पर एक अलग यथार्थ सामने आता है। यह सही है कि गाँधी वांगमय में धर्म और राजनीति के एक-दूसरे का पर्याय बताने वाले कई कथन उपलब्ध हैं। लेकिन, गाँधी के राजनीतिक जीवन का एक और पक्ष है जिसकी चर्चा करने में जिसकी चर्चा गाँधीवादियों द्वारा अक्सर नहीं की जाती। गाँधी ने चालीस के दशक में धर्म और राजनीति के संबंधों पर दोबारा ध्यान दिया था। उस समय तक स्पष्ट हो गया था कि भारत को आज़ादी मिलने वाली है और हिंदुत्ववादी राजनीति के खतरे भी साफ़ होने लगे थे। गाँधी के ये विचार निकट भविष्य में बनने वाले स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के सम्भावित चरित्र के लिहाज़ से बहुत अहम हैं।

1940 में गाँधी ने अपनी 'धार्मिक' राजनीति को दो बार ठोस रूप से परिभाषित किया कि वे जिस धर्म का जिक्र करते हैं वह हिंदू, इस्लाम और ईसाइयत से परे जाता है। उन्होंने सेकुलर लहजे में जोर दे कर कहा कि धर्म एक निजी

सरोकार है जिसके ज़रिये व्यक्ति ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है। अगस्त, 1942 में गाँधी ने बेहिचक कहा कि धर्म का राजनीति में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। अक्टूबर, 1946 में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के संदर्भ में उनका कहना था कि उनमें हिंदू और मुसलमानों का कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि सभी भारतीय हैं और धर्म एक निजी मसला है। सितम्बर, 1946 में गाँधी ने कहा था कि अगर वे तानाशाह होते तो धर्म और राज्य को अलग-अलग कर देते क्योंकि राज्य का धर्म से कोई नाता नहीं होना चाहिए। 1947 में उन्होंने तीन बार (फ़रवरी, अगस्त और नवम्बर में) धर्म को राजनीति से अलग करने की वकालत की। उनका अगस्त का वक्तव्य इस प्रकार है : 'धर्म एक निजी मामला है और अगर हम इसे निजी स्तर पर सीमित करने में सफल हो गये तो राजनीति में सब कुछ ठीक-ठाक रहेगा। ... राज्य पूरी तरह सेकुलर होने के लिए प्रतिबद्ध है।' नवम्बर, 1947 में एक प्रार्थना सभा में गाँधी ने कहा : 'हम कांग्रेस के चवन्नी वाले सदस्य हों या न हों, हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारे बीच धर्मतंत्रीय राज्य की स्थापना से नफ़रत करने वाली संस्था मौजूद है। इस संस्था को हमेशा विश्वास रहेगा और वह इस विश्वास पर खरी भी उतरेगी कि हमारी कल्पनाओं का राज्य सेकुलर और लोकतांत्रिक होना चाहिए।' जहाँ तक बुद्धिवाद का सवाल है, गाँधी कुरान और गीता को तर्क की कसौटी पर कसने के हामी थे। 1940 से 1947 के बीच उनके कई कथन बिना किसी हीले-हवाले के यह कहते नज़र आते हैं। रामराज्य के अपने आदर्श के बारे में भी उन्होंने स्पष्ट किया था कि ईसाइयों के लिए इसका मतलब किंगडम ऑफ़ गॉड और मुसलमानों के लिए इसका तात्पर्य खुदाई हुकूमत है। गाँधी-विचार को इस दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि अपनी प्रार्थना सभाओं में सभी धर्मों के ग्रंथों से पाठ कराने वाले गाँधी ने अज्ञेयवादी नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी क्यों चुना था।

तो क्या गाँधी भी नेहरू की भाँति धार्मिक समुदायों के राज्य-निर्देशित सेकुलरीकरण के पक्ष में थे? इस प्रश्न का उत्तर कुछ पेचीदा है। क्या ऐसा तो नहीं है कि गाँधीजी राज्य को धर्म के हस्तक्षेप से बचाने में नहीं, बल्कि धर्म को राज्य हस्तक्षेप से बचाने में ज़्यादा दिलचस्पी दिखा रहे थे? सम्भवतः गाँधी धर्म के सेकुलरीकरण की प्रक्रिया सरकारी और क़ानूनी दायरे से बाहर चलाना चाहते थे। उनकी निगाह में राज्य की गतिविधियाँ स्वास्थ्य, संचार, विदेश नीति, मुद्रा इत्यादि सेकुलर मामलों तक सीमित रहनी चाहिए थीं।

दूसरी तरफ़ नेहरू गाँधी की तरह धर्म पर जोर न दे कर धार्मिकता से रहित आध्यात्मिकता की खोज में लगे हुए नज़र आते हैं। वे इस मामले में पूरी तरह साफ़ थे कि राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए, लेकिन साथ ही वे सारे

जीवन कोशिश करते रहे कि किसी तरह उनके निर्माणाधीन सेकुलर राष्ट्र को भारत के सांस्कृतिक इतिहास से वैधता नसीब हो जाए। उन्होंने अपनी इतिहास संबंधी रचनाओं में अतीत के हमलावरों की शिनाख्त उनके धर्म से न करके उनकी भौगोलिक पहचान के जरिये की, और भारतीय उद्योगीकरण के लिए भविष्य के मंदिरों का रूपक गढ़ा। नेहरू के आलोचक भी मानते हैं कि लेनिन और अतातुर्क का प्रशंसक होने के बावजूद नेहरू ने सोवियत संघ या तुर्की के तर्ज पर राज्य की दमनकारी ताकत का इस्तेमाल करते हुए भारत पर सेकुलरीकरण थोपने का प्रयास कभी नहीं किया। उनकी कोशिश थी कि किसी तरह सेकुलरवाद भारतीय स्वभाव का अंग बन जाए। बहरहाल, दो भिन्न-भिन्न प्रस्थान बिंदुओं की सम्भावनाओं के बावजूद गाँधी और नेहरू की संयुक्त विरासत धर्म को सार्वजनिक जीवन से अलग रखने और राज्य और उसके बीच पार्थक्य की दीवार उठाने के बारे में ही थी। विभाजन के दौरान गाँधी और नेहरू दोनों ही निजी पहलकदमी लेकर अल्पसंख्यकों को साम्प्रदायिक हिंसा की आग से बचाने में लगे हुए थे। नेहरू और गाँधी की इस संयुक्त सेकुलर विरासत की पृष्ठभूमि में ही सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की व्यावहारिक रचना को समझा जाना चाहिए।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : महाविवाद-1 से 7 तक, साम्प्रदायिकता, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. बिपिन चंद्र (2004), 'गाँधीजी, सेकुलरिज्म एंड कम्युनलिज्म', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 32, अंक 1-2.
2. भीखू पारेख (2003), 'नेहरू एंड सेकुलरिज्म', एम.वी. कामथ (सम्पा.), *नेहरू रिविज़िटेड*, नेहरू सेंटर, मुंबई.
3. भीखू पारिख (1991), 'नेहरू एंड द नैशनल फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ इण्डिया', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 26, अंक 1-2.
4. अभय कुमार दुबे (2005), 'सेकुलरवाद की अजीब दास्तान', संकलित : अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी, नयी दिल्ली.
5. शेफाली झा (1997), 'सेकुलरिज्म इन द कांस्टीट्यूटिंड एसेंबली डिबेट : 1946-1950', *इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस स्टडी*, शिमला द्वारा 1997 में आयोजित 'स्टडी वीक ऑन सेकुलर-कम्युनल क्वेश्चन' में पेश.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-1

साठ के दशक की बहस

(Secularism: Great Debate-1)

सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की सैद्धांतिक निष्पत्तियों पर गौर करने और उसके पीछे काम कर रही गाँधी-नेहरू विरासत की चर्चा के बाद उसकी व्यावहारिक राजनीति को समझना भी आवश्यक है। यह सही है कि उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की नेतृत्वकारी शक्तियों में आजादी प्राप्त करने के बाद भारत को एक सेकुलर लोकतंत्र के रूप में विकसित करने के बारे में आम सहमति थी। लेकिन इसके बावजूद संविधान सभा ने 1950 में जो दस्तावेज़ पारित किया उसमें भारतीय राज्य को स्पष्ट रूप से सेकुलर क्रार नहीं दिया गया था। आपातकाल में किये गये बयालीसवें संविधान संशोधन से पहले भारत औपचारिक रूप से एक सेकुलर गणराज्य नहीं था। इस विरोधाभास का कारण क्या था कि जो संविधान धर्म और राज्य के बीच अपने कई अनुच्छेदों के जरिये पार्थक्य की स्पष्ट दीवार खड़ा करता था, वह घोषित रूप से सेकुलर नहीं था? संविधान निर्माण प्रक्रिया के दौरान ही भारतीय राज्य के चरित्र का निर्धारण क्यों नहीं किया गया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक विद्वान का कहना है कि दरअसल सेकुलरवाद संविधान निर्माताओं का सरोकार था ही नहीं। इसलिए उन्होंने सेकुलरवाद के विभिन्न मॉडलों पर गौर करके भारत के लिए एक मॉडल चुनने में वक़्त ज़ाया नहीं किया। उनकी चिंता तो अधिकारों, कर्तव्यों, स्वतंत्रताओं और संस्थाओं की भाषा में राज्य और धर्म के संबंधों को इस तरह व्यक्त करने की थी कि एक बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक देश में सभी समुदाय शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में रह सकें। यह तर्क आश्वस्त तो करता है, पर आजादी के बाद पैदा होने वाली छोटी-बड़ी व्यावहारिक समस्याओं पर नज़र पड़ते ही यह और अधिक गहन उत्तर की माँग करने लगता है।

आजादी मिलने के तुरंत बाद गाँधी की अंत्येष्टि के समय यह सवाल उठा था कि उनके अंतिम संस्कार का सरकारी कार्यक्रम धार्मिक रीति-रिवाज़ से किया जाए या सेकुलर शैली से? फिर इसके बाद ऐसे सवालों की लाइन लग गयी। गौतम बुद्ध की ढाई हजारवीं जयंती नेहरू की सरकार को मनानी चाहिए या नहीं? सोमनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार सरकारी खर्च से होना चाहिए या नहीं? राष्ट्रपति बाबू राजेंद्र प्रसाद को बनारस में ब्राह्मणों के पैर धोने चाहिए थे या नहीं? सरकारी मंत्रियों, राज्य के मुखिया या विदेशों में भारत के राजदूतों को धार्मिक पूजा स्थलों पर जाने की

इजाजत दी जानी चाहिए या नहीं? ये तमाम प्रश्न प्रतीकात्मक भी थे, और उनके साथ सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल की परीक्षा भी जुड़ी हुई थी। आखिर भारतीय मॉडल धर्म को सार्वजनिक जीवन से पूरी तरह खारिज कर देने के पक्ष में नहीं था, पर वह सरकार और धर्म को अलग रखने की हिमायत भी करता था। यह परीक्षा राज्य के विवेकसम्मत आचरण की थी कि वह किस तरह धर्म की सार्वजनिक उपस्थिति और उसूलों फ़ासले के विलक्षण भारतीय सिद्धांत के बीच संगति किस तरह बैठाएगा।

संविधान सभा की संबंधित बहस का अध्ययन करने वाले विद्वानों की मान्यता है कि सेकुलरवाद के मॉडल पर भले ही सीधे चर्चा न हुई हो, पर राज्य की सेकुलर शक्ल-सूरत पर जम कर विवाद हुआ था। जिन प्रावधानों को आज हम भारतीय राज्य को सेकुलर बनाने का श्रेय देते हैं, उनका सूत्रीकरण मतभेदों के बीच हुआ था। इसलिए सेकुलर राज्य अपने ही बनाये गये सिद्धांतों पर कई बार अमल करने के मामले में ढुलमुल नज़र आता था। अन्यान्य कारणों से नेहरू की सरकार तदर्थ रवैया अपनाने पर मजबूर हो जाती थी। सत्तारूढ़ शक्तियों और सरकार से बाहर राजनीति कर रही ताकतें एकमत नहीं थीं। मसलन, सेकुलरवाद पर अमल की व्यावहारिकताओं के प्रश्न पर नेहरू की राय पुरुषोत्तम दास टंडन, वल्लभभाई पटेल और गोविंदबल्लभ पंत से अलग थी। जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया जैसे वामपंथियों की निगाह में सेकुलरवाद कोई बहुत अहम मसला था ही नहीं। डॉ. आम्बेडकर ने इस सवाल पर खासी मगजपच्ची की, पर वे नेहरू के साथ किसी सैद्धांतिक विवाद में नहीं उलझे। बावजूद इसके हिंदू कोड बिल के सवाल पर नेहरू और उनके क़ानून मंत्री आम्बेडकर में मतभेद हो गये। समान नागरिक संहिता पर दुविधा रह गयी। अकाली दल और मुसलिम लीग जैसी धर्म आधारित पार्टी को धर्म-आधारित गोलबंदी करने की इजाजत मिल गयी। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक जैसी श्रेणियों का इस्तेमाल ढीले-ढाले ढंग से होने लगा। चुनावी राजनीति में वोट के लिए सामुदायिक गोलबंदी के खिलाफ़ कोई विचार नहीं पनप पाया।

समाज-विज्ञान की दुनिया के पास एक ख़ास तरह के मॉडल के रूप में भारतीय सेकुलरवाद का सूत्रीकरण आज की तरह मौजूद नहीं था। इसलिए साठ के दशक की शुरुआत में जैसे ही भारतीय प्रयोग ने अपने दस साल पूरे किये, ज़बरदस्त बहस फूट पड़ी। इसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि में भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन कराने के लिए चले आंदोलन थे। उत्तर-पूर्व के अलगावादी भारतीय राष्ट्रवाद को सीधी चुनौती दे रहे थे। भाषाई और सांस्कृतिक इयत्ताएँ भारत की बनती हुई सेकुलर इयत्ता में संशोधन करने का दबाव डाल रही थीं। एक तरह से साठ का दशक भारतीय सेकुलरवाद के लिए पहला संकट ले कर आया था। इसमें यह संदेश भी

छिपा हुआ था कि अगर सेकुलर इयत्ता को समरूप बनाने की कोशिश की गयी तो एक दीर्घकालीन संकट भी पैदा हो सकता है। इस बहस के पक्ष-विपक्ष में जिन विद्वानों ने मुख्य रूप से भाग लिया उनमें विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ, वेदप्रकाश लूथरा, डोनाल्ड यूजेन स्मिथ और मार्क गैलेंटर प्रमुख थे।

~~कैंटवेल स्मिथ का कहना था कि भारत का सेकुलरवाद एक ऐसी आकांक्षा है जिसे धरती पर उतारा जाना अभी बाकी है। हमदर्दी से भरे हुए इस वक्तव्य में यह अफ़सोस भी झलकता था कि भारतीय राज्य 1950 से 1965 के बीच सेकुलर कसौटियों पर खरा नहीं उतर पाया है। यूजेन स्मिथ ने अफ़सोस भी व्यक्त नहीं किया और अंदेशों की एक लम्बी सूची पेश की। उनका ख़याल था कि भारत का आधुनिक राज्य हिंदू मामलों में ज़्यादा हस्तक्षेप करके अपनी हिंदू छवि उभार रहा है। ऊपर से उसने धार्मिक समुदायों को अपने निजी क़ानून अलग रखने की इजाजत भी दे रखी है जो सेकुलर सिद्धांत के एकदम खिलाफ़ है। यूजेन स्मिथ चाहते थे कि भारतीय राज्य अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की गारंटी करे, पर समान नागरिकता के सिद्धांत के तहत। अमेरिकी मॉडल को आदर्श मानने वाले वेद प्रकाश लूथरा ने तो भारतीय सेकुलरवाद को सिरे से ही खारिज करके दावा किया कि भारत में न तो सेकुलर राज्य है, और न ही बन सकता है।~~

मार्क गैलेंटर ने इन अंदेशों का जवाब दिया। उनका कहना था कि जिन बातों को स्मिथ भारतीय सेकुलरवाद की ख़ामी मान रहे हैं वे उसकी ख़ूबियाँ हैं। भारत पर राज्य और धर्म के पार्थक्य का अमेरिकी फ़ार्मूला थोपना उचित नहीं है। भारतीय सेकुलरवाद प्रगति और धार्मिक स्वतंत्रता के आग्रहों के बीच संतुलन बनाते हुए विकसित हो रहा है। गैलेंटर ने व्याख्या करते हुए कहा कि प्रत्येक सेकुलर राज्य धर्मों के किन्हीं पहलुओं को प्रोत्साहित करता है, कुछ की उपेक्षा करता है और धर्मों के कुछ तत्त्वों को प्रतिबंधित भी करता है। वह एक क़ानूनी ढाँचा बनाता है जिसके ज़रिये धर्म के दायरों से बाहर रहते हुए उसे विनियमित करने का काम किया जाता है। गैलेंटर का ख़याल था कि भारतीय संविधान का मुख्य रुझान धर्म को अदालतों द्वारा की जाने वाली पुनर्व्याख्याओं के ज़रिये बदल डालने की बजाय विधि-निर्माण द्वारा उसके दायरों का सीमांकन करने का है। गैलेंटर ने इस बात की आलोचना की कि भारतीय अदालतें धर्म की पुनर्व्याख्या का काम अपने हाथ में लेकर संविधान प्रदत्त सेकुलरवाद के मॉडल को नुक़सान पहुँचा रही हैं।

साठ के दशक में चली बहसों के इस संक्षिप्त विवरण से जाहिर है कि सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल को सबसे ज़्यादा मार्क गैलेंटर ने ही समझा था। आपातकाल में संविधान संशोधन करके भारतीय गणराज्य को सेकुलर घोषित करने से भारतीय मॉडल मजबूत नहीं हुआ। 1979 की ईरानी

इसलामिक क्रांति की सफलता ने राज्य के प्रयासों से सेकुलर समाज की रचना को गम्भीर रूप से प्रश्नांकित कर दिया। अस्सी के दशक में सिखों का भीषण क्रल्ले-आम हुआ और तत्कालीन सरकार जानबूझ कर अपनी आँखें बंद किये रही। एक साम्प्रदायिक रक्तपात के साथ एक सेकुलर सरकार की यह मिलीभगत भीषण बहुसंख्यकवादी रुझानों की तरफ इशारा कर रही थी। अस्सी के दशक में ही सुप्रीम कोर्ट द्वारा शाह बानो वाले मामले में धर्म की व्याख्या के प्रयास ने भारतीय सेकुलरवाद के लिए कई समस्याएँ पैदा कीं। खुद को सेकुलर कहने वाली सरकार शाह बानो वाले मामले पर मुसलमान कट्टरपंथियों के सामने घुटने टेकने के बाद अयोध्या में विवादित स्थल पर लगे ताले खुलवा कर हिंदू कट्टरपंथियों के सामने झुकती नज़र आयी। ऐसा लगा कि सरकारी सेकुलरवाद का व्यावहारिक मतलब दो साम्प्रदायिकताओं के बीच संतुलन का खेल खेलना हो गया है।

इसी पृष्ठभूमि में सेकुलरवाद पर दूसरी बहस फूटी। यह एक जबरस्त महाविवाद था जिसके तहत पक्ष-विपक्ष में समृद्ध विमर्श रचा गया। समाज-विज्ञान के लिहाज़ से इसे एक विशिष्ट भारतीय उपलब्धि भी कहा जा सकता है।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. विलफ्रेड कैटवेल स्मिथ (1965), 'द प्रॉब्लम', *सेमिनार, अ सिम्पोजियम ऑन द इम्प्लीकेशन ऑफ़ द नैशनल पॉलिसी*, 67.
2. वेद प्रकाश लूथरा (1962), *द कंसेप्ट ऑफ़ द सेकुलर स्टेट इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. डोनाल्ड यूजेन स्मिथ (1963), *इण्डिया एज़ द सेकुलर स्टेट*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
4. मार्क गैलेंटर (1999), 'हिंदुइज़म, सेकुलरिज़म एंड इण्डियन जुडीशियरी' और 'सेकुलरिज़म, ईस्ट एंड वेस्ट', संकलित : राजीव भार्गव, *सेकुलरिज़म एंड इट्स क्रिटिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-2

नंदी-मदन थीसिस : आलोचनाओं का मौसम

(Secularism: Great Debate-2)

अस्सी का दशक राष्ट्रवादी कल्पनाशीलता की स्थापित संरचनाओं के लिए चुनौतियाँ ले कर आया। राजनीतिक घटनाक्रम का विकास कुछ इस तर्ज़ पर हुआ कि भारतीय राष्ट्रवाद और आधुनिकता पर सेकुलर इजारेदारी भंग लगने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सेकुलर ही नहीं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी हो सकता है, और आधुनिक इयत्ता अनिवार्यतः सेकुलर होने के बजाय धार्मिक मूल्यों से आवेशित होने के बावजूद बुद्धिवादी औज़ारों का उपयोग कर सकती है। इसी दशक में छोटी पहचानों ने स्थापित राष्ट्रीय महा-पहचान के साथ टकराव की शुरुआत भी की। हरित क्रांति के जरिये कृषि में पूँजीवाद का बिगुल बजाने वाले पंजाब ने राष्ट्रीय मंच पर सिखों के धार्मिक राष्ट्रवाद की हथियारबंद दावेदारी पेश की। उत्तर-पूर्व के सबसे बड़े राज्य असम में चले स्थानीयतावाद पर आधारित जुझारू आंदोलन ने केंद्र के वर्चस्व को कमजोर करना शुरू कर दिया। क्षितिज पर हिंदुत्ववादी बादल उमड़ने लगे। बहुसंख्यकवादियों ने दावा किया कि भारतीय राष्ट्रवाद उनके रंग में रंगे बिना राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के पैदा हो रहे इन जोखिमों का सामना नहीं कर सकता।

इस माहौल को संगीन बनाने में कुछ और पहलुओं ने अपना योगदान किया। अस्सी के दशक में ही पहली बार किसी प्रधानमंत्री (इंदिरा गाँधी) ने सार्वजनिक मंच से मुसलमानों की देशभक्ति पर शक किया। ऑपरेशन ब्लू स्टार, प्रधानमंत्री की उनके सिक्ख अंगरक्षकों द्वारा हत्या, उसकी प्रतिक्रिया में हज़ारों सिखों का क्रल्ले-आम, इस कुकृत्य में कांग्रेस के कई नेताओं की भड़काऊ भूमिका और प्रशासन का हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना, शाह बानो विवाद में इसलामिक कट्टरपंथियों के तुष्टीकरण को संतुलित करने के लिए कांग्रेस सरकार द्वारा अयोध्या में विवादित स्थल के ताले खुलवा कर रामजन्मभूमि विवाद को बल प्रदान करना, कांग्रेस सरकार द्वारा ही मंदिर का शिलान्यास करवाना और दिवराला (राजस्थान) में रूपकंवर के सतीदाह पर पूरे देश में फूटी बहस ने राष्ट्रवाद, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, और धार्मिक सहिष्णुता जैसे मसलों पर नये सिरे से सोचने-विचारने की स्थितियाँ पैदा कीं।

अस्सी के दशक की इन्हीं बेचैनियों के गर्भ से सेकुलरवाद पर एक महाविवाद का जन्म हुआ जो साठ के दशक की बहस से काफ़ी अलग क्रिस्म का था। साठ के दशक की चिंताएँ भारतीय सेकुलरवाद के कारगर होने या न होने के इर्द-गिर्द केंद्रित थीं। लेकिन, यह ताज़ा बहस आधुनिकता, राष्ट्रवाद, धार्मिकता और उदारतावाद के बुनियादी प्रश्नों से जूझ रही थी। इसका फलक वैश्विक था

और उसके केंद्र में भारत का बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक अस्तित्व अपने दक्षिण एशियाई पन के साथ एक प्रमुख मिसाल के तौर पर मौजूद था।

महाविवाद का उद्घोष 1985 में 'सेमिनार' पत्रिका में प्रकाशित एक लेख से हुआ जिसका शीर्षक था 'एंटी-सेकुलरिस्ट मेनिफेस्टो'। इसके लेखक थे राजनीतिक दृष्टिकोण से सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन करने वाले आशिस नंदी, जो इससे पहले अपनी आधुनिकताविरोधी अवधारणाओं और औपनिवेशिक ज्ञान परम्पराओं की बखिया उधेड़ने के लिए चर्चित हो चुके थे। इस बेहद दिलचस्प लेख का शीर्षक भड़काऊ ज़रूर था, पर उसका विश्लेषण काफ़ी पेचीदा और नफ़ीस साबित हुआ। अपने घोषणापत्र में नंदी ने एक तालिका के जरिये सेकुलरवाद की डिग्रियाँ पेश कीं। इस तालिका के अनुसार कोई निजी जीवन में धार्मिक हो कर भी सार्वजनिक जीवन में सेकुलर हो सकता है, और कोई इसका ठीक उलट। कोई खुफ़िया तौर पर धार्मिक या सेकुलर हो सकता है, तो कोई खुला धार्मिक या सेकुलर। कोई निजी और सार्वजनिक यानी दोनों दायरों में धार्मिक या सेकुलर हो सकता है।

नंदी ने आधुनिक राष्ट्र द्वारा आरोपित धार्मिक और सेकुलर का द्विभाजन दिखाते हुए सेकुलरवाद के दो रूपों के बीच फ़र्क भी किया। उनके अनुसार एक रूप धर्म को राजनीति से अलग करने में दिलचस्पी रखने वाला पश्चिमीकृत आधुनिकतावादी क्रिस्म का है, दूसरा धर्म का विरोधी न हो कर युरोकेंद्रीयता, विदेशीद्वेष और कट्टरपंथ का विरोधी है। नंदी ने दावा किया कि सेकुलरवाद के दूसरे रूप की भूमिका भारत में गौण हो चुकी है। पहले सेकुलरवाद के आधुनिकतावादी और राज्यवादी दुराग्रह के कारण धर्म आधारित राजनीति का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है।

नंदी ने धर्म के दो रूपों के बीच भी फ़र्क करते हुए दिखाया कि धर्म की एक निर्मिति आधुनिकतावादी और विचारधारात्मक क्रिस्म की है, जिसके साथ तादात्म्य स्थापित करने में पश्चिमीकृत सेकुलरवाद को कोई दिक्कत नहीं होती। लेकिन उसकी दूसरी निर्मिति दैनंदिन जीवन की आध्यात्मिकता से जुड़ी है जिसे सेकुलरीकरण खत्म कर देना चाहता है।

नंदी ने अपनी बात साबित करने के लिए ठोस राजनीतिक प्रेक्षण भी किये। जैसे, उन्होंने तर्क दिया कि आज़ादी के बाद शुरू में राजनीतिक गोलबंदी का दायरा शहरों तक ही सीमित था, इसलिए सेकुलरीकरण की प्रक्रिया कामयाबी से चली। पर जैसे ही लोकतांत्रिक सहभागिता का विस्तार हुआ, सेकुलरवाद की सीमाएँ साफ़ होने लगीं। धर्म के राजनीति से बहिष्करण का नतीजा यह हुआ कि धर्म की बुराइयाँ तो राजनीति में व्यक्त होने लगीं, लेकिन उसकी

अच्छाइयाँ सार्वजनिक जीवन के भ्रष्टाचार और हिंसा को संयमित करने के लिए उपलब्ध नहीं रह गयीं। आधुनिकतावादी आग्रहों ने धार्मिक और जातीय अल्पसंख्यकों के प्रति प्रबंधकीय रवैया अख़्तियार कर लिया जिसका पतन बहुसंख्यकवाद के मुताबिक़ लिए निर्णयों में होना ही था। भारतीय राष्ट्र-राज्य को मिलने वाली जातीय और धार्मिक चुनौतियाँ इन्हीं हालात की पैदाइश थीं। नंदी के मुताबिक़ सेकुलरवादी व्यवहार ने कट्टरपंथी राजनीति को जन्म दिया। सार रूप में दोनों ही आधुनिकता के प्रत्यय की उपज थे। दोनों ही साधारण धर्मावलम्बियों से नफ़रत करते पाये गये। धार्मिक जज़्बात नहीं, बल्कि साम्प्रदायिकता का सेकुलर इस्तेमाल ही दंगों का कारण बना। नतीजे के तौर पर दक्षिण एशियाई समाजों में धार्मिक सहिष्णुता के आयामों का प्रयोग किये बिना एक सहिष्णु समाज बनाने के तजरुबे के तौर पर सेकुलरवाद आज नाकाम हो चुका है।

दो साल बाद 1987 में धर्म और उसके समाजशास्त्र पर महारत रखने वाले वरिष्ठ समाजशास्त्री त्रिलोकी नाथ मदन अपनी रचना 'सेकुलरिज़्म इन इट्स प्लेस' ले कर आये। शीर्षक बता रहा था कि वे नंदी की तरह सेकुलरवाद को पूरी तरह से ख़ारिज करने के पक्ष में नहीं थे। उनकी चिंता तो यह थी कि सेकुलरवाद को राष्ट्रीय स्वभाव का अंग कैसे बनाया जाए। इसके लिए उन्होंने तजवीज़ की कि बात धार्मिक दायरे से सेकुलर दायरे के अलग होने की नहीं है। हिंदू परम्परा को सेकुलर तत्त्वों के नकार के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। उसे सेकुलर और धार्मिक के बीच एक ख़ास तरह के संबंध के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। एक ऐसा संबंध जो पदानुक्रमवत है और जिसमें सेकुलर को धर्म अपने दायरे में ले लेता है।

नंदी की रचना सेकुलरवाद को आधुनिक समाज के संबंध में जाँचती थी, पर मदन की रचना ने उसे धार्मिक परम्परा के दायरे में जाँचा। उनके अनुसार सेकुलरवाद आधुनिक विज्ञान और प्रोटेस्टेंट मत के द्वंद्वत्मक संबंधों की देन है, इसलिए दक्षिण एशिया की धार्मिक परम्पराओं में इस उधार की विचारधारा के तत्त्व खोजना बेकार की क़वायद है। हिंदू, सिख, इसलामी और बौद्ध परम्पराएँ धार्मिक और सेकुलर के बीच फ़र्क तो करती हैं, पर वहाँ सेकुलर को धार्मिक अपने दायरे में समेट लेता है। इसलिए सेकुलरवाद का कोई स्वायत्त आधार नहीं बन पाता। यह विचार इस इलाक़े की मिट्टी से जुड़ने के बजाय मुट्टी भर लोगों को सपना बन कर रह जाता है जो वैज्ञानिक मानस के नाम पर जनसाधारण की जीवन-शैली को अंधविश्वास की संज्ञा देते हुए उन्हें अपनी छवि के साँचे में गढ़ना चाहते हैं। मदन ने तर्क दिया कि धर्म की विधेयक भूमिका को स्वीकार किये बिना भी सेकुलर मक़सदों से धर्म का दोहन किया जाता है

जिससे हिंदू पुनरुत्थानवाद, सिक्ख आतंकवाद और मुसलमान कट्टरपंथ पैदा होता है। दरअसल, धर्मबहुल समाजों में सेकुलरवाद बुद्धिवाद का पर्याय नहीं हो सकता। सेकुलरवाद का भारतीय रूप रचने के लिए हमारे आधुनिकतावादियों को समझना होगा कि धर्म किसी धोखे का नाम नहीं है। गाँधी जैसे लोगों की बातों से हम धर्म और राजनीति के उपयुक्त रिश्ते के बारे में कुछ सबक सीख सकते हैं। मदन का दावा था कि धर्म को गम्भीरतापूर्वक लिए बिना दक्षिण एशिया में सहिष्णु समाज सम्भव नहीं हो सकता।

इन रचनाओं में धार्मिक राष्ट्रवाद के समर्थन में एक भी शब्द नहीं था। अगर कुछ था तो केवल उसकी कड़ी आलोचना। सेकुलरवाद की अपर्याप्ताओं पर सहमति थी, पर उसके मूल्यांकन को लेकर कई मतभेद थे। नंदी सेकुलरवाद को खारिज करके गाँधीवादी चिंतन के आधार पर उत्तर-सेकुलर राजनीति की रचना आह्वान करते दिख रहे थे। मदन सेकुलरवाद को खारिज न करके एक धर्मप्राण देश में उसकी सीमाओं की शिनाख्त कर रहे थे। वे सेकुलरवाद और धार्मिकता का जोड़ चाहते थे। धार्मिकता के रूपों के बारे में भी दोनों के प्रेक्षण अलग-अलग थे। नंदी की मान्यता थी कि धार्मिकता का क्षय हो गया है, पर मदन मानते थे कि सेकुलरीकरण के बावजूद धार्मिकता के रूपों का प्रसार हुआ है। साल भर बाद यानी 1988 में नंदी ने 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ सेकुलरिज़्म एंड रिकवरी ऑफ़ रिलीजस टॉलरेंस' की रचना करके सेकुलरवादी दबदबे को 'वैचारिक श्रेणियों के साम्राज्यवाद' की संज्ञा दी। लेकिन, इन अंतरों के बावजूद नंदी और मदन के विमर्श को समाज-विज्ञान की दुनिया ने आगे चल कर नंदी-मदन थीसिस के नाम से याद किया।

दिलचस्प बात यह है कि नंदी और मदन की रचनाओं के छपने और चर्चित होने के बहुत दिनों के बाद यानी 1994 तक भारतीय सेकुलरवादियों ने उनका जवाब नहीं दिया। अमर्त्य सेन की मान्यता है कि भारतीय बुद्धिजीवियों को आम तौर पर आधुनिकता, राष्ट्रवाद और सेकुलरवाद की तिकड़ी में इतनी जबरदस्त आस्था थी कि अस्सी के दशक की राजनीतिक बेचैनियों और नंदी-मदन के लेखों में हुई उनकी बौद्धिक अभिव्यक्तियों पर तुरंत प्रतिक्रिया की कोई ज़रूरत नहीं समझी गयी।

लेकिन, नब्बे का दशक सेकुलरवाद के लिए ज़्यादा बड़े धक्के की तैयारी कर रहा था। इस दशक की तूफानी शुरुआत ही मण्डल और मंदिर राजनीति से हुई। छह दिसम्बर, 1992 को कार सेवकों ने अयोध्या में बाबरी मसजिद ढहा दी। यह भारतीय सेकुलरवाद पर निर्मम प्रहार था। सेकुलरवाद के समर्थकों को खुल कर सामने आना पड़ा और उनके एक बड़े हिस्से को इस विचार के नवीकरण की

ज़रूरत महसूस हुई। मार्क्सवादियों ने अलग मोर्चा सँभाला, और उदारतावादियों ने अलग। बीसवीं सदी के पूरे आखिरी दशक में सेकुलरवाद पर जम कर विवाद होता रहा।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. आशिस नंदी (1985), 'एंटी सेकुलरिस्ट मेनिफेस्टो', सेमिनार, 314, अक्टूबर, 1985 और हिंदी में 'सेकुलरवाद के खिलाफ़ घोषणापत्र', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. टी.एन. मदन (2005), 'सेकुलरिज़्म इन इट्स प्लेस', *जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, खण्ड 46, अंक 4, 1987 और हिंदी में 'सेकुलरवाद की सीमा', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
3. आशिस नंदी (1988), 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ सेकुलरिज़्म एंड द रिकवरी ऑफ़ रिलीजस टॉलरेंस', *आल्टर्नेटिव्ज़*, खण्ड 13, अंक 2.
4. अमर्त्य कुमार सेन (1993), 'द थ्रेट टू सेकुलर इण्डिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 21, अंक 3-4.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-3

पार्थ चटर्जी का हस्तक्षेप और
मार्क्सवादी बेचैनियाँ

(Secularism: Great Debate-3)

अस्सी के दशक में सेकुलरवाद की आलोचना में नंदी-मदन थीसिस आ जाने के बावजूद वामपंथी और मार्क्सवादी खेमे ने एक बहुधार्मिक देश में सेकुलरवाद की प्रासंगिकता की जाँच करने की ज़रूरत नहीं समझी। नब्बे के दशक के शुरुआती वर्षों ने सेकुलरवाद के लिए दो नयी चुनौतियाँ पेश कीं। पहली चुनौती भारतीय लोकतंत्र के विकास और उसकी चुनावी प्रक्रिया के गर्भ से निचली जातियों की दावेदारी के रूप में निकली जिसे मण्डल परिघटना के नाम से जाना जाता है। दूसरी चुनौती इस परिघटना की प्रतिक्रिया में रामजन्मभूमि आंदोलन, बाबरी मसजिद ध्वंस और भारतीय जनता पार्टी द्वारा केंद्र की तरफ कूच के रूप में सामने आयी।

दलितों और आदिवासियों के लिए आरक्षण पहले से चल रहा था। सेकुलर-आधुनिकतावादी मानस इन उपायों को अस्थाई मान कर समझता था कि कमज़ोर समुदाय के लोग जब व्यक्ति के रूप में आरक्षण के जरिये अन्य लोगों की बराबरी कर लेंगे तो अमूर्त नागरिकता का महान उदारतावादी सपना सच हो जाएगा। लेकिन अब उन्हें दिखा कि मण्डल कमीशन की सिफारिशों के सहारे आज़ादी के चालीस साल बाद जनता के नये तबके आरक्षण के दायरे में आ रहे हैं। यह परिघटना केवल सेकुलरवाद के समर्थकों के लिए ही नहीं, बल्कि उसके विरोधियों के लिए भी पेचीदा थी। साम्प्रदायिकता की राजनीति पर तो उनकी निगाह थी, पर जाति का प्रश्न अलग-अलग कारणों से दोनों ने ही उपेक्षित कर दिया था।

बहरहाल, कारसेवकों के हाथों बाबरी मसजिद टूटने के बाद सोये हुए वामपंथी जागे और उन्होंने सोचना शुरू किया कि सेकुलरवाद और सेकुलर राज्य इस दक्षिणपंथी उभार को रोकने में क्यों नाकाम रहा। सुमित सरकार ने सामाजिक इतिहास लेखन में जाति की उपेक्षा की शिनाख्त की, संघ परिवार की विचारधारा को फ़्रासीवाद का एक रूप करार दिया और सेकुलरवाद के आलोचकों पर आरोप लगाया कि उनका विमर्श संघ परिवार के साथ कहीं न कहीं एक साझी ज़मीन पर खड़ा है। एक अन्य वामपंथी एजाज़ अहमद ने अपने लेख 'ग्राम्शी, इटली का फ़्रासीवाद और हमारे लिए सबक' में फ़्रासीवाद के रूपक का सहारा लेकर संघ परिवार की राजनीति को व्याख्यायित करने की कोशिश की।

इससे पहले कि वामपंथी खेमा थोड़ी-बहुत आत्मालोचना और फ़्रासीवाद की चौखट पर ठीकरा फोड़ कर

संतुष्ट हो जाता, पार्थ चटर्जी के विमर्श ने उसमें हलचल मचा दी। 1994 में 'सेकुलरिज़म ऐंड टॉलरेंस' के जरिये उन्होंने कुछ ऐसे सवाल उठाये जिनसे न केवल सेकुलरवाद का मौजूद मॉडल प्रश्नांकित होता था, बल्कि अल्पसंख्यक प्रश्न से निबटने के मामले में उदारतावादी थीसिस की क्षमताओं पर भी सवाल खड़ा होता था। चटर्जी ने सबसे पहले तो इस बात का खण्डन किया कि हिंदुत्ववादी राजनीति का फ़्रासीवाद या नाज़ीवाद से कोई ताल्लुक है। फिर उन्होंने दिखाया कि भारतीय मुसलमान अपने धार्मिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप के हमेशा से विरोधी नहीं थे। लेकिन आज़ाद भारत में जैसे ही उन्होंने अपने सांस्कृतिक जीवन को बुद्धिवाद के दायरों से अलग रखने का आग्रह किया तो उदारतावादी सिद्धांत संकट का शिकार हो गया।

चटर्जी ने तर्क दिया कि राज्य और धर्म के बीच पार्थक्य की दीवार खड़ा करने वाले सेकुलरवाद और आधुनिक राज्य की उदारतावादी विचारधारा के गर्भ से सामाजिक सहिष्णुता की गारंटी अपने आप नहीं निकलती। उदारतावादी सिद्धांत को उस समय बगलें झाँकनी पड़ती हैं जब धार्मिक अल्पसंख्यक सार्वभौम नागरिकता के बुद्धिवादी विमर्श में भागीदारी करने से ही इनकार कर देते हैं। वे अपनी सांस्कृतिक भिन्नता क्रायम रखने का दावा ही नहीं करते, उस दावे की वजह न बताने का दावा भी पेश करते हैं। फ़ूको के शासकीयता के सिद्धांत का सहारा लेते हुए चटर्जी ने कहा कि अल्पसंख्यक राज्य प्रदत्त मंचों पर विवाद न करके आग्रह करते हैं कि उनके सांस्कृतिक आचरण से संबंधित मसलों को उनके अपने धार्मिक दायरों में ही सुलझाया जाना चाहिए। ऐसे में ज़रूरी हो जाता है कि सहिष्णुता की गाँधीवादी समझ के बजाय एक ऐसी समझ खोजी जाए जो प्रचलित उदारतावादी सिद्धांत में बनी-बनायी नहीं मिलती।

चटर्जी ने तजवीज़ की कि इस नयी समझ के पैरोकार को एक द्वि-आयामी संघर्ष की शुरुआत करनी पड़ेगी : 'वह किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय में बाहर से पड़ने वाले समरूपीकरण के दबावों का प्रतिरोध कर सकता है, और समुदाय के भीतर लोकतांत्रिकीकरण के लिए दबाव डाल सकता है।' यह थी चटर्जी द्वारा प्रतिपादित सहिष्णुता की रणनीतिक राजनीति।

मार्क्सवादी खेमे से जावीद आलम ने नंदी-मदन थीसिस पर पलट कर हमला किया, पर उनके विमर्श में धर्म से निबटने के मामले में कम्युनिस्टों के रवैये की आलोचना भी थी। हालाँकि आलम का स्वर विवादात्मक था, पर वे अपने भीतर झाँकते हुए भी नज़र आ रहे थे।

जावीद आलम ने 'इण्डिस्पेंसिबिलिटी ऑफ़ सेकुलरिज़म' में सवाल उठाया कि नंदी और मदन सेकुलरवाद की तो कड़ी जाँच-पड़ताल करते हैं पर परम्परा

को किसी कसौटी पर नहीं कसते। विश्लेषण का यह तरीका परम्परा के नाम पर जो कुछ है, उसे ग़ैर-आलोचनात्मक ढंग से ग्रहण कर लेता है। आलम ने दावा किया कि सेकुलरवाद विरोधी दलील में एक पद्धतिमूलक अस्पष्टता भी है। ऊपर से तो वह पश्चिमी विचारधाराओं के वर्चस्व के खिलाफ़ लड़ती नज़र आती है, पर वास्तव में उसकी जड़ पश्चिमी पूर्व-धारणाओं में ही दिखती है। उनकी दलीलें सिर के बल खड़ी हुई युरो-केंद्रीय दृष्टि का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।

आलम की मान्यता थी कि आधुनिकता ने हमें जिस मुकाम पर पहुँचा दिया है, वहाँ से वापसी नामुमकिन है। जिस परिघटना को पश्चिमी विचार श्रेणियाँ थोपना कहा जाता है, उसे पारंपरिक समाजों के आधुनिकीकरण से उपजी ज़मीनी ज़रूरत के रूप में देखा जाना चाहिए। पारम्परिक समाज आपसी संवाद के ज़रिये जिन समझौतों तक पहुँचते थे, आधुनिक समाज में विवादों का हल उन तरीकों से नहीं हो सकता। उसके लिए नये दार्शनिक सिद्धांत, नये मूल्य और नयी प्रणाली की ज़रूरत पड़ेगी। समानता और लोकतंत्र के साथ सेकुलरवाद इसी ज़रूरत की पूर्ति करता है।

नंदी-मदन थीसिस की प्रत्यालोचना करने के बाद आलम ने अपनी निगाह आधुनिकतावादियों और मार्क्सवादियों के रवैये पर फेंकी। उन्होंने पाया कि इसमें भी कई खामियाँ हैं। मसलन, सेकुलरवाद या आधुनिकता को केवल युरोपीय ज्ञानोदय की बुद्धिवादी विचारधारा के आईने में देखा जाना एक समस्या है। देशकाल के मुताबिक़ कई तरह की आधुनिकताएँ और तरह-तरह के सेकुलरवाद हो सकते हैं। भारतीय परिस्थितियों के मुताबिक़ सेकुलरवाद का सिद्धांत-निरूपण करने के लिए देकार्तवादी या कांटवादी वैचारिक बुनियादपरस्ती से बचना चाहिए। ज्ञानोदय से पहले के युरोपीय पुनर्जागरण काल में धर्म और राज्य को अलग-अलग करने के लिए किये गये चिंतन पर भी निगाह फेंकनी चाहिए। वह चिंतन धर्म का विरोधी नहीं था, पर वह धर्म को राजकीय मामलों से अलग रखने का हिमायती ज़रूर था।

भारतीय मार्क्सवादियों को आलम की हिदायत थी कि हमें जो मार्क्सवाद थमाया गया है और जिसके तहत कम्युनिस्ट इस मसले को देखते हैं, वह दरअसल ग़लत बौद्धिक परिप्रेक्ष्य से उपजा है। यह परिप्रेक्ष्य धर्म को जंजीरों में जकड़ कर रखना चाहता है। कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का इस्तेमाल करते हुए उन परिस्थितियों पर नज़र डालें जिनमें आधुनिक व्यक्ति की रचना होती है। विभिन्न समाजों की ज़मीन पर भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक और भौतिक परिस्थितियों में यह प्रक्रिया अलग-अलग ढंग से चलती है। अगर कम्युनिस्ट इस तरह से देखते तो उनके सामने समाजवादी लोकतंत्र के विभिन्न रूप खोजने का रास्ता

खुल सकता था। लेकिन, मार्क्स के बाद विकसित समाजवादी विचार परम्परा में विभिन्न परिस्थितियों के तहत आधुनिक इंसान की रचना-प्रक्रिया के दौरान पैदा हुई सामाजिक-दार्शनिक समस्याओं पर गम्भीरता से गौर नहीं किया गया।

ज़ाहिर है कि आलम के पास आधुनिकता और सेकुलरवाद से संबंधित मार्क्सवादी समझ और व्यवहार में संशोधन के गम्भीर प्रस्ताव थे। एक अन्य वामपंथी चिंतक अकील बिलग्रामी ने इसी दौरान नेहरूवादी सेकुलरवाद को आर्कमीडियायी या गढ़ा हुआ क्रार देकर इस बहस में एक नया दृष्टिकोण जोड़ने की कोशिश की।

कुल मिला कर नंदी-मदन थीसिस से प्रकट नाराज़गी के बावजूद वामपंथी खेमे भी सेकुलरवाद के नये संस्कार की आवश्यकता महसूस कर रहा था। पार्थ चटर्जी तो एक तरह से नंदी और मदन के साथ ही खड़े दिख रहे थे। आधुनिकता और दक्षिण एशियाई समाजों के बीच अन्योन्यक्रिया पर भारतीय अनुभव की रोशनी में नये सिरे से विचार करने की गुंजाइशें खुल रही थीं। सेकुलरवाद का संकट भारतीय समाज-विज्ञान में स्थापित और रूढ़ हो चुकी कई अवधारणाओं को चिंतन के लिए दोबारा खोलने के मौक़े प्रदान कर रहा था।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. सुमित सरकार (1994), 'द एंटी सेकुलरिस्ट क्रिटीक ऑफ़ हिंदुत्व : प्रॉब्लम्स ऑफ़ ए शेयर्ड डिस्कर्सिब स्पेस', *जर्मिनल*, खण्ड 1.
2. जावीद आलम (2005), 'द इंडिस्पेंसिबिलिटी ऑफ़ सेकुलरिज़्म', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 27, अंक 7-8, जुलाई-अगस्त 1998 और हिंदी में 'सेकुलरवाद की अनिवार्यता', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
3. सुदीप्त कविराज (1995), 'रिलीजन, पॉलिटिक्स ऐंड मॉडर्निटी', संकलित : उपेंद्र बख्शी और भीखू पारेख (सं.), *क्राइसिस ऐंड चेंज इन कंटेम्परेरी इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली और 'ऑन द डिस्कॉर्स ऑफ़ सेकुलरिज़्म', विद्युत चक्रवर्ती (सम्पा.), *सेकुलरिज़्म ऐंड इण्डियन पॉलिटि*, सेगमेंट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-4

भाषा, जाति और छोटी
पहचानों का प्रश्न

(Secularism: Great Debate-4)

सेकुलरवाद पर तुर्की-बतुर्की बहस करने वाले समर्थक और विरोधी पैरोकारों के विमर्श से भाषा, जाति और लघु अस्मिताओं के पहलू पूरी तरह से नदारद थे। उनके विमर्श का भाषाई स्वरूप अंग्रेज़ी में था, उनकी दावेदारियों में राष्ट्र के महा-आख्यान की विवेचना थी और वे इस राष्ट्र को बड़ी-बड़ी अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक पहचानों से मिल कर बना हुआ मान रहे थे। आशिस नंदी के विमर्श में सेकुलरवाद को वैचारिक श्रेणियों के साम्राज्यवाद के खाने में ज़रूर रखा गया था, पर वे भी हिंदू और मुसलमान को विभेदीकृत समुदायों की तरह ग्रहण न करके, बेखयाली में ही सही, पर एकात्म समुदाय मानते दिखाई पड़ते थे। प्रोफ़ेसर मदन का विमर्श तो हिंदू, इसलामिक, सिक्ख और बौद्ध जैसी चार दक्षिण एशियाई धार्मिक परम्पराओं के संदर्भ में ही रचा गया था। उन्हें भी इन धार्मिक परम्पराओं के विभेदीकरण में कोई दिलचस्पी नहीं थी। दूसरा ख़ाँचा आधुनिकता बनाम परम्परा के द्विभाजन का था जिसमें अगर कोई विभेद किया गया था तो वह था आशिस नंदी द्वारा परम्परा के उच्च-भू और ज़मीनी रूपों के बीच किया गया अंतर। इस कमी को पूरा किया कुछ ऐसे चिंतकों ने जिनके रुझान वामपंथी थे, लेकिन जिन्हें सुपरिभाषित वामपंथी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था या जिनकी हैसियत वामपंथियों के आंतरिक आलोचक जैसी थी। इनमें सुदीप्त कविराज, विवेक धारेश्वर, रजनी कोठारी और आदित्य निगम प्रमुख थे। इन लोगों ने भाषा, जाति और राष्ट्र व सेकुलरवाद जैसे महा-आख्यानों के वर्चस्व के तले छटपटा रही छोटी पहचानों के आईने में सेकुलरवादी विमर्श को परखा। इससे एक नया दृष्टिकोण सामने आया।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करके पिछड़ी जातियों को आरक्षण प्रदान करने से पहले सेकुलरवादियों के बीच जाति के प्रश्न पर चर्चा आम तौर पर ख़ामोश ही रहती थी। वे जाति पर गौर करने में अपना वक्रत ख़राब करने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि उन्हें सेकुलरीकरण की प्रक्रिया के हाथों जाति को समाज के धरातल पर अपदस्थ कर दिये जाने का विचारधारात्मक यकीन था। लेकिन, पहले मण्डलीकरण की राजनीति और फिर उत्तर प्रदेश में दलित-पिछड़े गठजोड़ द्वारा हिंदुत्ववादी

ताक़तों को चुनावी मैदान में परास्त कर दिये जाने की परिघटना के कारण उन्होंने जाति को नये नज़रिये से देखना शुरू किया। उन्हें लगा कि जातिगत राजनीतिक गोलबंदी सेकुलर भूमिका भी निभा सकती है।

जाति के प्रश्न पर सेकुलर अंधता के अपवाद वरिष्ठ राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी थे। 1965 में ही उन्होंने अपने एक शिष्य ऋषिकेश मारू के साथ एक जाति महासभा का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला था कि जातिगत राजनीतिक गोलबंदी जाति को मजबूत करने के बजाय उसकी संरचना में बदलाव का रास्ता खोलती है और इसके ज़रिये सेकुलरीकरण होता है। कोठारी ने अपने इस प्रेक्षण के सहारे समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास के इस दावे का खण्डन किया कि लोकतांत्रिक राजनीति जाति को पुनः जीवन प्रदान कर देगी। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने राजनीति में जातिवाद की जगह 'जातियों के राजनीतीकरण' की विख्यात थीसिस सूत्रबद्ध की। नब्बे के दशक की राजनीति में उन्होंने इसी टेक पर दलितों के उभार की व्याख्या की और साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष में जाति की भूमिका को रेखांकित किया।

कोठारी के काम से इत्तफ़ाक़ रखते हुए भी आदित्य निगम ने इस मसले को एक दूसरी निगाह से देखा, क्योंकि छोटी जातियों के एक प्रभावी हिस्से में सेकुलर विमर्श की परवाह न करके साम्प्रदायिक पक्ष के नुमाइंदों के साथ जाने की प्रवृत्ति भी दिख रही थी। नेहरूवादियों और वामपंथियों द्वारा स्थापित सेकुलर-राष्ट्रवादी आग्रहों के बरक्स 'छोटी पहचानों की बग़ावत' का सूत्रीकरण करते हुए उन्होंने सामाजिक इतिहास के धरातल पर सुमित सरकार जैसे स्थापित वामपंथी समाज वैज्ञानिकों की उस स्वीकारोक्ति की विवेचना की जिसमें सरकार ने बताया था कि उनकी रचनाओं में जाने-अनजाने जाति का पहलू किस तरह से हाशिये पर चला जाता रहा है। निगम का तर्क था कि सेकुलर-राष्ट्रवाद ने एक समरूप संस्कृति गढ़ने की प्रक्रिया में अपने लिए एक ख़ास तरह का एक द्विज हिंदू सांस्कृतिक साँचा तैयार कर लिया है। इसीलिए नब्बे के दशक में दलित राजनीतिक नेतृत्व ने सेकुलरवाद को उसी तरह से ख़ारिज कर दिया है जिस तरह कभी आम्बेडकर ने उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद को कर दिया था।

विवेक धारेश्वर ने सेकुलर इयत्ता को प्रश्नांकित करते हुए भाषा, जाति और सेकुलरवाद के त्रिकोण पर गौर किया। क्लिफ़र्ड गीट्ज़ की स्थापना 'अनुभव-दूरस्थ' और 'अनुभव-निकटस्थ' का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने कहा कि हिंदुओं और बौद्धों के लिए जाति अनुभव-निकटस्थ है, जबकि सेकुलरवादियों के लिए यह अनुभव-दूरस्थ अवधारणा है। धारेश्वर ने इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण सेकुलर विमर्श की अंग्रेज़ी केंद्रीयता को क्रार दिया। अपनी

बात को साफ़ करते हुए धारेश्वर ने दावा किया कि सेकुलर इयत्ता के लिए अंग्रेज़ी सिर्फ़ एक भाषा ही नहीं है, बल्कि वह प्रतीक रूप में आधुनिकता का एक नाम बन गयी है। उसके जरिये सेकुलर अभिजन अपनी श्रेणियाँ ग़ैर-आधुनिक दुनिया पर थोपना चाहता है। धारेश्वर का तर्क था कि उत्तर-संरचनावाद के बाद से भाषा अनुभव और सामाजिक आचरणों के विधेयक तत्त्व के रूप में उभर आयी है। जब महानगरीय इयत्ता खुद को अंग्रेज़ी में रचती और व्यक्त करती है तो जाति की केंद्रीयता वाले सामाजिक संघर्ष से उसका नाता दूर का हो जाता है। इसी कारण से जाति उनके विमर्श में या तो दब जाती है, या उसे सिरे से लापता हो जाना पड़ता है। इस सेकुलर इयत्ता के पैरोकार ऊँची जातियों से आते हैं और मान कर चलते हैं कि वे जातिवादी नहीं हैं या उनका आचरण जातिवादी नहीं है। पर दलित प्रवक्ताओं की तरफ़ से उन्हें जातिवादी करार दिया जाता रहता है।

धारेश्वर ने अपनी बात कहते हुए सुदीप्त कविराज का हवाला दे कर कहा था कि अभिजन और सबाल्टर्न प्रतीक-भाषा के बीच एक तरह के अपरिचय और शत्रुता का संबंध है। कविराज ने सेकुलर विमर्श की विफलता को उसकी आज़ादी के पहले और बाद की निर्मितियों के बीच अंतर की तरह पढ़ा था। उनकी मान्यता थी कि आज़ादी के पहले चलने वाला सेकुलरवाद का विमर्श जनता के लिए अधिक ग्राह्य था, क्योंकि वह भारतीय भाषाओं में चलाया जाता था। उपनिवेशवादी विरोधी नेतृत्व बाक्रायदा द्विभाषी था, और अपनी बातें अंग्रेज़ी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में भी कहता था। जबकि आज़ादी के बाद का सेकुलर विमर्श पूरी तरह सिर्फ़ अंग्रेज़ी में चलाये जाने के कारण जनसाधारण के मानस को प्रभावित नहीं कर पाया, और उत्तरोत्तर मुट्टी भर अभिजनों का विचार बन कर रह गया। अंग्रेज़ी के दायरे में रह जाने के कारण इस सेकुलर विमर्श को स्थानीय परम्पराओं और जीवन से कट जाना पड़ा।

इतिहासकार ज्ञानेंद्र पाण्डेय ने भी सेकुलरवाद-साम्प्रदायिक टकराव में भाषा की भूमिका को उभारा कि किस प्रकार साम्प्रदायिक गोलबंदी के लिए हिंदी का इस्तेमाल किया गया। इसका भी तात्पर्य यही था कि सेकुलर विमर्श हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं में स्वयं को व्यक्त करने में नाकाम रहा है। थोड़ा आगे चल कर धीरूभाई शेठ ने भी गुजरात की घटनाओं के संदर्भ में सेकुलर विमर्श के द्विज-अभिजन-अंग्रेज़ीदाँ चरित्र की शिनाख़्त करते हुए आग्रह किया कि दलित-पिछड़ी जातियों की राजनीति की सेकुलर सम्भावनाओं को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार,

रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. सुदीप्त कविराज (1995), 'ऑन द डिस्कोर्स ऑफ़ सेकुलरिज़्म', बिद्युत चक्रवर्ती (सम्पा.), *सेकुलरिज़्म ऐंड इण्डियन पॉलिटि, सेगमेंट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स*, नयी दिल्ली.
2. विवेक धारेश्वर (1993), 'कास्ट ऐंड सेकुलर सेल्फ़', *जरनल ऑफ़ आर्ट्स ऐंड आइडियाज़*, अंक 25-26, बंगलूरु.
3. आदित्य निगम (2003), 'ब्राह्मणवादी आधुनिकता की आलोचना : ज्ञानमीमांसा के नये पहलू', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *आधुनिकता के आईने में दलित*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
4. आदित्य निगम (2005), *इंसरेक्शन ऑफ़ द लिटिल सेल्फ़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. रजनी कोठारी (2003), 'दलित उभार के मायने : जातियों के राजनीतीकरण का एक और पहलू' अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *आधुनिकता के आईने में दलित*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
6. रजनी कोठारी और ऋषिकेश मारू (1965), 'कास्ट ऐंड सेकुलरिज़्म इन इण्डिया : केस स्टडी ऑफ़ अ कास्ट फ़ेडरेशन', *जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, खण्ड 25, अंक 1.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-5

नयी सेकुलर राजनीति के प्रस्ताव

(Secularism: Great Debate-5)

सेकुलरवाद पर चल रहे महाविवाद का एक ऐसा आयाम भी था जो उस बहस को आधुनिकता के पक्ष-विपक्ष और उदारतावादी सिद्धांत के इर्द-गिर्द चल रहे तर्क-वितर्क से निकाल कर व्यावहारिक राजनीति की ज़मीन पर लाना चाहता था। इस तरह के विद्वानों का जोर इस बात पर था कि आधुनिक राज्य की संरचनाओं में आ रहे परिवर्तनों पर गौर किया जाना चाहिए। इस संबंध में तीन समाज वैज्ञानिकों (रजनी कोठारी, धीरूभाई शेठ और मधु किश्वर) द्वारा किये गये बौद्धिक हस्तक्षेप उल्लेखनीय हैं।

वरिष्ठ राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी आपातकाल से लेकर 1984 तक के सिक्ख विरोधी हत्याकाण्ड तक की दस

साला अवधि में पनपी साम्प्रदायिकता के कारणों का विश्लेषण करते-करते अपनी सेकुलरवाद संबंधी तजवीजों पर पहुँचे। कोठारी ने कहा कि भारत आज उसी नशे में चूर है जिसे कभी मार्क्स ने 'जनता की अफ़ीम' करार दिया था। भारतीय समाज का स्वाभाविक चरित्र इसकी इजाज़त नहीं देता। कोठारी की मान्यता थी कि इस देश की प्रकृति मूलतः न तो धार्मिक है और न ही सेकुलर, फिर भी भारत पर धार्मिक राजनीति का असर भरपूर दिख रहा है। उन्हें यह बात विडम्बनापूर्ण लगी कि मुसलमान और ईसाई तो संयम से काम ले रहे हैं, पर धर्मशास्त्रीय अर्थों में ग़ैर-धार्मिक समझे जाने वाले हिंदू समुदायों ने धर्म के आधार पर गोलबंदी को स्वीकार करना शुरू कर दिया है।

कोठारी इस नतीजे पर पहुँचे कि भारतीय सेकुलरवाद इस समय तकनीकशाही और प्रबंधकीय राज्य, चुनाव आधारित लोकतंत्र के कारण आये बहुसंख्यकवाद, कठोर राज्य की अवधारणा और राज्य की संस्था के साम्प्रदायिकीकरण के कारण साँसत में है। हालात धार्मिक ध्रुवीकरण के अनुकूल हो गये हैं। मध्यवर्गीय राजनीति का दायरा असरदार नहीं रह गया है। मध्यवर्ग लोकतांत्रिक राजनीति के प्रति अरुचि का शिकार हो चुका है। सेकुलरवाद इन बाधाओं से तब तक पार नहीं पा सकता जब तक राजनीति पर एक बार फिर बीच का दायरा प्रभावी नहीं हो जाता और मध्यवर्ग की परिवर्तनकारी सृजनशीलता पुनः जागृत नहीं हो जाती। ऐसा करने के लिए केवल सेकुलर-राजनीतिक दायरे की तरफ़ ध्यान देना ही काफ़ी नहीं होगा। इसके लिए भारतीय बहुलतावाद की नैसर्गिकता को पकड़ना होगा। समझना होगा कि भारतीय आधुनिकता का इतिहास पश्चिमी आधुनिकता से भिन्न है। भारतीय बहुलतावाद सेकुलर विकास-क्रम की उपज नहीं है, बल्कि भारतीय सेकुलरवाद हमारे बहुलतावाद के आधार की देन है।

कोठारी ने आशा-निराशा के झूले में झूलते हुए कहा कि राजनीतिक दलों की नाकामी के बावजूद उन्होंने उम्मीद का दामन नहीं छोड़ा है। इसकी वजह खुद मध्यवर्ग का नैसर्गिक चरित्र और उसका लोकतंत्र के साथ रिश्ता है। सैद्धांतिक रूप से लोकतंत्र एक मध्यवर्गीय मूल्य ही है। राज्य के खुले आम साम्प्रदायिकीकरण से मध्यवर्ग को एक तरह का सदमा लगा है। इसी का परिणाम तरह-तरह के नागरिक समूहों की सक्रियता में निकला है जो मोटे तौर पर साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ और सेकुलर राजनीति के पक्ष में खड़े हुए हैं। आज का मध्यवर्ग जिस हकीकत का सामना कर रहा है वह उस हकीकत से कहीं पेचीदा है जिसका आज़ादी मिलने के वक़्त तत्कालीन मध्यवर्ग ने सामना किया था।

धीरूभाई शेट का विचार था कि सेकुलरीकरण की प्रक्रिया में केवल हिंदुत्व ही बाधा नहीं डालता, बल्कि सेकुलरवाद पर चल रही बहस का लहज़ा भी इसका

ज़िम्मेदार है। सेकुलर विमर्श को अभिजनोन्मुख करार देते हुए धीरूभाई ने दावा किया कि आज़ादी के पहले क्राँमी एकता के रूप में जो सेकुलरवाद धार्मिकता का विलोम नहीं था, आज़ादी के बाद आधुनिकतावादी-राज्यवादी बन कर एक छोटे से शासक वर्ग को वैधता दिलाने वाली विचारधारा बन गया। निचली जातियों की जीवन-शैली को नीची निगाह से देखने वाले इस सेकुलरवाद ने बहुसंख्यक भारतीय समाज को हिंदुत्ववादियों के हाथ में खेलने के लिए छोड़ दिया।

धीरूभाई का विचार था कि भारतीय राष्ट्र-राज्य की वैधता ऊपर से भूमण्डलीकरण की ताक़तों और नीचे से क्षेत्रीयता की ताक़तों की चुनौती का सामना कर रही है। इससे भी अधिक गम्भीर चुनौती हिंदुत्व के आंदोलन ने दी है। इसने सेकुलर-लोकतांत्रिक राज्य और बहुलतावादी राष्ट्रवाद की विचारधारा के बीच पनपे संस्थागत सूत्र को भंग कर दिया है। चूँकि अधिकतर हिंदू इस विचारधारा के पक्ष में नहीं है, इसलिए फ़िलहाल इसे गठजोड़ की राजनीति का सहारा लेना पड़ रहा है। पर इसका लक्ष्य है हिंदुत्व को भारतीय राज्य की विचारधारा के रूप में मान्यता दिलाना जिसकी अभिव्यक्ति जातीय-धार्मिक बहुसंख्यकवाद में होगी। अगर हिंदुत्ववादी संगठन हिंदुओं की बहुसंख्या का दीर्घकालीन राजनीतिक समर्थन पाने में कामयाब रहे तो भारतीय राष्ट्र-राज्य बहुसंख्यक-जातीय राज्य का चरित्र ग्रहण कर लेगा। उस सूरत में भारत के भीतर अल्पसंख्यकों के साथ वही सुलूक होना शुरू हो जाएगा जैसे उपमहाद्वीप के अन्य देशों में होता है। राज्य को अपने सेकुलर दायित्वों से पल्ला झाड़ने से रोकने के लिए धीरूभाई ने सुझाव दिया कि इसके लिए संविधान में विशेष प्रावधान किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ़ राजनीतिक और सामाजिक जीवन में मुसलमानों की भागीदारी बढ़ानी होगी। साथ ही हिंदुओं के धार्मिक जीवन के प्रति कठोर रवैया अपनाने की अवांछित प्रवृत्ति से बचना होगा। निचली जातियों की राजनीति के लोकतांत्रिक और सेकुलर आयामों का महत्त्व नये सिरे से समझना होगा। सेकुलर विमर्श को भूमण्डलीय स्तर पर ले जा कर भारतीय राज्य को इसलाम विरोधी बनाने के प्रयासों का प्रतिकार करना होगा।

मधु किश्वर ने शाह बानो प्रकरण पर केंद्रित होते हुए समान नागरिक संहिता के प्रश्न को खँगाला। सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल का यह महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद पक्ष मधु किश्वर के हस्तक्षेप से पहले इस महाविवाद से बाहर था। उनकी मान्यता थी कि शाह बानो के मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले से समान नागरिक संहिता की माँग का साम्प्रदायिकीकरण हुआ है। इसी फ़ैसले के बाद मुसलमान औरतों के साथ होने वाले भेदभाव की आड़ में इसलाम और मुसलमानों के खिलाफ़ आक्रामक मुहिम शुरू हुई। मुसलमान

लों में परिवर्तन की कसौटी पर अल्पसंख्यकों की देशभक्ति को कसा जाने लगा। किश्वर ने इतिहास का हवाला देते हुए कहा कि ठीक इसी तरह कभी हिंदू स्त्रियों के साथ होने वाले भेदभाव की आड़ में अंग्रेजों ने हमारे स्वशासन के अधिकार पर सवालिया निशान लगाया था। अंग्रेजों ने जो किया था, ठीक वैसा ही कथित हिंदू प्रवक्ताओं ने मुसलमानों के साथ किया और स्त्री अधिकारों का मसला पृष्ठभूमि में चला गया। ऐसा लगने लगा कि हिंदू पर्सनल लॉ ज्यादा सेकुलर और बेहतर क़ानून है। माहौल बनाया जाने लगा कि समान नागरिक संहिता के नाम पर इसी क़ानून के प्रावधान ग़ैर-हिंदू समुदायों को थमा दिये जाएँ। असलियत यह है कि स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार देने के मामले में यह मुसलमान पर्सनल लॉ से भी बदतर है।

मधु किश्वर की चेतावनी थी कि एक सेकुलर क्रिस्म की नागरिक संहिता तैयार करने की कोशिश करते समय सतर्क रहना होगा। कहीं हिंदू पर्सनल लॉ के प्रावधानों को ही नये सिरे से पेश करने की साज़िश तो नहीं की जा रही है। साथ ही यह भी सुनिश्चित करना होगा कि नयी संहिता का मसविदा स्त्रियों को समान अधिकार की रोशनी में ही तैयार किया जाए।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. धीरूभाई शेठ (2005), 'गुजरात के बाद हिंदुत्व और राज्य का सेकुलरत्व', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (2005), 'चार बाधाएँ और बीच का रास्ता', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
3. मधु किश्वर (1998), 'प्रो-वुमॅन ऑर एंटी-मुसलमान ? : द शाह बानो कंट्रोवर्सी', मधु किश्वर, *रिलीजन एट द सर्विस ऑफ़ नैशनलिज्म ऐंड अदर एसेज*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-6

हिंदी के बुद्धिजीवी

(Secularism: Great Debate-6)

नब्बे का दशक सेकुलरवाद पर महाविवाद का दशक इसलिए भी था कि उस दौरान यह बहस केवल अकादमीय दायरों तक सीमित नहीं थी। हिंदी बोलने-बरतने वाले तक्ररीबन चालीस करोड़ लोगों की बौद्धिक और सांस्कृतिक दुनिया में भी ये तर्क-वितर्क चल रहे थे। हिंदी के प्रमुख बुद्धिजीवियों द्वारा की जाने वाली यह चर्चा अंग्रेजी में लिखने-बोलने वाले समाज वैज्ञानिकों के बीच होने वाले सवाल-जवाब से भिन्न थी। समाज वैज्ञानिकों का विश्लेषण अगर सेकुलरवाद के समर्थन या विरोध का पैतरा लेकर सामने आ रहा था, तो हिंदी के बुद्धिजीवियों का प्रस्थान बिंदु मुख्यतः साम्प्रदायिक राजनीति के बरक्स सेकुलरवाद का समर्थन ही था। दिलचस्प बात यह थी कि वे एक नहीं बल्कि कई तरह के सेकुलरवादों की पैरोकारी कर रहे थे, लेकिन उनकी इस भिन्नता में भारतीय सेकुलरवाद के मॉडल के बारे में एक समान समझ भी देखी जा सकती थी।

एक-दो अपवादों को छोड़ कर इन सभी की मान्यता थी कि भारतीय सेकुलरवाद का मॉडल त्रुटिपूर्ण है और उसके मुताबिक्र किया गया भारतीय राज्य का आचरण भी सेकुलरवाद की भावना के मुताबिक्र नहीं है। ज़ाहिर है कि उनकी टिप्पणियाँ सेकुलरवाद की संरचना पर न हो कर उसके सार पर थीं। बहस में भाग लेने वाले पत्रकारों, साहित्यकारों और संस्कृतकर्मियों को उनके असंख्य पाठकों के बीच ज़बरदस्त वैधता प्राप्त थी। हिंदी क्षेत्र का यह चिंतन किसी दक्षिण, वाम या उदारतावादी विचारधारा के आधार पर की गयी निर्मिति नहीं था। इसमें मार्क्सवादी आवाज़ें थीं, वामपंथी-जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन के पुराने सिपहसालार शामिल थे। लोहिया और जयप्रकाश नारायण में अपनी राजनीतिक विरासत खोजने वाले लोगों के साथ-साथ इसमें गाँधी के प्रति भक्ति और श्रद्धा से आप्लावित स्वर भी शामिल थे। नेहरू का गुणगान करने वालों की भी इस विमर्श में भागीदारी थी। समाज-विज्ञान में प्रशिक्षित न होने के कारण इन लोगों में सैद्धांतिक सजगता का अभाव था, पर उनकी बातें नकारी नहीं जा सकती थीं क्योंकि उनमें देश के सबसे बड़े सांस्कृतिक भू-भाग का मानस झलक रहा था। आखिरकार इसी क्षेत्र को रामजन्मभूमि आंदोलन के ज़रिये हिंदुत्ववादी ताक़तों ने अपनी प्रयोगस्थली बनाया था।

एकाधिक सेकुलरवादों की यह झलक अंग्रेजी के

सेकुलरिज़म शब्द के विभिन्न हिंदी अनुवादों में देखी जा सकती थी। हर अनुवाद अलग तरह की राजनीतिक और सामाजिक समझ की नुमाइंदगी कर रहा था। मसलन, जो बुद्धिजीवी सेकुलरिज़म को धर्मनिरपेक्षता लिखना चाहते थे, वे राज्य को धर्म से पूरी तरह निरपेक्ष रखने के लिए प्रतिबद्ध थे। उनकी निगाह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख और बौद्ध आदि सभी समुदायों के बीच फ़र्क नहीं करती थी। राज्य धर्म से निरपेक्ष तभी रह सकता था जब राजनीति का धर्म से पूरी तरह बहिष्करण कर दिया जाता। ऐसे बुद्धिजीवियों का रुझान घोषित-अघोषित रूप से काफ़ी-कुछ मार्क्सवादियों से मिलता-जुलता था। कुछ दूसरे क्रिस्म के बुद्धिजीवियों का आग्रह था कि वे सेकुलरिज़म को पंथनिरपेक्षता लिखेंगे। ये लोग राज्य को पंथों से अलग रखने के पक्षधर थे। धर्म की जगह पंथ का इस्तेमाल करने के पीछे उनकी मंशा थोड़ी पेचीदा थी। वे मान कर चल रहे थे कि हिंदू एक धर्म है, जबकि बाक़ी सभी (इसलाम, ईसाइयत, सिक्ख, बौद्ध, जैन आदि) पंथ हैं। हिंदू धर्म असंगठित, सहिष्णु और बहुदेववादी होने के साथ-साथ कहीं गहरे और व्यापक अर्थों में मनुष्य के कर्तव्य का आधार है और राजनीति किसी भी तरह से कर्तव्य निरपेक्ष नहीं हो सकती। जबकि बाक़ी सभी समुदाय किसी न किसी पंथ को मानने वाले हैं जो सामी, एकेश्वरवादी और संगठित क्रिस्म के सम्प्रदाय हैं। राज्य और राजनीति को इनसे निरपेक्ष रहना चाहिए। हिंदी के बुद्धिजीवियों की तीसरी श्रेणी सेकुलरिज़म को सर्वधर्म समभाव के रूप में अनूदित करना चाहती थी। ये लोग राज्य की सभी धर्मों से बराबर दूरी के समर्थक थे और उस लिहाज़ से उनकी मान्यता थी कि भारतीय राज्य को या तो किसी धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था या सभी में समान दखलंदाजी करनी चाहिए थी। सेकुलरिज़म शब्द के तीनों अनुवाद बता रहे थे कि हिंदी के बुद्धिजीवी सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल से असंतुष्ट हैं।

तक्ररीबन दो हजार पृष्ठों में फैले हुए इस विमर्श के प्रमुख हस्ताक्षर थे : प्रभाष जोशी, किशन पटनायक, राजेंद्र माथुर, खगेंद्र ठाकुर, राजेंद्र यादव, राजकिशोर और सच्चिदानंद सिन्हा। इसकी विषद समीक्षा अभय कुमार दुबे ने की और एक विचारोत्तेजक निष्कर्ष निकाला कि आम तौर पर हिंदी क्षेत्र के बुद्धिजीवी सेकुलरवाद की एक बहुसंख्यकवादी 'हिंदू' निर्मिति के पैरोकार हैं। उल्लेखनीय है कि यह हिंदू निर्मिति थी, न कि हिंदुत्ववादी। इसके तहत वामपंथियों के साम्प्रदायिकता विरोधी विमर्श में भी हिंदू-श्रेष्ठता राष्ट्रीयता के स्वाभाविक दावेदार के रूप में सूत्रीकृत होती है। इस हिंदू-श्रेष्ठता का अल्पसंख्यकों के प्रति दोहरा रवैया है। एक तरफ़ तो यह चाहती है कि अल्पसंख्यकों का झंझट खत्म किया जाना चाहिए पर बिना साम्प्रदायिक हुए। दूसरी तरफ़ वह चाहती है कि जब तक अल्पसंख्यक रहें तब तक उनके साथ

बराबरी का सुलूक किया जाए।

हिंदी के बुद्धिजीवियों की निगाह में अल्पसंख्यकों से किया जाने वाला यह बराबरी का सुलूक उन्हें पूर्ण नागरिकता का दर्जा देने का पर्याय था। लेकिन, इन बुद्धिजीवियों को शक था कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों (खासकर मुसलमानों) की शायद ही कोई सकारात्मक भागीदारी हो सकती है। अधिकतर हिंदी बुद्धिजीवियों की मान्यता थी कि मुसलमान स्वाभाविक रूप से कट्टरपंथी, दकियानूसी, गैर-आधुनिक और पिछड़े हुए हैं। इस गर्त से उनका निकलना भी मुश्किल है। सेकुलरवाद के संघर्ष में उनकी भागीदारी भी मुश्किल ही है। मुसलमानों को सेकुलर दायरे से स्थाई रूप से बाहर मान लेने के बाद हिंदी के बुद्धिजीवी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए दिख रहे थे कि सेकुलरवाद की स्थापना की लड़ाई तो हिंदुओं के बीच ही लड़ी जानी है। कट्टर हिंदू के खिलाफ उदार हिंदू का संघर्ष ही सेकुलरवाद का असली मोर्चा है।

हिंदी के बुद्धिजीवियों की यह समान समझ एक ही लहजे में व्यक्त नहीं होती। किसी के लेखन में यह नरम और समझदारपूर्ण लहजे में सामने आती है (जैसे किशन पटनायक)। पटनायक धर्मनिरपेक्षता के लिए पाँच घोषणापत्रों की रचना करते हैं जिसमें उनके तेरह सूत्र और आर्थिक राष्ट्रवाद को एक तरह की भावात्मक राष्ट्रीयता से आवेशित करने की वकालत दर्ज है। पर इस भावात्मक राष्ट्रीयता का मुसलमानों के लिए क्या तात्पर्य होगा या वे भारत माता के प्रतीक के साथ अपना सांस्कृतिक नाता कैसे जोड़ेंगे, यह स्पष्ट नहीं होता। दरअसल, इस विमर्श में जो चीज खामोश रह जाती है, वही सबसे ज्यादा मुखर है। इस विमर्श से मुसलमान लापता हैं। इसका पूरा संदर्भ हिंदू है। पटनायक के विपरीत प्रभाष जोशी के लेखन में यह समझ आक्रामक तेवर अपनाती है। पंथनिरपेक्षता या सम्प्रदायनिरपेक्षता के पैरोकार प्रभाष जोशी भारतीय सेकुलरवाद को 'सनातन धर्म' का पर्याय बनाने में भी संकोच नहीं करते। उनकी निगाह में धर्म को धारण करने वाले हिंदू राष्ट्रीयता के स्वाभाविक वाहक बन जाते हैं, और 'पंथ' को मानने वाले मुसलमानों के लिए अपनी राष्ट्रीयता साबित करने का कार्यभार बाक़ी रह जाता है।

हिंदी बुद्धिजीवियों का विमर्श बताता है कि मुसलमानों और इसलामी कट्टरता की रूढ़ छवि समाज में कितने गहरे बस चुकी है। संघ परिवार की राजनीति के खिलाफ संघर्ष करने वाले भी इसी रूढ़ छवि के प्रभाव में उसी विमर्श में अनजाने में साझा करते नज़र आते हैं जिसका विरोध करना उनका मक़सद है।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और

2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. प्रभाष जोशी (2003), *हिंदू होने का धर्म*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. राजेंद्र यादव (2003), *काँटे की बात* (ग्यारह खण्ड), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. राजेंद्र माथुर (2003), *सपनों में बनता देश* (दो खण्ड), सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. किशन पटनायक (2000), *विकल्पहीन नहीं है दुनिया*, राजकमल प्रकाशन, प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. सच्चिदानंद सिन्हा (1993), 'धर्मनिरपेक्षता : परम्परा और प्रासंगिकता', राजकिशोर (सम्पा.), *आज के प्रश्न : अयोध्या और उसके आगे*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. खगेंद्र ठाकुर (1993), 'सबसे अधिक मनुज मोहे भाए', *देशज*, प्रवेशांक, पटना.
7. राजकिशोर (1993), 'साम्प्रदायिकता से संघर्ष कैसे न करें', राजकिशोर (सम्पा.), *आज के प्रश्न : अयोध्या और उसके आगे*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
8. अभय कुमार दुबे (2005), 'सेकुलर 'हिंदू' वर्चस्व : अनुवाद, निरपेक्षता और समभाव की राजनीति', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेकुलरवाद : महाविवाद-7

आलोचना की आलोचना

(Secularism: Great Debate-7)

सेकुलरवाद की आलोचना में नंदी, मदन और पार्थ चटर्जी की रचनाएँ प्रकाशित हो जाने के बाद देर-सबेर सेकुलरवाद के समर्थकों द्वारा उन पर प्रत्याक्रमण होना ही था। लेकिन, जैसा कि हमने देखा कि इन तीनों विद्वानों को दिये गये जवाबों में आत्म-ऊहापोह भी निहित था। मार्क्सवादी खेमे से संबंधित विद्वानों को यह मानना पड़ा कि कोरे बुद्धिवाद और धर्म को जंजीरों में जकड़ने की कोशिशों के परिणाम अच्छे नहीं निकलेंगे। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भारतीय परिस्थितियों में व्यक्ति के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कुछ

अलग तरीके से चली है। उदारतावादी चिंतकों ने बहुसंख्यकवाद के प्रभाव में भारतीय राज्य के साम्प्रदायिकीकरण की परिघटना को रेखांकित किया और भविष्य में उससे बचने की तजवीजें कीं। सेकुलरवाद के भारतीय मॉडल के दायरे से समान नागरिक संहिता के बार-बार फ़िसल जाने को ध्यान में रखते हुए स्त्री अधिकारों के दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर पुनर्विचार भी किया गया। लेकिन, नंदी, मदन और चटर्जी के विमर्शों और उन पर की गयी इन तमाम अनुक्रियाओं के बावजूद भारतीय सेकुलरवाद के मॉडल की साफ़ तस्वीर नहीं उभर पायी। इस अंतराल को भरने का काम राजनीतिक दर्शन के विद्वान राजीव भार्गव ने किया। उन्होंने उदारतावादी मुकाम पर खड़े हो कर सेकुलरवाद की भारतीय निर्मिति का सवाल बड़ी कुशलतापूर्वक उठाया।

उनकी रचना 'गिविंग सेकुलरिज़्म इट्स ड्यू' केवल आलोचकों का जवाब दे कर ही नहीं रह गयी। उसने राजनीतिक सैद्धांतिकी का सहारा लेते हुए भारत के सेकुलरवाद के लिए उपयुक्त मॉडल की खोज करने की गम्भीर क़वायद की। उन्होंने आलोचनाओं के सकारात्मक पक्षों को स्वीकार करते हुए उनके सरलीकृत और एकतरफ़ा नज़रिये को रेखांकित किया।

भार्गव ने स्पष्ट रूप से कहा कि मदन और नंदी की आलोचना आधुनिकता का अंधविरोध करने वाले अति-सरलीकृत गाँधीवाद पर आधारित है। इन लोगों का बहुलतावाद पक्षपातपूर्ण है और वे पारम्परिक समुदायों की आपसी सहिष्णुता से कुछ ज़्यादा ही उम्मीद लगाये बैठे हैं। ये आलोचक परम्परा को दो अच्छी और ख़राब परम्परा में बाँट कर देखने के लिए तैयार हैं, पर आधुनिकता इन लोगों के ख़याल में केवल ख़राब ही है। आधुनिकता पर ये लोग अपना बहुलवाद लागू नहीं करते। इस लिहाज़ से इनका बहुलवाद एकतरफ़ा है। नंदी और मदन के आग्रह के विपरीत राजीव भार्गव ने दावा किया कि सेकुलरवाद धर्म को राजनीति से अनिवार्यतः अलग नहीं करता। वह धर्म विरोधी तो होता है, पर हर हालत में नहीं। इसलिए उसे केवल राज्य और चर्च के अलगाव की रोशनी में देख कर नहीं समझा जा सकता। राजनीति से धर्म के अलगाव के मतलब यह नहीं होता कि राज्य की सभी संस्थाओं से धर्म को एकदम अलग कर दिया जाए। दोनों के बीच कुछ सम्पर्क रह सकता है और साथ ही वे आपसी फ़ासला भी क़ायम रख सकते हैं। होना यह चाहिए कि धर्म और राजनीति न तो आपस में गुँथे रहें और न ही पूरी तरह से पृथक हो जाएँ।

भार्गव ने माना कि नंदी और मदन ने सेकुलरवाद के कुछ प्रचलित रूपों को ठीक ही आड़े हाथों लिया है, पर साथ ही सेकुलरवाद के कुछ अन्य रूपों को पहचानने तक से

इनकार कर दिया है। हकीकत यह है कि आजादी के बाद भारत ने सेकुलरवाद के जिस रूप को विकसित किया है, वह सभी धर्मों से अलगाव या समान फ़ासले के सिद्धांत पर आधारित नहीं है। भारत का सेकुलरवाद इंग्लैण्ड, फ़्रांस या अमेरिकी सेकुलरवाद जैसा नहीं है। उसे धर्मबहुल राज्य में विभिन्न धर्मों के बीच होने वाले या हो सकने वाले टकरावों को टालने और साधारण जनता के लिए सामाजिक सहअस्तित्व की गारंटी देने वाली परियोजना के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। नंदी और मदन सेकुलरवाद को जिस बात के लिए ख़ारिज करते हैं, दरअसल उसी बात के लिए उसकी सख़्त ज़रूरत है। आवश्यकता सेकुलरवाद के विकल्प की नहीं, वैकल्पिक सेकुलरवाद की है। भार्गव ने स्पष्ट किया कि भारतीय सेकुलरवाद को हिंदू-मुसलमान समस्या से निबटने के लिए ही पहले-पहल सूत्रबद्ध किया गया था। वह प्रयोजन आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसी लक्ष्य को वेधने के लिए भारतीय राज्य धर्मों से पूर्ण अलगाव या उनके साथ समान फ़ासला रखने के बजाय धर्मों से उसूली फ़ासले के सिद्धांत पर चलता है।

भार्गव ने उसूली फ़ासले के सिद्धांत की इस तरह व्याख्या की : इसके तहत राज्य धर्म और राज्य के बीच पार्थक्य के मामले में लचीला रवैया अपना कर देखता है कि किसी धर्म की प्रकृति, संदर्भ और मौजूदा स्थिति क्या है। वह राज्य में धर्म के हस्तक्षेप की इजाज़त देने के लिए तैयार हो सकता है, बशर्ते उसके ज़रिये स्वतंत्रता, समानता या सेकुलर मूल्यों को प्रोत्साहन मिलता हो। इसी आधार पर भारतीय राज्य तय करता है कि किस धर्म में कितना हस्तक्षेप करना है और किस धर्म के प्रति अ-हस्तक्षेप की नीति अख़्तियार करनी है। अपने ऐतिहासिक विकास और सामाजिक स्थिति के कारण कोई एक धर्म सेकुलर मूल्यों के लिहाज़ से राज्य के हस्तक्षेप के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है, जबकि किसी दूसरे धर्म में भिन्न स्थिति के कारण राज्य उसी तरह का क्रानूनी हस्तक्षेप न करने की निर्णय ले सकता है। उदाहरण के लिए सामाजिक समानता के सिद्धांत के मुताबिक़ राज्य को जातिगत ऊँच-नीच ख़त्म करने के लिए हिंदू धर्म में अधिक हस्तक्षेप करना चाहिए। उसी तरह धार्मिक विविधता क़ायम रखने के लिए इसलाम और ईसाइयत उसके अधिक हस्तक्षेप का पात्र होना चाहिए। ज़ाहिर है कि राज्य सभी धर्मों में एक ही तरह और बराबर का हस्तक्षेप करने या न करने का निर्णय नहीं ले सकता। ज़ाहिर है कि इसके लिए राज्य को कुछ निश्चित मूल्यों और सिद्धांतों के मुताबिक़ एक ग़ैर-संकीर्ण रवैया अपनाते हुए अलग-अलग धर्मों की स्थिति के मुताबिक़ उनमें हस्तक्षेप का विवेकसम्मत अख़्तियार करना होगा।

वैसे भी कई क्रानून किन्हीं ख़ास धार्मिक प्रथाओं और रिवाज़ों को सेकुलर मूल्यों के हिसाब से तरमीम करने के

लिए बनाये जाते हैं, और उनका प्रयोग दूसरे धर्मों पर नहीं होता जहाँ वे रीति-रिवाज प्रभावी नहीं होते। मसलन, देवदासी प्रथा को प्रतिबंधित करने वाला क़ानून ग़ैर-हिंदू धर्मों पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरे, उदारतावादी लोकतंत्र में कोई भी क़ानून जन-वैधता की माँग करता है। कम से कम उसके लिए समुदाय के प्रतिनिधियों की सहमति तो आवश्यक है ही। अगर किसी क़ानून के लिए केवल एक ही समुदाय के प्रतिनिधियों ने सहमति दी है तो बेहतर यही होगा कि केवल उसी समुदाय के लिए क़ानून बनाया जाए।

भार्गव ने पार्थ चटर्जी द्वारा उदारतावादी लोकतंत्र और आधुनिक राज्य की संस्थाओं की आलोचना के जवाब में कहा कि सेकुलरवाद की संगति सामुदायिक अधिकारों के विचार के साथ न बैठ पाने का उनका दावा ग़लत है। उसूली फ़ासले का सिद्धांत धर्मों के प्रति पूर्ण तटस्थता के दृष्टिकोण से तो अलग है ही, यह सभी धर्मों को समान भाव से देखने के विचार से भी भिन्न है। समभाव का सिद्धांत उसूली नहीं बराबरी के फ़ासले की प्रतिपादन करता है। यानी अगर राज्य किसी एक धर्म में निश्चित हस्तक्षेप करता है तो वह दूसरे धर्म में भी उतना ही हस्तक्षेप करे। दरअसल, उसूली फ़ासले के पीछे वैचारिक आग्रह यह है कि अगर सभी के साथ समानता का व्यवहार करना है तो उस समानता को वास्तविक बनाने के लिए समरूप नहीं बल्कि विवेकसम्मत विभेदीकृत व्यवहार का सहारा लेना होगा। मसलन, अगर किसी एक धार्मिक संस्कृति में कोई आचरण प्रतिबंधित या विनियमित है, तो उसूली फ़ासले के मुताबिक दूसरी धार्मिक संस्कृति में उसकी अनुमति दी जा सकती है अगर उसके सदस्यों के बीच उसके लिए सकारात्मक मान्यता प्रचलित है। सारी दुनिया में मुसलमान, सिक्ख या यहूदी ऐसी कई माँगें करते हैं। कई रिपब्लिकन या उदारतावादी सिद्धांतकारों को इन माँगों से दिक्कत होती है क्योंकि वे समान व्यवहार या समान स्वतंत्रता के हामी होते हैं। धार्मिक समूह न केवल राज्य से उनके मामलों में अ-हस्तक्षेप की नीति अपनाने की माँग कर सकते हैं, बल्कि वे राज्य से इस प्रकार का हस्तक्षेप करने की माँग भी कर सकते हैं जिसके तहत मिलने वाली विशेष सहायता के ज़रिये उन्हें वह उपलब्ध हो सके जो बहुसंख्यक या प्रधान समूहों को सहज रूप से प्राप्त होता रहता है। इसके अलावा धार्मिक समूह अपने अलग विवाह क़ानूनों की माँग कर सकते हैं, सम्पत्ति और उत्तराधिकार संबंधी भिन्न क़ानूनों का आग्रह कर सकते हैं। उसूली फ़ासले का सिद्धांत एक सेकुलर राज्य को गुंजाइश देता है कि वह धार्मिक समूहों को ऐसे क़ानूनों की मातहत में न रहने दे जो उन्हें अन्यायपूर्ण लगते हैं।

उसूली फ़ासले के सिद्धांत की व्याख्या करने के बाद भार्गव ने सवाल पूछा कि आज के भारत के लिए सेकुलरवाद का क्या तात्पर्य है और उसके तीन सम्भव जवाब भी दिये :

अल्पसंख्यक अधिकारों के पक्ष में मज़बूती से खड़ा होना, धर्मांधता के अलगाव में डालने के लिए धार्मिक सहिष्णुता के संसाधनों का इस्तेमाल करते हुए विभिन्न धर्मों में आंतरिक सुधारों को बढ़ावा देना, और व्यापक समान हित की पहले से मौजूद सभी गुंजाइशों को और मज़बूत करना।

देखें : आधुनिकता, आधुनिकीकरण, केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विनायक दामोदर सावरकर, विवेकानंद, स्त्री और साम्प्रदायिकता, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलर बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलर राष्ट्रवाद के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, हिंदुत्व।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2005), 'गिविंग सेकुलरिज़म इट्स ड्यू', राजीव भार्गव, *सेकुलरिज़म ऐंड इट्स क्रिटिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 1999 और हिंदी में : 'सेकुलरवाद का उद्देश्य और उसूली फ़ासले का सिद्धांत', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, लोकचिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
2. मार्क गैलेंटर (1999), 'हिंदुइज़म, सेकुलरिज़म ऐंड इण्डियन जुडीशियरी' और 'सेकुलरिज़म, ईस्ट ऐंड वेस्ट', राजीव भार्गव, *सेकुलरिज़म ऐंड इट्स क्रिटिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

सेलेब्रिटी

(Celebrity)

सेलेब्रिटी एक अस्मिता का नाम है। इस श्रेणी में कुछ ख़ास तरह से चर्चित हस्तियाँ ही आती हैं। हर मशहूर व्यक्ति सेलेब्रिटी नहीं होता। मसलन, फ़िल्म और खेल की दुनिया के सितारे, राजनीतिक नेता, कॉरपोरेट घरानों के अरबपति मालिक, धर्मोपदेशक या शाही परिवार के लोग सेलेब्रिटी की कोटि में नहीं आते। सेलेब्रिटी वह है जिसकी शिनाख़्त मीडिया द्वारा सेलेब्रिटी होने के नाते ही की जाए। मीडिया यह दर्जा अच्छा और कल्याणकारी काम करने वाले व्यक्ति को तो दे ही सकता है, वह किसी अपराधी या किसी दुर्घटना में संयोग से बच गये व्यक्ति को भी सेलेब्रिटी बना सकता है। बहुत ज़्यादा मोटा व्यक्ति या तेज़ी से वज़न घटाने में कामयाब

व्यक्ति भी सेलेब्रिटी हो जाता है। सेलेब्रिटी की ख्याति लम्बे अरसे तक भी चल सकती है, और उसकी उम्र केवल पंद्रह मिनट की भी हो सकती है। 'फ़िफ्टीन मिनट्स ऑफ़ फ़ेम' जैसा फ़िकरा ऐंडी वारहोल की देन है। सेलेब्रिटी को एक अनुकरणीय और सम्पूर्ण व्यक्तित्व की चमकदार मिसाल की तरह भी पेश किया जा सकता है, और स्केंडल में फँसने पर पतनशीलता और अनैतिकता के उदाहरण की तरह भी चित्रित किया जा सकता है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आम लोग उनसे प्रेम करते हैं या घृणा। सेलेब्रिटी 'नैतिकेतर' होती है, संक्रमणशील होती है। अगर मीडिया चाहता है तो दोनों ही हालात में उसका सेलेब्रिटी दर्जा ख़त्म नहीं होता। वह सेलेब्रिटीज़ को श्रेणियों में बाँट कर देखता है : ए, बी, सी और डी। ए श्रेणी में वे सेलेब्रिटी आते हैं जिनकी ख्याति अपेक्षाकृत स्थाई होती है, और डी श्रेणी में क्षणभंगुर ख्याति वालों को रखा जाता है। यह सूची इलाकों के हिसाब से बदलती रहती है। मसलन, फ़िल्म जगत में डी लिस्ट का सेलेब्रिटी अपने जातीय क्षेत्र के लिए ए लिस्ट का सेलेब्रिटी माना जा सकता है।

समकालीन आधुनिक समाजों के लिए अस्मिता एक अहम सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक मुद्दा है। 'मनोरंजन की संस्कृतियों' के उदय के कारण इन समाजों के लिए महज़ अस्मिताएँ उन हस्तियों से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं जो देश और समाज के लिए फ़ैसले लेने की ज़िम्मेदारी निभाते हैं या सामाजिक कार्रवाइयों का नेतृत्व करते हैं। ऊपर से देखने में सेलेब्रिटी और स्टार की संरचना एक सी लगती है, पर स्टार किसी विशिष्ट माध्यम (जैसे फ़िल्म, संगीत या खेल) की देन होता है। स्टार अपने-आप में एक महा-आख्यान है, जबकि सेलेब्रिटी उत्तर-आधुनिक स्थिति से निकलता है जिसमें छवियों के अति-उत्पादन, अति-प्रदर्शन, अति-दर्शन की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया के तहत कुछ चेहरों और कुछ ख़ास तरह की देहों को दूसरों के मुकाबले ज़्यादा पहचाना जाने लगता है। सेलेब्रिटी की परिघटना की नींव फ़ोटोग्राफ़ी और थिएटर के प्रचलन से पड़ी थी। आज के ज़माने में मीडिया का आकार और उसके विविध रूपों (टेलिविज़न अख़बार, रंगीन-चमकदार पत्रिकाएँ, मनोरंजन आधारित टीवी नेटवर्क) में हुई ज़बरदस्त बढ़ोतरी ने इस सम्भावना को धरती पर उतारा है। विद्वानों ने सेलेब्रिटी और स्टार में फ़र्क़ करते हुए कहा है कि सेलेब्रिटी ऐसी सामग्री और घटनात्मकता पर निर्भर होता है जो रोज़ाना की ज़िंदगी से आती है। इस लिहाज़ से सेलेब्रिटी उस समारोहप्रिय व्यक्ति का नाम है जिसकी गतिविधियों का संदर्भ साधारण या रोज़मर्रा का है। सेलेब्रिटी और मामूलीपन के बीच के रिश्ते ने कुछ विद्वानों से यह तक कहलवा दिया है कि एक परिघटना के तौर पर सेलेब्रिटी आम लोगों की जीत की

आदर्श नुमाइंदगी है। इसी बात को कुछ अन्य विद्वानों ने इस प्रकार भी कहा है कि सेलेब्रिटी होना आम की ख़ास जीत की नुमाइंदगी तो नहीं है, पर वह निजी ज़िंदगी और साधारण बातों के लोकप्रिय निरूपण की सम्भावनाओं का प्रतिनिधित्व ज़रूर है। सेलेब्रिटी की परिघटना से पहले सार्वजनिक जीवन पर पुरानी नैतिकताओं और अभिजन भद्रता का घिसा-पिटा मॉडल ही हावी रहता था।

कोई व्यक्ति सेलेब्रिटी कैसे बनता है, इस विषय में टीवी-अध्ययन के विद्वानों ने थोड़ा दिमाग़ खपाया है। हर सांस्कृतिक दायरे में सेलेब्रिटी रचना की अपनी अलग-अलग प्रक्रिया होती है। लेकिन, सेलेब्रिटी होने के लिए उस दायरे में विशिष्ट रूप से सफल होना ज़रूरी नहीं है। दरअसल, कामयाबी हासिल कर चुके लोग तो सेलेब्रिटी स्टेटस से परे चले जाते हैं। जोशुआ गोमसन की मान्यता है कि सेलेब्रिटी बनने की प्रक्रिया दो परस्पर विरोधी विमर्शों के ज़रिये चलती है : ये हैं लोकतांत्रिक और कुलीनवर्गीय विमर्श। लोकतांत्रिक विमर्श के मुताबिक़ किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना भी मामूली क्यों न हो, सेलेब्रिटी बनाया जा सकता है बशर्ते उसे मीडिया की तरफ़ से आगे बढ़ाने में कोई कसर न रखी जाए। कुलीनवर्गीय विमर्श कहता है कि सेलेब्रिटी वही बन सकता है जिसमें वैसा बनने की 'स्पेशल' क्वालिटी होती है। सेलेब्रिटी बनने-बनाने को परिभाषित करने वाली एक दलील यह भी है कि टीवी कार्यक्रमों के सफल फ़ार्मेट ('बिग ब्रदर', 'पॉप स्टार', 'पॉप आइडल' और 'फ़ेम एक्वैडेमी') सेलेब्रिटीज़ को जन्म देते हैं। सेलेब्रिटी की ख्याति ख़त्म हो जाती है, पर उस कार्यक्रम की लोकप्रियता जारी रहती है और वह नये-नये सेलेब्रिटी लोगों को पैदा करता रहता है।

भारत जैसे ग़ैर-पश्चिमी देशों में जब अमेरिकी टीवी कार्यक्रमों के देशी संस्करण मनोरंजन टीवी नेटवर्क पर पेश किये जाते हैं, तो मोटे तौर पर ऐसी ही प्रक्रिया चलती है। लेकिन साथ में उस पर क्षेत्रीय भावनाओं का काफ़ी असर होता है। 'अमेरिकन आइडल' के नमूने पर पिछले पाँच साल से चल रहे कार्यक्रम 'इण्डियन आइडल' के गायक प्रतियोगियों की तरफ़ से एसएमएस के ज़रिये दर्शकों के वोट बटोरने के लिए प्रांतीयता का लाभ उठाने की कोशिश की गयी। महाराष्ट्र, दक्षिण भारत और उत्तर-पूर्व के दर्शकों को इस बात का एहसास दिलाया गया कि उनके इलाक़े से आकर प्रतियोगिता के मंच पर पहुँचे गायक की पराजय दरअसल उनकी पराजय है। इस सांस्कृतिक राजनीति ने उत्तर-पूर्व के एक गायक को प्रतियोगिता जिताने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। इसके बाद से स्पर्धात्मक रियलिटी शो के प्रतियोगियों द्वारा यह रणनीति अपनाया आम हो गया है। कार्यक्रम के प्रोड्यूसर, उसके संचालक और वहाँ बैठाये गये निर्णायक भी इस तरह की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते प्रतीत



सैयद अहमद खाँ (1817-1898)

होते हैं। टीवी सेलेब्रिटी बनने का यह ग़ैर-पश्चिमी संदर्भ इस उत्तर-आधुनिक प्रक्रिया का पारिवेशिक संस्करण माना जा सकता है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्सुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्सुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, प्रलेश-बैंक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जे. गोमसन (2005), 'द एसेम्बली लाइन ऑफ़ ग्रेटनेस : सेलेब्रिटी इन ट्वेंटीथ सेंचुरी अमेरिका', *क्रिटिकल स्टडीज़ इन मास कम्युनिकेशन*, खण्ड 9, अंक 1.
2. एस. होम्स और एस. रेडमण्ड (सम्पा.) (2006), *स्टारडम एंड सेलेब्रिटी : अ रीडर*, सेज, लंदन.
3. रिचर्ड शिकेल (1985), *इंटीमेट स्ट्रेंजर्स : द कल्चर ऑफ़ सेलेब्रिटी*, डबलडे, न्यूयॉर्क.
4. एल. ब्रांडी (1986), *द फ्रेंजी ऑफ़ द रिनाउन : फ़ेम एंड इट्स*

हिस्ट्री, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

सेवानिवृत्ति

(Retirement)

सेवानिवृत्ति व्यक्ति के जीवन की एक ऐसी संक्रमण अवस्था की ओर इंगित करती है जिसमें उसकी जीविका का स्रोत स्थाई रोज़गार के बजाय पेंशन हो जाती है। आम तौर पर सेवानिवृत्ति को आयु के साथ भी जोड़ कर देखा जाता है। लेकिन इसका बुजुर्गियत की प्राकृतिक प्रक्रिया से ज्यादा लेना देना नहीं है। वास्तव में आयु और सेवानिवृत्ति की समीकरण राज्य और बाज़ार द्वारा निर्धारित की गयी है। जिसके पीछे मक़सद यह दिखायी पड़ता है कि आयु के एक निश्चित पड़ाव के बाद व्यक्ति को स्थाई रोज़गार की आश्वस्त के बदले कुछ संचित और नियमित लाभ दे दिये जाए ताकि रोज़गारहीन होने पर वह दूसरों पर आश्रित न रहे। सेवानिवृत्ति के बाद मिलने वाली पेंशन के साथ कई देशों में सेवानिवृत्त व्यक्ति को सार्वजनिक और निजी बीमा व्यवस्था के ज़रिये स्वास्थ्य सेवाएँ और दीगर लाभ भी मुहैया कराये जाते हैं। लेकिन इसे सेवानिवृत्ति का सार्वभौमिक लक्षण नहीं माना जा सकता।

सेवानिवृत्ति के साथ पेंशन के रूप में अर्जित आय की निश्चितता को आमतौर पर एक पूर्वनिर्धारित तथ्य माना जाता है लेकिन पिछले दो तीन दशकों में यह घटक लगातार कमज़ोर पड़ता गया है। इस दौरान बुजुर्गों की आबादी में वृद्धि, राजकोषीय चुनौतियों की विकरालता, वैश्विक स्तर पर अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन तथा परिवार और घर की संरचना में होने वाले बदलाव आदि के मद्देनज़र आय और स्वास्थ्य की नीतियों का ढाँचा बुनियादी तौर पर बदल गया है। एक संस्था के तौर पर सेवानिवृत्ति भी इन संरचनात्मक बदलावों से अछूती नहीं रही है।

इन बदलावों को अमेरिका के हवाले से समझना ज्यादा सार्थक होगा। यहाँ अमेरिका का उदाहरण इसलिए भी दिया जा रहा है क्योंकि पिछले दो तीन दशकों और खास तौर पर वैश्विक अर्थव्यवस्था के एकीकरण यानी भूमण्डलीकरण के बाद विश्व के अधिकांश विकासशील देशों में सेवानिवृत्ति की संस्था में आने वाले बदलाव कमोबेश अमेरिकी ढर्रे से संचालित रहे हैं। बीसवीं सदी के दौरान अमेरिका में रोज़गार

के क्षेत्र में बुजुर्ग व्यक्तियों की भागीदारी लगातार गिरती गयी है। इसके पीछे खराब स्वास्थ्य और बेरोज़गारी को प्रमुख कारण माना जाता है। लेकिन इसके साथ यह जानना भी जरूरी है कि बुजुर्ग आबादी के श्रम बाज़ार से पलायन करने के पीछे एक अहम वजह यह भी रही है कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में पेंशन की व्यापक व्यवस्था की गयी थी। सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, 1935 द्वारा सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष तय की गयी थी। यह मानक आगामी कई दशकों तक क्रायम रहा। उक्त अधिनियम में पेंशन की व्यवस्था करने के लिए कर्मचारी की आयु, नौकरी की अवधि, तथा आय के स्तर को आधार बनाया गया था। कर्मचारियों के लिए यह एक ऐसी आश्वस्ति थी जिसके कारण वे औपचारिक रूप से सेवानिवृत्ति की आयु तक या सामाजिक सुरक्षा का लाभ पाने की अर्हता हासिल करने तक नौकरी करते रहते थे। लेकिन निजी क्षेत्र में पेंशन की सुविधा कुछ खास क्षेत्रों जैसे मैन्युफैक्चरिंग, संचार, परिवहन तथा वित्तीय और व्यवसायगत क्षेत्रों में ही उपलब्ध थी। पेंशन के लिहाज़ से सेवा और व्यापार के क्षेत्र बहुत अनुकूल नहीं माने जाते थे।

छठे दशक में सेवानिवृत्ति की इस संस्था में दो विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं। पहली प्रवृत्ति से यह उजागर हुआ कि सेवानिवृत्त बुजुर्गों का एक वर्ग विपन्नता में जी रहा है। आँकड़ों के अनुसार उस समय औसतन तीन बुजुर्गों में एक बुजुर्ग गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहा था। इसलिए इस समूह की दिक्कतें दूर करने के लिए आगामी वर्षों में सामुदायिक स्तर पर स्वास्थ्य, आर्थिक सुरक्षा जैसे कई कार्यक्रम शुरू किये गये। सेवा निवृत्ति की आयु 62 कर दी गयी ताकि बुजुर्गों को सेवानिवृत्ति के लाभ जल्दी मिलने शुरू हो जाएँ। 1972 में सामाजिक सुरक्षा क़ानून के दायरे से बाहर पड़ने वाले बुजुर्ग लोगों के लिए आय सृजन का एक और कार्यक्रम शुरू किया गया।

इन कार्यक्रमों के लागू होने के बाद निम्न आय वर्ग में समय से पहले ही सेवानिवृत्त हो जाने का चलन बढ़ने लगा। उल्लेखनीय है कि इस वर्ग में मुख्यतः अल्पसंख्यक और महिलाएँ शामिल थीं। अध्ययन से इस बात का भी पता चला कि सेवानिवृत्ति के बाद ऐसे समूहों के अधिकांश सदस्य गरीबी के सीमांत पर मँडरते रहते हैं। अध्ययन के मुताबिक इनमें बहुत से लोग विकलांगता और बेरोज़गारी के आधार पर सामाजिक सुरक्षा का दावा करते पाये गये थे। चिकित्सा और रोज़मर्रा के बढ़ते ज़ेब खर्च के कारण ऐसे बुजुर्गों की जीवन स्थितियाँ लगातार बदतर होती जा रही थीं।

इस काल की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति पेंशन पर जीवन यापन करने वाले एक समृद्ध वर्ग का उभार था। बुजुर्गों का यह एक ऐसा समूह था जो पेंशन की उदार नीतियों से

लाभान्वित हुआ था। ग़ौरतलब है कि पेंशन की कुछ योजनाएँ स्वास्थ्य बीमे से भी जुड़ी थीं। बढ़ी हुई पेंशन तथा सामाजिक सुरक्षा से मिलने वाले लाभों से कर्मचारियों में जल्दी सेवानिवृत्त हो जाने का चलन तेज़ हुआ। जो पुरुषों में लगभग नौवें दशक तक जारी रहा। जबकि महिलाओं में समय पूर्व सेवानिवृत्ति लेने की प्रवृत्ति 1985 तक शीर्ष पर पहुँच चुकी थी। उसके बाद इस दर में ज़बरदस्त कमी आयी है।

सेवानिवृत्ति के लाभ और सुरक्षा में आठवें और नवें दशक के बीच व्यापक गिरावट आयी है। इस बीच नियोक्ता और कर्मचारी के संबंधों में एक संरचनात्मक बदलाव आया है। एक समय नियोक्ता और कर्मचारी के बीच का यह संबंध दीर्घ अवधि के लिए और स्थाई होता था। वास्तव में रोज़गार के स्थायित्व को औद्योगिक तथा संबंधित क्षेत्रों का एक अहम लक्षण माना जाता था। लेकिन उक्त अवधि में रोज़गार का ढाँचा पूरी तरह बदल गया। स्थाई कर्मचारियों की जगह आउटसोर्सिंग लेने लगी यानी उत्पादन का काम वहाँ भेजा जाने लगा जहाँ श्रम और मज़दूरी की दर सस्ती होती थी। वैश्विक बाज़ार में बढ़ती प्रतिस्पर्द्धा और अर्थव्यवस्था के नये ढाँचे चलते रोज़गार के लिए तात्कालिक और ज़रूरत के हिसाब से प्रबंधन विकसित किया जाने लगा।

रोज़गार और उद्योगों के प्रबंधन में होने वाले इन बदलावों से पेंशन की व्यवस्था भी अप्रभावित नहीं रह सकती थी। लिहाज़ा इस दौर में पेंशन के नये-नये रूप सामने आये। जो उसके पारम्परिक लाभों से क़तई भिन्न थे। पेंशन की नयी व्यवस्था में पेंशन के लिए बचत करने की ज़िम्मेदारी खुद कर्मचारी पर डाल दी गयी तथा इस बचत को स्टॉक, बॉन्ड, रीयल एस्टेट और सम्पत्ति के ऐसे ही अन्य रूपों के साथ जोड़ दिया गया। इन समस्त चीज़ों का प्रबंधन खुद कर्मचारियों को करना पड़ता था। जाहिर है कि इन बदलावों के मद्देनज़र पेंशन में निहित आय की निश्चितता और नियमितता का पहलू कमज़ोर होने लगा। उसके निर्धारण में आय, नौकरी की अवधि, और आयु के पहले की तरह महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये। यानी अब पेंशन को लेकर लोग पहले की तरह आश्वस्त नहीं हो सकते थे। अगर पेंशन के मौजूदा स्वरूप को परिभाषित करने का प्रयास किया जाए तो उसका बुनियादी सूत्र यह होगा कि फ़िलहाल आय की जिस सुरक्षा को पेंशन कहा जाता है वह रोज़गार के दौरान कर्मचारी की आय की ऐच्छिक कटौती और योगदान की संचित राशि होती है। अब वह पहले की तरह निरापद नहीं रह गयी है। उसके साथ कई तरह के जोखिम जुड़ चुके हैं।

नवें दशक में जब स्टॉक मार्केट अपने शीर्ष पर था तो बहुत सारे कर्मचारियों ने बड़े पैमाने पर नौकरी को अलविदा कह दिया था। उस दौर में कर्मचारी लगातार नौकरी छोड़ रहे थे लेकिन उस बुलबुले के फूटते ही लोग सेवानिवृत्ति का

समय टालने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि आगामी समय में सेवानिवृत्ति को टालने की यह प्रवृत्ति और मजबूत होगी। निर्धारित समय से पहले तथा सामान्य सेवानिवृत्ति की अवधि और जीवन प्रत्याशा सभी में वृद्धि हो रही है। इससे यह आशंका बढ़ने लगी है कि भविष्य में पेंशन और स्वास्थ्य बीमे की व्यवस्था कहीं और भी कमजोर न हो जाए।

सेवानिवृत्ति के वैश्विक संदर्भ पर नज़र डालें तो जाहिर होता है कि युरोप के अन्य विकसित देश बुजुर्गों की आबादी में इजाफ़े और समय पूर्व सेवानिवृत्ति लेने की परिघटनाओं से अमेरिका से पहले ही रूबरू हो चुके थे। युरोप में प्रजनन की दर अमेरिका से पहले ही कम हो चुकी थी। इसके अलावा वहाँ श्रमशक्ति के स्वरूप को बदलने के सायास प्रयास भी किये जा रहे थे। मसलन, युरोप में रोज़गार में युवाओं को जगह देने के लिए बाकायदा एक नीति बनायी गयी जिसका मक़सद नौकरी शुदा लोगों को समय पूर्व सेवानिवृत्ति लेने के लिए प्रोत्साहित करना था।

फ़िलहाल स्थिति यह है कि विकसित देशों में सेवानिवृत्ति से जुड़ी नीतियाँ संक्रमण के गहरे दौर से गुज़र रही हैं। अब वहाँ समय पूर्व सेवानिवृत्ति लेने वालों को हतोत्साहित किया जा रहा है। इंग्लैण्ड और जर्मनी में सेवानिवृत्ति की उम्र 65 वर्ष कर दी गयी है। अमेरिका में भी सेवानिवृत्ति की सामान्य उम्र 65 वर्ष ही रखी गयी है लेकिन पेंशन पाने के लिए न्यूनतम आयु 62 वर्ष होनी चाहिए। जापान और आस्ट्रेलिया में हालाँकि समय पूर्व सेवानिवृत्ति के विकल्प को कायम रखा गया है परंतु सेवानिवृत्ति की सामान्य उम्र वहाँ भी 65 वर्ष ही है। कल्याणकारी योजनाओं के लिहाज़ से सबसे ज्यादा जनपक्षधर माने जाने वाले स्वीडन में भी समय पूर्व सेवानिवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए सेवानिवृत्ति के लाभों को कर्मचारी के व्यक्तिगत योगदान से जोड़ने की योजनाएँ बनायी गयी हैं ताकि लोगबाग समयपूर्व सेवानिवृत्ति के बारे में न सोचें।

संक्षेप में, फ़िलहाल सेवानिवृत्ति की नीति समूची दुनिया में बुनियादी बदलावों से गुज़र रही है। स्पेन और चीन जैसे देशों में जेंडर निरपेक्ष योजनाओं को बढ़ावा दिया जा रहा है। इन देशों का ज्यादा जोर आर्थिक विकास पर है और वे अधिक से अधिक नागरिकों को औपचारिक अर्थव्यवस्था में समाहित करना चाहते हैं। लेकिन आर्थिक विकास के इन दबावों के परे आबादी में बुजुर्गों की बढ़ती संख्या तथा रोज़गार में महिलाओं की बढ़ती हिस्सेदारी सेवानिवृत्ति की नीतियों के तई एक नये तरह का संदर्भ बनती जा रही है।

अर्थव्यवस्था के इस वैश्विक समायोजन का अल्पविकसित और विकासशाली देशों पर भी असर देखा जा रहा है। अगर भारत जैसे विकासशील देश की स्थिति पर विचार करें तो पता चलता है कि यहाँ 2004 में सार्वजनिक

क्षेत्रों के रोज़गार में पेंशन की व्यवस्था ख़त्म कर दी गयी। इससे पहले गोल्डन हैंडशेक जैसी ऐच्छिक सेवानिवृत्ति की योजनाएँ भी सरकार द्वारा प्रचारित की गयीं। इसके तहत किसी कर्मचारी को उसकी नौकरी के शेष वर्षों की राशि का एकमुश्त भुगतान कर दिया जाता था। एक तरह से यह अर्थव्यवस्था के वैश्विक पुनर्संयोजन का ही परिणाम था। भारत में निजी क्षेत्र में भी पेंशन की व्यवस्था की गयी है लेकिन उसका ढाँचा कमोबेश अमेरिका जैसा ही है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, धर्म, प्राइवेट, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र- 1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. डी. कोस्टा (1998), *द इवोल्यूशन ऑफ रिटायरमेंट : एन अमेरिकन इकोनॉमिक हिस्ट्री 1880-1990*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. जी. एस्पिंग एंडरसन (1999), *द सोशल फ़्रॉन्टियर ऑफ़ पोस्ट-इण्डस्ट्रियल इकोनॉमिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. ए. गस्टमैन और टी.एल. स्टीनमेयर (2002), *रिटायरमेंट ऐंड स्टॉक मार्केट बबल*, एनबीईआर वर्किंग पेपर 9494, नैशनल ब्यूरो ऑफ़ इकोनॉमिक रिसर्च, केम्ब्रिज, एम.ए.

— नरेश गोस्वामी

सैयद अहमद ख़ाँ

(Syed Ahmad Khan)

सर सैयद के सम्बोधन से विख्यात सैयद अहमद ख़ाँ (1817-1898) भारतीय आधुनिकता के अग्रदूतों में से एक थे। उन्होंने दक्षिण एशिया के मुसलमान समुदाय के आधुनिकीकरण में प्रमुख भूमिका निभायी। सर सैयद की प्रचलित छवि ख़ासी विरोधाभासी है। जहाँ एक ओर उन्हें अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय का संस्थापक, मुसलिम धर्म सुधारक, मुसलिम नवजागरण की मशाल और राष्ट्रवादी चिंतक माना जाता है, तो वहीं दूसरी ओर मुसलमानों के उच्च वर्ग और अशराफ़ हितों का संरक्षक, अंग्रेज़ों का वफ़ादार, उर्दू-हिंदी की लड़ाई का सक्रिय सिपाही, मुसलिम पृथक्तावाद का अगुआ और पाकिस्तान के विचार का अग्रदूत भी कहा जाता है। इन विरोधाभासी मगर स्थापित छवियों के आईने में आम तौर पर हमारा परिचय या तो मसीहा सर सैयद से होता है या फिर इलीट सर सैयद से। सेकुलरवाद की

हिंदुस्तानी बहस के बाद तो स्थिति यह हो गयी है कि सर सैयद के कृतित्व पर बात करने से अधिक ऊर्जा उन्हें राजनीतिक तौर पर सही या गलत साबित करने में लगाई जाने लगी है। यही कारण है कि आज सर सैयद के विचारों की गतिशीलता और उनकी राजनीतिक में आये बदलाव का सटीक पुनर्मूल्यांकन पहले से ज्यादा प्रासंगिक हो गया है।

सर सैयद का जन्म 17 अक्टूबर, 1817 को दिल्ली में हुआ था। वे सम्भ्रांत सैयद परिवार से ताल्लुक रखते थे। उनके पूर्वज मुगल दरबार में उच्च पदों पर कार्यरत रहे थे। तत्कालीन मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र से भी उनके अच्छे संबंध थे। अपने पिता की मृत्यु के बाद 22 वर्ष की उम्र में सर सैयद ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क की नौकरी शुरू कर दी। वे कम्पनी के कर्मचारी के तौर पर काफ़ी सफल रहे और उन्हें नियमित तरक्की मिलती रही।

1840-58 का समय सर सैयद के वैचारिक रुझानों को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल की उनकी दो मुख्य रचनाएँ *असर-उस-सनादीद* (1847) और *असबाब-ए-बगावत* (1860), हमारा परिचय सर सैयद की आरम्भिक आधुनिकता से कराती हैं। *असर-उस-सनादीद* दिल्ली के ऐतिहासिक स्मारकों के इतिहास और दिल्ली शहर की विशिष्ट संस्कृति पर लिखी गयी सबसे पहली किताबों में से एक है। दिलचस्प बात यह है इस किताब में सर सैयद का उद्देश्य हिंदुतान के मुसलमानों का इतिहास लिखना नहीं है। न ही वे दिल्ली की तारीखी इमारतों को हिंदू या मुसलमान साबित करने की कोशिश करते हैं। इसके विपरीत वे तारीखी इमारतों को उनके निर्माण काल और उनके निर्माण करवाने वाले शासकों की श्रेणियों में बाँट कर शहर का एक सिलसिलेवार इतिहास पेश करते हैं। दरअसल, *असर-उस-सनादीद* अपने आप में एक मुकम्मल आधुनिक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। अपने तर्क को पुख्ता करने के लिए सर सैयद ऐतिहासिक स्रोतों और इमारतों के रेखा-चित्रों का इस्तेमाल करते हैं ताकि पाठक इमारत का इतिहास और वर्तमान दोनों से परिचित हो सके। पुस्तक का आखिरी भाग शहर की तत्कालीन मौजूदा संस्कृति पर आधारित है जिसमें दिल्ली के लोगों के रहन-सहन और रिवाजों की चर्चा है। उल्लेखनीय है कि पुस्तक में सर सैयद एक देहलवी (दिल्ली वाला) या हिंदुस्तानी लेखक के तौर पर ज्यादा उभर कर आते हैं, न कि किसी मुसलमान सुधारक के तौर पर।

1857 का विद्रोह सर सैयद के वैचारिक राजनीतिक जीवन में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। वे विद्रोह के मुखालिफ़ थे; लेकिन उनका ब्रिटिश समर्थन व्यक्तिगत हितों की पूर्ति करने वाली चापलूसी क़तई नहीं कहा जा सकता। इस का सबसे बड़ा प्रमाण है उनकी पुस्तक *असबाब-ए-बगावत*। यह पुस्तक ब्रिटिश प्रशासन की उन कमज़ोरियों

और ग़लतियों को उजागर करती है जिनके कारण असंतोष और देशव्यापी विरोध पनपा था। उल्लेखनीय है कि यह पुस्तक मुसलमान या हिंदू दृष्टिकोण के बजाय एक व्यापक भारतीय पक्ष प्रस्तुत करती है। सर सैयद का मूल तर्क यह है कि कम्पनी सरकार ने अपनी विस्तारवादी नीति के कारण हिंदुस्तानियों की जायज़ माँगों और ज़रूरतों को नज़रअंदाज़ किया। नतीजा यह हुआ कि लोगों में असंतोष बढ़ता चला गया।

ऐसा नहीं है कि सर सैयद हिंदू और मुसलमान जैसी श्रेणियों का ज़िक्र नहीं करते, या मुसलमानों पर लगे इल्ज़ामों का जवाब नहीं देते। वास्तव में वे मज़हबी समुदायों को साम्प्रदायिक समूहों के रूप में नहीं देखते। उनके लिए हिंदू और मुसलमान मज़हबी समूह भी हैं और साथ ही साथ हिंदुस्तानी भी। समुदायों की इस बारीक समझ के कारण उनके विश्लेषण की परिधि व्यापक रहती है और तर्क सटीक होते चले जाते हैं। यही वजह है कि उनकी ब्रिटिश नीतियों की आलोचना कोई लफ़्फ़ाजी या राजनीतिक नारा नहीं लगती। सर सैयद के तर्क विश्लेषण पर आधारित हैं जिसमें उनका राजनीतिक धैर्य और सहनशीलता साफ़ झलकती है।

1861 तक आते आते ब्रिटिश भारत की राजनीति का एक दूसरा अध्याय शुरू होता है। हाल के वर्षों में हुए शोध (विशेषकर सबाल्टर्न इतिहास-लेखन) यह बताते हैं कि 1858 के बाद औपनिवेशिक राज्य ने भारत में नयी आधुनिक शासकीय तकनीकों के ज़रिये अपना वर्चस्व स्थापित करना शुरू किया। भारतीय समुदायों की मज़हबी जनगणना ने पहली बार भारत में बसने वाले अनगिनत धार्मिक पंथों को सिर्फ़ और सिर्फ़ हिंदू, मुसलमान और सिख बना दिया। नतीजतन राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए बहुसंख्यक / अल्पसंख्यक जैसी शब्दावली का इस्तेमाल शुरू हो गया और मज़हबी संख्या भारतीय राजनीति का प्रमुख विमर्श बन गयी। सर सैयद के इस समय के लेखन और राजनीतिक गतिविधियों को इन दूरगामी परिवर्तनों के बरक्स रखना ज़रूरी है। 1860 से 1880 तक सर सैयद के लेखन और राजनीतिक गतिविधियों से पता चलता है कि हिंदुतानी मुसलमानों की विशिष्ट मज़हबी और सामाजिक पहचान को परिभाषित करना उनके लिए एक प्रमुख राजनीतिक प्रोजेक्ट बन चुका था। इस काल में वे इंग्लैण्ड/यूरोप का सफ़र कर चुके थे, साइंटिफ़िक सोसाइटी और अलीगढ़ स्कूल की स्थापना हो चुकी थी और उर्दू-हिंदी की बहस राजनीतिक रंग लेने लगी थी। इन घटनाओं पर काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है। इसलिए ज़रूरी है कि इन घटनाओं और सर सैयद के लेखन के अंतर्संबंधों को देखा जाए। इस विषय में दो बातें उल्लेखनीय हैं : पहला, सर सैयद का इसलामी नज़रिया और दूसरा उनका राजनीतिक दृष्टिकोण।

सर सैयद इसलामी इतिहास की एक बेहद दिलचस्प समझ पेश करते हैं। वे इसलाम के इतिहास को मोटे तौर पर तीन हिस्सों में बाँटते हैं : मुहम्मद साहब और उनके अनुयायियों का समय, इसलाम के प्रसार और पतन का इतिहास और हिंदुस्तानी मुसलमानों का वर्तमान। इतिहास के ये तीन हिस्से जहाँ एक ओर इसलाम के आरम्भिक काल को आदर्श समाज के मॉडल के रूप में स्थापित करते हैं, वहीं दूसरी ओर यह काल-विभाजन इसलाम के उदय और पतन की स्थापित ब्रिटिश कहानी से आगे ले जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सर सैयद का यह इतिहास बोध उन्नीसवीं सदी की उभरती मुसलिम आधुनिकता के लिए बौद्धिक स्रोत बन जाता है।

अपने एक लेख में सर सैयद कहते हैं कि इसलाम के खलीफ़ा की सम्प्रभुता हिंदुस्तानी मुसलमानों पर नहीं चलती। उनके अनुसार हिंदुस्तानी मुसलमान ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक हैं जहाँ उन्हें पूरी मज़हबी आज़ादी है। यह वक्तव्य इस तथ्य का परिचायक है कि सर सैयद हिंदुस्तानी मुसलमानों के वर्तमान को किसी भी तरह की इसलामी सत्ता या पुरातन संस्था से जोड़ना नहीं चाहते। लेकिन वे इस बात के लिए भी पूरी तरह सजग हैं कि हिंदुस्तानी मुसलमान विश्वव्यापी इसलामी समुदाय का अभिन्न अंग हैं। उनका मत है कि इसलाम की सांस्कृतिक और मज़हबी एकता और हिंदुस्तानी मुसलमानों के आधुनिक राजनीतिक हित दो अलग-अलग विमर्श हैं जिन्हें मिलाना न तो सम्भव है और न ही व्यावहारिक।

सर सैयद के बदलते विचारों का दूसरा पक्ष भारतीय राजनीतिक संदर्भों की विशिष्टता से संबंधित है। मोहम्मडन एजुकेशन कांफ़्रेंस की लखनऊ बैठक (28 दिसम्बर, 1888) में दी गयी तक्ररीर में सर सैयद ने कांग्रेस की आलोचना करते हुए कहा था कि कांग्रेस इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ़ कॉमंस की तर्ज़ पर एक व्यक्ति-एक वोट की बात करती है। लेकिन भारतीय परिस्थितियों में यह सिद्धांत कारगर नहीं है। यदि ऐसा होता है तो हिंदुओं को चार गुनी सीटें मिलेंगी क्योंकि उनकी संख्या मुसलमानों से चार गुनी ज्यादा है। सर सैयद की यह तक्ररीर या तो मुसलिम पृथकतावाद के उदाहरण के रूप में पेश की जाती है या फिर पाकिस्तान के विचार के बीज रूप में। लेकिन इस तर्क का एक बिलकुल अलग अर्थ भी निकाला जा सकता है। सर सैयद इस बात की ओर इशारा कर रहे हैं कि पश्चिमी तर्क का लोकतंत्र हिंदुस्तान में तभी सफल हो सकता है जब कि मज़हबी समुदायों की विशिष्टता को पहचान कर उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त संस्थाएँ विकसित की जाएँ। लेकिन इस तर्क की संरचना में एक आंतरिक विरोधाभास भी मौजूद है। यह सही है कि पश्चिमी लोकतंत्र को ज्यों का त्यों हिंदुस्तान में आरोपित नहीं

किया जा सकता और यह भी सही है कि हिंदुस्तान के समुदायों की बनावट अपने आप में विशिष्ट है जिसके कारण अलग तरह की राजनीतिक संस्थाएँ और राजनीतिक संस्कृति अनिवार्य है, लेकिन जिन हिंदू और मुसलमान क्रौमों की बात सर सैयद कर रहे हैं वे असंख्य सामाजिक, सांस्कृतिक, और यहाँ तक कि मज़हबी समुदायों का एक बेहद लचीला समुच्चय है। यह उदाहरण इस तथ्य को साबित करता है कि अल्पसंख्यक/बहुसंख्यक का आधुनिक विमर्श वास्तव में ब्रिटिश नीतियों और आधुनिक राजकीय तकनीकों का ही परिणाम था। शायद यही कारण था कि 1858 में *असबाब-ए-बगावत* लिखने वाले सर सैयद का नज़रिया 1880 के दशक आते-आते अल्पसंख्यकवाद में बदल गया। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वे मुसलिम राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहें। सर सैयद का निधन 27 मार्च, 1898 को अलीगढ़ में हुआ।

देखें : अबू-अला मौदूदी, अबुल कलाम आज़ाद, आरक्षण और धर्म, भारतीय इसलाम, उपनिवेशवाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1, दलित-पसमंदा मुसलमान, प्रारम्भिक इसलाम, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1, 2 और 3, मुसलिम राजनीतिक विचार, मुहम्मद इक़बाल, मुहम्मद अली जिन्ना, हज़रत मुहम्मद-1 और 2.

संदर्भ

1. हफ़ीज़ मलिक (1980), *सर सैयद अहमद ख़ाँ ऐंड मुसलिम मॉडर्निज़म इन इण्डिया ऐंड पाकिस्तान*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. मुहम्मद शान (सम्पा.) (1972), *राइटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़ ऑफ़ सर सैयद अहमद ख़ाँ*, नचिकेता पब्लिकेशंस, बम्बई.
3. अल्लाफ़ हुसैन हाली (1957), *हयात-ए-जाविद*, एकेडमी पंजाब ट्रस्ट, लाहौर.
4. वीरेंद्र कुमार बरनवाल (2013), *मुसलिम नवजागरण की मशाल : सर सैयद अहमद ख़ाँ*, तद्भव, लखनऊ.

— हिलाल अहमद

सोप ओपेरा

(Soap Opera)

टीवी के जिन नाटकीय मनोरंजन कार्यक्रमों को सीरियलों के नाम से जाना जाता है, उनकी शुरुआत 'सोप ओपेरा' के नाम से अमेरिकी टीवी पर तीस के दशक में हुई थी। सोप ओपेरा का मतलब है एक ऐसी धारावाहिक कथा जिसका उपसंहार कभी नहीं होता और जिसकी हर किश्त इस आश्वासन के साथ खत्म होती है कि कहानी अगले दिन भी जारी रहेगी। चूँकि अमेरिका की बड़ी-बड़ी कपड़े धोने के साबुन की कम्पनियों (प्रोक्टर एंड गैम्बल, कोलगेट-पामोलिव और लीवर ब्रदर्स) ने उन्हें प्रायोजित किया था, इसलिए उनके नाम से साथ सोप जुड़ गया। इन धारावाहिक कार्यक्रमों को ओपेरा कहने की वजह यह थी कि इनमें रोजाना की जिंदगी का बेहद जज़्बाती और अतिनाटकीय चित्रण किया जाता था। अमेरिकी सोप ओपेरा दिन में प्रसारित किये जाते थे, ताकि गृहणियाँ उन्हें देख सकें। उनकी विषयवस्तु भी घर-परिवार और नाते-रिश्तों की समस्याओं, उखाड़-पछाड़ और घरेलू राजनीति के इर्द-गिर्द बुनी जाती थी। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि इसी दौरान रेडियो पर भी सोप ओपेरा आने शुरू हुए। दरअसल, नेटवर्कों और विज्ञापकों ने दिन के बाज़ार में निहित अत्यंत लाभकारी सम्भावनाएँ इसी दौरान चिह्नित कीं। उनकी दलील थी कि दिन में घर के मालिक बाहर काम करने जाते हैं और बच्चे स्कूल में होते हैं, इसलिए घर की मालकिन अकेली होती है और वह अपना वक़्त गुज़ारने के लिए या तो टीवी देखेगी या फिर रेडियो सुनेगी। इसलिए ऑडिेंस के रूप में उसकी वफ़ादारी जीती जा सकती है। सबसे पहले डब्ल्यूजीएन-एएम नामक रेडियो स्टेशन ने 16 जून, 1930 को 'क्लारा, लू और एम' शीर्षक से एक सोप ओपेरा दिखाना शुरू किया जिसे ज़बरदस्त सफलता मिली। जैसे ही कोलगेट-पामोलिव कम्पनी ने इसे स्पांसर किया, यह भी टीवी की ही भाँति सोप ओपेरा की श्रेणी में आ गया।

ब्रिटेन के टीवी पर इन धारावाहिकों का प्रसारण 1948 में शुरू हुआ जो दिन भी प्रसारित होते थे, और रात की शुरुआत में टीवी के प्राइम टाइम में भी उन्हें दिखाया जाता था। अमेरिका और ब्रिटेन के कुछ धारावाहिक ('मिसेज़ डेल्स डायरी' और 'द आर्चर्स') तो ऐसे हैं जिनका समापन आज तक नहीं हुआ है। आज सोप ओपेरा की शैली भारत समेत सारी दुनिया में मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप बन चुकी है। ब्रिटिश और अमेरिकी टीवी के धारावाहिकों के अलावा ऑस्ट्रेलियायी, मैक्सिकन और ब्राज़ीलियन टीवी के धारावाहिक भी ग्लोबल टीवी मार्केट में लोकप्रिय हैं। कम

खर्च में प्रोड्यूस किये जाने वाले ये कार्यक्रम अपने स्थानीय बाज़ार में तो जम कर कमाते ही हैं, इनका निर्यात भी टीवी प्रोड्यूसरों को ख़ासी आमदनी करके देता है।

अमेरिकी टीवी धारावाहिकों (जैसे, 'डलास', 'बोल्ड एंड ब्यूटीफुल' और 'डायनेस्टी') के किरदार आम तौर पर धनी और लुभावनी शिखरयत के मालिक दिखाये जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया और ब्रिटेन के सीरियलों (जैसे 'ईस्टएंडर्स', 'कोरोनेशन स्ट्रीट', 'नेबर्स' और 'होम एंड अवे') में मज़दूर वर्गीय पृष्ठभूमि के चरित्रों और उनकी रोज़ाना की जिंदगी को पेश किया जाता है। इनमें कॉमेडी के तत्वों का ख़ास तौर से समावेश होता है। सीरियलों में फ़िल्मों की तरह स्टंट, मारपीट और एक्शन दृश्य बहुत कम होते हैं। अधिकतर गतिविधियाँ नाटकीय संवादों, अतिरंजित स्थितियों और मुख-मुद्राओं के माध्यम से सम्पन्न की जाती हैं। भारत में सोप ओपेरा शैली का प्रारम्भ अस्सी के दशक में बेहद कामयाब 'हम लोग' सीरियल से हुआ था। लेकिन जल्दी ही भारतीय टीवी सीरियलों पर भी पश्चिमी सीरियलों की विषय-वस्तुओं का असर साफ़ तौर पर दिखने लगा। आज 'सास-बहू सीरियलों' को लोकप्रियता एक टीवी-परिघटना का रूप ले चुकी है। घरेलू स्त्रियों के बीच इन सीरियलों के आकर्षण पर समाज वैज्ञानिकों ने काफ़ी दिमाग़ खपाया है।

ऐसी बात नहीं कि टीवी धारावाहिकों को पुरुष न देखते हों। काफ़ी समय तक कमाई करने वाला पुरुष और उसकी पत्नी के जोड़े को धारावाहिक के दर्शक-युग्म की तरह ग्रहण किया जाता रहा है। पर सोप ओपेरा की टीवी शैली पर हुए अकादमीय चिंतन के केंद्र में मुख्य तौर पर स्त्रियों का प्रश्न रहा है। न केवल इनकी शुरुआत स्त्री-दर्शकों को ध्यान में रख कर हुई थी, बल्कि इन्हें देखने वाली भी ज्यादातर स्त्रियाँ होती हैं। इनकी कथावस्तु पर भी स्त्रियों का बोलबाला दिखता है। नारीवादी विद्वानों ने टीवी धारावाहिकों पर ख़ास तौर से गौर किया है।

आम तौर पर लोगों का जीवन बहुत घटनाप्रद नहीं होता। ख़ासकर घरेलू स्त्रियों के जीवन की रफ़्तार धीमी, दोहराव भरी और नीरस होती है। इस यथार्थ के विपरीत टीवी धारावाहिक जीवन की एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं जिसमें विवाह, प्रेम-प्रसंग, तलाक़, जन्म-मृत्यु और पारिवारिक साज़िश का अबाध सिलसिला चलता रहता है। धारावाहिक की हर किश्त में कुछ ऐसी नयी घटनाएँ घटित करवाई जाती हैं जिनके ज़रिये मुख्य कहानी के साथ-साथ कई उप-कहानियों और पात्रों का आवागमन होता रहता है। असली जिंदगी में लम्बे चलने वाले रिश्तों को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता है, पर सीरियल में कोई भी रिश्ता कभी सुरक्षित नहीं होता। अतीत का कोई पात्र या किसी पुराने रिश्ते के

कारण पैदा हुआ बच्चा कभी भी आकर मौजूदा परिस्थिति को बेचैन कर देता है। आलोचकों ने टीवी स्क्रीन पर दिखाई जाने वाली जिंदगी की इस अति-घटनात्मकता पर कड़े आक्षेप किये हैं, पर रोजमर्रा की बोर जिंदगी की गिरफ्त में फँसे हुए लोगों, खास कर स्त्रियों के लिए, यह अतिरंजित निरूपण बहुत आकर्षक साबित हुआ है।

दूसरे, टीवी धारावाहिकों में स्त्री को कमजोर दिखाने के बजाय मजबूत शख्सियत का मालिक दिखाया जाता है। वह पूरे परिवार का बोझ उठाने वाली नैतिक गुणों से सम्पन्न नायिका से लेकर षड्यंत्र और हत्या में भाग लेने वाली खलनायिका के विभिन्न रूपों में सामने आती है। अक्सर वह पुरुषों पर निर्भर नहीं दिखाई जाती, बल्कि पुरुष उसकी उँगलियों पर नाचते हैं। सोप ओपेरा में निरूपित की जाने वाली स्त्रियाँ सिर्फ गृहिणी नहीं होतीं, उन्हें घर की दहलीज से बाहर विभिन्न भूमिकाओं में पेश किया जाता है। गृहिणी के रूप में भी घरेलू स्त्री की रूढ़ छवि से परे जाते हुए अच्छे या बुरे अपने अलग व्यक्तित्व के साथ सामने आती है। टीवी पर आने वाली औरत एक ही परिवार में रहते हुए कई-कई शादियाँ कर सकती है। जीवन के विभिन्न चरणों में उसका आगमन भिन्न-भिन्न सज्जाओं के साथ होता है। कुल मिला कर वह सीन से कभी तिरोहित नहीं होती। विद्वानों की मान्यता है कि शायद इसीलिए स्त्री दर्शकों को सामाजिक भूमिकाओं के इन रंगा-रंग रूपों में अपनी छवि देख कर क्षणिक संतोष मिल जाता है। इन निरूपणों में कुछ ऐसी सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं जिनसे सामान्य स्त्री का अन्यथा साक्षात्कार भी नहीं होता। स्त्री की सेक्सुअलिटी का मुद्दा भी सोप ओपेरा के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। धारावाहिकों की स्त्री पात्र अपनी गतिविधियों से 'सक्रिय यौनिकता' की छवि प्रक्षेपित करती हैं। अर्थात् उनकी यौनिकता केवल पुरुष-कामना की वस्तु नहीं होती, बल्कि उसका स्रोत खुद उनकी अपनी कामना होती है।

कुछ समीक्षकों ने धारावाहिकों की लोकप्रियता का कारण उनकी वर्णनात्मक संरचना में तलाशने की कोशिश की है। इस दलील के अनुसार किसी भी मनोरंजन कार्यक्रम के सामान्यतः तीन हिस्से होते हैं : प्रारम्भ, बीच का हिस्सा और अंत। इन तीनों हिस्सों के बीच संतुलन को कुछ इस तरह भंग किया जाता है ताकि जो शुरू हुआ है उसे क्लाइमेक्स पर ले जा कर खत्म किया जा सके। लेकिन धारावाहिक की वर्णनात्मक संरचना में बीच का हिस्सा लगातार अपना विस्तार करता रहता है। अंत तक पहुँचना उसका मकसद होता ही नहीं। वह उस समस्या का समाधान ही नहीं करना चाहता जो शुरू में उठायी जाती है। उस समस्या को तो नयी समस्याओं की भीड़ में न केवल पटकथा लेखक और निदेशक द्वारा बल्कि दर्शकों द्वारा भी भुला दिया जा चुका होता है।

धारावाहिकों का उपसंहार कभी नहीं होता और बहुत सी घटनाओं की तर्कसंगत निष्पत्ति नहीं होती। यह विचित्रता भी उनके प्रति आकर्षण का उल्लेखनीय स्रोत है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्सुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्सुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. आर. सी. एलेन (1985), *स्पीकिंग ऑफ सोप ओपेराज़*, युनिवर्सिटी ऑफ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, चापेल हिल.
2. आई. ऑग, (1985) *वाचिंग डलास : सोप ओपेरा एंड द मेलोड्रैमेटिक इमेजिनेशन*, मेथ्युन, लंदन.
3. एम.बी. ब्राउन (2005), *'पॉलिटिक्स ऑफ सोप्स : प्लेज़र एंड फेमिनिन इम्पावरमेंट'*, *ऑस्ट्रेलियन जर्नल ऑफ कल्चरल स्टडीज़*, खण्ड 4, अंक 2.
4. पूर्णिमा मनकेकर (1999), *स्क्रीनिंग कल्चर, व्युइंग पॉलिटिक्स : ऐन एथ्नोग्राफी ऑफ टेलिविज़न, वुमॅनहुड, एंड नेशन इन पोस्टकोलोनियल इण्डिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.

— अभय कुमार दुबे

सोरेन आबी कीर्केगार्ड

(Soren Aabye Kierkegaard)

उन्नीसवीं सदी के मध्य में सक्रिय रहे सौंदर्यशास्त्री, दार्शनिक और धार्मिक चिंतक सोरेन आबी कीर्केगार्ड (1813-55) के चिंतन को आधुनिक अस्तित्ववाद के उभार के लिए अवधारणात्मक ज़मीन साफ़ करने का श्रेय जाता है। हीगेल और उनके अनुयायियों की कठोर आलोचना करके उत्तर-हीगेल दर्शन की स्थापना करने वाले कीर्केगार्ड का कहना था कि अगर इस जर्मन दार्शनिक ने खुद को सत्य की खोज में सफल न मान कर हास्यास्पद न बना लिया होता और मुख्यतः अपनी विचार-प्रणाली को एक प्रयोग की तरह देखता तो उसे दुनिया का सबसे बड़ा चिंतक माना जा सकता था। हीगेल का खण्डन करते हुए कीर्केगार्ड ने कहा कि यह जगत एक नैतिक व्यवस्था है और व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह नैतिक नियमों के सामने समर्पण कर दे। उन्होंने सत्य को आत्मपरक बनाते हुए कहा कि चिंतन और चुनाव के लिए मनुष्य स्वतंत्र है और

यह स्वतंत्रता उसके चिंतन का मूल है। कीर्केगार्द के मुताबिक व्यक्ति की आंतरिकता ही उसका सत्य है। उनके इसी विचार ने दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद के लिए मंच तैयार किया। बीसवीं सदी के चिंतन पर कीर्केगार्द का विरोधाभासी असर पड़ा है। हीगेलपंथियों ने उन्हें बुद्धिवाद विरोधी कह कर ठुकरा दिया, और व्यक्ति के अस्तित्व को बहुत अधिक तरजीह देने के कारण मार्क्सवादियों ने उनके विचारों पर जम कर हमला किया। उनके चिंतन में फ्रासीवादी रुझान तक देखे गये। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि दूसरी तरफ कीर्केगार्द ने अज्ञेयवादी और नास्तिकवादी चिंतकों को भी प्रभावित किया। लूकाच, हाइडैगर और एडोर्नो जैसे विचारकों ने किसी न किसी मुकाम पर कीर्केगार्द के विचारों से कुछ न कुछ अवश्य लिया है। खास तौर से हाइडैगर के सोच पर तो उनका बहुत गहरा प्रभाव है। समझा जाता है कि हाइडैगर की विख्यात रचना *बीइंग ऐंड टाइम* कीर्केगार्द के बिना सम्भव ही नहीं थी। विटगेंस्टाइन की तो मान्यता है कि कीर्केगार्द उन्नीसवीं सदी के सबसे गहन चिंतक थे।

बचपन में सोरेन को प्रारम्भिक शिक्षा के लिए कोपेनहेगन के प्रसिद्ध विद्यालय द स्कूल ऑफ सिविक वर्च्यु में प्रवेश दिलाया गया जहाँ उन्होंने पारम्परिक शिक्षा प्राप्त की। विद्यालय में लैटिन व इतिहास उनके प्रिय विषय थे। 1830 में कीर्केगार्द ने धर्मशास्त्र, दर्शन और साहित्य के अध्ययन के लिए कोपेनहेगन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। उन्होंने निश्चय किया कि अपने जीवन में कुछ करने से पूर्व वे स्वयं के बारे में जानने का प्रयास करेंगे। 1834 में उनकी माता की मृत्यु हो गयी। इसी वर्ष उन्होंने एक पत्रिका का प्रकाशन करना प्रारम्भ किया जिसे वे आगामी 20 वर्षों तक प्रकाशित करते रहे। 1837 में लैटिन व साहित्य के शिक्षण के उद्देश्य से उन्होंने घर छोड़ दिया। इसी समय उनकी मुलाकात रीजन ओलसेन से हुई जिसने उनकी बौद्धिक यात्रा में उनका बहुत साथ दिया। 1838 में उनके पिता की मृत्यु हो गयी। 1840 में उन्होंने ओलसेन के साथ सगाई कर ली परन्तु अगले साल यह सोच कर कि घरेलू जिम्मेदारियाँ उन्हें उनके दर्शन के कार्य से विमुख कर सकती हैं, उन्होंने सगाई तोड़ दी। अगले दस वर्ष तक वे एकाकी और विरक्त जीवन जीते हुए निरंतर लेखन व प्रकाशन के कार्य में लगे रहे। जब वे अपने रचनाशीलता के चरम पर थे कि 11 नवम्बर, 1855 को रीढ़ की बीमारी से कीर्केगार्द की मृत्यु हो गयी।

कीर्केगार्द एक जटिल हस्ती के मालिक थे। उनके वांगमय में धर्म, राजनीति, सौंदर्य और नीतिशास्त्र के बहुआयामी तात्पर्य निहित मिलते हैं। मसलन, उन्हें एक अ-राजनीतिक चिंतक कहा जाता है, पर उन्होंने अपने ज़माने में चर्च की राजनीति के साथ-साथ तत्कालीन सांस्कृतिक राजनीति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया में लगातार

हस्तक्षेप किया। समझा जाता है कि डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन के बौद्धिक हलकों में खुद को शामिल करवाने के लिए उन्होंने अपने करियर की शुरुआत में नारी-मुक्ति की अवधारणा के खिलाफ़ एक निबंध लिखा था। इस प्रतिक्रियावादी रचना में पितृसत्तात्मक मूल्यों का समर्थन किया गया था।

कीर्केगार्द के युग में ही युरोप ने मास सोसाइटी (जन-पुंज समाज) की तरफ़ बढ़ना शुरू किया था। तत्कालीन डेनिश समाज अपने सामंती अतीत को त्याग कर पूँजीवादी वर्तमान में प्रवेश कर रहा था। शिक्षा के प्रसार और देहाती इलाकों से बड़े पैमाने पर शहरों में जाते हुए किसान सामाजिक एक तरफ़ तो सामाजिक बेचैनियाँ पैदा कर रहे थे, और दूसरी तरफ़ सामाजिक तरतमता की जगह क्षैतिक संरचनाओं का उदय हो रहा था। समाज-परिवर्तन की इस प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए कीर्केगार्द ने 'भीड़' या 'समूह' के मुकाबले 'एकल व्यक्ति' की आत्मनिष्ठता का झण्डा बुलंद किया। उन्हें डर था कि रूढ़ छवियों के सामाजिक उत्पादन के बोझ तले मनुष्य अपनी सच्ची इयत्ता खोजने की सम्भावना से वंचित हो जाएगा। उन्हें यह देख कर चिंता हो रही थी कि जज्बाती प्रतिबद्धताओं के चक्कर में व्यक्ति अनासक्त चिंतन की क्षमता खोता जा रहा है। अपनी रचना *हाउ टू बिकम क्रिश्चियन इन क्रिश्चियनडम* में कीर्केगार्द सम्प्रेषण का एक ऐसा प्रारूप गढ़ने का प्रयास किया जिससे रूढ़ अस्मिताएँ न पैदा हों। बल्कि, लोग अपने संसाधनों पर भरोसा करते हुए अपनी अस्तित्वगत जिम्मेदारियाँ खुद उठाने के लिए आगे बढ़ें। कीर्केगार्द का खयाल था कि केवल इसी प्रकार लोग समाज द्वारा थोपी गयी पहचानों से बचते हुए वह हो पाएँगे जो वह हो सकते हैं या जो उन्हें होना चाहिए।

कीर्केगार्द के ये विचार उस सिलसिले की परिपक्व कड़ी थे जो उन्होंने अपनी डॉक्टरल थीसिस *ऑन द कंसेप्ट ऑफ़ आयरनी विद द कोंस्टेंट रिफ़रेंस ऑफ़ सोक्रटीज़* में व्यक्त किये थे। सुकरात के चिंतन और चिंतन-विधि से अत्यंत प्रभावित कीर्केगार्द अपनी इस रचना में दिखाते हैं कि किस तरह सुकरात द्वारा उठाये गये प्रश्न उन लोगों को झुंझला देते थे जिनका दावा था कि ज्ञान मिल चुका है और नीतिसार उनकी मुट्ठी में है। कीर्केगार्द का विचार था कि सुकरात ने अपने संवादों में आयरनी (विडम्बना और विरोधाभास) का इस्तेमाल करके ऐसे लोगों को बने-बनाये उत्तरों की जकड़ से मुक्त किया जो दरअसल उन्हें थमाये गये थे। सुकरात से संवाद करके ये लोग अपने बारे में स्वतंत्र और मौलिक संदर्भ के तहत सोचने-विचारने में समर्थ हुए। सुकरात की ही तरह कीर्केगार्द ने भी डेनिश बुद्धिजीवियों को बनी-बनायी धारणाओं से मुक्त करने के लिए अपने लेखन में विडम्बना, पैरोडी, व्यंग्य, हास्य और विखण्डन की प्रविधियों का कुशल

इस्तेमाल किया। उनके विचार तत्कालीन बौद्धिकों को लगातार चिढ़ाते रहे। इसी वजह से अपने जीवन में कीर्केगार्ड को लगातार उपेक्षा और अप्रतिष्ठित रह जाने के फलितार्थों का सामना करना पड़ा।

डेनिश चर्च को हीगेल के प्रभाव से मुक्त करने के लिए उन्होंने फ़र्जी नाम से कई किताबें लिखीं जिनमें *आइदर / ऑर एवं कनक्ल्यूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट* उल्लेखनीय है। इन रचनाओं में उन्होंने हिगेलियन द्वंद्ववाद को सिर के बल खड़ा करते हुए दावा किया कि यह सिद्धांत लोगों को ज्ञान के नज़दीक ले जाने के बजाय उससे दूर ले जाता है। डेनमार्क में ईसाई धर्म के लोकप्रिय निरूपण को बदलने की उनकी चेष्टा भी उल्लेखनीय है। उनके ज़माने में धर्मशास्त्री और शिक्षक-कवि एन.एफ.एस. ग्रंडविग ने ईसाइयत का जो विमर्श तैयार किया था उसमें इस धर्म के हल्के-फुल्के, खुशनुमा, समारोहात्मक और सामुदायिक पहलुओं पर जोर था। लेकिन कीर्केगार्ड ने गम्भीरता, दुःख, पाप, कष्ट और निजी अलगाव जैसे आयामों को उभारने की चेष्टा की। कीर्केगार्ड के जीवन की विडम्बना यह थी कि वे इन सभी प्रयासों में नाकाम रहे। न तो वे हीगेलपंथियों को पराजित कर पाये, और न ही डेनमार्क में ईसाई धर्म की छवि और उद्देश्यों में उन्होंने कोई परिवर्तन कर पाया।

कीर्केगार्ड एक प्रचुर लेखक थे। केवल 42 वर्ष जीवित रहने वाले इस विचारक ने अपने पीछे 55 खण्डों में फैला हुआ विशाल वांगमय छोड़ा है। काफ़ी समय तक विश्व उनकी रचनाओं से अनभिज्ञ रहा। इसके पीछे एक कारण तो यह था कि उन्होंने खुद अपनी कई रचनाएँ गोपनीय नाम से लिखीं। दूसरा कारण यह था कि वे केवल डेनिश भाषा में लिखते थे जिसकी जानकारी बहुत कम लोगों को थी। जब उनकी कृतियाँ अनूदित हो कर प्रकाशित हुईं तो सम्पूर्ण विश्व उनके ज्ञान और विविधता से परिचित हुआ। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में हेनरिक इब्सन, ऑग्युस्त स्ट्रिंडबर्ग और फ्रेड्रिख नीत्से ने कीर्केगार्ड द्वारा किये गये 'वर्तमान युग' को प्राथमिकता देने वाले गहन मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन से सीखते हुए आधुनिकतावाद की भित्ति रचने में योगदान किया।

5 मई, 1813 को डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में पैदा हुए कीर्केगार्ड एक समृद्ध व्यापारी माइकल पेडरसन कीर्केगार्ड तथा उनकी दूसरी पत्नी एनी सोरेनडेटर लुण्ड की सातवीं संतान थे। उनकी माता विवाह से पूर्व पिता के घर पर घरेलू नौकरानी के रूप में कार्य करती थीं। वे अल्प शिक्षित थीं जिस कारण कीर्केगार्ड के जीवन पर उनकी विशेष छाप नहीं पड़ी। उन्हें अपनी माता से कोई लगाव नहीं था। उनके किसी भी लेख, कृति या डायरी में उनकी माता का जिक्र नहीं

मिलता। सोरेन कीर्केगार्ड की रचनाओं में उनके पिता से संबंधित प्रसंगों का जिक्र बहुतायत से है और इससे स्पष्ट होता है कि उनके जीवन पर पिता का बहुत अधिक प्रभाव था। वे अपने पिता की उदासी, अपराधभाव तथा चिंता की भावना, ईसाइयत के प्रति विश्वास तथा उनके दार्शनिक रुझानों से प्रभावित थे। यह प्रभाव उनके लेखन कार्य में भी प्रदर्शित होता है। पिता की मृत्यु के बाद पैतृक सम्पत्ति के रूप में उन्हें काफ़ी धनराशि प्राप्त हुई जिसका उपयोग उन्होंने अध्ययन तथा पुस्तक लेखन में किया।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और ऐडमण्ड हसर, चेतना, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, जॉन लॉक, ज़ाक लकाँ, ज्यॉ फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रीड्रिख हीगेल, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, परिणामवाद, प्रत्यक्षवाद और उसका समाज-विज्ञान पर प्रभाव, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्टीन, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. थियोडोर डब्ल्यू. एडोर्नो (1989), *कीर्केगार्ड : कंस्ट्रक्शन ऑफ़ द एस्थेटिक्स*, अनु. रॉबर्ट हुलोट-केंटर, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, मिनेपोलिस.
2. जूलिया वाटकिन (2001), *हिस्टोरिकल डिक्शनरी ऑफ़ कीर्केगार्डज़ फ़िलॉसफ़ी*, द स्केयरक्रो प्रेस, लैनहैम, मैरीलैंड और लंदन.
3. हैरल्ड ब्लूम (सम्पा.) (1989), *सोरेन कीर्केगार्ड*, चेलसी हाउस पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क.

— मीना मनराल

सोवियत सिनेमा

(Soviet Cinema)

फ़िल्म-अध्ययन का इतिहास सोवियत सिनेमा की असाधारण उपलब्धियों पर नज़र डाले बिना पूरा नहीं हो सकता। अक्टूबर क्रांति से लेकर सवाक् सिनेमा के शुरुआती दौर के बीच की इस सिनेमाई प्रयोगधर्मिता को कई स्तरों पर नयी ज़मीन तोड़ने का श्रेय जाता है। सिनेमा के फ़्रांसीसी और जर्मन विमर्शकार भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं बच सके। समाजवादी समाज बनाने के प्रयोगों के संदर्भ में एक आम समझ यह है कि उत्तर-क्रांति समाजों में सांस्कृतिक उत्पादन विचारधारात्मक प्रोपेगंडे के मातहत कर दिये जाने के कारण कलात्मक पतन का शिकार हो जाता है। लेकिन प्रौद्योगिकी और कला के मेल से तैयार हुई सिनेमा की विधा इस धारणा को झुठलाती हुई प्रतीत होती है।

सिनेमा में अंतर्निहित प्रचारात्मक और शैक्षणिक सम्भावनाओं की पहचान अक्टूबर क्रांति के तुरंत बाद कर ली गयी थी। निरक्षर और विभिन्न बोलियाँ बोलने वाली सोवियत कृषक जनता तक राजनीतिक संदेश पहुँचाने का क्रांतिकारी दायित्व पूरा करने के लिए मूक फ़िल्में एक आदर्श माध्यम थीं। इसके पीछे वैचारिक धारणा एक ऐसी व्यवस्था के निर्माण की थी कि जिसमें कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किसानों, मज़दूरों और मध्यवर्गीय जनता के हित में किया जा सके। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए पहले लेनिन और फिर स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत सिनेमा का जो ढाँचा खड़ा किया गया उससे सेर्गेई आइज़ेंस्टीन, लेव कुलेशोव, जिगा वेरतोव, व्सेवोलोद पुद्वोकिन और अलेक्सांदेर दोवज़ेंको जैसे विश्व-विख्यात फ़िल्मकारों की कृतियाँ निकलीं जिनके कारण विश्व-सिनेमा का ध्यान सोवियत संघ की तरफ़ आकृष्ट हुआ। सोवियत फ़िल्मकारों ने मोंटाज़ (फ़िल्म-संग्रंथन) तकनीक का विकास किया और फ़िल्म-एक्टिंग को थिएटर-एक्टिंग के प्रभाव से निकाला। इन प्रयोगों को आगे चल कर न केवल आर्ट और अवाँगार्ड सिनेमा ने अपनाया, बल्कि व्यावसायिक फ़िल्मों ने भी इनका सफल इस्तेमाल किया।

1917 में अक्टूबर क्रांति होने के फ़ौरन बाद सोवियत संघ गृह-युद्ध में फँस गया जो 1921 तक जारी रहा। इस दौरान रेल गाड़ियों के ज़रिये सभी सोवियत गणराज्यों में

घूम-घूम कर बहादुराना सर्वहारा संघर्ष की सराहना करने वाले फ़िल्म-शो किये गये जिनसे कम्युनिस्ट सत्ता को पैर जमाने में मदद मिली। इन्हें 'एजिट-ट्रेन' कहा जाता था। इनमें प्रदर्शन के लिए तैयार डॉक्युमेंटरी फ़िल्में तो होती ही थीं, साथ में कुलेशोव और वेरतोव जैसे फ़िल्मकार भी होते थे। इनका कैमरा खेतों में खटते हुए किसानों और ग्रामीण जीवन की शूटिंग करता और ट्रेन में ही उनके प्रिंट्स बना कर उपस्थित जनता के सामने फ़िल्म-शो कर दिया जाता।

गृह-युद्ध के बाद 1924 से 1929 के बीच की अवधि सोवियत सिनेमा के लिए स्वर्णकाल जैसी साबित हुई। यह क्रांति के बाद तरह-तरह के प्रयोगों को प्रोत्साहन देने का दौर था। सोवियत फ़िल्मकारों ने भाषा के साथ प्रयोग और नवाचार करने वाले क्रांति-पूर्व रूसी भविष्यवादियों से प्रभाव ग्रहण करके उसके कलात्मक परिणामों को क्रांति-उत्तर रचनात्मकतावाद के साथ जोड़ दिया। भविष्यवादी युरोपीय आधुनिकतावादी कला द्वारा प्रवर्तित अमूर्तन के पैरोकार थे और साथ में उनकी आस्था तकनीक में भी थी। सोवियत रचनात्मकतावाद ने कला और श्रम को एक-दूसरे का पर्याय बताया। इस तरह सिनेमा की तकनीकोन्मुख आधुनिकतावादी कला उदीयमान समाजवादी राज्य की राजनीतिक ज़रूरतें पूरी करने में जुट गयी। बीस के दशक के सोवियत सिनेमा ने तय किया कि वह नये सोवियत गणराज्यों द्वारा राष्ट्रीय अस्मिता प्राप्त करने की राजनीति का संदेशवाहक बनेगा।

1919 में ही फ़िल्म-उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था जिसके कारण कई स्वतंत्र फ़िल्म-निर्माता अपने उपकरण और कच्ची फ़िल्म ले कर दूसरे देशों में चले गये थे। कच्ची फ़िल्म तक्ररीबन अनुपलब्ध थी क्योंकि पश्चिमी देशों ने इसके सोवियत निर्यात पर रोक लगा दी थी। 1921 में लेनिन की नयी अर्थनीति के तहत कुछ प्राइवेट कम्पनियों फ़िल्म निर्माण में उतरतीं। उनके ज़रिये फ़िल्मकार कच्ची फ़िल्म के दुर्लभ स्टॉक और उपकरणों का इस्तेमाल कर पाये। इनके कारण *क्रिनो-प्रावदा* (फ़िल्म-सत्य) नामक समाचार फ़िल्मों की शृंखला बन पायी। साथ में कुछ पारम्परिक कथा-चित्रों का निर्माण भी किया गया। इसी प्रक्रिया में कुछ नये फ़िल्मकार उभरे जिनका मक़सद नयी क्रांतिकारी संस्कृति का प्रचार करना था ताकि नायक की व्यक्तिगत हैसियत की जगह सर्वहारा वर्ग को नायक के रूप में स्थापित किया जा सके। आइज़ेंस्टीन और कुलेशोव ने मिल एसोसिएशन ऑफ़ रेवोल्यूशनरी सिनेमैटोग्राफ़ी की स्थापना की जिसमें वेरतोव के साथ एस्फ़िर शुब भी शामिल थीं।

इन फ़िल्मकारों के बीच क्रांतिकारी सिनेमा की तकनीक और सार के मामले में मतभेद थे। नतीजा विभाजन में निकला। वेरतोव ने आइज़ेंस्टीन और कुलेशोव के कथा-

सिनेमा की आलोचना की और अपना अलग किनोकी ग्रुप (सिने-आई ग्रुप) बना लिया। इसके बाद वेरतोव ने रचनात्मकतावाद का रास्ता पकड़ते हुए वृत्त-चित्रात्मक सिनेमा बनाया जो मजदूर और उद्योगीकरण को बुलंद करता था। 1929 में बनी वेरतोव की फ़िल्म 'मैन विद अ मूवी कैमरा' एक ऐसी ही मशहूर कृति है।

1919 में मास्को फ़िल्म कमेटी ने एक विशेष पुनर्सम्पादन विभाग खोला जिसके तहत काम करते हुए लेव कुलेशोव ने फ़िल्म सम्पादन की मोंटाज पद्धति का आविष्कार किया। इस उपलब्धि में व्लादिमिर गार्दिन का भी योगदान था। कुलेशोव का विचार था कि फ़िल्मकार द्वारा लिया गया प्रत्येक शॉट अपने संदर्भ से तात्पर्य ग्रहण करता है और उसकी स्थिति दीवार बनाने वाली एक ईंट की तरह होती है। अगर उसी शॉट को साथ-साथ रखने का क्रम (सन्निधि) बदल दिया जाए तो अर्थ बदल जाएगा और साथ में वह क्रम भी वैसा नहीं रहेगा। कुलेशोव ने इसे एक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया। उन्होंने फ़िल्म के अलग-अलग टुकड़ों से कई शॉट लिए। इनमें एक था अभिनेता इवान मोजुकाइन का स्टिल क्लोज़अप, एक सूप की प्लेट थी, एक मृत स्त्री और उसका कफ़न था, और एक खेलता हुआ बच्चा था। जब एक्टर के स्टिल क्लोज़अप के साथ इन तीनों को अलग-अलग सन्निधियों में पेश किया गया तो दर्शकों को लगा कि अभिनेता के चेहरे के भाव बदल रहे हैं। असल में वे भाव नहीं बदल सकते थे क्योंकि चेहरा तो स्थिर फ़ोटोग्राफी का परिणाम था। कुछ अन्य प्रयोगों में कुलेशोव ने अलग-अलग फ़िल्मों के एक्शन दृश्यों का इस प्रकार सम्पादन करके दिखाया जिससे वे एक ही निरंतर शॉट की तरह लगने लगे। 1920 में किये गये एक प्रयोग के पहले शॉट में मास्को में एक स्त्री और पुरुष मिलते दिखाये जाते हैं, पुरुष एक इशारा करता है, दोनों कहीं और देखते हैं, फिर दूसरा शॉट वाशिंगटन स्थित व्हाइट हाउस का है, तीसरे और अंतिम शॉट में वे दोनों सीढ़ियाँ चढ़ते दिखाये जाते हैं। भूगोलों को सृजनात्मक ढंग से मिलाने के इस प्रयोग को कुलेशोव ने 'द क्रिएटिड सरफ़िस ऑफ़ द अर्थ' की संज्ञा दी। आइज़ेंस्टीन द्वारा बनायी गयी फ़िल्मों ने अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीते और सारी दुनिया में घूम-घूम कर दिये गये उनके व्याख्यानों और सैद्धांतिक लेखन ने विमर्शकारों का मार्गदर्शन किया।

आइज़ेंस्टीन एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे। उन्होंने सम्पादन की मोंटाज पद्धति को नये आयाम दिये। उन्होंने कहा कि मोंटाज केवल सन्निधि पर ही आधारित नहीं होता, वह टकराव और द्वंद्व पर भी आधारित होता है। उन्होंने अपनी फ़िल्मों में मोंटाज का इस्तेमाल स्क्रीन और दर्शक के बीच अन्योन्यक्रिया स्थापित करने के लिए किया। वे मोंटाज के ज़रिये दर्शक को चाक्षुष रूप से, भावनात्मक रूप से और

बौद्धिक रूप से चौंकाने में विश्वास करते थे। उन्होंने मोंटाज को राजनीतिक सौंदर्यशास्त्र में बदल दिया ताकि मार्क्स के द्वंद्वतात्मक भौतिकवाद को चाक्षुष रूप में देखा जा सके। उनकी मान्यता थी कि मोंटाज जो द्वंद्व पैदा करेगा उससे एक तीसरा तात्पर्य निकलेगा जिसके ज़रिये सोवियत संघ का क्रांतिकारी इतिहास संश्लेषित हो कर दर्शक तक पहुँच सकेगा।

मोंटाज पद्धति पर आधारित प्रयोगधर्मिता ने 'परकीयता के सिद्धांत' को भी जन्म दिया। इसका श्रेय एफ़ईके ग्रुप (द फ़ैक्ट्री ऑफ़ द इकसेंट्रिक एक्टर) के फ़िल्मकारों को जाता है। बाद में यह सिद्धांत बर्तोल्त ब्रेख्त ने मशहूर किया। इसके तहत वस्तुओं या व्यक्तियों को अनजाने संदर्भों में स्थित करने के ज़रिये दर्शक को परकीय की अनुभूति में ले जाने की कोशिश की जाती थी ताकि वह पर्दे पर दिखाये जा रहे बिम्ब के तात्पर्यों पर ग़ौर करने के लिए मजबूर हो सके।

कुलेशोव ने फ़िल्म-एक्टिंग की नयी तकनीक भी विकसित की। वे मानते थे कि थिएटर के एक्टर फ़िल्मों के लिए उपयुक्त नहीं होते। फ़िल्म के लिए एकदम नये अभिनेता चुन कर उनकी अलग से ट्रेनिंग होनी चाहिए। उन्होंने मनोविज्ञान को ख़ारिज करके सामाजिक शक्तियों को अभिनय का चालक शक्ति घोषित किया और प्रतिवर्तों (रिफ़्लेक्सिज़) और अभिनय-यांत्रिकी के आधार पर भूमिका निभाने की वकालत की। कुलेशोव ने एक एक्टिंग लेबोरेटरी की स्थापना भी की जिसमें एक्टर की देह और आंगिक मुद्राओं के इस्तेमाल पर विशेष ज़ोर दिया जाता था। इस सिद्धांत के मुताबिक मानवीय देह एक ऐसा मुकाम होती है जिस पर सामाजिक शक्तियाँ अपना प्रभाव डालती हैं और अभिनय उन प्रभावों के प्रति देह की अनुक्रिया व्यक्त करता है। आइज़ेंस्टीन ने 1925 की अपनी विख्यात फ़िल्म 'बैटिलशिप पोतेमकिन' में इसी उसूल का और भी रैडिकलाइज़ेशन किया और बड़ी संख्या में ग़ैर-अभिनेताओं को जुटा कर व्यक्तिरूप नायक के बजाय एक सामूहिक सर्वहारा नायक की छवि पेश करने की कोशिश की। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति द्वारा प्रायोजित इस फ़िल्म के केंद्र में 1905 की विफल क्रांति के दौरान एक युद्धपोत पर हुआ विद्रोह था। मोंटाज थियरी ने दो तरह के सोवियत सिनेमा को जन्म दिया। इनमें एक था आइज़ेंस्टीन का जिसमें मोंटाज द्वारा बौद्धिक बेचैनी पैदा की जाती थी। दूसरा था दोवज़ेंको और पुद्वोकिन का जिसे गीतात्मक-प्रतीकावादी मोंटाज सिनेमा कहा जाता है। मोंटाज का एक तीसरा इस्तेमाल वेरतोव और एस्फ़िर ने वृत्त-चित्र बनाने में किया। ये दोनों मानते थे कि केवल तथ्यों पर आधारित वृत्त-चित्र ही सच्चा क्रांतिकारी सिनेमा हो सकता है।

1929 तक सोवियत सिनेमाई प्रयोगधर्मिता का यह

दौर खत्म हो गया। कला के क्षेत्र में समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांत ने अपने पैर जमा लिए। आइजेंस्टीन की फिल्मों में पार्टी की कमेटियाँ बड़े पैमाने पर कतरब्योत करने लगीं। रूपवाद की कड़ी आलोचना होने लगी, यहाँ तक कि वह एक कलात्मक अपराध की श्रेणी में गिना जाने लगा था। इन प्रक्रियाओं और घटनाक्रम ने सोवियत फिल्मों के उस दौर को जन्म दिया जिनमें न तो दर्शकों को कोई रुचि थी, और न ही विमर्शकारों को। वह सिर्फ थोथा प्रोपेगंडा था जो सोवियत संघ की समाप्ति के साथ ही खत्म हो गया।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्सुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फिल्म-सिद्धांत, फिल्म और सेक्सुअलिटी, फिल्म और टीवी सेंसरशिप, फिल्ममांतरण, फिल्म-सिद्धांत, प्रलेश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फिल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. आर. टेलर और आई. क्रिस्टी (सम्पा.) (1994), *द फिल्म फ्रैक्टरी : रशियन एंड सोवियत सिनेमा इन डॉक्यूमेंट्स 1896-1939*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. आर. टेलर और आई. क्रिस्टी (सम्पा.) (1994), *इनसाइड द फिल्म फ्रैक्टरी: न्यू एप्रोचिज़ टू रशियन एंड सोवियत सिनेमा*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
3. आर. टेलर और जी. स्प्रिंग (सम्पा.) (1993), *स्तालिनिज़म एंड सोवियत सिनेमा*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

सोवियत समाजवाद : उत्थान और पतन-1

(Soviet Socialism: Rise and Fall-1)

1917 की बोल्शेविक क्रांति के बाद अपनी हुकूमत को मज़दूर वर्ग का पहला राज्य या समाजवादी राज्य होने का दावा करने वालों ने पाया कि प्रशासन, अर्थव्यवस्था और विदेश नीति के मामले में पूरी तरह से अनुभवहीन हैं। उनके सामने यह भी स्पष्ट था कि रूस की अर्थव्यवस्था और समाज का विकास केवल इतना ही हुआ है कि राजनीतिक क्रांति

करने लायक मात्रा में मेहनतकशों और रैडिकल बुद्धिजीवियों की गोलबंदी की जा सके। लेकिन सामाजिक क्रांति करने के लिए रूसी समाज तैयार नहीं था। रूस की बहुसंख्यक जनता किसान थी जिसे विचारधारात्मक रूप से नवांकुरित समाजवादी राज्य ऊपर से हस्तक्षेप करके एक नयी सामाजिक संरचना में ढालना चाहता था। बोल्शेविकों को युरोप के अन्य देशों में भी क्रांति की उम्मीद थी। लेकिन जब तक युरोप में क्रांति होती, तब तक अक्टूबर क्रांति के लाभों की रक्षा करना भी ज़रूरी था। फ़ौरी तौर पर उसके सामने मुख्य तौर पर दो विकट समस्याएँ थीं : बाहरी हस्तक्षेप और भीतरी विरोध से नवजात क्रांति की रक्षा कैसे की जाए, और ऐसा करते हुए समाजवादी समाज बनाने के रास्ते पर पहला क़दम कैसे बढ़ाया जाए।

न ऐसी क्रांति पहले कभी दुनिया में हुई थी, और न ही ऐसा राज्य कभी बना था। बहुसंख्यक लाल ताक़तें यानी किसान-मज़दूर और उनके राजनीतिक प्रतिनिधि आपसी बहस-मुबाहिसे के बावजूद क्रांति के पक्ष में मज़बूती से खड़े थे। मुट्ठी भर सफ़ेद ताक़तें यानी सम्पत्तिशाली वर्ग, अधिकारी तंत्र और ज़्यादातर बुद्धिजीवी पुरानी व्यवस्था की वापसी चाहते थे। ज़ारशाही के तहत जिन्होंने कभी हड़ताल नहीं की थी, उन सफ़ेदपोश कर्मचारियों ने नयी सरकार का स्वागत हड़तालों से किया। लेनिन समेत बोल्शेविक नेताओं पर क्रांतिलाना हमले होने लगे। बोल्शेविक पार्टी के भीतर जिन्गोवीव, कामेनेव, रिक्वोव और लूनाचास्की जैसे नेता मेंशेविकों और सोशलिस्ट-रेवोल्यूशनरियों (एसआर) की पार्टियों के साथ गठजोड़ के पक्ष में थे। उनका मानना था कि अकेले पड़ जाने पर बोल्शेविक सत्ता टिक नहीं पायेगी। उधर युरोपीय और अन्य पश्चिमी ताक़तों ने रूस की न केवल आर्थिक नाकेबंदी शुरू कर दी, बल्कि कई मुक़ामों पर फ़ौजी दखलंदाजी भी होने लगी। हालात का मुक़ाबला करने के लिए बोल्शेविकों को एक तरफ़ तो निगरानी और आंतरिक सुरक्षा का बंदोबस्त सुदृढ़ करना पड़ा जिसका नतीजा सीक्रेट पुलिस (चेका) को अधिकाधिक अधिकार देने में निकला। दूसरी तरफ़ तेज़ी से फ़ौजीकरण की तरफ़ क़दम बढ़ाने पड़े जिसके परिणामस्वरूप क्रांति में जिन रेड गार्डों की मौजूदगी मामूली क्रिस्म की थी, उनका विस्तार विशाल रेड आर्मी में होता चला गया। क्रांति को 'वार कम्युनिज़म' के दौर में प्रवेश करना पड़ा।

1918 में बोल्शेविकों ने अपनी पार्टी का नाम रशियन कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) से बदल कर कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ सोवियत यूनियन (बोल्शेविक) रख लिया। क्रांति के बाद से ही जर्मनी कमज़ोर होते हुए रूस पर हमले की फिराक में था। लेनिन और ट्रॉट्स्की का विचार था कि रूसी

सेनाएँ जर्मनों का मुकाबला नहीं कर पायेंगी और इस युद्ध से क्रांति का उबरना मुश्किल होगा। इसलिए उन्होंने जर्मनी से शांति संधि की नीति अख्तियार की। बोल्शेविक पार्टी के भीतर वामपंथी रुझान के तौर पर चिह्नित नेताओं ने इसकी आलोचना की। इनके नेता बुखारिन जर्मनी के खिलाफ क्रांतिकारी युद्ध के पक्ष में थे। वामपंथी बोल्शेविक यहीं नहीं रुके, उन्होंने पार्टी द्वारा लिए जाने वाले फ़ैसलों के अतिकेंद्रीकरण, पूँजीवादी वर्ग के विशेषज्ञों की अहम पदों पर नियुक्तियों और मजदूरों की चुनी हुई परिषदों की जगह फ़ैक्ट्रियों में एक मैनेजर के नेतृत्व में उत्पादन का नियोजन करने की नीतियों को भी आड़े हाथों लिया। दरअसल, इनमें से कई नीतियाँ तेज़ी से उत्पादन बढ़ा कर पूँजीवादी देशों के औद्योगिक विकास का स्तर छू लेने के आग्रह का परिणाम थीं। फ़रवरी क्रांति के बाद लिखी अपनी ही रचना *राज्य और क्रांति* में व्यक्त विचारों के विपरीत तत्कालीन परिस्थितियों में लेनिन का जोर मजदूरों के लोकतांत्रिक नियंत्रण पर न हो कर अनुशासन और केंद्रीकरण पर हो गया था।

एक तरफ़ बोल्शेविक पार्टी में ये बहसें थीं, दूसरी ओर वसंत ऋतु में गृह युद्ध फूट पड़ा जो 1921 तक चला। इस भीषण और रक्त-रंजित युद्ध में रूस के उद्योगीकृत शहर और वहाँ रहने वाले मजदूरों ने पहलक़दमी लेकर लाल फ़ौज का साथ दिया जिसके सेनापति ट्रॉट्स्की थे। किसान जनता कभी तटस्थ रही तो कभी बोल्शेविकों के पक्ष में लड़ी। मेशेविकों और सोशलिस्ट रेवोल्यूशनरी पार्टी (एसआर) से जुड़ी कई ताकतों ने भी इस दौरान बोल्शेविकों की मदद की। विभिन्न राष्ट्रीयताओं ने भी मोटे तौर पर बोल्शेविकों का साथ दिया। किसान जनता और राष्ट्रीयताएँ ज़ारशाही की वापसी के बारे में कल्पना करने के लिए भी तैयार नहीं थीं। कुल मिला कर युद्ध बोल्शेविकों ने जीता, लेकिन इसके परिणामस्वरूप मजदूरों का राज्य वैसा नहीं रह गया जिसकी कल्पना लेनिन *स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में कर चुके थे। बजाय इसके कि रैडिकल डेमोक्रेसी की रचना होती और मजदूरों का राज्य अपनी स्थापना के क्षण से ही तिरोहित होने लगता, एक पार्टी की तानाशाही स्थापित हुई जिसके कारण राज्य का ढाँचा उत्तरोत्तर विशाल, सर्वव्यापी और नौकरशाहाना होता चला गया।

पार्टी के भीतर भी इन बातों को लेकर चिंता थी जिसकी अभिव्यक्ति का सिलसिला पार्टी के भीतर वामपंथी कहे जाने वाले धड़े के बोल्शेविकों की आलोचनाओं से जुड़ता था। बोल्शेविकों के भीतर इस बात को लेकर बेचैनी थी कि पार्टी अपने घोषित आदर्शों पर नहीं चल पा रही है। 1921 में ही लेनिन को अस्थायी रूप से नयी अर्थनीति (एनईपी) की शुरुआत करनी पड़ी जिसमें किसानों को बाज़ार में अपने उत्पाद का व्यापार करने की इजाज़त दी गयी।

छोटे पैमाने के निजी उद्यमों को मान्यता मिली। परिणामस्वरूप मुद्रास्फीति घटायी जा सकी और रूबल को कुछ स्थिरता प्राप्त हुई। ऐसी बात नहीं कि एनईपी की आलोचना न हुई हो, पर आर्थिक संकट की मजबूरियों के कारण यह क़दम सभी रुझानों वाले बोल्शेविकों को अपने गले उतारना पड़ा। लेनिन का विचार था कि इस क़दम से आर्थिक संकट में राहत मिलेगी, और मजदूरों और किसानों के बीच एक बार फिर से गठजोड़ की परिस्थितियाँ बनेंगी जिससे क्रमशः समाजवाद की तरफ़ बढ़ा जा सकेगा। इस क़दम का विरोधाभास अपने-आप में स्पष्ट था। एक तरफ़ तो एक पार्टी की तानाशाही मजबूत की जा रही थी, और दूसरी तरफ़ अस्थायी तौर से ही सही आंशिक रूप से बाज़ार अर्थव्यवस्था की वापसी हो रही थी। दरअसल, जिसे मजदूरों का राज्य कहा जा रहा था वह संकटों से भी उबरना चाहता था और साथ ही अपने समाजवादी चरित्र की गारंटी भी करना चाहता था। इन्हीं दबावों के चलते गृह युद्ध के आखिर में मेशेविकों की पार्टी और सोशलिस्ट रेवोल्यूशनरी पार्टी की पार्टियाँ अंतिम रूप से प्रतिबंधित कर दी गयी थीं। अगले साल रूसी, उक्रेनियानी, बेलारूसी और काकेशियन गणराज्यों को मिला कर संयुक्त सोवियत समाजवादी गणराज्य का गठन घोषित किया गया (इसके बाद चालीस के दशक में विस्तार के ज़रिये इस गणराज्य में आरमीनिया, अज़रबैजान, एस्तोनिया, जार्जिया, कज़ाकिस्तान, किर्गिस्तान, लातविया, लिथुआनिया, मोल्दावा, ताजिकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और उज़बेकिस्तान भी जोड़ लिए गये)।

क्रांति के शुरुआती वर्षों में संकट-दर-संकट झेलते हुए, प्रयोगधर्मिता का सहारा लेते हुए और पार्टी के भीतर और बाहर चल रहे वैचारिक और रणनीतिक वाद-विवाद के बीच एक आदर्शवादी मोड़ भी आया। गृह युद्ध ख़त्म होने के फ़ौरन बाद बोल्शेविकों के नेतृत्व में बन रहे राज्य ने व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के दौर में प्रवेश किया। 1922 में सरकार ने एक बेहद उदार श्रम-संहिता पारित की। हड़तालें करने का अधिकार दिया गया। संस्कृति के क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता को प्रोत्साहन मिला। राष्ट्रीयताओं ने सच्ची स्वायत्तता का स्वाद चखा। एंगेल्स की बतायी गयी हिदायतों पर चलते हुए परिवार की संस्था संवैधानिक रूप से मंसूख कर दी गयी। तकनीकी रूप से स्त्रियाँ पारम्परिक बंधनों से स्वतंत्र हो गयीं। लेकिन क्या रूस सामाजिक-आर्थिक तौर पर इस आदर्शवादी रैडिकल उछाल के लिए तैयार था? इस सवाल का जवाब जल्दी ही मिल गया। रूस में राजनीतिक परिवर्तन तो हो गया था, पर सामाजिक धरातल पर किसान जनता जीवन-शैली, परिवार की संस्था, लैंगिक संबंधों और आत्मगत आस्थाओं में किसी तरह का आमूलचूल परिवर्तन हज़म करने के लिए तैयार नहीं थी। नतीजतन पार्टी को

रैडिकल लगने वाले कई क्रम वापिस लेने पड़े जिसके कारण आदर्शवादी उत्साह को जबरदस्त धक्का लगा। दरअसल, इस अवधि के बाद पार्टी ने लौट कर इस सामाजिक आदर्शवाद का दामन कभी नहीं थामा।

इतिहासकारों और सिद्धांतकारों में मतभेद है कि ऐसा क्यों हुआ। एक पक्ष की राय है कि परिस्थितियाँ कैसी भी होतीं, लेनिन द्वारा प्रवर्तित बोल्शेविकवाद के भीतर 1903 से ही कुछ ऐसे पहलू मौजूद थे जिनके प्रभाव में क्रांति को लाजमी तौर पर इसी दिशा में बढ़ना था। दूसरा पक्ष कहता है कि यह मजबूरी का सौदा था। अगर बाहरी ताकतें हस्तक्षेप न करतीं, अगर रूस के बाद युरोपीय देशों में भी क्रांति हो जाती और अगर अन्य समाजवादी ताकतें क्रांति के साथ सहयोग करतीं तो सम्भवतः गृह युद्ध ही नहीं होता, और अगर होता भी तो उसे बहुत कम समय में ही जीता जा सकता था।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लुकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्च्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रेंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रंत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. डेविड मेंडल (2009), 'वार कम्युनिज़म ऐंड द राइज़ ऑफ़ सोवियत यूनियन', इमैनुएल नैस (सम्पा.), *द इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रेवोल्यूशन ऐंड प्रोटेस्ट 1500 टू द प्रज़ेंट*, विली-ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. हरबर्ट मारक्यूज़े (1958), *सोवियत मार्क्सिज़म : अ क्रिटिकल एनालिसिस*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सोवियत समाजवाद : उत्थान और पतन-2

(Soviet Socialism: Rise and Fall-2)

1923 से ट्रॉट्स्की के नेतृत्व में पार्टी के भीतर नौकरशाहीकरण और हद दर्जे के केंद्रीकरण के खिलाफ़ मुहिम शुरू हुई। इस अभियान को स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तरोत्तर कमज़ोर होते जा रहे लेनिन की हमदर्दी प्राप्त थी। पार्टी के भीतर लोकतंत्र की मात्रा बढ़ाने और निरंकुशता की बढ़ती प्रवृत्तियों को संयमित करने के लिए लेनिन ने कुछ क्रमों का सुझाव दिया। लेनिन ने राष्ट्रीयताओं के साथ किये जाने वाले सुलूक के सवाल पर ही नहीं, बल्कि पार्टी-प्रशासन के संचालन में अपनाये जाने वाले रवैये के लिए स्तालिन की कड़ी आलोचना भी की, और एक समय उन्हें जिम्मेदारी के पदों से हटाने की बात भी कही। लेकिन उस समय तक पार्टी-प्रशासन पर स्तालिन और उनके सहयोगी छा चुके थे। लेनिन के सुझावों पर अमल की खानापूरी भी की गयी, लेकिन वास्तव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अगले साल लेनिन को दिल का दूसरा दौरा पड़ा जिसे वे नहीं झेल पाये। अब तक यह भी स्पष्ट हो चुका था कि युरोप में क्रांति की वे सम्भावनाएँ मर चुकी हैं जिनसे लेनिन समेत सभी बोल्शेविकों को बड़ी उम्मीद थी।

बोल्शेविकों का वामपंथी धड़ा शुरू से डर जता रहा था कि पार्टी की नीतियाँ पूँजीवाद की स्थापना की तरफ़ जा रही हैं। लेकिन किसानों से गठजोड़ बना कर समाजवाद की तरफ़ क्रमशः बढ़ने के बजाय स्तालिन के नेतृत्व में खेती के सामूहिकीकरण और बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण का फ़ैसला किया गया। रूसी समाज को एक झटके में बदल डालने की इस भीषण परियोजना को स्वयं स्तालिन 'रेवोल्यूशन फ़ॉर्म एबव' की संज्ञा देते थे। ऊपर से लायी गयी इस क्रांति के पीछे एक देश में समाजवाद के निर्माण की स्तालिन द्वारा प्रवर्तित थीसिस थी जिसके साथ उस समय बुखारिन का भी समर्थन था। इस नीति का ट्रॉट्स्की ने विरोध किया, लेकिन पार्टी की भीतरी राजनीति में स्तालिन ने उन्हें आसानी से परास्त कर दिया। ट्रॉट्स्की लाल सेना के कमांडर के पद से हटाये गये, फिर उनका पार्टी से निष्कासन हुआ और आखिर में उन्हें सोवियत राज्य के खिलाफ़ साज़िश करने के आरोप में देश-निकाला दे दिया गया।

स्तालिन ने खेती के सामूहिकीकरण और साथ-साथ उद्योगीकरण की नीति को लागू करने में आ सकने वाली बाधाओं को हटाने के लिए समाज में वर्ग-संघर्ष को तीखा

करने की थीसिस भी दी। इससे उन्हें कुलकों (धनी किसानों) का एक वर्ग के तौर पर सफ़ाया करने का तर्क मिल गया। तीस के दशक में स्तालिन ने ऐलान किया कि समाजवाद में संक्रमण करने के बावजूद सर्वहारा का राज्य तिरोहित नहीं होने दिया जाएगा, क्योंकि पूँजीवादी ताकतों ने सोवियत संघ की घेराबंदी कर रखी है। इसका मुकाबला करने के लिए इस राज्य को और मज़बूत बनाना होगा। 1936-37 के दौरान अपने पार्टी के भीतर से अपने आलोचकों का पूरी तरह से सफ़ाया करते हुए स्तालिन ने घोषणा की कि समाजवाद की पूरी तरह से स्थापना हो चुकी है, और जितने भी शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध हैं उनका स्रोत रूस के बाहर है। 1941-45 के बीच स्तालिन ने नाज़ी हमले के खिलाफ़ लाल सेना का शानदार नेतृत्व किया और द्वितीय विश्व-युद्ध में धुरी राष्ट्रों की पराजय में प्रमुख भूमिका निभा कर सोवियत संघ को दुनिया की एक महाशक्ति बनने का रास्ता खोल दिया। युद्ध के बाद अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन ने धुरी राष्ट्रों के समर्पण की शर्तें निर्धारित कीं। चूँकि ब्रिटेन का विश्व-युद्ध में पूरी तरह से दिवाला निकल चुका था, इसलिए व्यावहारिक रूप से केवल दो महाशक्तियाँ बचीं जिनमें अमेरिका ने पश्चिमी युरोप और सोवियत संघ ने पूर्वी युरोप की सुरक्षा का ज़िम्मा सँभाला। केवल टीटो के नेतृत्व में युगोस्लाविया सोवियत प्रभाव के बाहर रहा, बाकी पूर्वी युरोपीय देशों में सोवियत राज्य-व्यवस्था की प्रतिकृतियाँ स्थापित कर दी गयीं। इस घटनाक्रम के परिणामस्वरूप सोवियत ख़ेमे का उदय हुआ। 1949 में स्तालिन ने परमाणु विस्फोट करके एटम बम बनाने की क्षमता प्राप्त कर ली जिससे उसके ऊपर महाशक्ति होने की मुहर लग गयी।

स्तालिन की मृत्यु के बाद पार्टी की बीसवीं कांग्रेस (1956) में उनके उत्तराधिकारी निकिता ख़ुश्चेव ने वर्ग-संघर्ष को तीखा करने की स्तालिन की थीसिस की कड़ी आलोचना की और 'महान नेता' की व्यक्ति-पूजा की प्रवृत्ति के ख़ात्मे का आह्वान किया। लेकिन ख़ुश्चेव ने एक पार्टी की तानाशाही में किसी क्रिस्म का परिवर्तन नहीं किया। इस समय तक सोवियत संघ में एक सामाजिक-राजनीतिक तबके नोमेनक्लेचुरा के क्रदम जम चुके थे। यह पार्टी के विशेष सुविधा-सम्पन्न अधिकारियों के गुट का नाम था जिनके पास राज्य के संसाधनों को अपनी मर्ज़ी से इस्तेमाल करने के अधिकार रहते थे। ख़ुश्चेव ने स्तालिनवाद को ख़त्म किया, पर उस तंत्र को नहीं जिसे स्तालिन ने क्रायम किया था।

1936 में पारित संविधान में सोवियत संघ को मज़दूरों और किसानों का राज्य घोषित किया था, लेकिन 1961 में ख़ुश्चेव ने जो दीर्घकालीन पार्टी कार्यक्रम पारित किया उसमें इसे समग्र जनता का राज्य घोषित कर दिया गया। ख़ुश्चेव के लिहाज़ से समाजवाद पूरी तरह से और अंतिम रूप से जीत

चुका था, और साम्यवाद की तरफ़ क्रदम बढ़ने लगे थे जिसकी प्राप्ति 1980 तक हो जानी थी। इस सूत्रीकरण का मतलब था कि सोवियत राज्य के पास केवल सीमाओं की रक्षा के अधिकार रह जाने चाहिए थे, उसके बाकी तंत्र को तिरोहित हो जाना चाहिए था और उसकी जगह समाज के संचालन में आम जनता की लोकप्रिय भागीदारी द्वारा ले ली जानी चाहिए थी।

1964 में ख़ुश्चेव के सत्ता से बेदख़ल होने के बाद लियोनिद ब्रेज़नेव के हाथों में पार्टी का नेतृत्व आया। दो साल बाद उन्होंने एक नया फ़िकरा इस्तेमाल किया जिसका मतलब था कि समाजवाद अपने विकसित चरण में है और यह दौर समाजवाद से साम्यवाद में जाने की संक्रमणकालीन अवस्था का है। स्तालिन से लेकर ब्रेज़नेव तक की इस यात्रा में सोवियत संघ के राजनीतिक प्रभुत्व को क्रमशः हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों और नेताओं की तरफ़ से उल्लेखनीय चुनौतियाँ मिलीं। इमरे नागी ने हंगरी में और अलेक्सांदर दुबचेक ने चेकोस्लोवाकिया में कम्युनिस्ट शासन के तहत खुले समाज और राजनीति के प्रयोग करने चाहे जिनका फ़ौज के ज़रिये क्रूर दमन किया गया। लेकिन समाजवाद के निर्माण के अलग मॉडल का दावा करने वाला चीन सोवियत ख़ेमे से बाहर था। उसकी क्रांति भी स्तालिन और कोमिंटर्न के निर्देशों का उल्लंघन करते हुए हुई थी।

एक महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के लक्ष्य और कार्यक्रम सत्तर के दशक में ही बहुत बड़े परिवर्तन के दौर से गुज़र चुके थे। चीन से संबंध ख़राब हो जाने के कारण भूमण्डलीय कम्युनिस्ट ब्लॉक बनाने का सपना टूट गया था। माओ और निक्सन के प्रयासों से बनी चीन-अमेरिकी धुरी की रोशनी में सोवियत नेतृत्व को लगा कि उसे अमेरिका के साथ तनाव-शैथिल्य (देताँ) की दिशा में बढ़ना चाहिए। 1972 में दोनों महाशक्तियों के बीच हथियारों की होड़ सीमित करने के लिए स्ट्रैटिजिक आर्म्स लिमिटेशन ट्रीटीज़ (साल्ट संधियाँ) हुईं। ब्रेज़नेव का विचार था कि इसका फ़ायदा उठा कर वे घरेलू मोर्चे पर आर्थिक और सामाजिक विकास को आगे बढ़ा पाएँगे जिससे सोवियत प्रणाली की वैधता में इज़ाफ़ा होगा और कमज़ोर अर्थव्यवस्था वाली महाशक्ति मज़बूत आर्थिकी वाली महाशक्ति में बदल पायेगी। लेकिन उन्हें नहीं पता था कि सत्तर और अस्सी के दशक सोवियत अस्तित्व के लिए बेहद संगीन साबित होने जा रहे हैं।

1975 से 1985 के दौरान अर्थव्यवस्था में एक ऐसी जड़ता आयी जिससे सोवियत संघ कभी नहीं उबर पाया। इसका ज़िम्मेदार पंचवर्षीय योजनाओं को माना गया। साठ

और सत्तर के दशक में पूरी तरह से राज्य के निर्देशों पर चलने वाली अर्थव्यवस्था असल में भारी पूँजी सघनता और ऊँची प्रौद्योगिकी वाली उस उत्पादकता को प्राप्त नहीं कर पायी जो अमेरिकी की सिलिकॉन वैली में विकसित हो रही थी। सोवियत संघ उद्योगीकरण की नयी मंज़िल से पीछे रह गया। पश्चिमी जगत और सोवियत संघ के बीच प्रौद्योगिकीय फ़ासला बढ़ता चला गया। इस दौरान उसे युरोपीय देशों, खास कर पश्चिम जर्मनी से बड़े-बड़े ऋण लेने पड़े और प्राकृतिक संसाधनों का निर्यात बढ़ा कर बदले में अमेरिका से अनाज हासिल किया गया। अमेरिका और पश्चिम युरोप की निगाह सोवियत संघ के उस स्वर्ण-भण्डार पर थी जो स्तालिन के दौर में संचित किया गया था। उनकी तरफ़ से कम्युनिस्ट विरोधी भाषा का इस्तेमाल भी होता रहा, साथ में सोवियत संघ से वाणिज्यिक रिश्ते भी बने रहे। ब्रेज़नेव ने कुछ आर्थिक सुधार अवश्य किये और विदेश-व्यापार में भी बढ़ोतरी हुई लेकिन इतना काफ़ी नहीं था। नियोजन-तंत्र अर्थव्यवस्था की समस्याओं की शिनाख़्त करने और उत्पादकता बढ़ाने में नाकाम साबित हुआ। सोवियत नागरिकों का जीवन-स्तर पश्चिम के मुक़ाबले कहीं नहीं पहुँच पाया। 1980 तक केवल नौ फ़ीसदी नागरिकों के पास ही कारें थीं। कम्यूटरीकरण का स्तर भी न के बराबर था।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख़ एंगेल्स, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, माइकिल बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. ई.एच. कार (2004), *द रशियन रेवोल्यूशन : फ़्रॉम लेनिन टू स्तालिन (1917-1929)*, पालग्रेव, न्यूयॉर्क.
2. एम. लेविन (1975), *लेनिन्ज़ लास्ट स्ट्रगल*, फ्लूटो प्रेस, लंदन.
3. एम. लीबमैन (1980), *लेनिनिज़म अंडर लेनिन*, मरलिन प्रेस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

सोवियत समाजवाद : उत्थान और पतन-3

(Soviet Socialism-3)

सोवियत विखण्डन का अध्ययन करने वालों में उसके कारणों पर मतभेद हैं। उनकी राय मुख्यतः दो भागों में बँटी हुई है। एक पक्ष कहता है कि रोनाल्ड रेगन की आक्रामक नीतियों से होड़ करने के चक्कर में सोवियत संघ आर्थिक रूप से दिवालिया होता चला गया। रेगन ने न केवल सोवियत संघ को 'शैतानी साम्राज्य' करार दे कर नैतिक रूप से आड़े हाथों लिया, बल्कि उसे अपनी औक्रात से ज़्यादा प्रतिरक्षा-व्यय करने के लिए मजबूर किया। दूसरा पक्ष सोवियत संघ की नियोजित अर्थव्यवस्था के अंतर्विरोधों को उसके विखण्डन का ज़िम्मेदार मानता है। पहला नज़रिया अगर अमेरिका-केंद्रित है, तो दूसरा पहले से मान कर चलता है कि ऐसा तो होना ही था क्योंकि सोवियत संघ आर्थिक रूप से एक नाकाम होती जा रही महाशक्ति थी।

दोनों नज़रियों में आंशिक से अधिक सच्चाई है। एक तरफ़ सोवियत संघ आर्थिक जड़ता और प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन से जूझ रहा था, दूसरी ओर महाशक्ति के दर्जे के अनुकूल प्रतिरक्षा उद्योग के इर्द-गिर्द बेहद ताकतवर हित-समूह गोलबंद होते चले गये। तनाव-शैथिल्य की नीतियों के तहत सोवियत राजनेताओं, विशेषज्ञों, अधिकारियों, अकादमीशियनों और सोवियत प्रभु वर्ग के सदस्यों ने पश्चिम की यात्राएँ शुरू कीं। यही सब लोग मिल कर सोवियत-तंत्र का संचालन कर रहे थे। पश्चिम के सम्पर्क में आने के कारण इस तबक्रे पर गहरे राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रभाव पड़े। इनके साथ अगर कुछ और अहम पहलू जोड़ दिये जाएँ तो सोवियत विखण्डन की तस्वीर पूरी की जा सकती है। उत्तर-स्तालिन सोवियत नेतृत्व ने पंचवर्षीय योजनाओं के तहत किये गये जबरदस्त उद्योगीकरण और कृषि के सामूहिकीकरण का लाभ उठाते हुए कुछ ऐसी नीतियाँ अपनायीं जिनसे अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर में इज़ाफ़ा हुआ और लोगों के जीवन-स्तर पर सकारात्मक असर पड़ा। परिणामस्वरूप सोवियत समाज में संरचनागत परिवर्तन की शुरुआत हुई। अस्सी के दशक तक शहरीकरण में सोवियत संघ दुनिया में केवल अमेरिका से ही पीछे रह गया। सोवियत आबादी उत्तरोत्तर शिक्षित होती चली